



ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमत्पुष्पदंतभूतबलिविरचितः

षट्खण्डागमः

अस्यान्तर्गतः

जीवस्थान-नाम-प्रथमखण्डागमः

अस्यापि प्रथमप्रकरण-सत्प्ररूपणायाः

सिद्धान्तचिन्तामणिः टीका

(गणिनी ज्ञानमती विरचिता)

मंगलाचरणम्

सिद्धान् सिद्धयर्थमानम्य, सर्वास्त्रैलोक्यमूर्द्धगान्।

इष्टः सर्वक्रियान्तेऽसौ, शान्तीशो हृदि धार्यते^१॥१॥

षट्खण्डागम-ग्रन्थराज

सिद्धान्तचिन्तामणि टीका-हिन्दी अनुवाद

मंगलाचरण

त्रैलोक्य शिखर-सिद्धशिला पर विराजमान अनन्त सिद्धपरमेष्ठियों को नमस्कार करके जो समस्त क्रियाओं के अन्त में इष्ट-विशेषरूप से मान्य — स्वीकार किए गये हैं ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को मैं अपने हृदय में धारण (विराजमान) करता हूँ॥१॥

विशेषार्थ — समस्त क्रियाओं के अन्त से यहाँ अभिप्राय यह है कि साधु और श्रावकों की प्रत्येक नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं में शान्तिभक्ति करना आवश्यक होता है। श्रावकजन दैनिक पूजा के अंत में प्रतिदिन शान्तिपाठ करते हैं और वृहत् पूजा विधानों के अन्त में भी शान्तिभक्ति पढ़कर शान्तिपाठ करने की विधि है। इसी प्रकार मुनि-आर्यिका आदि के लिए नित्य ही “अभिषेकवन्दना क्रिया” में सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु भक्ति के बाद शान्तिभक्ति पढ़ने का विधान है तथा वृहत्सामायिक विधि से सामायिक करने पर उसमें शान्तिभक्ति करनी होती

त्रैकालिकार्हतोऽनन्तां-श्चतुर्विंशतितीर्थपान्।
 सीमन्धरादितीर्थेशान्, नुमः सर्वार्थसिद्धये॥२॥
 शान्ति कुन्ध्वरतीर्थेशां, हस्तिनागपुरीं स्तुमः।
 गर्भजन्मतपोज्ञानैः, पूतां तांश्च विशुद्धये॥३॥
 अष्टादशमहाभाषा, लघुसप्तशतान्विता।
 द्वादशाङ्गमयी देवी, सा चित्ताब्जेऽवतार्यते^१॥४॥
 सर्वे वृषभसेनादि-वीरांगजान्त्यसाधवः।
 तेभ्यो नमोऽस्तुनश्चामी, धर्मस्याक्षुण्णकारकाः॥५॥
 श्रीधरसेनमाचार्य, श्रुताब्धेः पारगं नुमः।
 सिद्धान्तज्ञानमद्यापि, यत्प्रसादाद्धि दृश्यते॥६॥
 पुष्पदन्तगुरुं भक्त्या, सूरिं भूतबलिं नुमः।
 षट्खण्डागमो याभ्यां, भुवि ग्रन्थोऽवतारितः॥७॥

है। इनके अतिरिक्त अष्टमी क्रिया, नन्दीश्वर क्रिया, वर्षायोग प्रतिष्ठापन-निष्ठापन क्रिया, पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिक आदि प्रतिक्रमणों को करने में, साधु सल्लेखना, पंचकल्याणक आदि क्रियाओं के अंत में शांतिभक्ति आवश्यक रूप से पढ़ी जाती है।

यह शांतिभक्ति भक्तों के मन में शांति प्रदान करे इसी अभिप्राय से चरणानुयोग ग्रंथों में आचार्यों ने प्रत्येक क्रिया के अन्त में शांतिभक्ति करने का विधान किया है। वही भाव दर्शाने के लिए पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने प्रथम मंगलाचरण श्लोक में श्री शांतिनाथ भगवान् को नमन करते हुए स्पष्ट किया है कि “जो समस्त क्रियाओं के अंत में इष्टरूप से स्वीकार किये गये हैं, ऐसे शांतिनाथ भगवान् मेरे हृदय में विराजमान होंगे।” यह भावना आत्मशान्ति की प्रतीक है।

तीनों कालों में होने वाले समस्त अर्हंतों को, चौबीस तीर्थकरों को तथा सीमंधर आदि विहरमाण बीस तीर्थकरों की सर्व मनोरथों की सिद्धि हेतु हम वंदना करते हैं॥२॥

श्री शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ तीर्थकरों को तथा उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान कल्याणकों से पवित्र हस्तिनापुर नगरी की हम आत्म विशुद्धि के लिए स्तुति करते हैं॥३॥

अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं से समन्वित द्वादशांगमयी जिनवाणी माता है उसको हम अपने चित्तरूपी कमल में अवतरित करते हैं॥४॥

श्री वृषभसेन गणधर मुनिराज को आदि में करके अवसर्पिणी काल के अंतिम वीरांगज नामक मुनिराज पर्यन्त समस्त मुनियों को हमारा नमोऽस्तु होवे, ये ही धर्मतीर्थ की अक्षुण्ण परम्परा को चलाने वाले हैं॥५॥

श्रुतसमुद्र के पारगामी श्री धरसेन आचार्य की हम वंदना करते हैं जिनकी कृपा प्रसाद से आज भी सिद्धान्त का ज्ञान दृष्टिगोचर हो रहा है॥६॥

जिनके द्वारा इस धरती पर षट्खण्डागम ग्रंथ का अवतार हुआ है ऐसे श्री पुष्पदंत एवं भूतबलि आचार्य गुरुवरों को हम भक्तिपूर्वक नमन करते हैं॥७॥

वीरसेनमुनीन्द्रस्यो-पकारो वेन वण्यते।
 धवलाटीकया येन, भव्यान्तः धवलीकृतम्॥८॥
 कलौ विंशशताब्दौ यः, प्रथमाचार्य इष्यते।
 नुमश्चारित्रचक्रीशं, तं श्रीमत्शांतिसागरम्॥९॥
 तस्य पट्टाधिपश्चाद्यो, गुरुः श्रीवीरसागरः।
 ते नमो येन स्वल्पज्ञा, साहं ज्ञानमती कृता॥१०॥
 ब्राह्मीश्रेष्ठाम्बिकादिभ्यः, सर्वश्रीसंयतान्त्यजाः।
 भक्त्या वंदामहे सर्वाः, धर्मपुत्र्य इवार्यिकाः॥११॥
 एकादशाङ्गभृज्जाता, संयतिका सुलोचना।
 नमामस्तां त्रिधा नित्यं, सिद्धान्तज्ञानलब्धये॥१२॥
 षट्खण्डागमसिद्धान्तं, भक्त्यानम्य पुनः पुनः।
 अस्मिन् प्रथमखण्डस्य, मया टीका विरच्यते॥१३॥

धवला टीका रच करके जिन्होंने भव्यों का अन्तःकरण धवल — निर्मल किया है ऐसे श्री वीरसेन मुनीन्द्र के उपकार का वर्णन कौन कर सकता है ? अर्थात् उनके द्वारा किये गये परम उपकार को शब्दों में नहीं कहा जा सकता है॥८॥

इस कलिकाल की बीसवीं शताब्दी में प्रथम जैनाचार्य के रूप में प्रसिद्ध चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर मुनिराज को हम नमस्कार करते हैं॥९॥

उन श्री शांतिसागर महाराज के प्रथम पट्टाधीश मुनिशिष्य आचार्यश्री वीरसागर गुरु को मेरा नमन है जिन्होंने मुझ अल्पज्ञानी को 'ज्ञानमती' नाम प्रदान किया था॥१०॥

भावार्थ—इस श्लोक में संस्कृत टीकाकर्त्री 'गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी' ने अपने आर्यिका दीक्षा प्रदाता गुरुदेव को नमन किया है।

सन् १९५६ में वैशाख कृष्णा द्वितीया को राजस्थान के माधोराजपुरा नगर में आचार्यश्री ने इन्हें आर्यिका दीक्षा देकर बीसवीं शताब्दी में बालब्रह्मचारिणी आर्यिकाओं की परम्परा को प्रारंभ किया था। तब से ही इस सदी में कुमारी कन्याओं ने त्यागमार्ग पर अपने कदम बढ़ाए हैं। इनसे पूर्व यह परम्परा नहीं थी।

युग की आदि में जो "ब्राह्मी" नाम की प्रधान-गणिनी आदि आर्यिकाएँ हुई हैं तथा युग के अन्त में जो "सर्वश्री" नाम की संयतिका-आर्यिका होंगी, धर्मपुत्री के समान उन समस्त आर्यिकाओं की हम भक्तिपूर्वक वंदना करते हैं॥११॥

ग्यारह अंगरूप श्रुत को धारण करने वाली संयतिका आर्यिका सुलोचना को हम सिद्धान्त ज्ञान की प्राप्ति हेतु नित्य ही मन-वचन-काय पूर्वक वंदामि करते हैं॥१२॥

षट्खण्डागम सिद्धान्त ग्रंथ को पुनः-पुनः नमन करते हुए इसके प्रथमखण्ड की टीका मेरे द्वारा रची-लिखी जा रही है॥१३॥

उद्धृत्योद्धृत्य टीकांशा-नाद्या या सत्प्ररूपणा।
 सरलीक्रियते^१ सैषा, ^२ज्ञानर्द्धिप्राप्तयेऽचिरात्॥१४॥
 ज्ञानवृद्धिं क्रियान्नित्य-मार्थिका चन्दनामतिः।
 यस्याः प्रार्थनयेदानीं, टीका प्रारभ्यते मया॥१५॥
 शारदे! तिष्ठ मच्चित्ते, यावन्न पूर्णमाप्नुयात्।
 प्रारब्धकार्यमेतद्धि, तावच्छक्तिं च देहि मे॥१६॥

-इन्द्रवज्राच्छन्द-

सिद्धान्तचिन्तामणिनामधेया, सिद्धान्तबोधामृतदानदक्षा।
 टीका भवेत्स्वात्मपरात्मनोर्हि, कैवल्यलब्धयै खलु बीजभूता॥१७॥

अथ पीठिका कथ्यते—

अथ सर्वेषामङ्गपूर्वाणामेकदेशज्ञानवतः श्रुतज्ञानस्याविच्छिन्नतां चिकीर्षोः महाकारुणिकस्य भगवतः श्रीधरसेनाचार्यस्य मुखकमलादधीत्य सिद्धान्ततत्त्वौ श्रीपुष्पदन्त-भूतबलि-आचार्यौ सिद्धान्तज्ञानप्राप्ति-रुचिशिष्यगण-प्रतिबोधनार्थं सिद्धपदप्रापणकारणभूत-करणानुयोगप्रमुख-सिद्धान्तविषयप्रतिपादनमुख्यत्वेन

इस ग्रंथ की टीका के अंशों को यथास्थान निकाल-निकालकर प्रथमखंड की जो सत्प्ररूपणा है, उस प्रकरण की सरल टीका मेरे द्वारा लिखी जा रही है यह शीघ्र ही मुझे ज्ञान ऋद्धि की प्राप्ति करावे॥१४॥

जिनकी प्रार्थना पर मैंने यह व्याख्या (टीका) प्रारंभ की है वे आर्थिका चन्दनामती नित्य ही ज्ञान की वृद्धि करें॥१५॥

हे सरस्वती मातः ! मैंने नवीन टीका रचने का जो यह कार्य प्रारंभ किया है जब तक यह कार्य पूर्ण न होवे, तब तक आप मेरे हृदय में विराजमान रहें और मुझे शक्ति प्रदान करें ताकि यह कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो॥१६॥

सिद्धान्त ज्ञानरूपी अमृत को प्रदान करने में दक्ष-कुशल यह “सिद्धान्तचिन्तामणि” नाम की टीका मुझे तथा पर—अन्य भव्यात्माओं को कैवल्य प्राप्ति के लिए बीजभूत होवे॥१७॥

भावार्थ—टीकाकर्त्री ने षट्खंडागम ग्रंथ पर जिस संस्कृत टीका को रचने का संकल्प किया है उसका नाम “सिद्धान्तचिन्तामणि” रखा है जो चिन्तामणि रत्न के समान सिद्धान्त के समस्त जिज्ञासुओं को सिद्धान्तज्ञान प्राप्त करवाने में सक्षम होगी।

अब पीठिका का कथन किया जा रहा है—

सभी अंग-पूर्वों के एक देश ज्ञानधारी श्रुतज्ञान को अविच्छिन्न बनाने के इच्छुक महाकरुणावान् भगवान् श्री धरसेनाचार्य के मुखकमल से जिन्होंने सिद्धान्ततत्त्व का अध्ययन किया है ऐसे श्री पुष्पदन्त-भूतबली आचार्यो ने सिद्धान्त ज्ञान को प्राप्त करने की रुचि वाले शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ—ज्ञान कराने हेतु सिद्धपद प्राप्त कराने में कारणभूत, करणानुयोग प्रमुख सिद्धान्त विषयों के प्रतिपादन की मुख्यता से “अग्रायणीय”

१. ‘मया’ इति कर्ता अध्याह्रियते।

२. एवमभिष्टुवतो मे ज्ञानानि समस्तलोकचक्षुषि। लघु भवताज्ञानर्द्धिज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम्॥

(श्रुतभक्ति-श्रीपूज्यपादस्वामिकृत)

अग्रायणीयनामपूर्वस्य चयनलब्धिनामपञ्चमवस्तुनः कर्मप्रकृतिप्राभृतनामचतुर्थाधिकारान्निर्गतं जिनागमं षट्खण्डैर्विभज्य “षट्खण्डागमः” इत्यन्वर्थनाम कृत्वा सिद्धान्तसूत्ररूपेण लिपिबद्धं चक्रतुः।

आत्रागमे जीवस्थान-क्षुद्रकबंध-बंधस्वामित्वविचय-वेदनाखण्ड-वर्गणाखण्ड-महाबंधाश्चेति नामानि सन्ति।

तेषु षष्ठ्यखण्डमन्तरेण पंचखण्डेषु षट्सहस्राणि सूत्राणि, षष्ठ्यखण्डे त्रिंशत्सहस्रसूत्राणि सन्तीति श्रुतावतारे^१ कथितमस्ति।

अधुना मुद्रितषोडशपुस्तकेषु पंचखण्डसूत्राणां गणनाः-षट्सहस्र अष्टशत-एकचत्वारिंशत्सूत्राणि सन्ति।

तत्र प्रथमखण्डे-द्विसहस्र-त्रयशत-पञ्चसप्ततिसूत्राणि, द्वितीयखण्डे-चतुर्नवत्यधिकपंचदशशतसूत्राणि, तृतीयखण्डे-चतुर्विंशत्यधिक-त्रिशतसूत्राणि, चतुर्थखंडे-पंचविंशत्यधिकपञ्चदशशतानि, पंचमखंडे त्रयो-विंशत्यधिकएकसहस्राणि सूत्राणि वर्तन्ते।

संप्रति सिद्धान्तचिंतामणिटीकासमन्वित षोडशपुस्तकेषु पंचखंडानि दर्शयन्ति—

षट्खण्डागमनामसिद्धान्तग्रन्थस्य सिद्धान्तचिंतामणि टीकासहितानि पुस्तकानि षोडश सन्ति। एषु षोडशपुस्तकेषु मध्ये प्रथमपुस्तकादारभ्य षष्ठ्यपुस्तकपर्यन्तेषु षट्पुस्तकेषु निबद्धानां अष्टानुयोगद्वारनवचूलिकानां प्रकरणं जीवस्थानं नाम प्रथमखण्डमस्ति।

सप्तमपुस्तके क्षुद्रकबंधनाम द्वितीयखंडं, अष्टमपुस्तके बंधस्वामित्वविचयनाम-तृतीयखंडं, नवम-पुस्तकादारभ्य द्वादशपुस्तकपर्यन्तचतुःषु पुस्तकेषु वेदनाखंडनाम, चतुर्थखंडं, त्रयोदशपुस्तकादारभ्य नामक पूर्व की “चयन लब्धि” नामक पंचम वस्तु के “कर्मप्रकृतिप्राभृत” नामक चतुर्थ अधिकार से निकालकर जिनागम को छह खण्ड के द्वारा विभक्त करके “षट्खण्डागम” इस सार्थक नाम को देकर सिद्धान्तसूत्ररूप से लिपिबद्ध किया था।

यहाँ आगम में जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबंध ये छह खण्डों के अलग-अलग नाम हैं।

उनमें छठे खण्ड को छोड़कर शेष पाँच खण्डों में छह हजार सूत्र हैं तथा छठे खण्ड (महाबंध) में तीस हजार सूत्र हैं ऐसा श्रुतावतार में कहा है।

आजकल की मुद्रित—प्रकाशित सोलह पुस्तकों में पाँच खण्ड के सूत्रों की गणना छह हजार आठ सौ इकतालीस है।

उसमें प्रथम खंड में दो हजार तीन सौ पिचहत्तर सूत्र हैं, द्वितीय खंड में पन्द्रह सौ चौरानवे सूत्र हैं, तृतीय खण्ड में तीन सौ चौबिस सूत्र हैं, चतुर्थ खण्ड में पन्द्रह सौ पचीस सूत्र हैं और पंचम खण्ड में एक हजार तेईस सूत्र हैं। श्रुतावतार एवं मुद्रित प्रतियों में सूत्र गणना का यह अन्तर है।

अब सोलह पुस्तकों में पाँच खण्ड दिखाते हैं—

षट्खण्डागम नामक सिद्धान्त ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि टीका सहित सोलह पुस्तकें हैं। इन सोलह पुस्तकों में प्रथम पुस्तक से आरंभ करके छठी पुस्तक पर्यन्त छह पुस्तकों में निबद्ध आठ अनुयोगद्वार और नवचूलिकाओं के प्रकरण सहित “जीवस्थान” नाम का प्रथम खण्ड है।

पुनः सप्तम पुस्तक में क्षुद्रकबंध नाम का द्वितीय खण्ड है, आठवीं पुस्तक में बन्धस्वामित्वविचय नाम का तृतीय खण्ड है, नवमीं पुस्तक से लेकर बारहवीं पुस्तक तक चार पुस्तकों में वेदनाखंड नाम का

१. प्रविरच्य महाबंधाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम्। त्रिंशत्सहस्रसूत्रं व्यरचयदसौ महात्मा॥ (इन्द्रनंदिश्रुतावतार १३९)।

षोडशपुस्तक-पर्यंत चतुःषु पुस्तकेषु वर्गणाखंडनाम पंचमखण्डं अस्ति। इति षोडशपुस्तकेषु विभक्तानि पंच खण्डानि ज्ञातव्यानि।

इदानीं षट्पुस्तकेषु निबद्ध-प्रथमखंडस्य स्पष्टीकरणं क्रियते —

प्रथमतस्तावत्सूत्रसंख्याः निरूप्यन्ते-प्रथमजीवस्थाननामि खंडे द्विसहस्र-त्रिशतपंचसप्ततिसूत्राणां मध्ये विशेषरीत्या पृथक्पृथक्करणे सति अष्टानुयोगद्वारेषु प्रथमसत्प्ररूपणायां सप्तसप्तत्यधिकशतसूत्राणि, द्वितीयद्रव्य-प्रमाणानुगमे द्विनवत्यधिक-शतसूत्राणि, तृतीयक्षेत्रानुगमे द्विनवतिसूत्राणि, चतुर्थस्पर्शनानुगमे पंचाशीत्युत्तरशतसूत्राणि, पंचमकालानुगमे द्वाचत्वारिंशदधिकत्रिशतसूत्राणि, षष्ठ-अन्तरानुगमे सप्तनवत्यधिकत्रिशतसूत्राणि, सप्तमभावानुगमे त्रिनवतिसूत्राणि, अष्टमाल्पबहुत्वानुगमे द्व्यशीत्यधिकत्रिशतसूत्राणि सन्तीति।

पुनश्च नवचूलिकासु सूत्राणि विभज्यन्ते — प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्तनाचूलिकायां षट्चत्वारिंशत्सूत्राणि, द्वितीयस्थानसमुत्कीर्तनाचूलिकायां सप्तदशोत्तरशतानि, प्रथममहादण्डकनाम-तृतीयचूलिकायां द्वे सूत्रे, द्वितीयमहादण्डकनामचतुर्थचूलिकायां द्वे सूत्रे, तृतीयमहादण्डकनाम-पंचमचूलिकायां द्वे सूत्रे, उत्कृष्टस्थितिनामषष्ठचूलिकायां चतुश्चत्वारिंशत्, जघन्यस्थितिनामसप्तमचूलिकायां त्रिचत्वारिंशत्, सम्यक्त्वोत्पत्तिनाम-अष्टमचूलिकायां षोडशसूत्राणि, गत्यागतिनाम-नवमचूलिकायां त्रिचत्वारिंशदधिक-द्विशत-सूत्राणि इति अष्टानुयोगद्वार-नवचूलिकानां समुदितानि द्विसहस्रत्रयशतपंचसप्ततिप्रमितानि सूत्राणि भवन्ति।

संस्कृतटीकासहित षट्पुस्तकेषु मध्ये-प्रथमद्वितीययोः पुस्तकयोः सत्प्ररूपणा, तृतीयपुस्तके द्रव्यप्रमाणानुगम-क्षेत्रानुगमौ, चतुर्थपुस्तके स्पर्शन-कालानुगमौ, पंचमपुस्तके अन्तर-भाव-अल्पबहुत्वानुगमाः, षष्ठपुस्तके

चतुर्थ खण्ड है, तेरहवीं पुस्तक से लेकर सोलहवीं पुस्तक पर्यन्त चार पुस्तकों में वर्गणा खण्ड नाम का पंचम खण्ड है। इस प्रकार सोलह पुस्तकों में विभक्त ये पाँच खण्ड जानना चाहिए।

अब वर्तमान में छह पुस्तकों में निबद्ध प्रथम खण्ड का स्पष्टीकरण करते हैं —

सबसे पहले उनके सूत्रों की संख्या निरूपित करते हैं — जीवस्थान नाम के प्रथम खण्ड में दो हजार तीन सौ पिचहत्तर सूत्रों के मध्य में विशेष रीति से पृथक्-पृथक् करने पर आठ अनुयोग द्वारों में प्रथम सत्प्ररूपणा में एक सौ सत्तर (१७७) सूत्र हैं, द्वितीय द्रव्यप्रमाणानुगम में एक सौ बानवे (१९२) सूत्र हैं, तृतीय क्षेत्रानुगम में बानवे (९२) सूत्र हैं, चतुर्थ स्पर्शनानुगम में एक सौ पिचासी (१८५) सूत्र हैं, पंचमकालानुगम में तीन सौ ब्यालीस (३४२) सूत्र हैं, छठे अन्तरानुगम में तीन सौ सत्तानवे (३९७) सूत्र हैं, सप्तम भावानुगम में तिरानवे (९३) सूत्र हैं, अष्टम अल्पबहुत्वानुगम में तीन सौ बयासी (३८२) सूत्र हैं।

आगे पुनः नव चूलिकाओं में सूत्रों का विभाजन करते हैं —

प्रथम “प्रकृति समुत्कीर्तना” नामक चूलिका में छियालीस (४६) सूत्र हैं, द्वितीय “स्थान समुत्कीर्तना” चूलिका में एक सौ सत्रह (११७) सूत्र हैं, “प्रथम महादण्डक” नाम की तृतीय चूलिका में दो सूत्र हैं, “द्वितीय महादण्डक” नाम की चतुर्थ चूलिका में दो सूत्र हैं, “तृतीय महादण्डक” नाम की पाँचवी चूलिका में दो सूत्र हैं, “उत्कृष्ट स्थिति” नाम की छठी चूलिका में चवालीस (४४) सूत्र हैं, “जघन्यस्थिति” नाम की सातवीं चूलिका में तेतालिस (४३) सूत्र हैं, “सम्यक्त्वोत्पत्ति” नाम की आठवीं चूलिका में सोलह (१६) सूत्र हैं, “गत्यागति” नाम की नवमी चूलिका में दो सौ तेतालिस (२४३) सूत्र हैं। ये सब आठ अनुयोगद्वार एवं नौ चूलिका के कुल मिलाकर दो हजार तीन सौ पिचहत्तर (२३७५) कुल सूत्र होते हैं।

संस्कृत टीका सहित छह पुस्तकों में क्रम से प्रथम और द्वितीय पुस्तक में सत्प्ररूपणा का वर्णन है, तृतीय पुस्तक में द्रव्यप्रमाणानुगम और क्षेत्रानुगम का, चतुर्थ पुस्तक में स्पर्शनानुगम व कालानुगम का,

नवचूलिकाः कथिताः सन्तीति ज्ञातव्यं भवति।

इदानीं जीवस्थाननाम-प्रथमखंडस्य विषयविभाजनं क्रियते —

प्रथमपुस्तके तावत्सत्प्ररूपणायां-श्रीपुष्पदन्ताचार्यगुरुणा चतुर्दशगुणस्थानानि चतुर्दशमार्गणा-स्थानानि च वर्णयित्वा प्रत्येकमार्गणासु गुणस्थानापेक्षया विशेषविवरणं कृतं। अस्याः धवलाटीकायां मंगलगाथासूत्र-णमोकारमहामंत्रस्य विवेचनं, द्वादशांगश्रुतज्ञानस्योत्पत्त्यादीनां कथनं, अर्थकर्तृ-ग्रन्थकर्तृणां सुष्ठुतया प्रतिपादनं च दृश्यते। षट्खंडागमग्रन्थस्योत्पत्तिकथानकमपि विशदरूपेण वर्तते। द्रव्यस्त्रीनपुंसकानां मोक्षाभावो भावस्त्रीवेदि-भावनपुंसकवेदिनां मोक्षोऽस्ति इति स्पष्टीकरणमपि श्रीवीरसेनाचार्येण कृतं वर्तते, सिद्धान्तापेक्षया दर्शनज्ञानयोर्लक्षणं विस्तृतमस्ति।

द्वितीयपुस्तके “गुणजीवापज्जती” इत्यादिगाथानुसारेण विंशतिप्ररूपणायाः विवेचनं कृत्वा श्रीटीकाकारेणैव गुणस्थानेषु मार्गणास्वपि विंशतिप्ररूपणा दर्शिताः सन्ति।

तृतीयपुस्तके श्रीभूतबलिभट्टारकेन कृतानि अतः प्रभृतिसूत्राणि सन्ति। अस्मिन् द्रव्यप्रमाणानुगमे जीवानां संख्या गुणस्थानेषु मार्गणासु अपि अस्ति। पुनश्च अलौकिकगणितमध्ये बीजगणितापेक्षया विस्तृतविवेचनं दृश्यते।

क्षेत्रानुगमे त्रिलोकानां वर्णनं, शंख-भ्रमर-महामत्स्यादीनां उत्कृष्टावगाहना-क्षेत्रफलादिकं कथितं, देवनारकाणां च शरीरावगाहनादीनां विवेचनं कृतं वर्तते। क्षेत्रस्य वर्तमाननिवासस्यापेक्षया गुणस्थानेषु मार्गणासु विस्तृतकथनमस्ति।

पंचम पुस्तक में अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम का एवं छठी पुस्तक में नवचूलिकाओं का वर्णन किया गया है, यह जानना चाहिए।

अब जीवस्थान नाम के प्रथम खण्ड का विषय विभाजन किया जाता है —

प्रथम पुस्तक धवला टीका की सत्प्ररूपणा में — श्रीपुष्पदन्ताचार्य ने चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थानों का वर्णन करके प्रत्येक मार्गणाओं में गुणस्थान की अपेक्षा विशेष विवरण किया है। इसकी ‘धवला’ टीका में मंगलगाथासूत्र के अन्तर्गत णमोकार महामंत्र का विवेचन है, द्वादशांग श्रुतज्ञान की उत्पत्ति आदि का कथन है, इसमें अर्थकर्ता, ग्रन्थकर्ता का सुन्दर प्रतिपादन भी देखा जाता है। षट्खण्डागम ग्रन्थ की उत्पत्ति का कथानक भी विशद रूप से है। “द्रव्य स्त्री और नपुंसकवेदियों के मोक्ष का अभाव, भाव स्त्रीवेदी और भावनपुंसक वेदियों के मोक्ष होता है” यह कथन भी श्रीवीरसेनाचार्य ने किया है, सिद्धान्त की अपेक्षा से दर्शन और ज्ञान का विस्तृत लक्षण भी इसमें है।

धवला की द्वितीय पुस्तक में “गुणजीवापज्जती” इत्यादि गाथा के अनुसार बीस प्ररूपणाओं का विवेचन करके श्री टीकाकार देव ने ही गुणस्थानों में, मार्गणाओं में भी बीस प्ररूपणाएँ दिखाई हैं।

धवला की तृतीय पुस्तक में श्री भूतबली भट्टारक के द्वारा बनाए गए सूत्र प्रारंभ हुए हैं। अर्थात् यहाँ से सूत्रों की रचना श्री भूतबली भट्टारक ने की है, ऐसा समझना चाहिए। इस द्रव्यप्रमाणानुगम में जीवों की संख्या गुणस्थानों और मार्गणाओं में कही गई है। पुनः अलौकिक गणित में बीजगणित की अपेक्षा विस्तृत विवेचन देखा जाता है।

क्षेत्रानुगम में तीन लोक का वर्णन है तथा शंख, भ्रमर, महामत्स्य आदि की उत्कृष्ट अवगाहना, क्षेत्रफल आदि का कथन है और देव-नारकियों के शरीर की अवगाहना आदि का विवेचन किया है। क्षेत्र का वर्तमान निवास की अपेक्षा से गुणस्थानों में, मार्गणाओं में विस्तृतरूप से कथन किया है।

चतुर्थपुस्तके स्पर्शनानुगमे गुणस्थानमार्गणासु जीवानां त्रिकालापेक्षया स्पर्शनं कथितं, अत्र प्रकरणे ज्योतिर्लोकस्य विशदविवेचनं दृश्यते।

कालानुगमे जीवानां कस्मिन् कस्मिन् गुणस्थाने कियत्कियत्कालमवस्थानं इति प्रतिपादितं अस्ति। कस्यां कस्यां मार्गणायां कियत्कियत्कालमवस्थानं वर्तते इत्यपि विवेचितमस्ति।

पंचमपुस्तके अन्तरानुगमे जीवानामन्तरं विरहकालं गुणस्थानापेक्षया विवेचितं, पुनश्च मार्गणास्वपि अन्तरं दर्शितं अस्ति।

भावानुगमे औपशमिकादिपंचभावानां प्रतिपादनं गुणस्थानेषु मार्गणास्वपि च वर्तते।

अल्पबहुत्वानुगमे जीवानां गुणस्थान-मार्गणापेक्षयाल्पबहुत्वकथनमस्ति यथा— उपशमश्रेण्यारोहकाः त्रयगुणस्थानवर्तिनः सर्वतः स्तोकाः, एषामधिका उपशांतगुणस्थानवर्तिनः इत्यादयः।

षष्ठपुस्तके नवचूलिकासु-प्रथमतः कर्मप्रकृतीनां कथनं, पुनः जीवेषु कर्मप्रकृतीनां बंधस्थानानि दर्शितानि। ततः प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखजीवाः काः काः प्रकृतीः बध्नन्ति इत्यादि कथनं। तत्पश्चात् कर्मणां उत्कृष्टस्थितिः जघन्यस्थितिश्च वर्णितास्ति। तदनु जीवानां सम्यक्त्वस्य योग्यता कदा भवति ? इति समाधानरूपेण विस्तृतविवेचनं वर्तते। पुनश्च सम्यक्त्वोत्पत्तेः जिनबिंबदर्शनादीनि बाह्यकारणानि प्रतिपादितानि सन्ति। तदनन्तरं जीवाः कस्याः गतेः निर्गत्य काः काः गतीः गंतुं शक्नुवन्तीति गत्यागतिचूलिकाः कथिताः सन्ति। इत्यादिरूपेण जीवस्थाननाम्नः प्रथमखंडस्य विषयोऽत्र दिङ्मात्रं दर्शितः। विशेषेण तत्तत्स्थाने द्रष्टव्यं भवद्भिः इत्यलमत्र विस्तरेण।

धवला की चतुर्थ पुस्तक के स्पर्शनानुगम में जीवों का तीनों काल की अपेक्षा गुणस्थान तथा मार्गणाओं में स्पर्शन कहा है, इस प्रकरण में ज्योतिर्लोक का विशद विवेचन देखा जाता है।

कालानुगम में जीवों का किस-किस गुणस्थान में कितने-कितने काल तक अवस्थान रहता है यह प्रतिपादित किया है। किस-किस मार्गणा में कितने-कितने काल तक अवस्थान होता है यह विवेचन भी इसमें आता है।

धवला की पाँचवी पुस्तक के अन्तरानुगम में जीवों का अन्तर— उसका विरहकाल गुणस्थान की अपेक्षा से बताया गया है, पुनः मार्गणाओं में भी यह अन्तर दिखाया गया है।

भावानुगम में औपशमिक आदि पाँच भावों का प्रतिपादन गुणस्थान और मार्गणाओं में भी बताया है।

अल्पबहुत्वानुगम में जीवों का गुणस्थान और मार्गणा की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का कथन है। जैसे- उपशम श्रेणी चढ़ने वाले तीन गुणस्थानवर्ती सबसे कम हैं और उनसे अधिक उपशांतगुणस्थानवर्ती जीव हैं.....इत्यादि कथन इसमें किया गया है।

धवला की छठी पुस्तक की नव चूलिकाओं में— सबसे पहले कर्मप्रकृतियों का कथन है, पुनः जीवों में कर्मप्रकृतियों के बंधस्थानों को दिखाया है। उसके बाद प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव किन-किन प्रकृतियों का बंध करते हैं इत्यादि कथन है। तत्पश्चात् कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति का वर्णन है। उसके बाद जीवों के सम्यक्त्व की योग्यता कब होती है ? ऐसा समाधानरूप से विस्तृत विवेचन है। पुनः सम्यक्त्व की उत्पत्ति में जिनबिंब दर्शन आदि बाह्य कारणों का प्रतिपादन है। तदनन्तर जीव किस गति से निकलकर किन-किन गतियों में जा सकते हैं ऐसी गत्यागति चूलिकाएँ कही गई हैं। इत्यादि रूप से जीवस्थान नाम के प्रथम खण्ड का विषय यहाँ दिशा मात्र-संक्षेप में दिखाया गया है। विशेषरूप से आप लोगों को उन-उन स्थानों पर समस्त विषय देखना चाहिए, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है।

संप्रति जीवस्थानस्य टीकां कर्तुं मम भावना संजाता, अत्रापि अधुना केवलं सत्प्ररूपणायाः टीकाकरणायैव मया प्रतिज्ञायते।

अस्य षट्खण्डागमग्रन्थराजस्य षट्टीकाः श्रूयन्ते, परं तु वर्तमानकाले एका धवलाख्या एव टीका उपलभ्यते। अस्याः टीकाया आधारेणैव विशेषतया स्वस्य ज्ञातुमर्हाणि प्रकरणान्युद्धृत्योद्धृत्य क्वचित्प्राकृत-पंक्तीः क्वचित्प्राकृतपंक्तीनां संस्कृतछायां कृत्वा क्वचित् विषयान् संक्षिप्य क्वचित्प्रसंगोपात्तविषयान् सरलीकर्तुं अन्येषामपि ग्रन्थानां विशेषोद्धरणानि अपि संगृह्य मयेयं “सिद्धान्तचिंतामणि”-नामधेया टीका लिख्यते। वीराब्दे एकविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे शरदपूर्णिमायां तिथौ (ख्रिष्टाब्दे अष्टमे दिनैके दशममासे पंचनवत्यधिकैकोन-विंशतिशततमे) अत्र हस्तिनापुरक्षेत्रे जम्बूद्वीपस्थले द्वितीयस्य जंबूद्वीपमहामहोत्सवस्य मंगलावसरे सति “सिद्धान् सिद्ध्यर्थमानम्य, श्रीशान्तिनाथभगवन्तं स्वस्याः हृदयकमले स्थापयित्वा” एषा टीका प्रारब्धा इयं निर्विघ्नतया पूर्णतां लभेतेति भाव्यते मया।

यथा चिंतितफलदाने प्रसिद्धा चिंतामणिस्तथैव मम चिंतितविषया सिद्धान्तज्ञानस्योपलब्धिस्तां दातुं सक्षमा इयं चिंतामणिः टीका भूयादिति भावना भाव्यते पुनः पुनः। नायं मम प्रयासः स्वविद्वत्ताप्रदर्शनार्थं, प्रत्युत स्वज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमवृद्ध्यर्थं सिद्धान्तसूत्रग्रंथे प्रवेशकरणार्थं स्वात्मनि परमाल्हादमुत्पादयितुं चायं उपक्रमः क्रियते। अस्याः टीकाकरणायाः निमित्तं चंदनामती आर्थिकायाः प्रार्थनाप्यस्ति।

अब जीवस्थान की टीका करने की मेरी भावना उत्पन्न हुई है, उसमें भी अभी केवल “सत्प्ररूपणा” की टीका करने के लिए ही मैंने प्रतिज्ञा की है।

इस षट्खण्डागम ग्रंथराज की छह टीका सुनी जाती हैं, परन्तु वर्तमान काल में एक धवला टीका ही उपलब्ध हो रही है। इस टीका के आधार से ही विशेषतया अपने लिए जानने योग्य अनेक प्रकरणों को उद्धृत कर करके कुछ प्राकृत पंक्तियों को तथा कुछ प्राकृत पंक्तियों की संस्कृत छाया करके, कुछ विषयों को संक्षिप्त करके, कुछ प्रसंगोपात्त विषयों को सरल करने के लिए अन्य ग्रंथों के भी विशेष उद्धरणों को ग्रहण करके मैं यह “सिद्धान्तचिंतामणि”-नाम की टीका लिख रही हूँ। वीर निर्वाणसंवत् पचीस सौ इक्कीस की शरदपूर्णिमा-आश्विन शुक्ला पूर्णिमा तिथि (ईसवी सन् १९९५, ८ अक्टूबर सन् १९९५) को हस्तिनापुर तीर्थ पर जम्बूद्वीप के द्वितीय महामहोत्सव के अवसर पर “समस्त सिद्धों को नमस्कार करके श्री शान्तिनाथ भगवान को अपने हृदय कमल में स्थापित करके मैंने यह टीका प्रारंभ की है, यह मेरी टीका निर्विघ्नतया पूर्ण हो, ऐसी मेरी भावना है।

जैसे चिन्तित फल को प्रदान करने में प्रसिद्ध चिन्तामणिरत्न है, उसी प्रकार मेरा चिन्तित विषय है-सिद्धान्त ज्ञान की उपलब्धि करना, उसे देने में सक्षम यह चिन्तामणि टीका प्रसिद्ध होवे, यह भावना पुनः-पुनः मेरे द्वारा भाई जा रही है। मेरा यह प्रयास अपनी विद्वत्ता प्रदर्शन के लिए नहीं है, प्रत्युत अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की वृद्धि के लिए, सिद्धान्त सूत्र ग्रंथ में प्रवेश करने के लिए और स्वात्मा में परम आल्हाद उत्पन्न कराने के लिए ही मेरा यह उपक्रम है। इस टीका की रचना में आर्थिका चन्दनामती की प्रार्थना भी निमित्त है।

विशेषार्थ — पूज्य माताजी ने ऊपर की पंक्तियों में मेरी प्रार्थना का उल्लेख किया है सो यह मेरा परम सौभाग्य है। यद्यपि माताजी की अतिशय पूर्ण लेखनी से अष्टसहस्री, कातंत्ररूपमाला, समयसार, नियमसार, कल्पद्रुम, सर्वतोभद्र, इन्द्रध्वज आदि बृहत् पूजा काव्यग्रंथ, उपन्यास साहित्य, बालसाहित्य आदि सब मिलाकर दो सौ ग्रंथ लिखे जा चुके थे। पुनः सन् १९९५ में एक दिन मैंने पूज्य माताजी से निवेदन किया कि आपके द्वारा प्रायः चारों

क्वायं द्वादशांगांशमहार्णवः सिद्धान्तागमः ? क्व च मम लवमात्रज्ञानधारिणी अल्पबुद्धिः ? अस्मिन् कार्ये ममेदं साहसं केवलं जलसंस्थितचन्द्रबिम्बं ग्रहीतुमनसो बालस्येव। तथापि ममासौ टीका भव्यान् सिद्धान्तग्रन्थे प्रवेशयितुं सहकारिणी स्वात्मनि हर्षोत्पादिनी च भविष्यति।

जिनेन्द्रदेवमुखकमलविनिर्गत-गौतमस्वामिमुखकुण्डावतरित-पुष्पदंताचार्यादिविस्तारितगंगायाः जलसदृशं “नद्या नवघटे भृतं जलमिव” इयं टीका सर्वजनमनांसि संतर्पिष्यत्येवेति मया विश्वस्यते।

अनुयोगों पर साहित्य रचना हो चुकी है, आपने मूलाचार के समान “आराधना” नामक संस्कृत श्लोक ग्रंथ लिखा है, अनेक संस्कृत स्तोत्रों की रचना की है, नियमसार की “स्याद्वादचन्द्रिका” नामक संस्कृत टीका लिखी है पुनः अब आपके करकमलों से षट्खण्डागम ग्रंथ की सरल संस्कृत टीका भी यदि हो जाये तो कितना अच्छा हो ! मेरे इतने से निवेदन पर माताजी ने ८ अक्टूबर १९९५, शरदपूर्णिमा के दिन से यह टीका रचना प्रारंभ की, जिसका हिन्दी अनुवाद मुझे करने का आदेश मिला, यह भी मैं अपना पुण्य समझती हूँ।

इस धरती पर आज अंग-पूर्व के ज्ञाता आचार्य धरसेन स्वामी नहीं हैं और न ही उनसे ज्ञानप्राप्त करके षट्खण्डागम सूत्रों के रचयिता श्री पुष्पदन्त-भूतबली मुनिराज व धवला टीकाकार श्री वीरसेन स्वामी के ही दर्शन हो सकते हैं, क्योंकि वे तो अपनी अमूल्य कृतियाँ हमें प्रदान करके स्वर्गधाम चले गये। किन्तु आज उनकी परम्परा को वृद्धिगत करने वाली बीसवीं सदी की प्रथम बाल ब्रह्मचारिणी परमपूज्य गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जिन्होंने सिद्धान्त ग्रंथ पर यह दुरूह टीका कार्य करने का उपक्रम किया है उनके दर्शन करके हमें अपने चर्मचक्षुओं को सफल करना चाहिए।

इनके विशद ज्ञान एवं साहित्य सृजन से प्रभावित होकर उत्तरप्रदेश के फैजाबाद के “डॉ. राममनोहर लोहिया विश्वविद्यालय” ने ५ फरवरी १९९५ को एक दीक्षान्त समारोह आयोजित करके इन्हें डी.लिट् (डाक्टर ऑफ लेटर्स) “साहित्यवारिधि” की मानद उपाधि से अलंकृत करके अपने विश्वविद्यालय को गौरवान्वित अनुभव किया था।

पूज्य माताजी के विस्तृत कार्यकलापों की ओर जब दृष्टि डालती हूँ तब वास्तव में लगता है कि इन्होंने पूर्व जन्म में निश्चित ही खूब विद्यादान दिया होगा, जिसके कारण इस भव में ये साक्षात् सरस्वती के रूप में अवतरित हुई हैं।

वर्तमान में गृहस्थ नाते से मुझे इनकी लघु बहिन कहलाने का जो सुयोग मिला है, वह भी मेरे लिए प्रसन्नता की बात है। इनके अभीक्षणज्ञान के कुछ रजकण मुझे भी इस भव में प्राप्त हों, मेरा रत्नत्रय दिन- प्रतिदिन वृद्धिगत हो तथा अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति में स्त्रीलिंग का छेद हो यह जिनवर और गुरुवर के आशीर्वाद की अभिलाषा है एवं अगले भवों में (स्वर्ग से मनुष्यगति में आकर) मुझे इनके लघुभ्राता के रूप में जन्म लेकर युगल चारणऋद्धिधारी मुनिराज की पर्याय से मोक्षपद की प्राप्ति हो, हे जिनेन्द्र ! आपके श्रीचरणों में मेरी यही प्रार्थना है।

कहाँ तो द्वादशांग के अंश का यह महासमुद्ररूपी सिद्धान्तग्रंथ और कहाँ मेरी लवमात्रज्ञान को धारण करने वाली छोटी सी बुद्धि ? इस कार्य को करने में मेरा यह साहस केवल जल में स्थित चन्द्र बिम्ब को पकड़ने वाले बालक के समान ही है। फिर भी मेरी यह टीका भव्यों को सिद्धान्त ग्रंथ में प्रवेश कराने के लिए सहयोगी और आत्मा में हर्ष को उत्पन्न कराने वाली होगी।

जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निकलकर जो गौतम स्वामी के मुखरूपी कुण्ड में अवतरित — गिरी है तथा पुष्पदन्त आचार्य आदि के द्वारा विस्तारित गंगाजल के समान “नदी से भरे हुए नये घड़े के जल सदृश” यह टीका सभी प्राणियों के मन को संतृप्त करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

अथाधुना श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्यदेवविनिर्मिते गुणस्थानादिविंशतिप्ररूपणान्तर्गर्भितसत्प्ररूपणानाम् ग्रन्थे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिका व्याख्यानं विधीयते। तत्रादौ ‘णमो अरिहंताणं’ इति पंचनमस्कारगाथामादिं कृत्वा सूत्रपाठक्रमेण गुणस्थानमार्गणा-प्रतिपादनसूचकत्वेन ‘एत्तो इमेसिं’ इत्यादिसूत्रसप्तकं। ततः चतुर्दशगुणस्थाननिरूपणपरत्वेन “संतपरूवणदाए” इत्यादि-षोडशसूत्राणि। ततः परं चतुर्दशमार्गणासु गुणस्थानव्यवस्था-व्यवस्थापन-मुख्यत्वेन “आदेसेण गदियाणुवादेण” इत्यादिना चतुःपञ्चाशदधिक-एकशतसूत्राणि सन्ति। एवं अनेकान्तरस्थलगर्भित-सप्त-सप्तत्यधिक-एकशतसूत्रैः एते त्रयो महाधिकारा भवन्तीति सत्प्ररूपणायाः व्याख्याने समुदायपातनिका भवति।

अत्रापि प्रथममहाधिकारे ‘णमो’ इत्यादि मंगलाचरणरूपेण प्रथमस्थले गाथासूत्रमेकं। ततो गुणस्थानमार्गणाकथनप्रतिज्ञारूपेण द्वितीयस्थले “एत्तो” इत्यादि सूत्रमेकम्। ततश्च चतुर्दशमार्गणानां नामनिरूपणरूपेण तृतीयस्थले सूत्रद्वयं। ततः परं गुणस्थानप्रतिपादनार्थं अष्टानुयोगनामसूचनपरत्वेन चतुर्थस्थले “एदेसिं” इत्यादिसूत्रत्रयं। एवं षट्खण्डागमग्रन्थराजस्य सत्प्ररूपणायाः पीठिकाधिकारे चतुर्भिर्नन्तरस्थलैः सप्तसूत्रैः समुदायपातनिका सूचितास्ति।

अथ श्रीमद्भगवद्धरसेनगुरुमुखादुपलब्धज्ञानभव्यजनानां वितरणार्थं पंचमकालान्त्यवीरांगजमुनिपर्यंतं गमयितुकामेन पूर्वाचार्यव्यवहारपरंपरानुसारेण शिष्टाचारपरिपालनार्थं निर्विघ्नसिद्धान्तशास्त्रपरिसमाप्त्यादिहेतोः श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण णमोकारमहामंत्रमंगलगाथासूत्रावतारः क्रियते —

अब यहाँ श्रीमान् पुष्पदन्त आचार्यदेव द्वारा रचित गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओं में अन्तर्गर्भित इस सत्प्ररूपणा नामक ग्रंथ में अधिकार शुद्धिपूर्वक पातनिका का व्याख्यान किया जाता है। उसमें सबसे पहले “णमो अरिहंताणं” इत्यादि इस पंचनमस्कार गाथा को आदि में करके सूत्र पाठ के क्रम से गुणस्थान, मार्गणा के प्रतिपादन की सूचना देने वाले “एत्तो इमेसिं” इत्यादि सात सूत्र हैं। उसके बाद चौदह गुणस्थानों के निरूपण की मुख्यता से “ओघेण अत्थि” इत्यादि सोलह सूत्र हैं। पुनः आगे चौदह मार्गणाओं में गुणस्थान व्यवस्था की मुख्यता से “आदेसेण गदियाणुवादेण” इत्यादि एक सौ चौव्वन (१५४) सूत्र हैं। इस प्रकार अनेक अन्तर्स्थलों से गर्भित एक सौ सत्तर (१७७) सूत्रों के द्वारा ये तीन महाधिकार हो गये हैं। सत्प्ररूपणा के व्याख्यान में यह समुदायपातनिका हुई।

यहाँ भी प्रथम महाधिकार में “णमो” इत्यादि मंगलाचरण रूप से प्रथम स्थल में एक गाथा सूत्र है। पुनः द्वितीय स्थल में गुणस्थान-मार्गणा के कथन की प्रतिज्ञारूप से “एत्तो” इत्यादि एक सूत्र है और उसके बाद चौदह मार्गणाओं के नाम निरूपण रूप से तृतीय स्थल में दो सूत्र हैं। उसके आगे गुणस्थानों के प्रतिपादन हेतु आठ अनुयोग के नाम सूचना की मुख्यता से चतुर्थ स्थल में “एदेसिं” इत्यादि तीन सूत्र हैं।

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रंथराज की सत्प्ररूपणा के पीठिका अधिकार में चार अन्तरस्थलों के द्वारा सात सूत्रों में समुदायपातनिका सूचित — प्रदर्शित की गई है।

अब श्रीमत् भगवान् धरसेनाचार्य गुरु के मुख से उपलब्ध ज्ञान को भव्यजनों में वितरित करने के लिए पंचमकाल के अन्त में वीरांगज मुनि पर्यन्त इस ज्ञान को ले जाने की इच्छा से, पूर्वाचार्यों की व्यवहार परम्परा के अनुसार, शिष्टाचार का परिपालन करने के लिए, निर्विघ्न सिद्धान्त शास्त्र की परिसमाप्ति आदि हेतु को लक्ष्य में रखते हुए श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य के द्वारा णमोकार महामंत्र मंगल गाथा सूत्र का अवतार किया जाता है —

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं॥१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—‘णमो’ इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। णमो-नमस्कारोऽस्तु। केभ्यः ? अरिहंताणं-अर्हद्भ्यः। इत्यादि पंचपदेषु ज्ञातव्यः।

“सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोकशब्दावन्त्यदीपकत्वादध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगतत्रिकालगो-चराहंदादिदेवताप्रणमनार्थम्।” इति न्यायेन णमो अरिहंताणं अस्यार्थः सार्धद्वयद्वीपेषु सप्तत्यधिकशत-कर्मभूमिषु संजातेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः। णमो सिद्धाणं सकलकर्मभूमिभ्यः सिद्धपदप्राप्तेभ्यः संहरणसिद्धापेक्षया सार्धद्वयद्वीपद्वयसमुद्रेभ्यः सिद्धपदप्राप्तेभ्यश्च त्रिकालगोचरेभ्यः सिद्धेभ्यो नमः। णमो आइरियाणं सकलकर्मभूमिषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्य आचार्येभ्यो नमः। णमो उवज्झायाणं अखिलकर्मधरासूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्य उपाध्यायेभ्यो नमः। णमो लोए सव्वसाहूणं निखिलकर्म-मेदिनीषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः।

इतो विस्तरः—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं॥१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—“णमो” इत्यादि पदखंडना रूप से व्याख्यान प्रारंभ किया जा रहा है। णमो—नमस्कार होवे। किन्हें नमस्कार हो ? अरिहंतों को। इसी प्रकार से पाँचों पदों में जानना चाहिए कि सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को, सर्वसाधुओं को नमस्कार हो।

सर्वनमस्कारों में यहाँ सर्व और लोक इन दो शब्दों को अन्त्यदीपक न्याय के अनुसार अध्याहार—अधिक रूप से ग्रहण कर लेना चाहिए जो सम्पूर्ण क्षेत्रगत तीनों कालों में होने वाले अर्हन्तादि देवताओं के प्रणमन के सूचक हैं। इस न्याय से “णमो अरिहंताणं” इस पद का अर्थ है कि ढाई द्वीपों की एक सौ सत्तर कर्मभूमियों में होने वाले भूत-भाव-वर्तमान संबंधी त्रैकालिक समस्त अर्हंत परमेष्ठियों को नमस्कार हो। “णमो सिद्धाणं” का अर्थ है कि समस्त कर्मभूमियों से सिद्ध पद प्राप्त निकल परमात्माओं को तथा संहरण सिद्ध की अपेक्षा से भी—उपसर्गादि से सिद्ध पद जिन्हें प्राप्त हुआ है ऐसे ढाईद्वीप और दो समुद्रों से तीनों कालों में जितने भी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं, होंगे उन सभी सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार हो।

“णमो आइरियाणं” पद का भी यही अर्थ है कि सम्पूर्ण कर्मभूमियों में उत्पन्न त्रिकालगोचर समस्त आचार्य परमेष्ठियों को नमस्कार हो। “णमो उवज्झायाणं” का मतलब है कि समस्त कर्मभूमियों में तीनों कालों में उत्पन्न होने वाले सभी उपाध्याय परमेष्ठियों को नमस्कार हो। “णमो लोए सव्वसाहूणं” इस अंतिम पद का अर्थ है कि सभी कर्मभूमियों में उत्पन्न त्रिकालगोचर सम्पूर्ण साधु परमेष्ठियों को मेरा नमस्कार होवे।

इदानीं देवतानमस्कारसूत्रस्यार्थ उच्यते —

नमोऽर्हदभ्यः —

अरिहन्नादरिहन्ता^१ अरिर्मोहः, मोहनीयकर्मन्तरेण शेषसप्तकर्माणि संसारे संसरणकारणानि न भवन्ति। अतस्तस्यारिहन्नादरिहन्ता। रजोहननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव रजांसि। मोहोऽपि रजः। तेषां ज्ञानावरणदर्शनावरणानां हननाद् अरिहन्ता। रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघाति-त्रितयविनाशाविनाभाविनो हननादरिहन्ता। ” मोहनीयज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायचतुर्घातिकर्मणां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयः नरकतिर्यग्देवायुषां त्रिप्रकृतयो, नामकर्मणां नरकगतिनरकगत्यानुपूर्वी-तिर्यग्गति-गत्यानुपूर्वी-विकलत्रय-उद्योत-आतप-एकेन्द्रिय-साधारणसूक्ष्म-स्थावराः त्रयोदशप्रकृतयः इति त्रिषष्टिप्रकृतिविनाशात् त्रयोदशमगुणस्थानवर्तिनः केवलिनः ‘अरिहन्ता’ भवन्ति।

अथवा ‘अरहन्ताणं’ इति पाठान्तरे “अतिशयपूजार्हत्वाद्वाहन्तः”^२। स्वर्गावतरणादिपञ्चमहाकल्याणकेषु सौधर्मेन्द्रादिकृतानां पूजानामर्हत्वाद् योग्यत्वादहन्तः। चतुस्त्रिंशदतिशयाष्टमहाप्रातिहार्यान्तचतुष्टय-रूपषट्चत्वारिंशदगुणसमन्वित्वा अष्टादशदोषविरहिताश्च सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनोऽर्हन्तो भगवन्तो भवन्ति। अथवा ‘अरुहन्ताणं’ इत्यपि पाठान्तरे ‘अरोहद्भ्यः’ अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात्^३।

इसी का विस्तार करते हैं —

अब देवता नमस्कार सूत्र का अर्थ कहते हैं —

अरिहंतों को नमस्कार हो — अरि अर्थात् मोह कर्म, मोहनीय कर्म के बिना शेष सातों कर्म संसार में संसरण कराने में कारण नहीं होते हैं अतः उस मोहकर्म रूपी शत्रु का हनन करने वाले अरिहंत कहलाते हैं अथवा ‘रज’ अर्थात् आवरण कर्मों को नाश कर देने से ‘अरिहंत’ यह संज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलि की तरह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों गुणों को ढक लेते हैं इसलिए इन्हें रज कहा है। मोह को भी रज कहते हैं। उन ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मों का नाश करने से अरिहंत हैं। अथवा ‘रहस्य’ के अभाव से भी अरिहंत होते हैं। रहस्य अन्तराय कर्म को कहते हैं। अन्तराय कर्म का नाश शेष तीन घातिया कर्मों के नाश का अविनाभावी है, ऐसे अन्तराय कर्म के नाश से अरिहंत होते हैं। अर्थात् अन्तराय कर्म के साथ-साथ शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय ये तीनों कर्म नियम से नष्ट होते ही हैं वे अघातिया कर्म भी भ्रष्ट बीज के समान शक्तिहीन हो जाते हैं।

मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों की सैंतालीस प्रकृतियाँ, नरकायु-तिर्यचायु-देवायु ये आयुर्कर्म की तीन प्रकृतियाँ, नामकर्म की नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय (द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय), उद्योत-आतप-एकेन्द्रिय-साधारण-सूक्ष्म-स्थावर ये तेरह प्रकृतियाँ इस प्रकार कुल त्रैसठ प्रकृतियों के विनाश से तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान् अरिहंत परमेष्ठी होते हैं।

अथवा “अरहन्ताणं” ऐसा पाठान्तर प्राप्त होने पर “सातिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त होते हैं। स्वर्गावतरण — स्वर्ग से च्युत होकर माता के गर्भ में आने से लेकर पञ्च महाकल्याणकों में सौधर्मादि इन्द्रों के द्वारा की जाने वाली पूजा के योग्य होने से अर्हन्त संज्ञा भी सार्थक है।

चौत्तीस अतिशय, अष्टमहाप्रातिहार्य, अनन्त चतुष्टयरूप छियालिस गुण समन्वित और अठारह दोष रहित सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अर्हन्त भगवान् होते हैं। अथवा धवला ग्रंथ के टिप्पण में ‘अरुहन्ताणं’ यह पाठान्तर भी आया है जिसका अर्थ है.....पुनः उत्पन्न न होने वाले क्षीणशक्ति वाले बीज की तरह से जिनके कर्म भी अत्यन्त क्षीण हो गये हैं। कहा भी है —

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. ४३। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. ४५। ३. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. ४६, टिप्पणियाँ।

आह च —

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥

श्लोकार्थ — जिस प्रकार बीज के जल जाने पर उसमें से पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के भी दग्ध हो जाने पर भवरूपी अंकुर नहीं उगता है।

इसलिए जिनका पुनर्जन्म संसार में नहीं होगा, ऐसे अरहन्तों को अरुहन्त संज्ञा भी किन्हीं के द्वारा प्रदान की गई है।

विशेषार्थ — श्री बुधजन कवि द्वारा वर्णित चौतिस अतिशय जो प्रसिद्ध हैं ही, जो जन्म के १०, केवलज्ञान के १० और देवकृत १४ रूप जाने जाते हैं, किन्तु तिलोपपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से इन अतिशयों में किंचित् भेद देखा जाता है। जैसे —

णिस्सेदत्तं णिम्मलगत्तत्तं दुद्धधवलरुहिरत्तं।

आदिमसंहडणत्तं, समचउरस्संगसंठाणं॥८९६॥

अणुवमरूवत्तं णव, पंचयवरसुरहिगंधधारित्तं।

अट्टुत्तरवरलक्खण, सहस्सधरणं अणंतबलविरियं॥८९७॥

मिदहिदमधुरालाओ, साभाविय अदिसयं च दसभेदं।

एदं तित्थयराणं, जम्मग्गहणादिउप्पण्णं॥८९८॥

अर्थात् १. स्वेदरहितता २. निर्मलशरीर ३. दूध के समान धवल रुधिर ४. वज्रवृषभ नाराचसंहनन ५. समचतुरस्र संस्थान ६. अनुपम रूप ७. नवचम्पक की उत्तम गंध के समान गंध का धारण करना ८. एक हजार आठ उत्तम लक्षणों को धारण करना ९. अनन्तबल १०. हितमित मधुर भाषण ये स्वाभाविक दस अतिशय तीर्थकर पदधारी अर्हन्तों के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

पुनः केवलज्ञान के ११ अतिशय कहे गये हैं —

१. अपने पास से चारों दिशाओं में एक सौ योजन तक सुभिक्षता २. आकाशगमन ३. हिंसा का अभाव ४. भोजन का अभाव ५. उपसर्ग का अभाव ६. सबकी ओर मुख करके स्थित होना ७. छाया रहितता ८. निर्निमेष दृष्टि ९. विद्याओं की ईशता-स्वामीपना १०. सजीव होते हुए भी नख और रोमों का समान रहना ११. अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएँ हैं। उनमें तालु, दन्त, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर एक ही समय भव्यजनों को दिव्य उपदेश देना। भगवान् जिनेन्द्र की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्याओं में नव मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यन्त जाती है। इसके अतिरिक्त गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों को छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। इस प्रकार घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए ये महान आश्चर्यजनक ग्यारह अतिशय तीर्थकरों को केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर अर्हन्त अवस्था में प्रगट होते हैं।

अब देवकृत १३ अतिशय बताते हैं —

१. तीर्थकरों के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्र, फूल और फलों की वृद्धि से

नमः सिद्धेभ्यः —

सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्माणः^१।

मोहनीयकर्मविनाशात् सम्यक्त्वं, ज्ञानावरणनिर्दहनात् ज्ञानं, दर्शनावरणविघातात् दर्शनं, अंतरायहननाद् वीर्यं, नामकर्मनिर्णाशात् सूक्ष्मत्वं, आयुःकर्माभावात् अवगाहनत्वं, गोत्रकर्मनाशादगुरुलघुत्वं, वेदनीयकर्मशातनादव्याबाधं इति एते अष्टकर्मविनिर्मुक्ता अष्टगुणसमन्विताः सिद्धा भवन्ति। उक्तं च —

सम्मत्तणाणदंसणवीरिय-सुहुमं तहेव अवगहणं।

अगुरुलहुमव्वावाहं, अट्टगुणा होति सिद्धाणं॥

यद्यपि अनन्तान्तगुणपुञ्जाः सिद्धाः तथापि सामान्यतया अष्टगुणविशिष्टा एव गीयन्ते।

संयुक्त हो जाता है, २. कंटक और रेती आदि को दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है, ३. जीव पूर्व वैर को छोड़कर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं, ४. उतनी भूमि दर्पण तल के सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है, ५. सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगंधित जल की वर्षा करता है, ६. देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्य को रचते हैं, ७. सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है, ८. वायुकुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है, ९. कूप और तालाब आदिक निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं, १०. आकाश धुआँ और उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है, ११. सम्पूर्ण जीवों को रोगादि की बाधाएँ नहीं होती हैं, १२. यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्रों को देखकर जनों को आश्चर्य होता है, १३. तीर्थंकरों के चारों दिशाओं में (विदिशाओं सहित) छप्पन सुवर्णकमल, एक पादपीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार के पूजन द्रव्य होते हैं।

इस प्रकार ये १०+११+१३=३४ अतिशय अर्हन्त भगवन्तों के होते हैं तथा अशोक वृक्ष, तीनछत्र, सिंहासन, दिव्यध्वनि, देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, प्रभामण्डल और चौंसठ चंवर ये आठ प्रातिहार्य भी उन जिनेन्द्रों के पाये जाते हैं।

जो उपर्युक्त चौंतीस अतिशयों को प्राप्त हैं, अष्टमहाप्रातिहार्यों से संयुक्त हैं, मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं और तीनों लोकों के स्वामी हैं ऐसे अर्हन्त परमेष्ठी को मेरा मन, वचन, काय से नमस्कार होवे।

सिद्धों को नमस्कार हो —

जो निष्ठित— पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थित हैं, कृतकृत्य— समस्त कार्यों को पूर्ण कर चुके हैं, सिद्धसाध्य— अपने साध्य (लक्ष्य) को सिद्ध कर चुके हैं और आठों कर्मों को नष्ट कर चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।

मोहनीय कर्म के विनाश से सम्यक्त्व होता है, ज्ञानावरण के नष्ट होने पर अनन्त ज्ञान प्रगट होता है, दर्शनावरण के विघात से अनन्तदर्शन, अन्तराय के हनन से अनन्तवीर्य, नामकर्म के अत्यंत नाश से सूक्ष्मत्व गुण, आयुकर्म के अभाव से अवगाहन गुण, गोत्र कर्म के नाश से अगुरुलघु गुण, वेदनीय कर्म के शातन — अभाव से अव्याबाध। इस प्रकार इन आठ कर्मों से रहित और आठ गुणों से सहित सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।

लघु सिद्धभक्ति में कहा भी है —

गाथार्थ — सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धों के होते हैं।

यद्यपि अनन्तान्त गुणों के पुञ्जस्वरूप सिद्ध भगवान् होते हैं फिर भी सामान्यतया आठ गुणों से विशिष्ट ही बताये गये हैं।

नमः आचार्येभ्यः —

पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः, चतुर्दशविद्यास्थानपारगः, एकादशाङ्गधरः आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमय-परसमयपारगो वा^१।

आचार्यस्य षट्त्रिंशद्गुणाः सन्ति। उक्तं चानगारधर्मांमृते^२ —

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादश स्थितेः।

कल्पा दशाऽऽवश्यकानि, षट् षट्त्रिंशद् गुणा गणेः॥७६॥

आचारवत्त्वाद्या अष्टौ, तपांसि द्वादश, स्थितिकल्पा दश, आवश्यकानि षट्, इति षट्त्रिंशद्गुणाः।
आचारवत्त्वादिनामान्याह —

आचारी सूरिराधारी, व्यवहारी प्रकारकः।

आयापायदिगुत्पीडोऽपरिस्नावी सुखावहः॥७७॥

तपांसि आवश्यकानि च ज्ञायन्ते। स्थितिकल्पाः उच्यन्ते —

आचेलक्यं, औद्देशिकपिण्डवर्जनं, शय्याधरपिण्डवर्जनं, राजकीयपिण्डवर्जनं, कृतिकर्म, व्रतारोपणयोग्यत्वं, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमणं, मासैकवासिता, वर्षायोगश्चेति दश भवन्ति।

अथवा द्वादश तपांसि, दश धर्माः, पंचाचाराः, षडावश्यकानि, तिस्रो गुप्तयश्चेति षट्त्रिंशद्गुणा अपि भवन्ति। तथा संग्रहानुग्रहनिग्रहेषु कुशलाः। उक्तं च धवलाटीकाकारेण —

आचार्यों को नमस्कार हो —

पाँच प्रकार के आचारों का जो स्वयं आचरण करते हैं तथा शिष्यों से आचरण कराते हैं, वे आचार्य परमेशी कहलाते हैं। वे आचार्य चौदह विद्यास्थान (चौदह पूर्व) के पारगामी — ज्ञाता होते हैं। ग्यारह अंगरूप श्रुत के धारी अथवा आचारांग मात्र के धारक होते हैं अथवा तात्कालिक स्वसमय — जिनागम और परसमय — परमतों के शास्त्रों के पारगामी होते हैं।

आचार्य के छत्तीस गुण हैं। उनके बारे में अनगारधर्मांमृत ग्रंथ में कहा है —

श्लोकार्थ — आचारवत्त्वादि आठ, बारह तप, दश स्थितिकल्प और षट् आवश्यक ये ३६ गुण आचार्य परमेशी के होते हैं॥७६॥

आचारवत्त्वादि आठ गुण, बारह प्रकार का तपश्चरण, दस प्रकार का स्थितिकल्प और छह प्रकार के आवश्यक कर्तव्य ये ८+१२+१०+६=३६ मूलगुण आचार्य के होते हैं।

आचारवत्त्वादि के नाम बताते हैं —

श्लोकार्थ — आचार, आधार, व्यवहार, प्रकारक, आयापायदिक्, उत्पीड़न, अपरिस्नावी और सुखावह ये आचारवत्त्वादिक के आठ नाम हैं॥७७॥

तप और आवश्यक तो ज्ञात ही हैं, अब स्थितिकल्प के भेद बताते हैं —

आचेलक्य, औद्देशिकपिण्डवर्जन, शय्याधरपिण्डवर्जन, राजकीयपिण्डवर्जन, कृतिकर्म, व्रतारोपणयोग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और वर्षायोग ये दश स्थितिकल्प होते हैं।

अथवा बारह तप, दश धर्म, पाँच आचार, छह आवश्यक और तीन गुप्तियाँ ये १२+१०+५+६+३=३६ गुण भी माने गये हैं तथा वे आचार्य शिष्यों के संग्रह-अनुग्रह-निग्रह में भी कुशल होते हैं।

संग्रह-गुग्गहकुसलो, सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती।

सारण-वारण-सोहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो।।^१

सारणं-आचरणं, वारणं-निषेधः, शोधनं-व्रतानां शुद्धिः, एतासु क्रियासु नित्योद्युक्तः आचार्यदेवो भवति।

गाथार्थ — शिष्यों के संग्रह तथा अनुग्रह में कुशल, सूत्रों (आर्षग्रन्थों) के अर्थ करने में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है तथा सारण-वारण-शोधन इन सभी क्रियाओं में आचार्य परमेष्ठी सदा उद्यमशील रहते हैं।

यहाँ सारण का मतलब आचरण, वारण-निषेध, शोधन-व्रतों की शुद्धि है। इन सभी क्रियाओं में उद्यमशील सूरिवर्य मुनिवर को आचार्य परमेष्ठी जानना चाहिए।

विशेषार्थ — मूलाचार, अनगार धर्माभूत आदि आचारग्रंथों के आधार से पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने 'दिगम्बरमुनि' ग्रंथ में आचार्य के ३६ मूलगुणों का वर्णन किया है, उसी को यहाँ दर्शाया जा रहा है।

जो पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं वे "आचार्य" कहलाते हैं। जो चौदह विद्याओं के पारंगत, ग्यारह अंग के धारी अथवा आचारांगमात्र के धारी हैं अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत हैं। मेरु के समान निश्चल, पृथ्वी के समान सहनशील, समुद्र के समान दोषों को बारह फेंक देने वाले और सात प्रकार के भय से रहित हैं। देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, जो शिष्यों के संग्रह और उन पर अनुग्रह करने में कुशल हैं, सूत्र के अर्थ में विशारद हैं, यशस्वी हैं तथा सारण — आचरण, वारण — निषेध और शोधन — व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओं में उद्युक्त (उद्यमशील) हैं, वे ही आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं।"

संघ के आचार्य स्वयं जब सल्लेखना ग्रहण के सम्मुख होते हैं तब वे अपने योग्य शिष्य को विधिवत् चतुर्विध संघ के समक्ष आचार्यपद देकर नूतन पिच्छिका समर्पित कर देते हैं और ऐसा कहते हैं कि "आज से प्रायश्चित्त शास्त्र का अध्ययन करके शिष्यों को दीक्षा, प्रायश्चित्त आदि आचार्य का कार्य तुम्हें करना है।" उस समय गुरु उस आचार्य को छत्तीस गुणों के पालन का उपदेश देते हैं।

आचार्य के छत्तीस गुण — आचारवत्त्व आदि ८, १२ तप, १० स्थितिकल्प और ६ आवश्यक ये छत्तीस गुण होते हैं।

आचारवत्त्व आदि ८ गुण — आचारवत्त्व, आधारवत्त्व, व्यवहारपटुता, प्रकारकत्व, आयापायदर्शिता, उत्पीलन, अपरिस्रवण और सुखावहन।

आचारवत्त्व — आचार के पाँच भेद हैं — ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार।
दर्शनाचार — जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना। अथवा सम्यक्त्व को पच्चीस मल दोष रहित — निर्दोष करना यह दर्शनाचार है। दर्शन शुद्धि के आठ भेद हैं —

निःशंकित — तत्त्वों में शंका नहीं करना।

निःकांक्षित — उभयलोक संबंधी भोगों की आकांक्षा नहीं करना।

निर्विचिकित्सा — अस्नानव्रत, नग्नता आदि में अरुचि नहीं करना।

अमूढदृष्टि — मूढ़ता या मिथ्या परिणामों से रहित होना।

उपगूहन — चतुर्विध संघ के दोषों का आच्छादन करना।

स्थितिकरण — रत्नत्रय से च्युत होने वाले को उपदेशादि द्वारा स्थिर करना।

वात्सल्य — साधर्मियों में अकृत्रिम स्नेह रखना।

प्रभावना — “दान, पूजन, व्याख्यान, वाद, मंत्र, तंत्र आदि से मिथ्यामतों का निरसन कर अर्हते के शासन को प्रकाशित करना।”

“ये निःशंकित आदि आठ गुण हैं इन्हें दर्शनशुद्धि कहते हैं। इनके विपरीत इतने ही अतिचार हो जाते हैं।

ज्ञानाचार — जिससे आत्मा का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिससे मनोव्यापार रोका जाता है और जिससे आत्मा कर्ममल से रहित होती है वही सम्यग्ज्ञान है। उसको आठ भेद सहित पालन करना ज्ञानाचार है। ये भेद ज्ञान की आठ शुद्धिरूप हैं।

कालशुद्धि — स्वाध्याय की बेला में पठन, शास्त्रों का पुनः-पुनः वाचन, व्याख्यान आदि करना कालशुद्धि है।

विनयशुद्धि — मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक अत्यर्थ विनय से श्रुत का पठन-पाठन करना।

उपधान शुद्धि — कुछ नियम लेकर अर्थात् “जब तक यह ग्रंथ पूरा न हो तब तक मेरा दूध का त्याग है” इत्यादि नियम लेकर पढ़ना।

बहुमान शुद्धि — पूजा, सत्कारपूर्वक पठन आदि करना।

अनिह्वय शुद्धि — जिस गुरु से शास्त्र पढ़ा है उसका नाम प्रकाशित करना अथवा जिस ग्रंथ से ज्ञान हुआ है, उसको नहीं छिपाना।

व्यंजन शुद्धि — वर्ण, पद वाक्यों को शुद्ध पढ़ना।

अर्थ शुद्धि — पदों का अनेकांत रूप अर्थ करना।

तदुभय शुद्धि — शब्द और अर्थ को शुद्धिपूर्वक पढ़ना।

इस प्रकार कालादि शुद्धि के भेद से ज्ञानाचार के भी आठ भेद होते हैं।

चारित्राचार — पाप क्रिया से निवृत्ति चारित्र है। उसके पाँच भेद हैं—प्राणिवध, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों का सर्वथा त्याग कर देना ये पाँच चारित्राचार हैं।

“पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन का भी त्याग किया जाता है। इसे छठा अणुव्रत भी कहते हैं। अन्यत्र—साधुओं के प्रतिक्रमण में भी कहा है—“रात्रिभोजन से विरक्त होना छठा अणुव्रत है।”

अथवा पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रकार का चारित्राचार है।

“चंपापुरी, पावापुरी, गिरनार आदि तीर्थयात्रा हेतु, साधुओं के सन्यास निमित्त, देव, धर्म आदि के हेतु अथवा शास्त्रों को सुनने-सुनाने के लिए अथवा प्रतिक्रमण आदि सुनने-सुनाने के लिए अपररात्रिक स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और देववन्दना करके सूर्योदय हो जाने पर प्रासुकमार्ग में चार हाथ आगे जमीन देखते हुए गमन करना ईर्यासमिति है।” क्योंकि साधु किसी भी लौकिक कार्य के लिए या व्यर्थ गमन नहीं करते हैं। ऐसे ही शास्त्रानुकूल बोलना, आहार करना, कुछ वस्तु रखना, उठाना और प्रासुक स्थान में मलमूत्रादि विसर्जन करना ये पाँच समितियाँ हैं।

अशुभ मन, वचन और काय का गोपन करना अर्थात् मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना गुप्ति है। अथवा स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हुए मुनि के जो मन, वचन, काय का संवरण होता है

उसी का नाम गुप्ति है। इसके मन, वचन, काय की अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं।

इन्हें “अष्टप्रवचनमातृका” भी कहते हैं। क्योंकि ये मुनियों के रत्नत्रय की रक्षा करती हैं जैसे कि माता अपने पुत्र की रक्षा करती है।”

पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार का चारित्र भी माना है इनका पालन करना-कराना ही चारित्राचार है।

“पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन निवृत्तिरूप छठा अणुव्रत, आठ प्रवचन मातृकाएँ और पच्चीस भावनाएँ मानी गयी हैं।”

उसमें से सभी का लक्षण स्पष्ट है। अब पाँच व्रतों की पच्चीस भावनाओं को कहते हैं—

भावना—व्रतों की पूर्णता हेतु या स्थिरता हेतु जो पुनः-पुनः भावित की जाती हैं, पाली जाती हैं वे भावनाएँ हैं। पाँच व्रतों में प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से पच्चीस भावनाएँ हो जाती हैं।

अहिंसा व्रत की ५ भावना—एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकितपानभोजन ये पाँच भावनाएँ हैं। इनको भाने वाला साधु जीवदया का प्रतिपालन करता है अर्थात् प्रथम महाव्रत परिपूर्ण होता है। इसलिए अहिंसा महाव्रत की साधनरूप ये भावनाएँ हैं, ऐसा समझो। इसमें से चार का लक्षण आ चुका है। आलोकितपानभोजन में सूर्य के प्रकाश में चक्षु इन्द्रिय से देखकर आगम के ज्ञानपूर्वक भोजनपान करना चाहिए।

सत्यव्रत की ५ भावना—क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग करना तथा अनुवीचि-सूत्र के अनुकूल वचन बोलना ये पाँच भावनाएँ सत्यव्रत की पूर्णता हेतु हैं।

अचौर्यव्रत की ५ भावना—किसी वस्तु, पुस्तक आदि को उनसे माँग कर लेना “याचना” है, किसी की वस्तु उनकी अनुमति से ग्रहण करना और परोक्ष में लेने पर उन्हें कह देना “समनुज्ञापना” है, ग्रहण की हुई परवस्तु में आत्मभाव नहीं करना “अनन्यभाव” है, त्यक्त प्रतिसेवा और सहधर्मी साधुओं के उपकरण-पुस्तक, पिच्छी आदि सूत्रानुकूल सेवन करना इस प्रकार यांचा, समनुज्ञापना, अनन्यभाव, त्यक्त प्रतिसेवा और साधर्म्य के उपकरण का अनुवीचि सेवन ये पाँच भावनाएँ अचौर्यव्रत को पूर्ण करने वाली हैं।

ब्रह्मचर्यव्रत की ५ भावना—महिलाओं को कामविकार से नहीं देखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना, रागभाव के कारणभूत पदार्थों से संसक्त वसतिका में नहीं रहना अथवा असंयमी लोगों के साथ नहीं रहना, श्रृंगारिक कथा-विकथा आदि नहीं करना, बल और दर्प उत्पन्न करने वाले रसों का सेवन नहीं करना। ये पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण करने वाली हैं।

परिग्रहत्याग व्रत की ५ भावना—पंच इन्द्रियों के प्रिय और अप्रिय विषय जो कि शब्द, रस, स्पर्श, रूप और गंध में परिग्रह रहित मुनि रागद्वेष नहीं करते हैं। इसलिए इन पाँच भावनाओं से अपरिग्रहमहाव्रत पूर्ण होता है।

“इन पच्चीस भावनाओं की भावना करने वाला साधु सोता हुआ भी अथवा मूर्च्छा को प्राप्त हुआ भी अपने सभी व्रतों में किंचित् मात्र भी पीड़ा-विराधना को नहीं करता है पुनः सावधान रहते हुए-जागृत रहते हुए की बात ही क्या है ? वह साधु स्वप्न में भी इन भावनाओं को ही देखता है किन्तु व्रतों की विराधना को नहीं देखता है।”

तप आचार—“जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है—दहन करता है, वह तप है।” यह कर्मों को दहन करने में समर्थ है। इसके दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। इन दोनों के भी छह-छह भेद होने से बारह भेद हो जाते हैं। इन बारह प्रकार के तपों का अनुष्ठान करना तप आचार है।

वीर्याचार—अपने बल और वीर्य को न छिपाकर जो साधु यथोक्त आचरण में अर्थात् प्राणिसंयम-इन्द्रियसंयम के पालन और तपश्चरण में अपने आपको लगाते हैं। कायरता प्रगट न करके हमेशा चारित्र के आचरण में और तप में उत्साहित रहते हैं, यही वीर्याचार है। इन पाँच आचारों का पालन करना-कराना ही आचारवत्त्व है।

२. आधारवत्त्व—जिस श्रुतज्ञानरूपी संपत्ति की कोई तुलना नहीं कर सकता उसको अथवा नौ पूर्व, दशपूर्व या चौदह पूर्व तक के श्रुतज्ञान को अथवा कल्पव्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते हैं।

३. व्यवहारपटुता—व्यवहार नाम प्रायश्चित्त का है, वह पाँच प्रकार का है। इसकी कुशलता ही व्यवहारपटुता है। जिन्होंने अनेक बार प्रायश्चित्त देते हुए देखा है, स्वयं ग्रहण किया है, दूसरों को दिलवाया है वे ही व्यवहारपटु हैं।

व्यवहार—प्रायश्चित्त के ५ भेद—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।

ग्यारह अंग शास्त्रों में प्रायश्चित्त वर्णित है अथवा उनके आधार से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसको आगम कहते हैं।

चौदहपूर्व में बताये हुए या तदनुसार दिये हुए को श्रुत कहते हैं। कोई आचार्य समाधिमरण के लिए उद्युक्त हैं, उनकी जंघा का बल घट गया—वे दूर तक विहार नहीं कर सकते, वे आचार्य किसी योग्य आचार्य के पास अपने योग्य ज्येष्ठ शिष्य को भेजकर उसके द्वारा ही अपने दोषों की आलोचना कराकर प्रायश्चित्त मंगाकर ग्रहण करते हैं, उसको आज्ञा कहते हैं।

कोई आचार्य उपर्युक्त स्थिति में हैं और उनके पास शिष्यादि भी नहीं हैं तो वे स्वयं अपने दोषों की आलोचना कर पहले के अवधारित (जाने हुए) प्रायश्चित्त को ग्रहण करते हैं वह धारणा प्रायश्चित्त है।

बहत्तर पुरुषों की अपेक्षा जो प्रायश्चित्त बताया गया है, उसको जीत कहते हैं। इनमें निष्णात आचार्य व्यवहारपटु कहलाते हैं।

४. प्रकारकत्व—जो समाधिमरण कराने में या उसकी वैयावृत्य करने में कुशल हैं उन्हें परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं, यह गुण प्रकारकत्व कहलाता है।

५. आयापायदर्शिता—आलोचना करने के लिए उद्यत हुए क्षपक (समाधिमरण करने वाले साधु) के गुण और दोषों के प्रकाशित करने को आयापायदर्शिता अथवा गुणदोषप्रवक्तृता कहते हैं।

६. उत्पीलन—कोई साधु या क्षपक यदि दोषों को पूर्णतया नहीं निकालता है तो उसके दोषों को युक्ति और बल से बाहर निकाल देना उत्पीलन गुण है।

७. अपरिस्रवण—शिष्य के गोप्य दोष को सुनकर जो प्रकट नहीं करते हैं उनके अपरिस्रवण गुण होता है।

८. सुखावहन—क्षुधादि से पीड़ित साधु को उत्तम कथा आदि के द्वारा शांत करके सुखी करते हैं वे सुखावहन गुण के धारी हैं।

इस प्रकार इन आठ गुण के धारी आचार्य आचारी, आधारी, व्यवहारी, प्रकारक, आयापायदिक, उत्पीडक, अपरिस्रावी और सुखावहन होते हैं।

स्थितिकल्प के दस भेद—आचेलक्य, औद्देशिकपिंडत्याग, शैयाधरपिंडत्याग, राजकीयपिंडत्याग, कृत्तिकर्म, व्रतारोपण योग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और योग इस प्रकार स्थितिकल्पगुण दश हैं।

१. **आचेलक्य** — वस्त्रादि संपूर्ण परिग्रह के अभाव को अथवा नग्नता को आचेलक्य कहते हैं। नग्न दिगम्बर साधु लंगोटीमात्र को भी नहीं रखते हैं चूँकि उसे धोना, सुखाना, संभालना, फटने पर याचना करना आदि अनेक आकुलताएँ होती हैं, जिससे ध्यान-अध्ययन की पूर्णतया सिद्धि असंभव है तथा तीर्थकरों के आचरण का अनुसरण भी नग्नता से ही होता है।

२. **औद्देशिकपिंड त्याग** — जो मुनियों के उद्देश्य से तैयार किया गया है, ऐसे भोजन, पान आदि द्रव्य को ग्रहण नहीं करना औद्देशिक पिंड — आहार का त्याग गुण होता है।

३. **शैयाधरपिंड त्याग** — वसतिका बनवाने वाला, उसका संस्कार करने वाला और वहाँ पर व्यवस्था आदि करने वाला ये तीनों ही शैयाधर शब्द से कहे जाते हैं। इनके आहार, उपकरण आदि न लेने को शैयाधर पिंड त्याग कहते हैं। अभिप्राय यह है कि किसी ने वसतिका दान किया, साधु वहाँ ठहरे पुनः “यदि मैं आहार नहीं दूँगा तो लोग क्या कहेंगे कि इसने साधु को ठहरा तो लिया किन्तु उन्हें आहार नहीं दिया” इत्यादि भावना से संक्लिष्ट परिणाम करके आहार देने से दोषास्पद है। यदि कोई गृहस्थ मान कषाय या भय, संकोच आदि रहित होकर मात्र पात्रदान की भावना से वसतिका दान देकर आहारदान भी देता है, तो उसमें कोई दोष नहीं है।

कोई आचार्य इसको शैयागृहपिंड त्याग कहकर इसका ऐसा अर्थ करते हैं कि विहार करते हुए मार्ग में रात्रि को जिस गृह या वसति में ठहरें या शयन आदि करें वहाँ दूसरे दिन आहार नहीं लेना। अथवा वसतिका संबंधी द्रव्य के निमित्त से जो भोजन तैयार किया गया हो, उसको नहीं लेना यह ‘शैयागृहपिंडोज्झा’ गुण है।

४. **राजकीय पिंड त्याग** — इक्ष्वाकु कुल आदि में जन्में अथवा अन्य राजाओं के यहाँ आहार नहीं लेना राजकीयपिंडत्याग गुण है। अभिप्राय यह है कि ऐसे घरों में भयंकर कुत्ते आदि जन्तु अपघात कर सकते हैं या पशु — गाय, भैंस आदि या गर्विष्ठ नौकर-चाकर आदि अपमान कर सकते हैं इत्यादि बाधक कारणों के प्रसंग से राजाओं के यहाँ का आहार नहीं लेना चाहिए। उपर्युक्त दोषों से रहित यदि होवे तो लेने में कोई दोष नहीं है। भरतसम्राट आदि महाराजाओं के यहाँ तो आहार होते ही थे।

५. **कृतिकर्म** — विधिवत् आवश्यकों का पालन करना अथवा गुरुजनों का विनयकर्म करना कृतिकर्म है।

६. **व्रतारोपणयोग्यता** — शिष्यों में व्रतों के आरोपण करने की योग्यता होना यह छठा गुण है।

७. **ज्येष्ठता** — जो जाति, कुल, वैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थों में महान् रहे हैं, जो ज्ञान और चर्या आदि में उपाध्याय और आर्यिका आदि से भी महान हैं, क्रियाकर्म के अनुष्ठान में भी श्रेष्ठ हैं उनके यह सातवाँ गुण होता है।

८. **प्रतिक्रमण** — प्रतिक्रमण के नाना भेदों को समझने वाले और विधिवत् करने-कराने वाले आचार्य इस गुण के धारी होते हैं।

९. **मासैकवासिता** — जिनके तीस दिन-रात्रि तक एक ही स्थान में या ग्राम में रहने का व्रत हो उनके यह मासैकवासिता गुण होता है। चूँकि अधिक दिन एक जगह रहने से उद्गम आदि, क्षेत्र में ममता, गौरव में कमी, आलस, शरीर में सुकुमारता, भावना का अभाव, ज्ञातभिक्षा का ग्रहण आदि दोष होने लगते हैं।

मूलाराधना में इसका ऐसा अर्थ किया है कि “चातुर्मास के एक महीने पहले और पीछे उसी ग्राम में रहना।”

१०. **योग** — वर्षाकाल में चार महीने एक जगह रहना। चूँकि वृष्टि के निमित्त से त्रस-स्थायर जीवों की बहुलता हो जाती है, इससे विहार में असंयम होगा, वृष्टि से ठंडी हवा चलने से आत्मविराधना — शरीर में कष्ट, व्याधि, मरण आदि आ जावेंगे। जल, कीचड़ आदि के निमित्त से गिर जाना आदि संभव है। इत्यादि

कारणों से चातुर्मास में एक सौ बीस दिन तक एक ग्राम में रहना यह उत्सर्ग (उत्कृष्ट) मार्ग है। अपवाद मार्ग की अपेक्षा विशेष कारण उपस्थित होने पर अधिक अथवा कम दिन भी निवास किया जा सकता है। अधिक में आषाढ़ शुक्ला दशमी से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के ऊपर तीस दिन तक निवास किया जा सकता है। अत्यधिक जलवृष्टि, श्रुत का विशेष लाभ, शक्ति का अभाव और किसी की वैयावृत्ति आदि के विशेष प्रसंग आ जाने पर, इन प्रयोजनों के उद्देश्य से एक स्थान में अधिक दिन निवास किया जा सकता है। यह उत्कृष्ट काल का प्रमाण है।

इस प्रकार से आचार्य के ये स्थितिकल्प नाम के दश गुण बताये हैं।

आवश्यक के छह भेद — जो अवश — जितेन्द्रिय मुनि का कर्तव्य है वह आवश्यक कहलाता है। उसके छह भेद हैं — समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

समता — “जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि में हर्ष विषाद नहीं करना, समान भाव रखना समता है। इसे ही सामायिक कहते हैं। त्रिकाल में देववन्दना करना यह भी सामायिकव्रत है।” प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में विधिवत् कम से कम एक मुहूर्त — ४८ मिनट तक सामायिक करना होता है।

स्तुति — वृषभ आदि चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करना स्तव नाम का आवश्यक है।

वंदना — अर्हंतों को, सिद्धों को, उनकी प्रतिमाओं को, जिनवाणी को और गुरुओं को कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

प्रतिक्रमण — अहिंसादि व्रतों में जो अतीचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनका निंदा-गर्हापूर्वक शोधन करना — दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके ऐर्यापथिक, दैवसिक आदि सात भेद हैं।

प्रत्याख्यान — मन, वचन, काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार ग्रहण के अनंतर गुरु के पास अगले दिन आहार ग्रहण करने तक के लिए जो चतुराहार का त्याग किया जाता है, वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

“अतीतकाल के दोष का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। अनागत और वर्तमानकाल में द्रव्यादि दोष का परिहार करना प्रत्याख्यान है। यही इन दोनों में अंतर है। तप के लिए निर्दोष वस्तु का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। किन्तु प्रतिक्रमण दोषों के निराकरण हेतु ही है।”

कायोत्सर्ग — दैवसिक, रात्रिक आदि क्रियाओं में पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण से तथा चौवन, एक सौ आठ आदि श्वासोच्छ्वासपूर्वक णमोकार मंत्र का स्मरण करना। काय — शरीर का उत्सर्ग — त्याग अर्थात् काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

इस प्रकार आचारवत्त्वादि ८+तपश्चरण १२+ स्थितिकल्प १०+और आवश्यक ६=३६ गुणों को पालन करने वाले आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

अन्यत्र अन्य प्रकार से भी बताये हैं। यथा — “१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और तीन गुप्ति ये आचार्य के ३६ गुण होते हैं।” १२ तप आदि का वर्णन किया जा चुका है।

दशधर्म का वर्णन —

उत्तमक्षमा — आहार के लिए अथवा विहार के लिए साधु भ्रमण करते हैं, उस समय कोई दुष्टजन अपशब्द, उपहास अथवा तिरस्कार कर देते हैं या मारपीट देते हैं तो भी मन में कलुषता का न होना उत्तम क्षमा है।

नमः उपाध्यायेभ्यः —

चतुर्दशविद्यास्थान^१व्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा। अत्र चतुर्दशविद्यास्थानेन चतुर्दशपूर्वाणि एव ज्ञातव्यः। उक्तं च—

“एदेसिं चोद्दसविज्जाट्टाणाणं विसयपरूवणा जाणिय कायव्वा।”

चोद्दसपुव्वमहोयहि-महिगम्म सिवत्थिओ सिवत्थीणं।

सीलंधराण वत्ता, होइ मुणी सो उवज्झायो^२।।

यः चतुर्दशपूर्वमहोदधिमवगाह्य मोक्षमार्गे स्वयं स्थितः सन् मोक्षार्थिनां शीलव्रतधारिणां वक्ता उपदेशकः अध्यापकोऽसौ उपाध्यायो भवति।

अस्योपाध्यायस्य एकादशाङ्गचतुर्दशपूर्वज्ञानापेक्षया पंचविंशतिगुणाः भवन्ति।

उत्तम मार्दव — जाति, कुल, विद्या आदि का घमंड नहीं करना उत्तम मार्दव है।

उत्तम आर्जव — मन, वचन और काय को सरल रखना आर्जव है।

उत्तम शौच — प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना उत्तम शौच है।

उत्तम सत्य — अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना।

उत्तम संयम — प्राणियों की हिंसा और इन्द्रियों के विषयों का परिहार करना।

उत्तम तप — कर्मक्षय हेतु बारह प्रकार का तपश्चरण करना।

उत्तम त्याग — संयत के योग्य ज्ञान आदि का दान करना।

उत्तम आर्किंचन्य — जो शरीर आदि हैं उनमें भी संस्कार को दूर करने के लिए “यह मेरा है” इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना।

उत्तम ब्रह्मचर्य — स्त्रीमात्र का त्याग करना “अथवा स्वतंत्रवृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना ब्रह्मचर्य है।”

ख्याति, पूजा आदि की अपेक्षा बिना आत्मविशुद्धि हेतु इन धर्मों को पालने के लिए ही इनमें उत्तम विशेषण लगाया गया है। यहाँ तक आचार्य के ३६ गुणों का वर्णन दो प्रकार से हो चुका है।

उपाध्यायों को नमस्कार हो — चौदह विद्यास्थान (चौदह पूर्व) के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं अथवा तत्कालीन प्रवचन — परमागम के व्याख्यान करने वाले भी उपाध्याय होते हैं। यहाँ चौदह विद्यास्थान से चौदह पूर्व ही जानना चाहिए। क्योंकि कषायपाहुड़ में पृ. २६ पर कहा है — “इन चौदह विद्यास्थानों के विषय का प्ररूपण जानकर करना चाहिए।

गाथार्थ — जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों-मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

जो चौदह पूर्व रूपी महासमुद्र में अवगाहन करके मोक्षमार्ग में स्वयं स्थित होते हुए मोक्षार्थी शील व्रतों के धारी मुनियों के वक्ता हैं, उपदेशक हैं, अध्यापक हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

इन उपाध्याय गुरु के ग्यारह अंग-चौदह पूर्व ज्ञान की अपेक्षा पच्चीस गुण होते हैं।

विशेषार्थ — उपाध्याय परमेष्ठी केवल पठन-पाठन में ही लगे रहते हैं। बाकी शिष्यों का संग्रह करना,

नमः सर्वसाधुभ्यः —

अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्र-
धराश्चतुरशीति-शतसहस्रगुणधराश्च साधवः।^१

ये अष्टाविंशतिमूलगुणान्विता जिनमुद्राधारिणो दिगम्बराः संयमोपकरण-मयूरपिच्छपिच्छिका-
शौचोपकरणकाष्ठकमण्डलुधारिणस्ते नग्नवेषधरा मुनयो एवात्र गृह्यन्ते। तथा च आचार्या उपाध्यायाः
अपि अष्टाविंशतिमूलगुणसहिता एव।

के ते मूलगुणाः ? इत्युच्यन्ते —

वदसमिदिंदियरोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं।

खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।

एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।।^२

उन्हें दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना, उनका संरक्षण करना, संघ की व्यवस्था संभालना आदि कार्य आचार्य के हैं
सो ये नहीं करते हैं।

अन्यत्र उपाध्याय के मुख्य पच्चीस गुण माने हैं —

“ग्यारह अंग और चौदह पूर्व को आप पढ़ते हैं और अन्य को पढ़ाते हैं। ये पच्चीस गुण उपाध्याय
परमेशी के होते हैं।”

ग्यारह अंग — १. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञातृकथांग
७. उपासकाध्ययनांग ८. अंतःकृद्दशांग ९. अनुत्तरोत्पाददशांग १०. प्रश्नव्याकरणांग ११. विपाकसूत्रांग।

चौदह पूर्व — १. उत्पादपूर्व २. अग्रायणीयपूर्व ३. वीर्यानुवादपूर्व ४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ५.
ज्ञानप्रवादपूर्व ६. कर्मप्रवादपूर्व ७. सत्यप्रवादपूर्व ८. आत्मप्रवादपूर्व ९. प्रत्याख्यानपूर्व १०. विद्यानुवादपूर्व
११. कल्याणवादपूर्व १२. प्राणावायपूर्व १३. क्रियाविशालपूर्व और १४. लोकविंदुसारपूर्व।

आज इन अंगपूर्वों का ज्ञान न रहते हुए भी उनके कुछ अंशरूप षट्खण्डागम, कसायपाहुड़ आदि ग्रंथ
तथा उन्हीं की परम्परा से आगत समयसार, मूलाचार आदि ग्रंथ विद्यमान हैं। तत्कालीन सभी ग्रंथों के पढ़ने-
पढ़ाने वाले भी उपाध्याय परमेशी हो सकते हैं। “धवला” में “तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा” इस पद से
स्पष्ट किया है।

सर्वसाधुओं को नमस्कार हो — जो अनन्तज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं
उन्हें साधु कहते हैं। पाँच महाव्रत के धारी, तीन गुप्तियों से गुप्त — रक्षित, अठारह हजार शील के धारक
और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करने वाले साधुपरमेशी कहलाते हैं।

जो अट्ठाईस मूलगुणों से सहित, जिनमुद्राधारी-दिगम्बर, संयम का उपकरण मयूर पंख की पिच्छिका
तथा शौच का उपकरण काष्ठ कमण्डलु धारण करते हैं उन नग्नवेषधारी मुनिराजों को ही यहाँ ग्रहण किया गया
है तथा आचार्य उपाध्याय भी अट्ठाईस मूलगुणों से सहित ही होते हैं।

वे मूलगुण कौन से हैं ? उनके नाम बताते हैं —

गाथार्थ — ५ महाव्रत, ५ समिति, पंचेन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलौच, अचेलक, अस्नान,

अत्राचार्योपाध्यायसाधव एते त्रयोऽपि भावलिंगिनो मुनय एव गृहीतव्याः, किंच त्रिसंख्योननवकोटि-मुनीश्वराणां संख्यायां षष्ठगुणस्थानादारभ्य अयोगकेवलिपर्यन्तमुनयः संगृहीताः सन्ति। अतो ज्ञायतेऽत्र पंचनमस्कारमंत्रे द्रव्यलिंगिनः साधवोऽन्यवेषधारिणो वा न गृहीतव्या भवन्तीति। प्रत्युत षष्ठगुणस्थानादारभ्य द्वादशमगुणस्थानवर्तिपर्यन्तमुनयो ज्ञातव्याः, किंच त्रयोदशम-चतुर्दशमगुणस्थानवर्तिनः अर्हन्तु अंतर्भवन्तीति।

अस्मिन् महामंत्रे पंचपरमेष्ठिनां नमस्कारो विहितः। क्रमापेक्षया कश्चिदाह—

अर्हत् सिद्धयोः क्रमः—

“विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियते इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात् असत्यर्हति आप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मदादीनां संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया वादावर्हन्नमस्क्रियते। न पक्षपातो दोषाय, शुभपक्षवृत्तेः श्रेयोहेतुत्वात्।”

क्षितिशयन, अदन्तधावन, खड़े होकर भोजन करना और एक बार भोजन करना ये सब श्रमणों के ५+५+५+६+७=२८ मूलगुण जिनेन्द्र भगवान ने बताए हैं।

भावार्थ— सामान्यतः २८ मूलगुण तो आचार्य-उपाध्याय-साधु सभी के होते ही हैं क्योंकि सर्वप्रथम मुनिदीक्षा में इन २८ मूलगुणों का आरोपण ही किया जाता है पुनः आगे की श्रेणियाँ तो बाद में योग्यतानुसार प्राप्त होती हैं तब उन-उन पदों के अनुसार भी मूलगुणों का पालन करना होता है किन्तु समाधि के समय अन्तकाल में भी समस्त पदों का त्याग कर सामान्य साधु के रूप में २८ मूलगुणों का पालन ही आवश्यक होता है, तभी निर्दोषरीत्या सल्लेखनामरण संभव है।

यहाँ आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीनों से भावलिंगी मुनियों को ही ग्रहण करना चाहिए और तो क्या तीन कम नव करोड़ मुनीश्वरों की संख्या में छठे गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानपर्यंत समस्त मुनियों का संग्रह हो जाता है। अतः यहाँ यह जानना चाहिए कि इस पंच नमस्कार मंत्र में द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु अथवा जिनमुद्रा के अतिरिक्त वेषधारी अन्य साधुओं को भी ग्रहण नहीं किया गया है। बल्कि छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत मुनियों को ही उनमें जानना चाहिए क्योंकि तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधु अर्हन्तों में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इस महामंत्र में पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। अब क्रम की अपेक्षा से कोई कहते हैं—

अरिहंत और सिद्ध का क्रम— यहाँ पर शंकाकार की शंका है कि “सर्वप्रकार के कर्म लेप से रहित सिद्ध परमेष्ठी के विद्यमान रहते हुए अघातिया कर्मों के लेप से युक्त अरिहंतों को आदि में नमस्कार क्यों किया जाता है ?” इसका समाधान करते हुए कहा है—

यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि सबसे अधिक गुणवाले सिद्धों में श्रद्धा की अधिकता के कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं अर्थात् अरिहंत परमेष्ठी के निमित्त से ही अधिक गुण वाले सिद्धों में सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। अथवा यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थ का परिज्ञान नहीं हो सकता था। किन्तु अरिहंत परमेष्ठी के प्रसाद से हमें इस बोध की प्राप्ति हुई है। इसलिए उपकार की अपेक्षा भी आदि में अरिहंतों को नमस्कार किया जाता है।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार आदि में अरिहंतों को नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है किन्तु शुभ पक्ष में रहने से वह कल्याण का ही कारण है।

उक्तं च—

जस्संतियं धम्मपहं णिगच्छे, तस्संतियं वेणइयं पउंजे।

सक्कारए तं सिर-पंचएणं, काएण वाया मणसा य णिच्चं।।^१

आचार्योपाध्यायसाधूनामपि देवत्वं पूज्यत्वं च—

पुनरपि कश्चिदाह—

घातिकर्मरहितानां सकलपरमात्मनां अर्हतां अघातिकर्मविप्रमुक्तनिष्कलपरमात्मनां सिद्धानां च त्रैलोक्याधिपतिदेवानां नमस्कारो युक्तः, नाचार्यादीनामष्टकर्मसहितानां तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः। तत् आचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात्।

सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः। न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकट्टणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य

कहा भी है—

श्लोकार्थ— जिसके समीप धर्ममार्ग प्राप्त करे, उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिए तथा उसका शिरपंचक अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों घुटने इन पंचांगों से एवं काय, वचन, मन से निरन्तर सत्कार-नमस्कार करना चाहिए।

आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के भी देवपना तथा पूज्यपना है।

पुनरपि कोई कहते हैं—

शंका— घातिकर्म से रहित सकल परमात्मा अर्हतों को तथा अघातिया कर्मों से रहित निकल परमात्मा सिद्धों को तो तीन लोक के अधिपति परम देव मानकर नमस्कार करना ठीक है, किन्तु आचार्य आदि जो अष्टकर्मों से युक्त हैं उन्हें नमस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि इनमें देवत्व का अभाव है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि अपने-अपने भेदों से अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव हैं अन्यथा यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जाये तो सम्पूर्ण जीवों को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जाएगी। इसलिए यह सिद्ध हुआ है कि आचार्यादिक भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देव हैं।

शंका— सम्पूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णता को प्राप्त रत्नत्रय ही देव हैं, रत्नों का एक देश देव नहीं हो सकता है?

समाधान— ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि रत्नत्रय के एक देश में देवपने का अभाव होने पर उसकी समग्रता में भी देवपना नहीं बन सकता है। अर्थात् जो कार्य जिसके एक देश में नहीं देखा जाता है वह उसकी पूर्णता में कहाँ से आ सकता है ?

यहाँ पुनः शंकाकार कहता है कि “आचार्यादिक में स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं क्योंकि उनमें एक देशपना ही है, पूर्णता नहीं है ? इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है—

तुम्हारा यह कथन भी समुचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार पलाल राशि—घास के ढेर का दाहरूप अग्नि समूह का कार्य अग्नि के एक कण से भी होता देखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी आचार्यादिक के

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

अस्मिन् मंत्रे प्रथमपदे एकादश (११) द्वितीयपदे अष्टौ (८) तृतीय पदे एकादश (११) चतुर्थपदे द्वादश (१२) पंचमपदे षोडश (१६) मात्रा गण्यन्ते (५८) अथवा 'अरिहंताणं' अस्य अकारलोपस्य मात्राभावे 'सिद्धाणं' इति पदे संयुक्ताक्षरस्य पूर्वो दीर्घः इति नियमेनापि अष्टपंचाशन्मात्राः सन्तीति ज्ञातव्यं।

अत्र मंत्रस्य विश्लेषणे कृते सति—

ण्+अ+म्+ओ+अ+र्+इ+ह्+अं+त्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+स्+इ+द्+ध्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+आ+इ+र्+इ+य्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+उ+व्+अ+ज्+झ्+आ+य्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+ल्+ओ+ए+स्+अ+व्+व्+अ+स्+आ+ह्+ऊ+ण्+अं।

एषु स्वरव्यञ्जनानां पृथक्करणे चतुस्त्रिंशत्स्वराः त्रिंशद्व्यञ्जनानि इति चतुःषष्टिः वर्णाः भवन्ति।

किं च—'द्धा ज्झा व्व' इति संयुक्ताक्षराणां त्रय एव वर्णा गृहीता अत्र। पुनरत्र "अ, इ, उ, ए", "ज, झ, ण, त, द, ध, य, र, ल, व, स, ह" इति मूलस्वरव्यञ्जनानि समाहितानि भवन्ति। तथा च मूलवर्णा अपि चतुःषष्टिरेव। अतएव अस्मिन् महामंत्रे द्वादशांगः समाहितोऽस्ति—

इस मंत्र के प्रथम पद में ग्यारह मात्राएँ हैं, द्वितीय पद में आठ, तृतीय पद में ग्यारह, चतुर्थ पद में बारह और पंचम पद में सोलह मात्राएँ ऐसे कुल मिलाकर ११+८+११+१२+१६=५८ मात्राएँ हैं। अथवा अरिहंताणं के अकार का लोप हो जाने पर एक मात्रा का वहाँ अभाव हो गया और "सिद्धाणं" इस पद में "संयुक्ताक्षर के पूर्व का अक्षर दीर्घ हो जाता है" इस नियम से भी अट्ठावन मात्राएँ हो जाती हैं।

भावार्थ—यहाँ त्रिविक्रम प्राकृत व्याकरण के अनुसार नियम बताया है कि एकार और ओकार से अवर्ण के आने पर संधि नहीं होती है इसीलिए णमो अरिहंताणं में ओ के बाद अ ज्यों का त्यों रखा गया है किन्तु मंत्र शास्त्र के विधान से अ का लोप कर देने पर णमो अरिहंताणं पद में १० मात्राएँ ही रह जाती हैं और इसी प्रकार से ५८ मात्राओं का जोड़ भी समुचित बैठता है। तब १०+९+११+१२+१६=५८ का योग बन जाता है।

इस मंत्र का विश्लेषण करने पर—

ण्+अ+म्+ओ+अ+र्+इ+ह्+अं+त्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+स्+इ+द्+ध्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+आ+इ+र्+इ+य्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+उ+व्+अ+ज्+झ्+आ+य्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+ल्+ओ+ए+स्+अ+व्+व्+अ+स्+आ+ह्+ऊ+ण्+अं।

इन सभी वर्णों में स्वर और व्यंजन पृथक् करने पर चौंतीस स्वर और तीस व्यंजन इस प्रकार चौंसठ वर्ण होते हैं। क्योंकि यहाँ "द्धा ज्झा व्व" इन संयुक्ताक्षरों के तीन वर्ण (व्यंजन) ही ग्रहण किए हैं न कि छह, पुनः यहाँ "अ इ उ ए" "ज झ ण त द ध य र ल व स ह" ये स्वर व्यंजन ही मूलरूप से इस मंत्र में समाहित हैं तथा मूलवर्ण भी चौंसठ ही होते हैं।

भावार्थ—इस महामंत्र में समस्त स्वर-व्यंजनों के अक्षर जोड़ने पर तो ६७ वर्ण होते हैं किन्तु जहाँ इसकी व्याख्या मिलती है वहाँ ६४ अक्षर ही माने गये हैं किन्तु कहीं खुलासा नहीं आया कि कौन से वर्णों को इसमें नहीं जोड़ा गया है। अतः संस्कृत टीकाकर्त्री विदुषी आर्यिका पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने

“चउसट्टिपदं विरलिय, दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा।
रूऊणं च कए पुण, सुदणाणस्सक्खरा होंति।”

इति नियमेन गुणकारे कृते सति —

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता।
सुण्णं णव पण पंच य, एक्कं छक्केक्कगो य पणयं च।।

इति गाथासूत्रेण —

“१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५” समस्तद्वादशांगश्रुतज्ञानस्याक्षराः भवन्ति। अतएव णमोकारमहामंत्रे सर्वं द्वादशांगश्रुतज्ञानं समाहितं वर्तते।^१ अथवायं मंत्रो द्वादशांगश्रुतज्ञानरूप एव। सर्वमंत्राणामाकरश्च वर्तते। अस्य माहात्म्यं शारदापि वर्णयितुं न शक्नोति। उक्तं च श्रीमदुमास्वामिना —
एकत्र पंचगुरु मंत्रपदाक्षराणि, विश्वत्रयं पुनरनन्तगुणं परत्र।
यो धारयेत्किल तुलानुगतं तथापि, वंदे महागुरुतरं परमेष्ठिमंत्रम्।।

उपर्युक्त तीन वर्णों के संयुक्ताक्षरों में एक-एक व्यंजन हटा कर ६४ मूलवर्णों की संख्या का दिग्दर्शन कराया है जो समुचित ही प्रतीत होता है।

अतएव इस महामंत्र में सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुत समाहित है, ऐसा जानना चाहिए।

गाथार्थ — उक्त चौंसठ अक्षरों को अलग-अलग लिखकर (विरलन करके) प्रत्येक के ऊपर दो का अंक देकर परस्पर में सम्पूर्ण दो के अंकों का गुणा करने से लब्ध — प्राप्त हुई राशि — संख्या में एक घटा देने से जो प्रमाण रहता है उतने ही श्रुतज्ञान के अक्षर होते हैं।

इस नियम से गुणकार करने पर —

गाथार्थ — एक, आठ, चार, चार, छह, सात, चार, चार, शून्य, सात, तीन, सात, शून्य, नौ, पाँच, पाँच, एक, छह, एक, पाँच यह संख्या आती है।

इस गाथा सूत्र के अनुसार — १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ ये समस्त द्वादशांग रूप श्रुतज्ञान के अक्षर होते हैं। अतएव णमोकार महामंत्र में द्वादशांगरूप समस्त — सम्पूर्ण श्रुतज्ञान समाहित है ऐसा जानना चाहिए अथवा यह मंत्र बारह अंगमयी श्रुतज्ञान रूप ही है, समस्त मंत्रों की यह खानि है अर्थात् इस मंत्र से ही सभी मंत्र उत्पन्न होते हैं अतः ८४ लाख मंत्रों का उद्भव इस णमोकार मंत्र से ही माना जाता है। इसका माहात्म्य — अतिशय शारदा माता — साक्षात् सरस्वती देवी भी वर्णन करने में समर्थ नहीं है।

श्री उमास्वामी आचार्यवर्य ने कहा भी है —

श्लोकार्थ — यदि कोई व्यक्ति तराजू के एक पलड़े पर पंचपरमेष्ठी के णमोकार के पद और अक्षरों को और दूसरे पलड़े पर अनन्तगुणात्मक तीनों लोकों को रखकर तुलना करें तो भी वह णमोकार मंत्र वाले पलड़े को ही अधिक भारी (वजनदार) अनुभव करेगा, उस महान गौरवशाली णमोकार मंत्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ — णमोकार मंत्र पूजन की जयमाला में भी टीकाकर्त्री श्री ज्ञानमती माताजी ने श्री उमास्वामी के इन्हीं भावों को दर्शाते हुए लिखा है कि —

अत्रपर्यन्तं णमोकारमहामंगलगाथासूत्रस्य संक्षिप्तार्थः कृतः। अधुना निमित्तहेत्वादयो व्याख्यातव्यः।

अत्र मंगलनिमित्तादयः षडधिकाराः वक्तव्या भवन्ति।

उक्तं च श्रीवीरसेनाचार्येण —

मंगल-णिमित्त हेतु, परिमाणं णाम तह य कर्तारं।

वागरिय छप्पि पच्छा, वक्खाणउ सत्थमाइरिओ।।^१

शास्त्रस्यादौ मंगल-निमित्त-हेतु-परिमाण-नाम-कर्तारः इमे षडधिकाराः व्याख्यातव्याः शास्त्ररचनाकारेण। तत्र धातु-निक्षेप-नय-एकार्थ-निरुक्ति-अनुयोगद्वारैः मंगलादयो ज्ञातव्याः। किं च शब्दानां मूलकारणभूता धातवः। अधुना एतत्षड्भिन्नैः मंगलशब्दो व्याख्यायते। ‘मंगि’ इति अनेन धातुना निष्पन्नो मंगलशब्दः। यः कस्मिंश्चिदेकस्मिन् निश्चये निर्णये वा क्षिपति सो निक्षेपः। निक्षेपस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाः षड्भेदा भवन्ति। नयस्य कोऽर्थः —

शेर छंद — इक ओर तराजू पे अखिल गुण को चढ़ाऊँ।

इक ओर महामंत्र अक्षरों को धराऊँ।।

इस मंत्र के पलड़े को उठा ना सके कोई।

महिमा अनन्त यह धरे न इस सदृश कोई।।

तात्पर्य यह है कि यह पंचनमस्कार मंत्र तीनों लोकों में सारभूत — महान है, इसके चिन्तन, मनन और ध्यान से परमेश्वरी पदों की प्राप्ति तो परम्परा से होती ही है तथा यह संसार में भी लौकिक सम्पदाओं को प्रदान कराता है। पुराण ग्रंथों में अनेकों उदाहरण मिलते हैं कि इस मंत्र को तिर्यच प्राणियों को भी मरणासन्न अवस्था में सुनाने से उनको देवगति प्राप्त हो गई। इसका माहात्म्य जानकर योगीजन भी जीवन के अन्तकाल तक इस महामंत्र का आश्रय लेकर अपने समाधिमरण की सिद्धि करते हैं।

इस षट्खण्डागम ग्रंथ में आचार्यश्री पुष्पदंत-भूतबली भगवन्तों ने प्रारंभिक मंगलाचरण में ही इस महामंत्र को निबद्ध कर इसके अतिशय को और भी वृद्धिगत कर दिया है।

यहाँ तक णमोकार महामंगलगाथासूत्र का संक्षिप्त अर्थ किया है। अब निमित्त, हेतु आदि का व्याख्यान करना चाहिए।

मंगल निमित्त आदि छह अधिकार कहे जा रहे हैं —

श्री वीरसेनाचार्य ने कहा भी है —

गाथार्थ — मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता इन छह अधिकारों का व्याख्यान करने के पश्चात् आचार्य (शास्त्र रचने वाले ग्रंथकार) शास्त्र का व्याख्यान करें।

शास्त्र की आदि में मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्ता इन छह अधिकारों का ग्रंथकारों को व्याख्यान करना चाहिए। उनमें धातु-निक्षेप-नय-एकार्थ-निरुक्ति और अनुयोग के द्वारा मंगलादि को जानना चाहिए। क्योंकि शब्दों के मूलकारणभूत धातु हैं अर्थात् धातु से ही शब्दों की निष्पत्ति होती है। अब इन छह अनुयोगद्वारों से मंगल शब्द की व्याख्या की जा रही है।

“मंगि” इस धातु से मंगल शब्द निष्पन्न होता है — बनता है। जो किसी एक निश्चय या निर्णय में क्षेपण करता है अर्थात् निर्णीत वस्तु का उसके नामादिक के द्वारा निर्णय कराता है उसे “निक्षेप” कहते हैं। निक्षेप के छह भेद हैं — नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

तिथ्यरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवायरणी।

दव्वट्टिओ अ पज्जय-णयो य सेसा वियप्पा सिं।^१

तीर्थकरदेववचनानां सामान्यप्रस्तारस्य मूलव्याख्याता द्रव्यार्थिकनयः। तेषामेव विशेषप्रस्तारस्य मूलव्याख्याता पर्यायार्थिकनयः। अनयोर्द्वयोरेव विकल्पाः शेषा नयाः।

अधुना मंगले नामादिनिक्षेपाः कथ्यन्ते —

नाम निक्षेपः —

“वच्चत्थ-णिरवेक्खो मंगलसहो णाममंगलं। तस्स मंगलस्स आधारो अट्टविहो। तं जहा — जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा या अजीवा य इदि।^२”

वाच्यार्थनिरपेक्षो मंगलशब्दो नाममंगलं। तस्य मंगलस्य आधारो अष्टविधः। तद्यथा-जीवो वा-एकजिनेन्द्रदेवस्याश्रयात् यन्मंगलं क्रियते तदेकजीवाश्रितमंगलमुच्यते इत्यादि।

नय का क्या अर्थ है ? सो बताते हैं —

गाथार्थ — तीर्थकरों के वचन सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयों के ही विकल्प — भेद हैं।

तीर्थकर देव के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान द्रव्यार्थिक नय करता है। उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार — विस्तार का मूल व्याख्यान — वर्णन पर्यायार्थिक नय करता है। शेष समस्त नय इन्हीं दोनों के भेद-प्रभेद रूप हैं।

भावार्थ — “आलाप पद्धति” में जो अनेक नयों का वर्णन है वे सब इन्हीं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दो नयों से ही उत्पन्न हुए हैं अतः इन दो नयों को ही समस्त नयों का मूल मानना चाहिए। नैगम-संग्रह आदि सातों नयों के मूल आधार भी ये दोनों नय हैं।

अब “मंगल” में नाम आदि निक्षेपों को घटित करते हैं —

वाच्यार्थ — शब्दार्थ की अपेक्षा से रहित “मंगल” शब्द नाम मंगल है। उस मंगल का आधार आठ प्रकार का है। जैसे — १. एक जीव, २. अनेक जीव, ३. एक अजीव, ४. अनेक अजीव, ५. एक जीव और एक अजीव, ६. अनेक जीव और एक अजीव, ७. एक जीव और अनेक अजीव, ८. अनेक जीव और अनेक अजीव।

वाच्यार्थ से निरपेक्ष — मंगल शब्द नाम मंगल कहलाता है अर्थात् किसी का नाम तो मंगल रख दिया गया किन्तु उसमें मंगलपने का कोई गुण घटित नहीं होता है। न ही उसका नाम लेने से पापों का नाश होता है, न उसे देखने से पुण्य की प्राप्ति होती है और न उसके वचनालाप से सुख मिलता है, वह तो केवल “मंगल” संज्ञा को प्राप्त एक साधारण मनुष्य है इसीलिए उसका यह नाम “नाम मंगल” निक्षेप कहा जाता है।

उस मंगल के आठ आधार होते हैं — एक जीव आदि। जैसे — एक जिनेन्द्रदेव के आश्रय से जो मंगल — मंगलाचरण किया जाता है वह ‘एक जीवाश्रित मंगल’ कहलाता है, इसी प्रकार आठों में समझ लेना चाहिए।

विशेषार्थ — यहाँ जिनेन्द्रदेव के स्थान पर एक जिन — यति भी लिया जा सकता है। अनेक यतियों के

स्थापनानिक्षेपः —

तत्र स्थापनामंगलं नाम आहितस्य नाम्नः अन्यस्य सोऽयमिति स्थापना स्थापनामंगलं। सा द्विविधा सद्भावसद्भावस्थापना चेति। तत्राकारवति वस्तुनि सद्भावस्थापना यथा चन्द्रप्रभप्रतिमायां सोऽयं चन्द्रप्रभो भगवान्, तद्विपरीते असद्भावस्थापना यथा पूगादिषु क्षेत्रपालस्थापना इति।^१

आश्रय से जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं। एक जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के आश्रय से जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। अनेक जिनप्रतिमाओं के आश्रय से जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। एक जिनेन्द्रदेव और एक ही उनकी प्रतिमा के आश्रय से एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। अनेक यति और एक जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के आश्रय से एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। एक जिनेन्द्रदेव और अनेक जिनप्रतिमाओं के आश्रय से एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। अनेक यति और अनेक जिनप्रतिमाओं के आश्रय से एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं।

आगम में चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के अयोगिकेवली को “जिन” संज्ञा प्रदान की गई है किन्तु यहाँ जिन शब्द से जो ‘यति’ को ही ग्रहण किया गया है वह छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज अथवा श्रेणी में आरोहण करने वाले शुक्लध्यानी महामुनियों को ही लेना चाहिए न कि चतुर्थ-पंचमगुणस्थानवर्ती एकदेश जिन को।

सभी ग्रंथकार अपने ग्रंथ के प्रारंभ, मध्य और अंत में मंगलाचरण करते हैं। कोई तो किन्हीं एक तीर्थंकर की प्रमुखता करके अपने इष्टदेव का स्मरण करते हैं, जैसे—श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरंडश्रावकाचार में “नमः श्री वर्द्धमानाय” रूप मंगलपद में अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार किया है। तो यह एक जीवाश्रित मंगल है पुनः उन्होंने अपने स्वयम्भूस्तोत्र में चौबीसों तीर्थंकर की स्तुति की है वह अनेक जीवाश्रित मंगल में गर्भित हो जाएगा।

इसी प्रकार इस षट्खण्डागम ग्रंथ में प्रस्तुत “सिद्धान्तचिंतामणि” टीका की रचयित्री गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित इन्द्रध्वज, जम्बूद्वीप, सर्वतोभद्र आदि महापूजाविधानों के ग्रंथ ‘अनेक जीव और अनेक अजीव आश्रित’ मंगल सिद्ध होते हैं।

मंगल में स्थापना निक्षेप दिखाते हैं —

किसी नाम को धारण करने वाले दूसरे पदार्थ की ‘वह यह है’ इस प्रकार स्थापना करने को स्थापना कहते हैं। वह स्थापना दो प्रकार की है—सद्भावस्थापना, असद्भावस्थापना। इन दोनों में से आकारवान् वस्तु में सद्भाव स्थापना होती है और इससे विपरीत असद्भावस्थापना जाननी चाहिए।

उनमें स्थापना मंगल में किसी दूसरे नाम को धारण करने वाले पदार्थ में “यह वही है” इस प्रकार स्थापना करने को ‘स्थापना मंगल’ कहते हैं। वह स्थापना दो प्रकार की है—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। उनमें से किसी आकार वाली वस्तु में सद्भाव स्थापना होती है। जैसे—चन्द्रप्रभ की प्रतिमा में ‘ये चन्द्रप्रभ भगवान् हैं’ ऐसा मानना, इससे विपरीत में—बिना आकार वाली वस्तु में असद्भावस्थापना होती है, जैसे—सुपारी, नारियल आदि में क्षेत्रपाल की स्थापना कर लेना।

द्रव्यनिक्षेपः —

द्रव्यमंगलं नाम अनागतपर्यायविशेषं प्रतीत्य ग्राह्याभिमुखं द्रव्यं अतद्भावं वा। तद् द्विविधं आगमनोआगमद्रव्यं चेति^१। मंगलप्राभृतज्ञायकोऽनुपयुक्तो, मंगलप्राभृतशब्दरचना वा आगमद्रव्यमंगलं। नोआगमद्रव्यमंगलं त्रिविधं ज्ञायकशरीरभावितद्रव्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञायकशरीरमपि त्रिविधं भाविवर्तमानातीतशरीरभेदात्। तत्रातीतशरीरं अपि त्रेधा च्युतच्यावितत्यक्तभेदात्।

भावार्थ — इन्हें तदाकार और अतदाकार स्थापना के नाम से भी जाना जाता है। ये दोनों स्थापनाएँ वर्तमान में व्यवहार में प्रचलित हैं। पंचपरमेष्ठी, नवदेवता, पंचबालयति, चौबीस तीर्थंकर, भरत, बाहुबली आदि प्रतिमाओं की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सद्भाव स्थापना मंगल को ही दर्शाने वाली है तथा क्षेत्रपाल आदि की स्थापना जो नारियल, सुपारी आदि से की जाती है वह असद्भाव स्थापना की प्रतीक है एवं अनेक मंदिरों में इनकी तदाकार प्रतिमाएँ भी देखी जाती हैं।

अब मंगल में द्रव्यनिक्षेप घटित किया जाता है —

आगे होने वाली मंगल पर्याय को ग्रहण करने के सन्मुख हुए द्रव्य (उस पर्याय की अपेक्षा) को द्रव्य मंगल कहते हैं। अथवा वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को ही द्रव्यमंगल कहते हैं। वह द्रव्य मंगल आगम और नो-आगम के भेद से दो प्रकार का है।

भविष्य में होने वाली पर्याय विशेष की अपेक्षा करके उसी भावी पर्याय के सन्मुख हुए द्रव्य को अथवा अतद्भाव रूप द्रव्य को द्रव्यमंगल कहते हैं।

वह द्रव्यमंगल दो प्रकार का है — आगमद्रव्य मंगल और नोआगम द्रव्यमंगल। मंगलप्राभृत के ज्ञान में उपयोगरहित जीव को अथवा मंगलप्राभृत रूप शब्दों की रचना को “आगमद्रव्यमंगल” कहते हैं।

नोआगमद्रव्यमंगल ज्ञायक शरीर, भावि और तद्रव्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें से ज्ञायक शरीर भावि, वर्तमान और अतीत के भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें से अतीत शरीर के भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित, त्यक्त।

विशेषार्थ — आगे होने वाली पर्याय के सन्मुख अथवा वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्याय की विवक्षा से द्रव्य को द्रव्य मंगल कहा है और तद्विषयक ज्ञान को आगम कहा है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो मंगलविषयक शास्त्र का जानकार वर्तमान में उसके उपयोग से रहित हो वह आगमद्रव्यमंगल है। यहाँ पर जो मंगलविषयक शास्त्र की शब्द रचना अथवा मंगल शास्त्र के अर्थ की स्थापना रूप अक्षरों की रचना को आगम द्रव्य मंगल कहा है वह उपचार से ही समझना चाहिए। क्योंकि, मंगलविषयक शास्त्रज्ञान में मंगलविषयक शास्त्र की शब्द रचना और मंगल शास्त्र के अर्थ की स्थापना रूप अक्षरों की रचना ये मुख्यरूप से बाह्य निमित्त पड़ते हैं। वैसे तो सहकारी कारण शरीरादिक और भी होते हैं, परन्तु वे मुख्य बाह्य निमित्त न होने से उनका ग्रहण नो आगम में किया है। अथवा, मंगलविषयक, शास्त्रज्ञान से और दूसरे बाह्य निमित्तों की अपेक्षा इन दोनों बाह्य निमित्तों की विशेषता दिखाने के प्रयोजन से इन दोनों बाह्य निमित्तों का आगमद्रव्यमंगल में ग्रहण कर लिया है।

आगम के बाह्य सहकारी कारण होने से शरीर को नो आगम कहा गया है और उसमें अन्वय प्रत्यय की

उपलब्धि होने से उसे द्रव्य कहा गया है। ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरों में घटित होती हैं, इसलिए इनमें मंगलपने का व्यवहार हो सकता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर मंगलविषयक शास्त्र के परिज्ञान में बाह्य सहकारी कारण हैं, क्योंकि इनके बिना कोई शास्त्र का अभ्यास ही नहीं कर सकता है। अब इनमें अन्वय प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका खुलासा करते हैं। जिस शरीर में मैंने मंगल शास्त्र का अभ्यास किया था, वही शरीर उक्त अभ्यास को पूरा करते समय भी विद्यमान है, इस प्रकार तो वर्तमान ज्ञायक शरीर में अन्वय-प्रत्यय पाया जाता है। मंगल शास्त्र ज्ञान से उपयुक्त मेरा जो शरीर था, तद्विषयक शास्त्रज्ञान से रहित मेरे अब भी वही शरीर विद्यमान है, इस प्रकार अतीत ज्ञायक शरीर में अन्वय-प्रत्यय की उपलब्धि होती है। मंगल शास्त्र ज्ञान के उपयोग से रहित मेरा जो शरीर है, वही तद्विषयक तत्त्व ज्ञान की उपयोग दशा में भी होगा, इस प्रकार अनागत ज्ञायक शरीर में अन्वय प्रत्यय की उपलब्धि बन जाती है। इसलिए वर्तमान शरीर की तरह अतीत और अनागत शरीर में भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है।

इनमें से अतीत शरीर के तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त।

कदलीघातमरण के बिना पके हुए फल के समान कर्म के उदय से झड़ने वाले आयु कर्म के क्षय से अपने आप पतित शरीर को च्युत शरीर कहते हैं। जैसे पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जाने के कारण वृक्ष से स्वयं गिर पड़ता है। वृक्ष से अलग होने के लिए और दूसरे बाह्य निमित्तों की अपेक्षा नहीं पड़ती है। उसी प्रकार आयुर्कर्म के पूरे हो जाने पर जो शरीर शस्त्रादिक के बिना छूट जाता है, उसे च्युत शरीर कहते हैं।

कदलीघात के द्वारा छिन्न आयु के क्षय हो जाने से छूटे हुए शरीर को च्यावित शरीर कहते हैं। कहा भी है—

विष के खा लेने से, वेदना से, रक्त का क्षय हो जाने से, तीव्र भय से, शस्त्राघात से, संक्लेश की अधिकता से तथा आहार और श्वासोच्छ्वास के रुक जाने से आयु क्षीण हो जाती है।

जैसे कदली (केला) के वृक्ष का तलवार आदि के प्रहार से एकदम विनाश हो जाता है, उसी प्रकार विष भक्षणादि निमित्तों से भी जीव की आयु एकदम उदीर्ण होकर छिन्न हो जाती है। इसे ही अकाल मरण कहते हैं और इसके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्यावित शरीर कहते हैं।

त्यक्त शरीर तीन प्रकार का है—प्रायोपगमन विधान से छोड़ा गया, इंगिनी विधान से छोड़ा गया और भक्तप्रत्याख्यान से छोड़ा गया। इस तरह त्यक्त शरीर के तीन भेद हो जाते हैं।

अपने और पर के उपकार की अपेक्षा से रहित समाधिमरण को प्रायोपगमन कहते हैं।

प्रायोपगमन समाधिमरण को धारण करने वाला साधु संस्तर का ग्रहण करना, बाधा के निवारण के लिए हाथ-पाँव का हिलाना, एक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में जाना आदि क्रियाएँ न तो स्वयं करता है और न दूसरे से कराता है। जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसी प्रकार वह साधु समाधि में सदा निश्चल रहता है। शास्त्रों में प्रायोपगमन के अनेक प्रकार के अर्थ मिलते हैं। जैसे-संघ को छोड़कर अपने पैरों द्वारा किसी योग्य देश का आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं। अथवा प्राय अर्थात् संन्यास की तरह उपवास के द्वारा जो समाधिमरण होता है, उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं। अथवा पादप अर्थात् वृक्ष की तरह निष्पन्द रूप से रहकर, शरीर से किसी भी प्रकार की क्रिया न करते हुए जो समाधिमरण होता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं। इन सब अर्थों का मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधान में अपने व पर के उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है।

“तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं—कर्मनोकर्ममंगलभेदात्। तत्र कर्ममंगलं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशधा-प्रविभक्त-तीर्थकर-नामकर्मकारणैर्विप्रदेशनिबद्धतीर्थकर-नामकर्ममंगल्यनिबंधनत्वान्मंगलं। यत्तन्नोकर्ममंगलं तद्विविधं लौकिकं लोकोत्तरमिति। तत्र लौकिकं त्रिविधं सचित्तमचित्तं मिश्रमिति।”

तत्र सिद्धान्तार्थः—श्वेतसर्षपाः पूर्णकुंभादयः अचित्तं, बालकन्याश्चेतगजादयः सचित्तं, सालङ्कारकन्यादिः मिश्रमंगलं। लोकोत्तरमंगलमपि त्रिविधं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्। सचित्तमर्हदादीनामनाद्यनिधनजीवद्रव्यं।

जिस संन्यास में, अपने द्वारा किये गए उपकार की अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरे के द्वारा किए गये वैयावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनीसमाधि कहते हैं।

इंगिनी शब्द का अर्थ इंगित (अभिप्राय) है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरण को करने वाला स्वतः किए हुए उपकार की अपेक्षा रखता है। इस समाधिमरण में साधु संघ से निकलकर किसी योग्य देश में समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृण का संस्तर तैयार करके समाधि की प्रतिज्ञा करता है। इसमें उठना, बैठना, सोना, हाथ-पैर का पसारना, मल-मूत्र का विसर्जन करना आदि क्रियाएँ क्षपक स्वयं करता है, किसी दूसरे साधु की सहायता नहीं लेता है। इस तरह यावज्जीवन चार प्रकार के आहार के त्याग के साथ स्वयं किए गए उपचार सहित समाधिमरण को इंगिनी-संन्यास कहते हैं।

जिस संन्यास में अपने और दूसरे के द्वारा किए गए उपकार की अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं। भक्तनाम भोजन का है और प्रत्याख्यान त्याग को कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि जिस संन्यास में क्रम-क्रम से आहारादि का त्याग करते हुए अपने और पराए उपकार की अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त प्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं।

इन तीनों प्रकार के समाधिमरणों में से भक्त प्रत्याख्यान विधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की है। जघन्य भक्तप्रत्याख्यान विधि का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त मात्र है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान विधि का प्रमाण बारह वर्ष है और मध्यम भक्त प्रत्याख्यान विधि का प्रमाण जघन्य अन्तर्मुहूर्त से लेकर बारह वर्ष के भीतर है।

तद्व्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कर्ममंगल तद्व्यतिरिक्त और नोकर्ममंगल तद्व्यतिरिक्त। उनमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकार के तीर्थकर नामकर्म के कारणों से जीव के प्रदेशों से बन्धे हुए तीर्थकर नामकर्म को कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य मंगल कहते हैं क्योंकि वह मंगलपने का हेतु है और जो तद्व्यतिरिक्त नोकर्म मंगल है वह भी दो प्रकार का है—एक लौकिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यमंगल। उन दोनों में से लौकिक मंगल सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है।

उनमें सिद्धान्तार्थ—सफेद सरसों, पूर्णकुंभ—जल से भरा हुआ मंगल कलश आदि अचित्त मंगल हैं, कुमारीकन्या, श्वेत ऐरावत हाथी आदि सचित्त मंगल हैं और अलंकार—कंकण, मुकुट, हार आदि से सुसज्जित कन्या, सौभाग्यवती स्त्री आदि मिश्र मंगल हैं।

इसी प्रकार लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का होता है। अर्हन्त आदि का अनादि और अनन्त स्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर मंगल है। कृत्रिम, अकृत्रिम चैत्यालय आदि

अचित्तमंगलं कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यालयादिः, न तत्स्थप्रतिमाः तासां स्थापनांतर्भावात्। अकृत्रिमाणां कथं स्थापनाव्यपदेशः ? इति चेन्न तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात्। तदुभयमपि मिश्रमंगलं।^१

क्षेत्र निक्षेपः—

तत्र क्षेत्रमंगलं—गुणपरिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणक्षेत्रादिः। तस्योदाहरणं—
ऊर्ज्यन्त-चम्पा-पावानगरादिः। अर्धाष्ट^१ रत्यादि-पंचविंशत्युत्तर-पंचधनुःशतप्रमाण-शरीरस्थितकैवल्याद्य-
वष्टब्धाकाशदेशा वा, लोकमात्रात्मप्रदेशैर्लोक-पूरणा-पूरित-विश्वलोकप्रदेशा वा।

अचित्त लोकोत्तर मंगल हैं। उन चैत्यालयों में स्थित प्रतिमाओं का इस निक्षेप में ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि उनका स्थापना निक्षेप में अन्तर्भाव होता है।

शंका—अकृत्रिम प्रतिमाओं में स्थापना का व्यवहार कैसे संभव है ?

समाधान—ऐसी शंका उचित नहीं है। क्योंकि अकृत्रिम प्रतिमाओं में भी बुद्धिपूर्वक “ये जिनेन्द्रदेव हैं” ऐसा उनका प्रतिनिधित्व मान लेने पर मुख्य स्थापना व्यवहार की उपलब्धि होती है। इन दोनों प्रकार के सचित्त और अचित्त से मिश्रित गंधकुटी, समवसरण आदि को मिश्र मंगल कहते हैं।

विशेषार्थ—पंचास्तिकाय की टीका में भी जयसेन आचार्य ने इन पदार्थों को मंगलरूप मानने में भिन्न-भिन्न कारण दिए हैं। वे इस प्रकार हैं, जिनेन्द्रदेव ने व्रतादिक के द्वारा परमार्थ को प्राप्त किया और उन्हें सिद्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई, इसलिए लोक में सिद्धार्थ अर्थात् श्वेत सरसों मंगलरूप माने गए। जिनेन्द्रदेव सम्पूर्ण मनोरथों से अथवा केवलज्ञान से परिपूर्ण है, इसलिए पूर्णकलश मंगलरूप से प्रसिद्ध हुआ। बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौबीस ही तीर्थकर वंदना करने योग्य हैं, इसलिए भरत चक्रवर्ती ने वन्दनमाला की स्थापना की। ध्यान, शुक्ललेश्या इत्यादि को श्वेत वर्ण की उपमा दी जाती है। इसलिए श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है। जिनेन्द्रदेव के केवलज्ञान में जिस प्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार दर्पण में भी अपना बिम्ब झलकता है, अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है। जिस प्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोक में मंगल स्वरूप हैं, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभाव से रहित होने के कारण लोक में मंगल मानी गई है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने कर्म-शत्रुओं पर विजय पाई, उसी प्रकार उत्तम जाति के घोड़े से भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जाति का घोड़ा मंगलरूप माना गया है।

अब मंगल में क्षेत्र निक्षेप बताते हैं—

गुणपरिणत आसन क्षेत्र अर्थात् जहाँ पर योगासन, वीरासन इत्यादि अनेक आसनों से तदनुकूल अनेक प्रकार के योगाभ्यास, जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों, ऐसा क्षेत्र परिनिष्क्रमणक्षेत्र, अर्थात् जहाँ तीर्थकर आदि महापुरुषों ने दीक्षा ली है ऐसा क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र और निर्वाण क्षेत्र (सिद्धक्षेत्र सम्प्रेदशिखर आदि) को क्षेत्र मंगल कहते हैं।

उदाहरणपूर्वक इनका खुलासा करते हैं—

ऊर्ज्यन्त (गिरनार पर्वत) चम्पापुर, पावापुर नगर आदि क्षेत्र मंगल हैं। अथवा साढ़े तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुष तक के शरीर में स्थित और केवलज्ञानादि से व्याप्त आकाश प्रदेशों को क्षेत्र मंगल कहते हैं अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशों से लोकपूरण समुद्घात दशा में व्याप्त किए गए समस्त लोक के प्रदेशों को क्षेत्र मंगल कहते हैं।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पृ. २९। २. षट्खण्डागम (धवला.) पु. १, पृ. ३०, ‘अर्धाष्ट’ इत्यत्र ‘अर्धचतुर्थ’, इति पाठेन भाव्यं।

कालनिक्षेपः —

तत्र कालमंगलं नाम — यस्मिन् काले केवलज्ञानादिपर्यायैः परिणतः स कालः पापमलगालनत्वान्मंगलम्। तस्योदाहरणं, परिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणदिवसादयः। जिनमहिमासंबद्ध-कालोऽपि मंगलं। यथा नन्दीश्वरदिवसादिः^१।

भावनिक्षेपः —

तत्र भावमंगलं नाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं भावः। स द्विविधः आगमनोआगमभेदात्। आगमः सिद्धान्तः। आगमतो मंगल-प्राभृत-ज्ञायक उपयुक्तो, नोआगमतो भावमंगलं द्विविधं उपयुक्तस्तत्परिणत इति। आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः। मंगलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति^२।

एतेषु निक्षेपेषु अत्र ग्रंथे केन निक्षेपेण प्रयोजनं ? एतत्पृष्टे सति श्रीवीरसेनाचार्यो कथयति —

अत्र ग्रंथे नोआगमभावनिक्षेपेण तत्परिणतेन प्रयोजनं वर्तते।

इति वचनात् निक्षेपो वर्णितः।

अब मंगल में कालनिक्षेप का दिग्दर्शन कराया जा रहा है —

जिस काल में जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओं को प्राप्त होता है, उसे पापरूपी मल का गलाने वाला होने के कारण कालमंगल कहते हैं। उदाहरणार्थ — दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाणप्राप्ति के दिवस आदि को काल मंगल समझना चाहिए। जिनमहिमा संबंधी काल को भी कालमंगल कहते हैं, जैसे— नन्दीश्वर (आष्टान्हिक) आदि पर्व के दिवस।

अब भावनिक्षेप में मंगल का कथन प्रस्तुत है —

वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं। वह दो प्रकार का है — आगमभावमंगल और नोआगमभावमंगल। सिद्धान्त को आगम कहते हैं इसलिए जो मंगलविषयक शास्त्र का ज्ञाता होते हुए वर्तमान में उसमें उपयुक्त है उसे आगम भाव मंगल कहते हैं।

नो आगमभाव मंगल के दो भेद हैं — उपयुक्त और तत्परिणत। जो आगम के बिना ही मंगल के अर्थ में उपयोगसहित है उसे “उपयुक्त नो आगम भावमंगल” कहते हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात् जिनेन्द्रदेव आदि की वंदना, भावस्तुति आदि में परिणत जीव को “तत्परिणत नो आगम भावमंगल” कहते हैं।

इस ग्रंथ में यहाँ इन निक्षेपों में से किस निक्षेप से प्रयोजन है ? ऐसा किसी के द्वारा पूछे जाने पर श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं कि —

इस ग्रंथ में तत्परिणत नोआगमभावमंगल रूप निक्षेप से प्रयोजन है। इस प्रकार निक्षेपों का वर्णन पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ — यहाँ पर निक्षेपों का कथन करते हुए आचार्य ने कहा है कि श्रोता तीन प्रकार के होते हैं। पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ, दूसरा सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थ को जानने वाला और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थ को जानने वाला। इनमें से पहला श्रोता अव्युत्पन्न होने के कारण विवक्षित पद के अर्थ को कुछ भी नहीं समझता है। दूसरा “यहाँ पर इस पद का कौन सा अर्थ अधिकृत है” इस प्रकार विवक्षित पद के अर्थ में संदेह करता है, अथवा, प्रकरण प्राप्त अर्थ को छोड़कर और दूसरे अर्थ को ग्रहण करके विपरीत समझता है। दूसरी जाति के श्रोता के समान तीसरी जाति का श्रोता भी प्रकृत पद के अर्थ में या तो संदेह करता है अथवा, विपरीत निश्चय कर लेता है।

मंगलस्यैकार्थः —

अधुना क्रमप्राप्तस्य मंगलस्यैकार्थ उच्यते — मंगलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मंगलपर्यायवचनानि। एकार्थप्ररूपणं किमर्थमिति चेत् ?

यतो मङ्गलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेष्वनेकाभिधानैर्मंगलार्थः प्रयुक्तश्चिरंतनाचार्यैः, सोऽव्यामोहेन शिष्यैः सुखेनावगम्यते इत्येकार्थः उच्यते। ‘यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः इति वचनाद्वा’^१। इति वचनात् एकार्थनिरूपणं गतं। अधुना निरुक्तिरुच्यते —

इनमें से यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्याय का अर्थी अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु की किसी विवक्षित पर्याय को जानना चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोता को प्रकृत विषय की व्युत्पत्ति के द्वारा अप्रकृत विषय के निराकरण करने के लिए निक्षेप का कथन करना चाहिए। यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात् सामान्यरूप से किसी वस्तु का स्वरूप जानना चाहता है, तो भी निक्षेपों के द्वारा प्रकृत पदार्थ के प्ररूपण करने के लिए सम्पूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं, क्योंकि, व्यतिरेक धर्म के निर्णय के बिना विधि का निर्णय नहीं हो सकता है। दूसरे और तीसरे प्रकार के श्रोताओं को यदि संदेह हो, तो उनके संदेह को दूर करने के लिए सम्पूर्ण निक्षेपों का कथन किया जाता है और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो, तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित वस्तु के निर्णय के लिए सम्पूर्ण निक्षेपों का कथन किया जाता है। कहा भी है —

अवगय-णिवारणदुं पयदस्स परूवणा-णिमित्तं च।

संसय-विणासणदुं तच्चत्थवधारणदुं च।।

अर्थात् अप्रकृत विषय के निवारण करने के लिए, प्रकृत विषय के प्ररूपण करने के लिए, संशय का विनाश करने के लिए और तत्त्वार्थ का निश्चय करने के लिए निक्षेपों का कथन करना चाहिए।

अथवा संभव है कि निक्षेपों को छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त वक्ता और श्रोता दोनों को कुमार्ग में ले जावे, इसलिए भी निक्षेपों का कथन करना चाहिए।

मंगल के एक अर्थवाची शब्द इस प्रकार हैं —

अब क्रम प्राप्त “मंगल” शब्द के एकार्थवाची शब्द कहते हैं —

मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र, सौख्य इत्यादि सभी शब्द मंगल के पर्यायवाची नाम हैं।

शंका — यहाँ पर मंगल के एकार्थवाचक अनेक नामों का प्ररूपण किसलिए किया गया है ?

समाधान — क्योंकि मंगलरूप अर्थ अनेक शब्दों का वाच्य है अर्थात् अनेक शास्त्रों में अनेक पर्यायवाची नामों के द्वारा मंगलरूप अर्थ का प्रयोग किया गया है। अर्थात् प्राचीन आचार्यों ने अनेक शास्त्रों में अनेक अर्थात् भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा मंगलरूप अर्थ का कथन किया है। उसका मतिभ्रम के बिना शिष्यों को सरलतापूर्वक ज्ञान हो जावे, इसलिए यहाँ पर मंगल के एकार्थवाची नाम कहे हैं।

अथवा “यदि शिष्य एक शब्द से प्रकृत विषय को नहीं समझ पावे, तो दूसरे शब्दों के द्वारा भी उसे ज्ञान कराना चाहिए”। इस वचन के अनुसार भी यहाँ पर मंगलरूप अर्थ के पर्यायवाची अनेक नाम कहे गये हैं। इस प्रकार मंगल के एकार्थवाची नामों का निरूपण किया गया, अब आगे निरुक्ति अर्थ कहेंगे।

विशेषार्थ — जैसे समयसार की आठवीं गाथा में आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी के अभिप्राय को व्यक्त

मंगलस्य निरुक्तिः —

मंगलस्य निरुक्तिरुच्यते — मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति हंति विशोधयति विध्वंसयतीति मंगलम्। तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात्। द्रव्यमलं द्विविधं — बाह्यमभ्यन्तरं च। तत्र स्वेदरजोमलादि बाह्यं, घनकठिन-जीवप्रदेश-निबद्ध-प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-विभक्त-ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्माभ्यन्तर-द्रव्यमलं। अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम्।

करते हुए “श्री अमृतचन्द्रसूरि” ने कहा है “यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति.....न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव।.....एकार्थं ज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुपादाय.....तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रु-झलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव।

इस आत्मख्याति टीका का हिन्दी अनुवाद करते हुए पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी ने लिखा है —

जैसे कोई म्लेच्छ पुरुष है उसको किसी ब्राह्मण ने “स्वस्ति भवतु” ऐसा आशीर्वाद दिया किन्तु वह म्लेच्छ स्वस्ति शब्द के ज्ञान से शून्य था अतः उसका अर्थ समझे बिना मेढ़े की तरह टकटकी लगाकर प्रश्नवाचक मुद्रा में ब्राह्मण की ओर देखता ही रहा कि इसने क्या कहा है ?

तब उस ब्राह्मण की भाषा और म्लेच्छ की भाषा इन दोनों भाषा के संबंध के एक अर्थ को जानने वाले ऐसे उसी ब्राह्मण ने या अन्य किसी ने उसे म्लेच्छ भाषा के आश्रय से समझाया कि ‘स्वस्ति’ इस पद का यह अर्थ है कि ‘तुम्हारा कल्याण हो’। उस समय उसकी आँखों में आनन्द अश्रु आ गए और वह इस अर्थ को समझकर अतिशय प्रसन्न हो गया। इसी प्रकार एकार्थवाचक-पर्यायवाची अनेक नामों को ग्रहण करने पर सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी उसका अर्थ समझ में आ जाता है जिससे वे उस विषय में दिग्भ्रमित नहीं होते हैं। मंगलवाचक अनेक नामों को यहाँ देने का भी आचार्य का यही अभिप्राय है अतः इसे गुण अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिए।

मंगल शब्द की निरुक्ति —

‘मंगल’ शब्द की निरुक्ति करते हुए कहते हैं कि जो मल को गलाता है, विनाश करता है, घात करता है, जलाता है, नष्ट करता है (मारता है), विशोधन करता है, विध्वंस करता है उसे ‘मंगल’ कहते हैं। वह मल, द्रव्यमल और भावमल के भेद से दो प्रकार का है। द्रव्यमल के दो भेद हैं — बाह्यद्रव्यमल और अभ्यन्तरद्रव्यमल। उनमें पसीना, धूल, मल, मूत्रादि बाह्य द्रव्यमल हैं। घन (समूह) और कठिन रूप से जीव के प्रदेशों से बंधे हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश इन भेदों में विभक्त ऐसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म अभ्यन्तर द्रव्यमल हैं। अज्ञान और अदर्शन आदि परिणाम भावमल कहलाते हैं।

भावार्थ — यहाँ मल के प्रकरण में अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेद से मल के तीन भेद भी श्री वीरसेन स्वामी ने बताये हैं। इनमें से जो ऊपर द्रव्यमल और भावमल का वर्णन किया है उन्हें ही अर्थमल समझना चाहिए तथा मल के वाचक अन्य शब्दों को अभिधान मल कहते हैं और अर्थमल एवं अभिधान मल में उत्पन्न हुई बुद्धि को प्रत्यय मल कहते हैं।

पुनः नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमल के भेद से मल चार प्रकार का भी बताया है अथवा इसी प्रकार विवक्षा भेद से मल अनेक प्रकार का भी होता है। उस मल का जो गालन करे, विनाश करे, ध्वंस करे उसे मंगल कहते हैं।

अथवा मंगं सुखं तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्।

अथवा मङ्गति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमनेनास्मिन् वेति मंगलं। मंगलशब्दस्यार्थविषयनिश्चयोत्पादनार्थं निरुक्तिरुक्ता^१।

मंगलस्यानुयोगः —

अधुना क्रमप्राप्तस्य मंगलस्यानुयोग उच्यते —

किं कस्स केण कथं व केवचिरं कदिविधो य भावो ति।

छहि अणिओगद्वारेहि सव्वभावाणुगंतव्वा।।

अस्यैव स्पष्टीकरणं — किं मङ्गलं ? जीवो मङ्गलम्। कस्य मङ्गलम् ? जीवस्य मंगलं। कैः मंगलं ? औदयिकादिभावैः मंगलं — पूजा-भक्ति अणुव्रत-महाव्रतादि-प्रशस्तरागरूपौदयिकभावोऽपि मंगलकारणं भवतीत्यर्थः। क्व मंगलम् ? जीवे मंगलम्। कियच्चिरं मंगलं ? नानाजीवापेक्षया सर्वाद्धा। एकजीवापेक्षया अनाद्यपर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितं इति त्रिविधं। कथमनाद्यपर्यवसितता मंगलस्य ?

अथवा, मंग का अर्थ है-सुख, उस सुख को जो लाता है-प्राप्त कराता है उसे मंगल कहते हैं।

अथवा कर्ता-किसी उद्देश्यपूर्वक कार्य को करने वाला, जिसके द्वारा या जिसके किये जाने पर कार्य की सिद्धि को प्राप्त होता है, उसे भी मंगल कहते हैं। इस तरह मंगल शब्द के अर्थ विषयक निश्चय के उत्पन्न करने के लिए निरुक्ति कही गई है।

भावार्थ — यहाँ मंग शब्द पुण्यरूप अर्थ का प्रतिपादन करने वाला माना गया है। उस पुण्य को जो लावे-प्राप्त करावे उसे मंगलार्थी जन मंगल कहते हैं। तिलोयपण्णत्ति में भी श्रीयतिवृषभ आचार्य ने कहा है-

पुव्वं आइरियेहिं, मंगलपुव्वं च वाचिदं भणियं।

तं लादि हु आदत्ते, जदो तदो मंगलप्पवरं।।

अर्थात् पूर्व में आचार्यों द्वारा मंगलपूर्वक ही शास्त्र का पठन-पाठन किया गया है। उसी मंगल को यह निश्चय से लाता है-ग्रहण कराता है इसीलिए यह मंगल सर्वश्रेष्ठ है।

कुछ आचार्यों ने उपचार से पाप को भी मल कहा है और उस पाप का जो नाश करता है उसे मंगल संज्ञा प्रदान की है।

अब क्रम प्राप्त मंगल का अनुयोग कहते हैं —

गाथार्थ — पदार्थ क्या है ? किसका है ? किसके द्वारा होता है ? कहाँ पर होता है ? कितने समय तक रहता है ? कितने प्रकार का है ? इस प्रकार छह अनुयोगद्वारों से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान करना चाहिए।

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं-मंगल क्या है ? जीव द्रव्य मंगल है। मंगल किसका है ? जीवद्रव्य का मंगल है। किनके द्वारा मंगल किया जाता है ? औदयिक आदि भावों के द्वारा मंगल किया जाता है अर्थात् पूजा-भक्ति-अणुव्रत-महाव्रत आदि प्रशस्तरागरूप औदयिक भाव-परिणाम भी मंगल में कारण होते हैं ऐसा अर्थ हुआ। मंगल कहाँ होता है ? जीव में मंगल होता है। कितने समय तक मंगल रहता है ? नाना जीवों की अपेक्षा सर्वदा-हमेशा मंगल रहता है और एक जीव की अपेक्षा अनादि-अनन्त, सादि-अनन्त और सादि-सान्त इस प्रकार मंगल के तीन भेद हो जाते हैं।

प्रश्न — मंगल में एक जीव की अपेक्षा अनादि-अनन्तपना कैसे बनता है ?

द्रव्यार्थिकनयार्पणया^१। नोआगमभव्यद्रव्यमंगलापेक्षया वा मंगलमनाद्यपर्यवसानमिति। रत्नत्रयमुपादायाविनष्टेनैवाप्त-
सिद्धस्वरूपापेक्षया नैगमनयेन साद्यपर्यवसितं मंगलम्। सादिसपर्यवसितं सम्यग्दर्शनापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तकाल-
मुत्कर्षेण षट्षष्टिसागरा देशोनाः^२। कतिविधं मंगलं ? मंगलसामान्यात्तदेकविधम्। मुख्यामुख्यतो द्विविधम्।
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधं मंगलं। धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदाच्चतुर्विधम्। ज्ञानदर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पंचविधम्।
“णमो जिणाणं” इत्यादिनानेकविधं वा।^३

इति अनुयोगद्वारैः मंगलं वर्णितं।

मंगलस्य दण्डकाः—

उत्तर—द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से मंगल में अनादि अनन्तपना बन जाता है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव अनादिकाल से अनन्तकाल तक सर्वथा एक स्वभावरूप में अवस्थित है अतएव मंगल में भी अनादि अनन्तपना बन जाता है। अथवा नोआगमभावद्रव्यमंगल की अपेक्षा मंगल अनादि-अनन्त है। रत्नत्रय को धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होने वाले रत्नत्रय के द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्ध के स्वरूप की अपेक्षा नैगम नय से मंगल सादि-अनन्त है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा मंगल सादि-सान्त समझना चाहिए, उसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल कुछ कम छयासठ सागर प्रमाण है।

विशेषार्थ—यहाँ पर यह शंका उठती है कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से तो मिथ्यादृष्टि अवस्था वाले जीव को भी मंगलपने की प्राप्ति हो जायेगी ? इस पर श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है कि इससे मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद आदि को मंगलपना नहीं प्राप्त हो सकता है क्योंकि उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है। मंगल तो जीव ही है और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त धर्म वाला है।

जीव के कर्म आवरण अवस्था में भी शक्तिरूप से केवलज्ञानादि पाये जाते हैं क्योंकि वे जीव के गुण हैं। यदि इस अवस्था में उनका अभाव माना जावे तो जीव का भी अभाव मानना पड़ेगा। जैसे—राख से ढकी हुई अग्नि में भी उसके गुण, धर्म, ताप और प्रकाश की उपलब्धि अनुमान आदि प्रमाणों से बराबर सिद्ध होती है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव की आत्मा में भी चूँकि शक्ति रूप से परमात्म तत्त्व विद्यमान है इसलिए उन्हें भी मंगल कह देना कोई अनुचित नहीं है।

जो आत्मा वर्तमान में मंगलपर्याय से युक्त तो नहीं है किन्तु भविष्य में मंगलपर्याय से युक्त होगा उसके शक्ति की अपेक्षा से अनादि-अनन्त रूप मंगलपना बन जाता है।

रत्नत्रय की प्राप्ति से सादिपना और रत्नत्रय प्राप्ति के अनन्तर सिद्धस्वरूप की जो प्राप्ति हुई है उसका कभी अन्त आने वाला नहीं है। इस तरह इन दोनों धर्मों को ही विषय करने वाले (न एकं गमः नैगमः) नैगमनय की अपेक्षा मंगल सादि-अनन्त है।

मंगल कितने प्रकार का है ? मंगल, सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है। मुख्य और गौण के भेद से दो प्रकार का है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हन्त के भेद से चार प्रकार का है। ज्ञान-दर्शन और तीन गुप्ति के भेद से पाँच प्रकार का है अथवा ‘जिनेन्द्रदेव को नमस्कार हो’ इत्यादि रूप से अनेक प्रकार का है। इस प्रकार अनुयोगद्वारों के द्वारा मंगल का वर्णन हुआ।

अब मंगल के दण्डकों का वर्णन है—

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पृ. ३७। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पृ. ३९। ३. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. ४०।

अथवा मंगलविषये षड्भिः अधिकारैः दण्डका वक्तव्या भवन्ति।

तद्यथा — मंगलं, मंगलकर्ता, मंगलकरणीयं, मंगलोपायः, मंगलविधानं, मंगलफलमिति। एतेषां षण्णामपि अर्थ उच्यते —

मंगलस्यार्थः पूर्वोक्तः। मंगलकर्ता चतुर्दशविद्यास्थानपारग आचार्यः। मंगलकरणीयं भव्यजनः। मंगलोपायः त्रिरत्नसाधनानि। मंगलविधानं एकविधादि पूर्वोक्तं। मंगलफलं अभ्युदय-निःश्रेयससुखादिः।

मंगलं कदा कर्तव्यं —

एतन्मंगलं सूत्रस्य आदौ मध्येऽवसाने च वक्तव्यं।

उक्तं च —

आदि-अवसाण-मज्जे पण्णत्तं मंगलं जिणिंदिहिं।

तो कय-मंगलविणयो इणमो सुत्तं पवक्खामि।।

त्रिषु स्थानेषु मंगलं किमर्थमुच्यते ?

तदेव कथ्यते श्रीवीरसेनाचार्येण —

कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ता विणयोवगया सिस्सा अज्झेदारो सोदारो वत्तारो आरोग्गमविग्घेण विज्जं विज्जाफलं च पावेंतु त्ति।

उक्तं च —

आदिमिह भद्वयणं सिस्सा लहु पारया हवंतु त्ति।

मज्जे अव्वोच्छित्ती विज्जा विज्जा-फलं चरिमे।।^१

अथवा मंगल के विषय में छह अधिकारों द्वारा दंडकों का कथन करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं — १. मंगल २. मंगलकर्ता ३. मंगलकरणीय ४. मंगल का उपाय ५. मंगल के भेद ६. मंगल का फल। अब इन छह अधिकारों का अर्थ कहते हैं। मंगल का अर्थ तो पहले कहा जा चुका है। चौदह विद्यास्थानों के पारगामी आचार्य परमेष्ठी मंगलकर्ता हैं। भव्यजन मंगल करने योग्य हैं। रत्नत्रय की साधक सामग्री मंगल का उपाय है। एक प्रकार का, दो प्रकार का इत्यादि रूप से मंगल के भेद पहले वर्णन कर चुके हैं। अभ्युदय और मोक्षसुख मंगल का फल है अर्थात् जितने प्रमाण में यह जीव मंगल के साधन मिलाता है उतने ही प्रमाण में उससे जो यथायोग्य अभ्युदय और निःश्रेयस सुख मिलता है वही उसके मंगल का फल है।

मंगल कब करना चाहिए ?

वह मंगल सूत्र-ग्रंथ के आदि, मध्य और अन्त में करना चाहिए। कहा भी है —

गाथार्थ — जिनेन्द्रदेव ने आदि, मध्य और अन्त में मंगल करने का विधान किया है। अतः मंगल विनय को करके मैं इस सूत्र का वर्णन करता हूँ।

प्रश्न — ग्रंथ में आदि-मध्य और अन्त ऐसे तीन स्थानों में मंगल करने का उपदेश क्यों किया है ?

इसी बात को श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं —

उत्तर — मंगल संबंधी आवश्यक कृतिकर्म करने वाले तथा मंगलसंबंधी प्रायश्चित्त करने वाले और विनय को प्राप्त ऐसे शिष्य, अध्येता — पढ़ने वाले, श्रोता और वक्ता आरोग्य और निर्विघ्न रूप से विद्या तथा विद्या के फल को प्राप्त हों, इसीलिए तीनों जगह मंगल करने का उपदेश दिया गया है।

कहा भी है —

शिष्य सरलतापूर्वक प्रारंभ किये गये ग्रंथ के अध्ययन-स्मरण आदि कार्य में पारंगत हों इसलिए आदि में भद्रवचन अर्थात् मंगलाचरण करना चाहिए।

मंगलस्य भेदौ —

तं च मंगलं दुविहं, णिबद्धमणिबद्धमिदि। तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कयदेवदा-णमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण ण णिबद्धो देवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं। इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्धमंगलं “एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं” इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध-“णमो अरिहंताणं” इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दसंणादो।^१

तच्च मंगलं द्विविधं निबद्धमनिबद्धमिति। तत्र निबद्धलक्षणं-यः सूत्रग्रंथस्यादौ सूत्रकर्त्रा श्रीपुष्पदन्ताचार्येण कृतः देवतानमस्कारः स निबद्धमंगलम्। यः सूत्रग्रंथस्यादौ सूत्रकर्त्रा न निबद्धो देवतानमस्कारः स अनिबद्धमंगलम्।

इदं च पुनः जीवस्थानमिति नाम षट्खण्डागमग्रंथस्य प्रथमखण्डग्रन्थः निबद्धमंगलं।

अयं महामंत्रः सादिरनादिर्वा ?

अथवा षट्खण्डागमस्य मु प्रतौ पाठांतरं। यथा-(मुद्रितमूलग्रन्थस्य प्रथमावृत्तौ)

“जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्धदेवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं”^२।

प्रारंभ किये गये कार्य की व्युच्छित्ति न हो अर्थात् किसी विघ्न आदि के उपस्थित हो जाने पर वह अध्ययनादि कार्य बीच में ही छूट न जावे, इसलिए मध्य में मंगलाचरण करना चाहिए और विद्या तथा विद्या के फल की प्राप्ति हो इसलिए अन्त में मंगलाचरण करना चाहिए।

मंगल के दो भेद हैं —

वह मंगल दो प्रकार का है — निबद्धमंगल और अनिबद्धमंगल। जो ग्रंथ की आदि में ग्रंथकार के द्वारा इष्टदेवता को नमस्कार किया जाता है उसे निबद्ध मंगल कहते हैं।

ग्रंथ के प्रारंभ में ग्रंथकार के द्वारा जो देवता नमस्कार रूप मंगल निबद्ध नहीं किया जाता है वह अनिबद्ध मंगल है।

उनमें से यह “जीवस्थान” नामक प्रथम खण्डागम निबद्धमंगल है क्योंकि इसमें “एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं” इत्यादि प्रथम सूत्र के पहले “णमो अरिहंताणं” इत्यादिरूप से देवता नमस्कार निबद्धरूप से देखने में आता है।

वह मंगल दो प्रकार का कहा गया है — निबद्ध और अनिबद्ध मंगल। जो सूत्रग्रंथ के आदि में सूत्रकर्ता श्री पुष्पदन्ताचार्य के द्वारा किया गया देवतानमस्कार है वह निबद्धमंगल है और जो सूत्र की आदि में सूत्रकर्ता देवता नमस्कार रूप मंगल को निबद्ध नहीं करते हैं वह अनिबद्धमंगल है। यह जीवस्थान नाम का षट्खण्डागम का जो प्रथम खण्ड है वह निबद्धमंगल है।

यह महामंत्र सादि है अथवा अनादि ?

अथवा, प्रति में मुद्रितमूल प्रथम आवृत्ति में पाठान्तर है। जैसे —

जो सूत्र की आदि में सूत्रकर्ता के द्वारा देवता नमस्कार निबद्ध किया जाता है, वह निबद्ध मंगल है और जो सूत्र की आदि में सूत्रकर्ता के द्वारा देवता नमस्कार किया जाता है-रचा जाता है वह अनिबद्धमंगल है।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. ४२। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. ४२, टिप्पणौ।

अस्यायमर्थः — यः सूत्रस्यादौ सूत्रकर्त्रा निबद्धः-संग्रहीतः न च ग्रथितः देवतानमस्कारः स निबद्धमंगलं।
यः सूत्रस्यादौ सूत्रकर्त्रा कृतः-ग्रथितः देवतानमस्कारः स अनिबद्धमंगलं। अनेन एतज्ज्ञायते-अयं महामंत्रः
मंगलाचरणरूपेणात्र संग्रहीतोऽपि अनादिनिधनः, न तु केनापि रचितो ग्रथितो वा।

उक्तं च णमोकारमंत्रकल्पे श्रीसकलकीर्तिभट्टारकैः —

महापंचगुरोर्नाम, नमस्कारसुसम्भवम्।
महामंत्रं जगज्ज्येष्ठ-मनादिसिद्धमादिदम्^१॥६३॥
महापंचगुरूणां, पंचत्रिंशदक्षरप्रमम्।
उच्छ्वासैस्त्रिभिरेकाग्र-चेतसा भवहानये^२॥६८॥

श्रीमदुमास्वामिनापि प्रोक्तम् —

ये केचनापि सुषमाद्यरका अनन्ता, उत्सर्पिणी-प्रभृतयः प्रययुर्विवर्ताः।

तेष्वप्ययं परतरः प्रथितप्रभावो, लब्ध्वामुमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः^३॥३॥

अथवा द्रव्यार्थिकनयापेक्षयानादिप्रवाहरूपेणागतोऽयं महामंत्रोऽनादिः, पर्यायार्थिकनयापेक्षया
हुंदावसर्पिणीकालदोषापेक्षया तृतीयकालस्यान्ते तीर्थंकरदिव्यध्वनिसमुद्गतः सादिश्चापि संभवति।

अत्र कश्चिदाह — सूत्रस्यादौ मंगलं कृतं श्रीपुष्पदन्ताचार्येण तर्हि —

इसका अर्थ यह है — सूत्र ग्रंथ के प्रारंभ में ग्रंथकार जो देवता नमस्कार रूप मंगल कहीं से संग्रहीत करते हैं, स्वयं नहीं रचते हैं वह तो निबद्धमंगल है और सूत्र के प्रारंभ में ग्रंथकर्ता के द्वारा जो देवतानमस्कार स्वयं रचा जाता है वह अनिबद्धमंगल है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह णमोकार महामंत्र मंगलाचरणरूप से यहाँ संग्रहीत होते हुए भी अनादिनिधन है। यह मंत्र किसी के द्वारा रचित या गूँथा हुआ नहीं है। प्राकृतिक रूप से अनादिकाल से चला आ रहा है।

“णमोकार मंत्रकल्प” में श्री सकलकीर्ति भट्टारक ने कहा भी है —

श्लोकार्थ — नमस्कार मंत्र में रहने वाले पाँच महागुरुओं के नाम से निष्पन्न यह महामंत्र जगत् में ज्येष्ठ — सबसे बड़ा और महान है, अनादिसिद्ध है और आदि अर्थात् प्रथम है॥६३॥

पाँच महागुरुओं के पैंतीस अक्षर प्रमाण मंत्र को तीन श्वासोच्छ्वासों में संसार भ्रमण के नाश हेतु एकाग्रचित्त होकर सभी भव्यजनों को जपना चाहिए अथवा ध्यान करना चाहिए॥६८॥

श्रीमत् उमास्वामी आचार्य ने भी कहा है —

श्लोकार्थ — उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि के जो सुषमा, दुःषमा आदि अनन्त युग पहले व्यतीत हो चुके हैं उनमें भी यह णमोकार मंत्र सबसे अधिक महत्त्वशाली प्रसिद्ध हुआ है। मैं संसार से बहिर्भूत (बाहर) मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस णमोकार मंत्र को नमस्कार करता हूँ॥३॥

अथवा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि प्रवाहरूप से चला आ रहा यह महामंत्र अनादि है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा हुंदावसर्पिणी कालदोष के कारण तृतीय काल के अंत में तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से उत्पन्न होने के कारण यह सादि भी है।

सूत्र ग्रंथ मंगलरूप है अथवा अमंगलरूप है ?

यहाँ कोई कहता है कि सूत्र की आदि में श्रीपुष्पदन्त आचार्य के द्वारा मंगल किया गया है तो शंका होती

सूत्रं किं मंगलमुतामंगलमिति ? यदि अमंगलं तर्हि तत्सूत्रं सूत्रमेव न भवेत्, पापकारणस्य सूत्रत्वविरोधात्। अथ सूत्रं मंगलं, किं तत्र मंगलेन एकतश्चैव कार्यनिष्पत्तेः इति ? तादृशप्रतिज्ञाभावात् परिशेषात् मंगलं एव ?

आचार्यः प्राह — सूत्रस्यादौ मंगलं पठ्यते, अतो न पूर्वोक्तदोषोऽपि, द्वयोरपि पृथक्-पृथक् विनाशयमाण-पापदर्शनात्। मंगलस्य पठ्यमाने सति विघ्नस्य विनाशनं भवति। सूत्रं पुनः समयं प्रति असंख्यातगुणश्रेणीरूपेण पापं गालयित्वा पश्चात् सर्वकर्मक्षयकारणमिति।

पुनरपि कश्चिदाशंकते-देवतानमस्कारोऽपि चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षयकारीति द्वयोरप्येककार्यकर्तृत्वं इति चेत् ?

आचार्यः समाधत्ते — नैतत् कथयितव्यं, सूत्रविषयपरिज्ञानमन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात्। शुक्लध्यानान्मोक्षः न च देवतानमस्कारः शुक्लध्यानमिति।

अत्र पर्यन्तं णमोकारमंगलगाथासूत्रस्यार्थः कथितः, तत्र च मंगले धातु-निक्षेप-नय-एकार्थ-निरुक्ति-अनियोगद्वारैः संक्षेपेण कथनं कृतम्।

अस्य महामंत्रस्य संक्षिप्तरूपः 'ॐकारो' भवति, तस्य व्याख्या कथ्यते—

अरिहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया मुणिणो।

पढमक्खरणिप्पण्णो, ओंकारो पंच परमेट्टी।।

है कि सूत्र ग्रंथ स्वयं मंगलरूप हैं या अमंगलरूप ? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं हैं तो वह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मंगल के अभाव में पाप का कारण होने से उसमें सूत्रपने का विरोध आता है और यदि सूत्र मंगलरूप हैं तो फिर उसमें अलग से मंगल करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि मंगलरूप सूत्र से ही कार्य की निष्पत्ति हो जाती है। यदि कहा जाये कि सूत्र मंगल नहीं है तो यह बात भी नहीं है क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा नहीं पाई जाती है, अतएव “परिशेष न्याय” से वह मंगल है। तब फिर यहाँ अलग से मंगल क्यों किया गया ?

इस शंका पर आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं कि —

सूत्र की आदि में जो मंगल किया गया है उसमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है क्योंकि सूत्र और मंगल इन दोनों से पृथक्-पृथक् रूप में पापों का विनाश होता हुआ देखा जाता है। पठन-पढ़ने रूप क्रिया में आने वाले विघ्नों को दूर करने वाला तो मंगल है और सूत्र, प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणी रूप से पापों का नाश करके उसके बाद सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का कारण होता है।

पुनः कोई शंका करता है कि देवता नमस्कार भी अंतिम अवस्था में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करता है अतः मंगल और सूत्र दोनों का एक ही कार्य हुआ ?

इस पर आचार्य समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, सूत्रग्रंथ में वर्णित विषय का ज्ञान हुए बिना उसकी उस प्रकार के कार्य-कर्मक्षय रूप सामर्थ्य नहीं हो सकती है। मोक्ष की प्राप्ति शुक्लध्यान से होती है परन्तु देवता नमस्कार शुक्लध्यान नहीं है।

यहाँ तक णमोकार मंगलगाथा सूत्र का अर्थ हुआ, उस मंगल में धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोगद्वारों के द्वारा संक्षेप से कथन किया गया।

इस महामंत्र का संक्षिप्त रूप “ॐकार” होता है उसकी व्याख्या करते हैं —

गाथार्थ — अरिहंत, अशरीरी (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय, मुनि (सर्वसाधु) इन पाँचों परमेष्ठी पदों के प्रथम अक्षर लेने से “ओंकार” शब्द बना है जो कि पंचपरमेष्ठी का वाचक है।

अर्हतां प्रथमाक्षरः 'अ' सिद्धानां—अशरीराणां प्रथमाक्षरः 'अ', अ+अ "समानः सवर्णे दीर्घाभवति परश्च लोपम्" इति सूत्रेण 'आ' संजातः। पुनश्च आचार्याणां 'आ', आ+आ "समानः..." इत्यादिसूत्रेण आ एव संजातः। तत उपाध्यायानां 'उ', आ+उ "उवर्णे ओ" इति सूत्रेण 'ओ' संजातः। ततः परं साधूनां-मुनीनां प्रथमाक्षरो मकारो गृहीतः अतः 'ओम्' भवति, "विरामे वा" इति सूत्रेण 'ओं' अथवा 'ॐ' मंत्रो जातः।

हस्तिनापुरक्षेत्रे जम्बूद्वीपस्थले एकस्मिन् मन्दिरे एकोनविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे वीराब्दे मत्प्रेरणया 'ॐ' निर्मापितोऽस्ति। अस्मिन् ॐकारे पंचपरमेष्ठिनां मूर्तयो विराजमाना भविष्यन्ति। अयं ॐ मंत्रः किञ्चिन्न्यूनं सार्धत्रिहस्तप्रमाणमस्ति। एष मंत्रो बृहदाकारेण प्रथमवारमेवात्र निर्मापितोऽभवत्। अयं मंत्राकारः सदैव जम्बूद्वीपस्थलं हस्तिनापुरक्षेत्रं च रक्षेदिति प्रार्थयामहे।

एवं प्रथमस्थले णमोकारमहामंत्रस्यार्थ-अनादिनिधनत्वादिविवेचनरूपेण प्रथमगाथासूत्रेण मंगलाचरणे एकं गाथासूत्रं गतम्।

ग्रन्थस्य निमित्तं कथ्यते—

संप्रति सूत्रावतारस्य निमित्तमुच्यते—'बद्ध-बंध-बंधकारण-मुक्त-मोक्ष-मोक्षकारणानि निक्षेप-नय-प्रमाण-अनियोगद्वारैः अधिगम्य भव्यजनो जानातु इति। एतत् श्री वीरसेनाचार्येण कथ्यते—

अरिहंतों का प्रथम अक्षर "अ" लिया पुनः सिद्धों को अशरीरी माना है अतः अशरीरी का प्रथम अक्षर "अ" लेकर 'समानः सवर्णे दीर्घाभवति परश्च लोपम्' इस सूत्र से अ+अ=आ (दीर्घ आ) हो गया पुनः आचार्यों के नमस्काररूप पद का प्रथम अक्षर "आ" लेने से उपर्युक्त "समान....." इत्यादि सूत्र से आ+आ मिलकर "आ" ही रहा और उपाध्यायों का "उ" लिया तो आ+उ को "उवर्णे ओ" सूत्र से "ओ" हो गया, उसके पश्चात् साधु का अर्थ "मुनि" होता है सो मुनि का प्रथम अक्षर "म्" ग्रहण किया गया अतः ओ+म्=ओम् बन गया पुनः "विरामे वा" सूत्र से पदान्त मकार को विकल्प से अनुस्वार होकर "ओं" बन जाता है। इस ओं को "ॐ" इस आकार में भी लिखा जाता है अतः यह "ॐ" शब्द बीजाक्षरमंत्र कहलाता है।

हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र में जम्बूद्वीप स्थल पर एक मंदिर के अंदर वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ इक्कीसवें (२५२१) वर्ष में मेरी प्रेरणा से "ॐ" प्रतिमा का निर्माण किया गया है। इस ॐकार बिम्ब में पाँच मूर्तियाँ विराजमान होंगी। यह "ॐ" मंत्र कुछ कम साढ़े तीन हाथ प्रमाण (लगभग ५ फुट) ऊँचा है। इतने बड़े आकाररूप में इस ॐ मंत्र का हस्तिनापुर में यह प्रथम निर्माण हुआ है अर्थात् देशभर में अभी तक कहीं भी ऐसे विशाल ॐ बिम्ब का निर्माण नहीं हुआ है प्रत्युत सर्वप्रथम यहीं बना है। मंत्र के आकाररूप में निर्मित यह ॐ जम्बूद्वीपस्थल तथा सम्पूर्ण हस्तिनापुर क्षेत्र की सदैव रक्षा करे यही मेरी प्रार्थना है।

इस प्रकार प्रथम स्थल में णमोकार महामंत्र का अर्थ एवं उसकी अनादिनिधनता के विवेचनरूप से प्रथम गाथासूत्र के द्वारा मंगलाचरण में एक गाथासूत्र समाप्त हुआ।

अब क्रमप्राप्त ग्रंथ के निमित्त का वर्णन किया जाता है—

अब निमित्त का कथन करते हैं। किसके निमित्त का कथन यहाँ किया जाता है ? यहाँ पर सूत्रावतार अर्थात् ग्रंथ प्रारंभ होने के निमित्त का वर्णन किया जाता है।

बद्ध, बंध, बंध के कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्ष के कारण इन छह तत्त्वों को निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोग द्वारों से भलीभाँति समझकर भव्यजन उसके ज्ञाता बनें, ऐसा श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं। इसलिए यह

“सुत्तमोदिण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंथदो गणहरदेवादो त्ति।”

कश्चिदाशंकते — द्रव्यभावाभ्यामकृत्रिमत्वतः सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतारः इति चेत् ?

आचार्यदेवः प्राह — एतत्सर्वमभविष्यद् यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत। पर्यायार्थिकनया-पेक्षायामवतारस्तु पुनर्घटित एव^१।

निमित्तस्य कथनं जातम्।

ग्रन्थस्य हेतुः —

सांप्रतं हेतुरुच्यते। तत्र हेतुद्विविधः — प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति। कस्य हेतुः ? सिद्धान्ताध्ययनस्य। तत्र प्रत्यक्षहेतुद्विविधः — साक्षात्प्रत्यक्ष-परंपराप्रत्यक्षभेदात्। तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्ति-र्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम्। प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च। कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात्।

तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम्। परोक्षं द्विविधं, अभ्युदयं नैःश्रेयसमिति। तत्राभ्युदयसुखं इन्द्रप्रतीन्द्र-चक्रवर्त्यादि दिव्यमानुष्यसुखम्।^२

सूत्र अर्थप्ररूपणा की अपेक्षा तीर्थकर से और ग्रंथरचना की अपेक्षा गणधर देव से अवतीर्ण हुआ है।

अब यहाँ पर कोई शंका करता है —

शंका — द्रव्य और भाव से अकृत्रिम होने के कारण सर्वदा एक रूप से अवस्थित श्रुत का अवतार कैसे हो सकता है ?

तब आचार्यदेव कहते हैं —

समाधान — यह शंका तो तब बनती जब यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा होती। परन्तु यहाँ तो पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा होने से श्रुत का अवतार तो बन ही जाता है-घटित हो जाता है।

यहाँ भावार्थ यह है कि भव्यजीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्य के दीप्त तेज से छह द्रव्य और नव पदार्थों को देखें अर्थात् भलीभाँति जानें, इस निमित्त से श्रुतज्ञानरूपी सूर्य का उदय हुआ है।

यहाँ तक निमित्त का कथन पूर्ण हुआ।

ग्रंथ का हेतु —

अब हेतु का कथन किया जाता है। हेतु दो प्रकार का है — प्रत्यक्ष हेतु, परोक्ष हेतु। यहाँ पर किसके हेतु का कथन है ? सिद्धान्त अध्ययन के हेतु का कथन यहाँ किया जा रहा है। उन हेतुओं में से प्रत्यक्ष हेतु के दो भेद हैं — साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु और परम्परा प्रत्यक्ष हेतु। उनमें से अज्ञान का विनाश-सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति-देव, मनुष्य आदि के द्वारा निरन्तर पूजा का होना और प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणी कर्मों की निर्जरा का होना “साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु” समझना चाहिए।

शंका — असंख्यात गुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती है यह किनके प्रत्यक्ष है ? अर्थात् यह बात प्रत्यक्षरूप से कौन जानता है ?

समाधान — ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्र ग्रंथ का अध्ययन करने वालों के असंख्यात गुणश्रेणी रूप से निर्जरा होती है यह बात अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी को प्रत्यक्षरूप से दिखती है।

शिष्य-प्रशिष्यादि के द्वारा सतत अर्चन-पूज्यता को प्राप्त करना “परम्परा प्रत्यक्ष हेतु” है। परोक्ष हेतु,

तत्र नैःश्रेयसं नाम सिद्धानामर्हतां चातीन्द्रियसुखम्^१।

अथवा जिनपालितो^२ निमित्तम्। हेतुर्मोक्षः।

शिक्षकाणां हर्षोत्पादनं निमित्तहेतुकथने प्रयोजनम्।

निमित्तहेतुकथनं जातम्। परिमाणमुच्यते —

उक्तं च — अक्षर-पद-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्जं, अत्थदो अणंतं। पदं पडुच्च अट्टारहपद-सहस्सं। शिक्षकाणां हर्षोत्पादनार्थं मतिव्याकुलता-विनाशनार्थं च परिमाणमुच्यते। परिमाणकथनं जातम्।

ग्रन्थस्य नाम —

इदानीं नामनिरूपणं क्रियते —

नाम जीवस्थानमिति।

षट्खण्डागमग्रन्थस्य प्रथमखण्डो जीवस्थानं नाम। अस्मिन् प्रथमखण्डे — सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्व-नामाष्टानुयोगद्वाराणि, प्रकृति-समुत्कीर्तना-स्थानसमुत्कीर्तने द्वे, त्रयो महादण्डकाः जघन्योत्कृष्टस्थिती द्वे, सम्यक्त्वोत्पत्तिः, गत्यागती चेति नव चूलिकाः सन्ति।

ग्रन्थस्य अर्थकर्ता —

इदानीं ग्रन्थस्य कर्ता निरूप्यते —

अभ्युदयसुख और नैश्रेयस सुख के भेद से दो प्रकार का होता है। इन्द्र-प्रतीन्द्र आदि के दिव्यसुख तथा चक्रवर्ती आदि मनुष्यगति के सुखों की प्राप्ति 'अभ्युदयसुख' है और अर्हन्त सिद्ध के अतीन्द्रियसुख का नाम "नैश्रेयस सुख" है।

अथवा जिनपालित इस श्रुत के अवतार में निमित्त हैं और उस श्रुत अवतार का हेतु मोक्ष है अर्थात् मोक्ष के हेतु जिनपालित के निमित्त से इस श्रुत का अवतार हुआ है। यहाँ पर निमित्त और हेतु के कथन करने से शिक्षकों-पाठक जनों को हर्ष का उत्पन्न कराना ही प्रयोजन है।

निमित्त और हेतु का कथन पूर्ण हुआ।

अब परिमाण का कथन करते हैं —

कहा भी है — अक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्ति और अनुयोग द्वारों की अपेक्षा श्रुत का परिमाण संख्यात है और अर्थ की अपेक्षा अनन्त है। पद की अपेक्षा अठारह हजार प्रमाण है। शिक्षक जनों को हर्ष उत्पन्न कराने के लिए और मतिसंबंधी व्याकुलता दूर करने के लिए यहाँ परिमाण का कथन किया गया है। इस प्रकार परिमाण का कथन पूर्ण हुआ।

ग्रंथ का नाम —

अब ग्रंथ के नाम का निरूपण करते हैं —

इस शास्त्र का नाम जीवस्थान है।

षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड का नाम जीवस्थान है। इस प्रथम खण्ड में सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-काल-अन्तर-भाव और अल्पबहुत्व नाम के आठ अनुयोग द्वार हैं। प्रकृतिसमुत्कीर्तना-स्थानसमुत्कीर्तना ये दो समुत्कीर्तना हैं, तीन महादण्डक हैं, जघन्य और उत्कृष्ट ये दो स्थिति हैं, सम्यक्त्व उत्पत्ति का वर्णन है, गति-आगति का वर्णन है। इस प्रकार से प्रथम खण्ड में आठ अनुयोग और नव चूलिकाओं का वर्णन है।

अब ग्रंथ के कर्ता का निरूपण करते हैं —

उक्तं च —

तत्थ कत्ता दुविहो-अत्थकत्ता गंथकत्ता चेदि। तत्थ अत्थकत्ता दव्वादीहि चउहि परूविज्जदि। तत्र तस्य तावद् द्रव्यनिरूपणं क्रियते^१ संक्षेपेण —

द्रव्यापेक्षया अर्थकर्ता —

स्वेदरजोमलादि-शरीरगताशेषदोषरहितः दिव्यविशिष्टदेहधरः शतेन्द्रगणधरादिभ्यः प्राप्तपूजातिशयो-
ऽन्तिमतीर्थकरो भगवान् महावीरोऽर्थकर्ता।

क्षेत्रापेक्षया अर्थकर्ता — राजगृहनगरस्य सन्निकटे पंचशैलपुरे विपुलाचलनाम्नि पर्वते भगवतो महावीरस्य दिव्यध्वनिः संजाता।

उक्तं च —

सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्हि।

विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अत्थकत्तारो॥^२

कालापेक्षया अर्थकर्ता —

उक्तं च —

इमिसेऽवसप्पिणीए, चउत्थ-समयस्य पच्छिमे भाए।

चोत्तीस-वाससेसे, किंचि विसेसूणए संते॥

वासस्स पढममासे, पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।

पाडिवद-पुव्वदिवसे, तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि॥

कहा भी है —

कर्त्ता के दो भेद हैं — अर्थकर्त्ता और ग्रंथकर्त्ता। इनमें से अर्थकर्त्ता का द्रव्यादि चार भेदों द्वारा प्ररूपण किया जाता है। उनमें से पहले द्रव्य की अपेक्षा अर्थकर्त्ता का निरूपण करते हैं —

अब द्रव्य की अपेक्षा अर्थकर्त्ता का निरूपण करते हैं —

पसीना, धूल, मल आदि शरीर में होने वाले सम्पूर्ण दोषों से रहित, दिव्य-विशिष्ट देहधारी, सौ इन्द्रों एवं गणधर आदि महामुनियों के द्वारा अतिशय पूजा को प्राप्त अंतिम तीर्थकर महावीर स्वामी अर्थकर्त्ता हैं।

अब क्षेत्र की अपेक्षा अर्थकर्त्ता का वर्णन करते हैं —

क्षेत्र की अपेक्षा अर्थकर्त्ता का वर्णन-राजगृह नगर के निकट पंचशैलपुर-पंचपहाड़ी के विपुलाचल नामक पर्वत पर भगवान् महावीर जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि उत्पन्न हुई थी-खिरी थी।

कहा भी है —

गाथार्थ — सुर-खेचर के मन को हरने वाले, गुणों से परिपूर्ण, राजगृही के निकट पंचशैल नामक नगर में विपुलाचल पर्वत पर श्री वीरजिनेन्द्र अर्थकर्त्ता हुए-उनकी दिव्यध्वनि खिरी थी।

अब काल की अपेक्षा अर्थकर्त्ता का वर्णन करते हैं —

इस अवसर्पिणी कल्पकाल के दुःषमासुषमा नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौतीस वर्ष बाकी रहने पर वर्ष के प्रथम मास-श्रावण मास में, प्रथम पक्ष-कृष्णपक्ष में प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल के समय आकाश में अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर तीर्थ-धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।

सावणबहुलपडिवदे, रुद्रमुहुते सुहोदए रविणो।

अभिजिस्स पढमजोए, एत्थ जुगाई मुणेयव्वो।।^१

अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्थकाले किञ्चिन्न्यूनं चतुस्त्रिंशद्वर्षशेषे सति वर्षाणां प्रथममासे श्रावणमासे कृष्णपक्षे प्रतिपत्तिथौ धर्मतीर्थस्योत्पत्तिर्जाता, भगवतो महावीरस्य दिव्यध्वनिराविर्बभूव। इयमेव तिथिः युगादिः कथ्यते। आषाढपौर्णमासीचरमसमयः पुनः श्रावणकृष्णप्रतिपदि युगादौ युगारम्भदिवसे धर्मतीर्थस्योत्पत्तिर्जाता।

अद्य कार्तिककृष्णात्रयोदश्याः तिथेः पूर्वं एकपञ्चाशदधिक पञ्चविंशतिशतानि संवत्सराणि व्यतीतानि बभूवुः।^२

अथ दिव्यध्वनिलक्षणं उच्यते—

जोयणपमाणसंट्टिद-तिरियामरमणुवणिवहपडिबोहो।

मिदमधुरगभीरतरा-विसदविसयसयल-भासाहिं।।६०।।

श्रावण प्रतिपदा के दिन रुद्रमुहूर्त में सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में युग की आदि में तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।

इस अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में कुछ कम चौतीस वर्ष के शेष रहने पर वर्षों के प्रथम मास श्रावणमास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई-भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि खिरी थी। यही तिथि युगादि की प्रथमतिथि कही जाती है। आषाढमास की पूर्णिमा तिथि युग की अंतिम तिथि के पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को युग के प्रारम्भिक दिवस पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।

आज कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी (धनतेरस) है इससे पूर्व पच्चीस सौ इक्यावन (२५५१) संवत्सर (वर्ष) व्यतीत हो चुके हैं।

भावार्थ—इस “सिद्धांतचिंतामणि” टीका की रचयित्री परमविदुषी गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी जिस दिन इस प्रकरण को लिख रही थीं वह वीर निर्वाण संवत् २५२१वें वर्ष का कार्तिक कृष्णा तेरस का पवित्र दिवस था। अतः उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण इतिहास को बतलाया कि निर्वाण प्राप्ति के ३० वर्ष पूर्व भगवान् महावीर को केवलज्ञान हो चुका था अतः केवलज्ञान की अपेक्षा आज २५२१+३०=२५५१ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

इतने वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी आज तक उनके शासन के अपरवर्ती आचार्यों द्वारा अवधारित उस श्रुत की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है और पंचमकाल के अंत तक वही परम्परा चलती रहेगी।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का दिन कर्मभूमि की आदि का प्रथम दिवस है। इसी दिन भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि भी खिरी थी अतः इसे “वीरशासन जयंती दिवस” भी कहते हैं।

अब दिव्यध्वनि का लक्षण बताते हैं—

गाथार्थ—एक योजन प्रमाण वाली समवसरण सभा में स्थित तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि मृदु-

१. षट्खण्डागम (ध्वला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. ६४। २. त्रयस्त्रिंशत् वर्ष अष्टमासैकपक्षहीने इत्यर्थः। ३. आज कार्तिक कृष्णा तेरस (धनतेरस) है, अभी वीर नि. सं. २५२१ चल रहा है। अतः आज से २५५१ वर्ष पूर्व भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी है। नि. सं. २५२१ में दिव्यध्वनि के बाद ३० वर्ष भगवान् का श्रीविहार हुआ है। यह जोड़ देने से २५५१ वर्ष होते हैं।

अट्टरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा।

अक्खरअणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ॥६१॥

एदासिं भासाणं तालुवदंतोठ्ठकंठवावारं।

परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो॥६२॥^१

अष्टादशमहाभाषासप्तशतकलघुभाषामयदिव्यध्वनेः स्वामी भगवान् महावीरः समवसरणे असंख्यभव्य-जीवानां धर्मोपदेशको बभूव।

भावतोऽर्थकर्ता निरूप्यते —

ज्ञानावरणादिनिश्चयव्यवहारापायातिशयजातानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्य-क्षाधिकसम्यक्त्वदानलाभ-भोगोपभोग-निश्चयव्यवहारप्राप्त्यतिशयभूत-नवकेवललब्धिपरिणतः।^२

एवं विधो महावीरोऽर्थकर्ता।

ग्रंथकर्ता —

संप्रति ग्रंथकर्ता निरूप्यते धवलाटीकायां —

तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो तम्हि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम-जणिद-चउरमलबुद्धिसंपण्णेण बम्हणेण गोदमगोत्तेण सयलदुस्सुदि-पारएण जीवाजीवविसयसंदेह-विणासणट्ठमु-वगयवड्ढमाणपादमूलेण इंदभूदिणावहारिदो।

मधुर-अतिगंभीर और विशद विषय का प्रतिपादन करने वाली सम्पूर्ण भाषाओं से सहित है और वह वाणी तिर्यच-देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिबोध प्रदान करने वाली है।

संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षर रूप अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं में परिणत हुई और तालु-ओष्ठ-दन्त तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्यजीवों को आनन्दित करने वाली भाषाओं के स्वामी तीर्थकर भगवान् हैं।

अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषामय दिव्यध्वनि के स्वामी भगवान् महावीर ने समवसरण में असंख्य जीवों को धर्म का उपदेश दिया।

अब भाव की अपेक्षा अर्थकर्ता का निरूपण करते हैं —

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के निश्चय-व्यवहाररूप विनाश कारणों की विशेषता से उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा क्षायिक सम्यक्त्व, दान-लाभ-भोग और उपभोग की निश्चय और व्यवहाररूप प्राप्ति के अतिशय से प्राप्त हुई नौ केवललब्धियों से परिणत भगवान् महावीर ने भावश्रुत का उपदेश दिया। इस प्रकार श्री महावीर स्वामी भाव की अपेक्षा अर्थकर्ता कहलाए हैं।

अब धवला टीका में ग्रंथकर्ता का वर्णन करते हैं —

इस प्रकार केवलज्ञानी भगवान् महावीर के द्वारा कहे गये अर्थ-पदार्थ को उसी काल में और उसी क्षेत्र में क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न चार प्रकार के — मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययरूप निर्मल ज्ञान से युक्त, ब्राह्मणवर्णी, गौतम गोत्री, सम्पूर्ण दुःश्रुति — अन्य मतावलम्बी वेद-वेदांग के पारंगत और जीव-अजीवविषयक संदेह को दूर करने के लिए श्रीवर्द्धमान तीर्थकर के पाद-मूल में जाकर इन्द्रभूति ने केवलज्ञान से विभूषित उन भगवान् महावीर के द्वारा कथित अर्थ को ग्रहण किया।

पुणो तेणिंदभूदिणा भावसुदपज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोदसपुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण रयणा कदा।^१

उक्तं च महापुराणांतर्गत-उत्तरपुराणे —

भट्टारकोपदेशेन, श्रावणे बहुले तिथौ॥३६९॥

पक्षादावर्थरूपेण, सद्यः पर्याणमन् स्फुटम्।

पूर्वाणहे पश्चिमे भागे, पूर्वाणामप्यनुक्रमात्॥३७०॥

इत्यनुज्ञातसर्वांग - पूर्वार्थो धीचतुष्कवान्।

अंगानां ग्रंथसंदर्भ, पूर्वरात्रौ व्यधामहम्॥३७१॥

पूर्वाणां पश्चिमे भागे, ग्रंथकर्ता ततोऽभवम्।

इति श्रुतर्द्धिभिः पूर्णो-ऽभूवं गणभृदादिमः॥३७२॥^२

अस्याभिप्रायोऽयं — भट्टारकवर्द्धमानस्वामिन उपदेशेन मया श्रावणकृष्णाप्रतिपत्तिथौ पूर्वाणहकाले समस्त-अंगानां ज्ञानं प्राप्तं, अपराणहकाले चतुर्दशपूर्वाणां च बोधः संजातः। मया पुनः तदरात्रिपूर्वभागे अंगानां रचना कृता, रात्रौ पश्चिमभागे पूर्वाणां रचना कृता। ततोऽहं गौतमो ग्रंथकर्ता अभूवम् प्रथमो गणधरश्च भगवतो महावीरस्येति।

अत्र श्रीगुणभद्रसूरिणा श्री गौतमस्वामिमुखेनैतत्प्रकरणं निगदितं।

भावार्थ — ये इन्द्रभूति गौतम भगवान के समवसरण में आने से पूर्व सम्पूर्ण मिथ्याशास्त्रों के ज्ञाता थे अतः चार ज्ञान होने के पश्चात् भी उनका वह ज्ञान विद्यमान तो था किन्तु उस पर से उनका श्रद्धान समाप्त हो गया था।

पुनः उन इन्द्रभूति ने भावश्रुतरूप पर्याय से परिणत होकर बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की रचना एक ही मुहूर्त में कर दी।

महापुराण के अन्तर्गत उत्तरपुराण में कहा भी है —

श्लोकार्थ — भट्टारक — भगवान महावीर के उपदेश से श्रावण कृष्णा एकम् तिथि को पूर्वाणहकाल में समस्त अंगों के अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े। पुनः उसी दिन अपराणह काल में अनुक्रम से पूर्वों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया।

इस प्रकार जिसे समस्त अंगों तथा पूर्वों का ज्ञान हुआ है और जो चार ज्ञान से सम्पन्न हैं ऐसे मैंने रात्रि के पूर्व भाग में अंगों की और पिछले भाग में पूर्वों की ग्रंथरचना की, उसी समय मैं ग्रंथकर्ता हुआ। इस तरह श्रुतज्ञानरूपी ऋद्धि से पूर्ण हुआ मैं भगवान महावीर स्वामी का प्रथम गणधर हो गया॥३७०-७१-७२॥

इसका अभिप्राय यह है कि भट्टारक — भगवान वर्द्धमान स्वामी के उपदेश से मैंने श्रावण कृष्णा प्रतिपदा तिथि में पूर्वाणहकाल — प्रातःकाल में समस्त अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और अपराणह काल में चौदह पूर्वों का मुझे बोध हुआ। पुनः मैंने उसी रात्रि के पूर्व भाग में अंगों की रचना की और रात्रि के पिछले भाग में पूर्व रूप श्रुत को रचा। इसलिए मैं गौतम ग्रंथकर्ता के रूप में तथा भगवान् महावीर के प्रथम गणधर के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

यहाँ श्री गुणभद्रसूरि ने श्रीगौतमस्वामी के मुख से निकले हुए उपर्युक्त इस प्रकरण को वर्णित किया है।

अथ द्वादशाङ्गकथनं—

द्वादशाङ्गस्य नामानि—आचाराङ्ग-सूत्रकृताङ्ग-स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग-व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग-नाथधर्मकथाङ्ग-उपासकाध्ययनाङ्ग-अन्तःकृद्दशाङ्ग-अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग-प्रश्नव्याकरणाङ्ग-विपाकसूत्राङ्ग-दृष्टिवादाङ्गानि चेति।

१. तत्र आचाराङ्गं—अष्टादशसहस्रपदैर्मुनीनामाचारं वर्णयति। यथा—

कथं चरे कथं चिट्ठे, कथमासे कथं सए, कथं भुंजेज्ज भासेज्ज कथं पावं ण बज्झई।

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए, जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई।।

२. सूत्रकृताङ्गं—षट्त्रिंशत्सहस्रपदैः ज्ञानविनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापना-व्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूपयति, स्वसमय-परसमयस्वरूपं चापि कथयति।

३. स्थानाङ्गं—द्विचत्वारिंशत्सहस्रपदैः एकादि-एकैकाधिक-स्थानानि वर्णयति। यथा-अयं जीवश्चैतन्यान्वयविधायिधर्मेण एकः, ज्ञानदर्शनोपयोगात् द्विविधः, कर्मफलचेतना-कर्मचेतना-ज्ञानचेतना-भेदात् त्रिविधः इत्यादि।

४. समवायाङ्गं—एकलक्षचतुःषष्टिसहस्रपदैः सर्वपदार्थानां समवायं कथयति। तत्र द्रव्यसमवायो धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-लोकाकाश-एकजीवप्रदेशाश्च समानाः। क्षेत्रसमवायः सीमन्तनरक-मनुष्यक्षेत्र-

अब बारह अंगों के नाम दर्शाते हैं—

आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति अङ्ग, नाथधर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग, विपाकसूत्राङ्ग और दृष्टिवादाङ्ग ये द्वादशाङ्ग के नाम हैं।

१. आचाराङ्ग—अठारह हजार पदों के द्वारा मुनियों के आचार/आचरण/चर्या का वर्णन करने वाला पहला आचाराङ्ग श्रुत है। यथा—

श्लोकार्थ—शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! मैं कैसे विचरण करूँ? कैसे ठहरूँ? कैसे बैठूँ? कैसे शयन करूँ? कैसे भोजन करूँ? और कैसे भाषण करूँ-बोलूँ? जिससे पाप का बंधन हो।

तब आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! तू यत्नपूर्वक—सावधानीपूर्वक (समितिपालनयुक्त यत्नाचारपूर्वक) विचरण कर, यत्नपूर्वक ठहर, यत्नपूर्वक बैठ, यत्नपूर्वक शयन कर, यत्नपूर्वक भोजन कर और यत्नपूर्वक वचन बोल जिससे कि पाप का बंधन नहीं होगा।

२. सूत्रकृताङ्ग—छत्तीस हजार पदों के द्वारा यह अङ्ग ज्ञानविनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्मक्रिया की प्ररूपणा करता है तथा स्वसमय (जैनागम) और परसमय (अन्य मतावलम्बी ग्रंथों) को भी कहता है।

३. स्थानाङ्ग—ब्यालीस हजार पदों के द्वारा एक से लेकर, उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन करता है। जैसे—यह जीव चैतन्य गुण से समन्वित धर्म वाला होने से एक है, ज्ञान-दर्शन उपयोग रूप से दो प्रकार का है तथा कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना के भेद से तीन प्रकार का है इत्यादि।

४. समवायाङ्ग—एक लाख चौंसठ हजार पदों के द्वारा समस्त पदार्थों के समवाय का वर्णन करने वाला यह अङ्ग है। उनमें से द्रव्यसमवाय की अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश समान हैं। क्षेत्रसमवाय की अपेक्षा प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमन्तक नामक प्रथम इन्द्रकबिल, ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नाम का इन्द्रक विमान और

ऋजुविमान-सिद्धक्षेत्रानि च समप्रमाणानि। कालसमवायः समयो समयेन मुहूर्तो मुहूर्तेन समः। भावसमवायः केवलज्ञानं केवलदर्शनेन सममिति।

५. व्याख्याप्रज्ञप्त्यंगं — द्विलक्ष-अष्टाविंशतिसहस्रपदैः किमस्ति जीवः किं नास्ति जीव इत्यादीनि षष्टिसहस्रप्रश्नानि प्ररूपयति।

६. नाथधर्मकथांगं — पञ्चलक्ष-षट्पंचाशत्सहस्रपदैः सूत्रपौरुषीं तीर्थकरधर्मोपदेशानां गणधरदेवस्य संदेहापाकरणविधानं बहुविधकथाः उपकथाश्च वर्णयति।

७. उपासकाध्ययनांगं — एकादशलक्ष-सप्ततिसहस्रपदैः —

दंसणवदसामाड्य-पोसहसच्चित्तराड-भत्ते य।

बम्हारंभपरिगह-अणुमण-उद्दिष्टदेसविरदी य।।

इति एकादशविध-उपासकानां लक्षणं, तेषां व्रतारोपणविधानं आचरणं च निरूपयति।

८. अंतःकृद्दशांगं — त्रयोविंशतिलक्ष-अष्टाविंशतिसहस्रपदैः एकैकस्मिन् तीर्थे दारुणान् बहुविधोपसर्गान् षोड्वा प्रातिहार्यं लब्ध्वा निर्वाणगतान् दश दश केवलिनो वर्णयति।

उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये —

संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमि-मतङ्ग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्कंवल-पालम्बाष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं दश

सिद्धक्षेत्र ये सब समान प्रमाण वाले हैं अर्थात् इन सबका विस्तार ४५ लाख योजन प्रमाण है। कालसमवाय की अपेक्षा एक समय एक समय के बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्त के बराबर है। भावसमवाय की अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है।

५. व्याख्याप्रज्ञप्तिअंग — दो लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा क्या जीव है ? क्या जीव नहीं है ? इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान करने वाला यह पाँचवाँ अंग है।

६. नाथधर्मकथांग — पाँच लाख छप्पन हजार पदों के द्वारा सूत्र पौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से तीर्थकरों की धर्मदेशना, संदेह को प्राप्त गणधरदेव के संदेह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथा और उपकथाओं का वर्णन करने वाला यह अंग “ज्ञातृधर्मकथांग” के नाम से भी जाना जाता है।

७. उपासकाध्ययनांग — ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा —

गाथार्थ — दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग इस प्रकार ग्यारह प्रतिमारूप व्रतों के द्वारा उपासकों — श्रावकों के लक्षण, उनके व्रतारोपण — व्रत धारण करने की विधि और उनके आचरण का वर्णन यह “उपासकाध्ययन अंग” नामक ग्रंथ करता है।

८. अन्तःकृद्दशांग — तेईस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर और प्रातिहार्य प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए दश-दश अन्तकृत केवलियों का वर्णन करता है।

तत्त्वार्थभाष्य में कहा भी है —

जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया उन्हें “अन्तकृतकेवली” कहते हैं। वर्द्धमान तीर्थकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंवल, पालम्ब और अष्टपुत्र ये दश अन्तकृतकेवली

दशानगाराः दारुणानुपसर्गात्रिर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो दशास्यां वर्ण्यन्त इति अंतकृद्दशा।

९. अनुत्तरौपपादिकदशांग — द्विनवतिलक्ष-चतुश्चत्वारिंशत्सहस्रपदैः एकस्मिन् एकस्मिन् तीर्थे दारुणान् बहुविधोपसर्गान् षोड्वा प्रतिहार्य लब्ध्वा अनुत्तरविमानं गतान् दश दश महामुनीन् वर्णयति।

उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये — उपपादो जन्म प्रयोजनमेषां त इमे औपपादिकाः, विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तराणि। अनुत्तरेष्वौपपादिकाः अनुत्तरौपपादिकाः, ऋषिदास-धन्य-सुनक्षत्र-कार्तिकेय-नन्द-नन्दन-शालिभद्राभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्ये एवं दश दशानगाराः दारुणानुपसर्गात्रिर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्नाः इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशा।

१०. प्रश्नव्याकरणांग — त्रिनवतिलक्ष-षोडशसहस्रपदैः आक्षेपणी विक्षेपणी संवेदनी निर्वेदनी चेति चतुर्विधकथाः कथयति। तत्राक्षेपणी नानाविधैकान्तदृष्टीनां परसमयानां च निराकरणपूर्वकं शुद्धिं कृत्वा षड्रव्य-नवपदार्थानां स्वरूपं प्ररूपयति। विक्षेपणी कथा — परसमयेण स्वसमयं दूषयन्तीं पश्चात् नानाविधदृष्टि-शुद्धिं कुर्वन्तीं स्वसमयं स्थापयन्तीं षड्रव्यनवपदार्थान् प्ररूपयति। संवेदनीकथा — तीर्थकर-गणधर-ऋषि-

हुए हैं। इसी प्रकार ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थकरों के तीर्थ में और दूसरे दश-दश अनगार दारुण उपसर्गों को सहनकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तकृतकेवली हुए। इन सबकी दशा का जिसमें वर्णन किया जाता है उसे “अन्तकृद्दश” नामक अंग कहते हैं।

९. अनुत्तरौपपादिकदशांग — बानवे लाख चवालीस हजार पदों द्वारा एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन करके प्रतिहार्यों को प्राप्त करके पाँच अनुत्तर विमानों में गए हुए दश-दश महामुनियों का वर्णन करने वाला यह अंग है।

तत्त्वार्थभाष्य में भी कहा है —

उपपाद जन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। जो इन अनुत्तरों में उपपाद जन्म से पैदा होते हैं उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरौपपादिक वर्द्धमान तीर्थकर के तीर्थ में हुए हैं। इसी प्रकार ऋषभनाथ आदि तेईस तीर्थकरों के तीर्थ में अन्य दश-दश महासाधु दारुण उपसर्गों को जीतकर विजयादिक पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न हुए।

इस तरह अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले दश साधुओं का जिसमें वर्णन किया जावे, उसे अनुत्तरौपपादिकदशांग नाम का अंग कहते हैं।

१०. प्रश्नव्याकरणांग — तिरानवे लाख सोलह हजार पदों के द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी इन चार कथाओं का वर्णन करता है अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल संबंधी धन-धान्य, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, जय और पराजय संबंधी प्रश्नों के पूछने पर उनके उपाय का लाभ वर्णन करने वाला यह अंग है।

जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों का और दूसरे समयों-ग्रंथों का निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ पदार्थ का प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जिसमें पहले परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं पश्चात् परसमय की आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है और छह द्रव्य, नव पदार्थों का वर्णन किया जाता है, उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेव-सुर-विद्याधराणां ऋद्धीः पुण्यफलसंकथाः कथयति। निर्वेदनीकथा — नरक-तिर्यक्कुमानुषयोनिषु जातिजरामरणव्याधिवेदना-दारिद्र्यादीनि पापफलानि कथयति। इयं संसारशरीरभोगेषु वैराग्योत्पादिनी कथास्ति।

अत्र मध्ये या विक्षेपणीकथा, सा सर्वेषां समक्षे न कथयितव्या। यः कश्चिद् जिनवचनं न जानाति सः कदाचित् परसमयप्रतिपादनपरां इमां कथां श्रुत्वा मिथ्यात्वं गच्छेत्तर्हि तस्य विक्षेपणीकथामनुपदिश्य तिस्रः कथाः एव वक्तव्याः सन्ति। किंच-व्रतनियमशीलतपोयुक्तस्य स्वसमयज्ञातुः जिनशासने अस्थिमज्जा-नुरक्तस्य भोगरतिविरतस्य महामुनेः समक्षे सा एषा विक्षेपणीकथापि कथयितव्यास्ति।

एतद् अंगं प्रश्नापेक्षया हत-नष्ट-मुष्टि-चिन्ता-लाभालाभ-सुखदुःख-जीवित-मरण-जय-पराजय-नाम-द्रव्यायुः-संख्याश्च निरूपयति।

११. विपाकसूत्रांगं — एककोटि-चतुरशीतिलक्षपदैः पुण्य-पापकर्मणां विपाकं वर्णयति।

एतदेकादशाङ्गानां सर्वपदसमासः चतुःकोटि-पञ्चदशलक्ष-द्विसहस्र-प्रमाणानि।

१२. दृष्टिवादस्य स्वरूपं निरूप्यते — कौत्कल-काण्ठेविद्धि-कौशिकहरिश्मश्रु-मांढ्रपिक-रोमश-हारीत-मुण्ड-अश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्। मरीचिकपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्बलि-माठर-

तीर्थकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियों का एवं उनकी पुण्यकथा का वर्णन करने वाली संवेदनी कथा है।

नरक, तिर्यच और कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि पाप-फलों को बतलाने वाले निर्वेदनी कथा है। यह संसार, शरीर और भोगों में वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा है।

यहाँ समस्त कथाओं के मध्य में जो विक्षेपणी कथा है उसे सबके सामने नहीं कहना चाहिए। क्योंकि जिसे जिनवचनों का ज्ञान नहीं है वह कदाचित् परसमय का प्रतिपादन करने वाली इन कथाओं को सुनकर मिथ्यात्वपने को स्वीकार कर सकता है अतः उसके लिए विक्षेपणी कथा का उपदेश न देकर शेष तीन कथाओं को ही कहना चाहिए-वे ही उसके लिए सुनने योग्य हैं।

दूसरी बात यह है कि जो व्रत, नियम, शील, तप से युक्त स्वसमय के ज्ञाता हैं, जिनशासन में जिनके अस्थि, मज्जा सब अनुरक्त हैं अर्थात् जिस तरह हड्डियों के मध्य में रहने वाला रस हड्डी से संसक्त होकर ही शरीर में रहता है उसी तरह जो जिनशासन में अनुरक्त हैं, जिनवचनों में जिसकी किसी प्रकार की विचिकित्सा — ग्लानि नहीं है, जो भोग और रति से विरक्त हैं ऐसे महामुनि के सामने ही उस विक्षेपणी कथा का वर्णन करना चाहिए।

यह दशवाँ अंग प्रश्न की अपेक्षा से हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, जय-पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का निरूपण भी करता है।

११. विपाकसूत्रांग — एक करोड़ चौरासी लाख पदों के द्वारा पुण्य-पाप कर्मों के विपाक-फल का वर्णन करता है।

इन ग्यारह अंगों के कुल पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार प्रमाण है।

१२. अब आगे बारहवें दृष्टिवाद अंग का निरूपण करते हैं —

इसमें कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांढ्रपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड और अश्वलायन आदि क्रियावादियों के एक सौ अस्सी मतों का मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्बलि, माठर और

मौद्गल्यायनादीना-मक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः, शाकल्यवल्कल-कुथुमिसात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन-मोद-पैप्पलाद-वादरायण-स्वेष्टकृतैतिकायन-वसु-जैमिन्यादीना-मज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतुकर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षणी-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते^१।

अस्य दृष्टिवादाङ्गस्य पंचभेदाः सन्ति — परिकर्म-सूत्र-प्रथमानुयोग-पूर्वगत-चूलिकाश्चेति।

परिकर्मापि पंचविधं — चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-द्वीपसागरप्रज्ञप्ति-व्याख्याप्रज्ञप्तिभेदात्।

१. तत्र चन्द्रप्रज्ञप्तिः — षट्त्रिंशल्लक्ष-पंचसहस्रपदैः चन्द्रायुः-परिवार-ऋद्धि-गति-बिंबोत्सेधादीन् वर्णयति।

२. सूर्यप्रज्ञप्तिः — पंचलक्ष-त्रिसहस्रपदैः सूर्यस्यायुः-भोगोपभोग-परिवार-ऋद्धि-गति-बिम्बोत्सेध-दिन-किरण-उद्योतादीन् वर्णयति।

३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः — त्रयलक्षपंचविंशतिसहस्रपदैः नानाविध-मनुष्याणां भोगभूमिज-कर्मभूमिजानां अन्येषां च पर्वतद्रह-नदी-वेदिका-वर्ष-आवास-अकृत्रिमजिनालयादीनां कथनं करोति।

४. द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः — द्वापञ्चाशल्लक्ष-षट्त्रिंशत्सहस्रपदैः उद्धारपल्यप्रमाणेन द्वीपसागरप्रमाणं अन्यमपि द्वीपसागरान्तर्गतपदार्थानां बहुभेदं वर्णयति।

५. व्याख्याप्रज्ञप्तिः — चतुरशीतिलक्ष-षट्त्रिंशत्सहस्रपदैः रूपि — अजीवद्रव्यं, अरूपि — अजीवद्रव्यं

मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियों के चौरासी मतों का, शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, वादरायण, स्वेष्टकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनी आदि अज्ञानवादियों के सड़सठ (६७) मतों का तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूल आदि वैनयिकवादियों के बत्तीस मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। पूर्व में कहे हुए क्रियावादी आदि के कुल भेद तीन सौ त्रेसठ होते हैं।

इस प्रकार इन ३६३ पाखंड मतों का वर्णन और निराकरण दृष्टिवाद अंग में किया गया है।

इस दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं — परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म भी पाँच प्रकार का है — चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति।

१. उनमें से चन्द्रप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म छत्तीस लाख पाँच हजार पदों के द्वारा चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है।

२. सूर्यप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई, दिन की हानि-वृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाश आदि का वर्णन करता है।

३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य तथा अन्य तिर्यच आदि का और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है।

४. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म बावनलाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा उद्धार पल्य से द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीप सागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के अन्य पदार्थों का वर्णन करता है।

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात्

भव्यसिद्ध-अभव्यसिद्धजीवराशिं च वर्णयति।

दृष्टिवादस्य 'सूत्रं' नाम द्वितीयभेदं — अष्टाशीतिलक्षपदैः जीवः एकान्तेन अबन्धक एव अलेपकः अकर्ता अभोक्ता निर्गुणः सर्वगत एव इत्यादि त्रिषष्टिअधिकत्रयशतमतानां कथनं करोति। इदं त्रैराशिकवाद-नियतिवाद-विज्ञानवाद-शब्दवाद-प्रधानवाद-द्रव्यवाद-पुरुषवादांश्च वर्णयति।

प्रथमानुयोगनाम तृतीयभेदः — पंचसहस्रपदैः पुराणं वर्णयति।

उक्तं च —

बारसविहं पुराणं, जगदिदं जिणवरेहि सव्वेहिं।

तं सव्वं वण्णेदि हु, जिणवंसे रायवंसे य।।

पूर्वगतं नाम चतुर्थभेदं — पंचनवतिकोटि-पंचाशल्लक्ष-पंचपदैः उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वादीन् वर्णयति। अस्य चतुर्दशभेदा अग्रे वक्ष्यन्ते।

दृष्टिवादस्य पंचमभेदं चूलिकानाम — इयं पंचविधा-जलगता स्थलगता मायागता रूपगता आकाशगता चेति।

१. तत्र जलगता — द्विकोटि-नवलक्ष-एकोननवतिसहस्र-द्विशतपदैः जलगमन-जलस्तंभनकारण-मंत्र-तंत्र-तपश्चरणानि वर्णयति।

पुद्गल, अरूपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीवराशि का वर्णन करता है।

दृष्टिवाद अंग के द्वितीय भेद "सूत्र" का वर्णन करते हैं — अठासी (८८) लाख पदों के द्वारा जीव एकान्त से अबन्धक है, अलेपक है, अकर्ता है, अभोक्ता है, निर्गुण है, सर्वगत ही है इत्यादि ३६३ (तीन सौ त्रेसठ) मतों का वर्णन करने वाला "सूत्र" है।

यह सूत्र नामक अर्थाधिकार त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन करता है।

दृष्टिवाद अंग के तृतीय भेद "प्रथमानुयोग" में पाँच हजार पदों के द्वारा पुराण ग्रंथों का वर्णन किया गया है। कहा भी है —

गाथार्थ — जिनेन्द्रदेव ने जगत में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं।

विशेषार्थ — प्रथमानुयोग में जिस बारह पुराणों के उपदेश का कथन आया है, उनके नाम इस प्रकार हैं — १. अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरों का पुराण २. चक्रवर्तियों का पुराण ३. विद्याधरों का पुराण ४. नारायण-प्रतिनारायण पुराण ५. चारण ऋद्धिधारियों का प्रमाण ६. प्रज्ञाश्रमणों के वंश का वर्णन करने वाले पुराण ७. कुरुवंश पुराण ८. हरिवंश पुराण ९. इक्ष्वाकुवंश पुराण १०. काश्यपवंश पुराण ११. वादियों के वंश का वर्णन करने वाला पुराण १२. नाथवंश पुराण।

अब पूर्वगत नाम के चतुर्थ भेद का वर्णन करते हैं — पंचानवे करोड़, पचास लाख, पाँच पदों द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आदि का वर्णन करने वाला पूर्वगत अर्थाधिकार है। इसके चौदह भेद आगे कहेंगे।

दृष्टिवाद अंग के पंचमभेद का नाम चूलिका है। यह पाँच प्रकार की है — जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

१. उनमें से जलगता चूलिका में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ (२०९८९२००) पदों के द्वारा

२. स्थलगता — एतावद्भिरेव पदैः भूमिगमन-कारण-मंत्र-तंत्र-तपश्चरणानि वास्तुविद्यां भूमिसंबंधमन्यमपि शुभाशुभकारणं वर्णयति।

३. मायागता — एतावद्भिरेव पदैः इन्द्रजालं वर्णयति।

४. रूपगता — एतावद्भिरेव पदैः सिंह-अश्व-हरिणादि-रूपाकारेण परिणमनहेतु-मंत्र-तंत्र-तपश्चरणानि चित्र-काष्ठ-लेप्य-लयन-कर्मादिलक्षणं च वर्णयति।

५. आकाशगता-तावद्भिरेव पदैः आकाशगमन-निमित्त-मंत्र-तंत्र-तपश्चरणानि वर्णयति।

चूलिकानां सर्वपदसंख्याः दशकोटि-एकोनपंचाशल्लक्ष-षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि सन्ति।

अधुना चतुर्दशपूर्वाणां कथनं क्रियते — तद्यथा-उत्पादपूर्वं अग्रायणीयं वीर्यानुप्रवादं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति।

एतच्चतुर्दशपूर्वाणां क्रमशो यानि वस्तूनि तानि वर्णयन्ते। उक्तं च गोम्मटसारे^१-

दस चोदसद्व अट्टारसयं बारं च बार सोलं च।

वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं॥३४४॥

प्रथम उत्पादपूर्वं दश वस्तूनि, अग्रायणीयपूर्वं चतुर्दशवस्तूनि इत्यादिना क्रमेण योजयितव्यानि। एकैकवस्तुनि विंशति-विंशतिप्राभृतानि सन्ति।

जल में गमन और जलस्तम्भन के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदि का वर्णन आता है।

२. स्थलगता चूलिका उतने ही अर्थात् दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पदों द्वारा पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरणरूप अतिशय आदि का तथा वास्तुविद्या और भूमि संबंधी अन्य शुभाशुभ कारणों का भी वर्णन करती है।

३. मायागता चूलिका भी उपर्युक्त पदों द्वारा इन्द्रजाल आदि के कारणों का वर्णन करती है।

४. रूपगता चूलिका में इतने ही पदों द्वारा सिंह, घोड़ा, हिरण आदि के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन है।

५. आकाशगता चूलिका भी उपर्युक्त २०९८९२०० पदों द्वारा आकाशगमन में निमित्तभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण का वर्णन करती है।

इन पाँचों ही चूलिका की समस्त पद संख्या दश करोड़ उनचास लाख छियालिस हजार आती है।

अब चौदहपूर्वों का कथन किया जाता है, वह इस प्रकार है —

उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणप्रवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व।

इन चौदह पूर्वों की क्रम से जो वस्तु हैं उनका वर्णन करते हैं। गोम्मटसार में कहा भी है —

गाथार्थ — पूर्व ज्ञान के चौदह भेद हैं जिनमें से प्रत्येक में क्रम से दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं।

प्रथम उत्पादपूर्व में दश वस्तु हैं, अग्रायणीय पूर्व में चौदह वस्तु हैं इत्यादि क्रम से इन्हें प्रत्येक पूर्व के साथ जोड़ लेना चाहिए और एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत होते हैं।

उक्तं च गोम्मटसार जीवकाण्डे^१—

पण्णवदिसया वत्थू, पाहुडया तियसहस्सणवयसया।

एदेसु चोदसेसु वि, पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि॥३४७॥

तात्पर्यमेतत् — चतुर्दशपूर्वाणां समस्तवस्तूनि पंचनवत्यधिकैकशतानि (१९५)। पुनः सम्पूर्णप्राभृतानां प्रमाणं त्रयसहस्र-नवशतानि सन्ति (३९००)। “एकैकप्राभृतानां चतुर्विंशति-चतुर्विंशति अनुयोगद्वारसंज्ञिता अर्थाधिकाराः भवन्तीति”।^२

१. तत्र उत्पादपूर्व — दशवस्तुगत-द्विशतप्राभृतानां एककोटिपदैः जीव-काल-पुद्गलानां उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वं वर्णयति।

२. अग्रायणीयपूर्व — चतुर्दशवस्तूनां अशीत्यधिकद्विशतप्राभृतानां षण्णवतिलक्षपदैः अंगानां अग्रं वर्णयति। तच्च सप्तशतसुनय-दुर्णय-पंचास्तिकाय-षड्द्रव्य-सप्ततत्त्व-नवपदार्थादीन् वर्णयति^३।

३. वीर्यानुप्रवादपूर्व — अष्टवस्तूनां षष्ठ्युत्तरशतप्राभृतानां सप्ततिलक्षपदैः आत्मवीर्यं परवीर्यं उभयवीर्यं क्षेत्रवीर्यं भववीर्यं तपोवीर्यं च कथयति।

४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व — अष्टादशवस्तूनां षष्ठ्युत्तरत्रिशतप्राभृतानां षष्टिलक्षपदैः जीवाजीवानां अस्तिनास्तित्वं निगदति।

५. ज्ञानप्रवादपूर्व — द्वादशवस्तूनां चत्वारिंशदधिक-द्विशतप्राभृतानां एकोनकोटिपदैः पंचज्ञानानि त्रीणि अज्ञानानि वदति।

गोम्मटसार जीवकांड में कहा भी है —

गाथार्थ — इन चौदह पूर्वों की सम्पूर्ण वस्तुओं का जोड़ एक सौ पंचानवे (१९५) होता है और एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत होते हैं इसलिए सम्पूर्ण प्राभृतों का प्रमाण तीन हजार नौ सौ (३९००) होता है। तात्पर्य यह है कि चौदह पूर्वों की समस्त वस्तुएँ एक सौ पंचानवे हैं और सम्पूर्ण प्राभृतों का प्रमाण तीन हजार नौ सौ है।

“एक-एक प्राभृतों के चौबीस-चौबीस अनुयोग द्वारों के नाम से अर्थाधिकार होते हैं।” ऐसा कसायपाहुड़ में कहा है।

१. उनमें से उत्पादपूर्व दश वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के एक करोड़ पदों द्वारा जीव-काल और पुद्गलों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का वर्णन करता है।

२. अग्रायणीय पूर्व — चौदह वस्तुगत दो सौ अस्सी प्राभृतों के छ्यानवे लाख पदों द्वारा अंगों के अग्र-परिमाण का कथन करता है और वह सात सौ सुनय-दुर्नय, पाँच अस्तिकाय, छहद्रव्य, साततत्त्व, नवपदार्थ आदि का वर्णन भी करता है।

३. वीर्यानुप्रवाद पूर्व — इसमें आठ वस्तुगत एक सौ साठ प्राभृतों का सत्तर लाख पदों के द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भववीर्य और तपोवीर्य का वर्णन है।

४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व — अठारह वस्तुगत तीन सौ आठ प्राभृतों के साठ लाख पदों द्वारा जीव-अजीव के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का वर्णन करता है।

५. ज्ञानप्रवाद पूर्व — बारहवस्तुगत दो सौ चालीस प्राभृतों के एक कम एक करोड़ पदों द्वारा पाँच ज्ञान, तीन अज्ञानों का वर्णन करता है।

१. गोम्मटसारजीवकाण्ड, ज्ञानमार्गणा, गाथा ३४७। २. कसायपाहुड़ पुस्तक १, पृ. १५१। ३. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. ११६, टिप्पण से।

६. सत्यप्रवादपूर्व—द्वादशवस्तूनां चत्वारिंशदधिक-द्विशतप्राभृतानां षडुत्तर-एककोटिपदैः वाग्गुप्तिः वाक्संस्कारकारणं प्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्च अनेकप्रकारं मृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र निरूपितस्तत्सत्यप्रवादं प्ररूपयति।

७. आत्मप्रवादपूर्व—षोडशवस्तूनां विंशत्यधिक-त्रिशतप्राभृतानां षड्विंशतिकोटिपदैः आत्मनां स्वरूपं विस्तरेण कथयति।

८. कर्मप्रवादपूर्व—विंशतिवस्तूनां चतुःशतप्राभृतानां एककोटि-अशीतिलक्षपदैः अष्टविधकर्माणि प्ररूपयति।

९. प्रत्याख्यानपूर्व—त्रिंशत्त्वस्तूनां षट्शतप्राभृतानां चतुरशीतिलक्षपदैः द्रव्य-भावपरिमितापरिमित-प्रत्याख्यानं उपवासविधिं पंचसमितीः त्रिगुप्तीश्च प्ररूपयति।

१०. विद्यानुवादपूर्व—पंचदशवस्तूनां त्रयशतप्राभृतानां एककोटिदशलक्षपदैः अंगुष्ठप्रसेनादीनां अल्पविद्यानां सप्तशतानि रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पंचशतानि अंतरिक्षभौमाङ्ग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यञ्जन-छिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति।

११. कल्याणवादपूर्व—दशवस्तूनां द्विशतप्राभृतानां षड्विंशतिकोटिपदैः रविशशिनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुनव्याहृतमर्हद्बलदेववासुदेवचक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च कथयति।

६. सत्यप्रवादपूर्व—बारह वस्तुगत दो सौ चालीस प्राभृतों के एक करोड़ छह पदों द्वारा वचनगुप्ति, वाक्संस्कार के कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के वक्ता, अनेक प्रकार के असत्यवचन और दश प्रकार के सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है।

भावार्थ—दश प्रकार के सत्य के नाम इस प्रकार हैं—नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीतिसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्य के भेद से सत्यवचन दश प्रकार का है। इनका विशेष वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्ड से देखना चाहिए।

७. आत्मप्रवादपूर्व—सोलह वस्तुगत तीन सौ बीस प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा जीव वेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादिरूप से आत्मा का वर्णन विस्तार से करता है।

८. कर्मप्रवादपूर्व—बीस वस्तुगत चार सौ प्राभृतों के एक करोड़ अस्सी लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का वर्णन करता है।

९. प्रत्याख्यानपूर्व—तीस वस्तुगत छह सौ प्राभृतों के चौरासी लाख पदों द्वारा द्रव्य, भाव आदि की अपेक्षा परिमित कालरूप और अपरिमित कालरूप प्रत्याख्यान, उपवास विधि, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का वर्णन करता है।

१०. विद्यानुवादपूर्व—पन्द्रह वस्तुगत तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दश लाख पदों द्वारा अंगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और चिन्ह इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है।

११. कल्याणवादपूर्व—दश वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चार क्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षी के शब्दों का और अरिहंत अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि महाकल्याणकों का वर्णन करता है।

१२. प्राणावायपूर्व—दशवस्तुनां द्विशतप्राभृतानां त्रयोदशकोटिपदैः कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदं भूतिकर्म जांगुलिप्रक्रमं प्राणापानविभागं च विस्तरेण कथयति।

१३. क्रियाविशालपूर्व—दशवस्तुनां द्विशतप्राभृतानां नवकोटिपदैः लेखादिकाः द्वासप्ततिकलाः स्त्रैणांश्चतुःषष्टिगुणान् शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियां छन्दोविचितिक्रियां च कथयति।

१४. लोकविन्दुसारपूर्व—दशवस्तुनां द्विशतप्राभृतानां द्वादशकोटि-पंचाशल्लक्षपदैः अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षगमनक्रियाः मोक्षसुखं च कथयति*।

अस्मिन् षट्खण्डागममहाशास्त्रे अग्रायणीयनामद्वितीयपूर्वस्य पंचमवस्तुनः चयनलब्धिनाम्नः चतुर्थप्राभृत-
“कर्मप्रकृतिप्राभृतनाम्नः” प्रयोजनं अस्ति। एतस्य स्पष्टीकरणमग्रे वक्ष्यते।

अधुना पदभेदाः कथ्यन्ते—

तिविहिं पदं तु भणिदं, अत्थपद-प्रमाण-मज्झिमपदं ति।

मज्झिमपदेण भणिदा, पुव्वंगाणं पदविभागा*॥

पदानि त्रिविधानि—अर्थपदप्रमाणपदमध्यमपदभेदात्। तत्रार्थपदं अनियताक्षराणां समूहो यथा-ग्रन्थमानय देवपूजां कुरुध्वम् इत्यादयः। प्रमाणपदं अष्टादशक्षराणां समूहो यथा-अनुष्टुप्छन्दसि एकैकस्मिन् पादे, अष्टौ अक्षराणि इत्यादयः। मध्यमपदं—अस्य पदस्य अक्षराणां प्रमाणं सर्वकालं निश्चितमेव।

१२. प्राणावायपूर्व—दश वस्तुओं का, दो सौ प्राभृतों के तेरह करोड़ पदों के द्वारा कायचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद को, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिए किए गए भस्मलेपन सूत्रबन्धनादि कर्म, जांगुलि प्रक्रम (विषविद्या) और श्वासोच्छ्वास के विभाग को विस्तार से बतलाने वाला प्राणावायपूर्व है।

१३. क्रियाविशालपूर्व—दशवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के नौ करोड़ पदों के द्वारा लेखनकला आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्पकला का, काव्यसम्बन्धी गुण-दोष विधि का और छन्दनिर्माण कला का वर्णन करने वाला क्रियाविशालपूर्व है।

१४. लोकविन्दुसारपूर्व—दशवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के बारह करोड़ पचास लाख पदों के द्वारा आठ प्रकार के व्यवहारों का, चार प्रकार के बीजों का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्षसुख का वर्णन करने वाला यह चौदहवाँ पूर्व है।

इस षट्खण्डागम महाशास्त्र में अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के पंचम वस्तु की चयन लब्धि नामके चतुर्थप्राभृत “कर्मप्रकृतिप्राभृत” नाम से प्रयोजन है। इसका स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

अब पद भेदों को कहते हैं—

श्लोकार्थ—अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद ये पद के तीन भेद माने गए हैं। इनमें से मध्यम पद के द्वारा अंग एवं पूर्वों का पदविभाग किया गया है।

पद तीन प्रकार के होते हैं—अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद। इनमें से अनियत अक्षरों का समूह “अर्थपद” है। जैसे—ग्रंथ को लाओ, देवपूजा करो इत्यादि।

आठ अक्षरों के समूह को “प्रमाणपद” कहते हैं। यथा—अनुष्टुप् छंद के एक-एक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं इत्यादि।

मध्यमपद के अक्षरों का प्रमाण सर्वकाल (हमेशा) निश्चित ही रहता है। कहा भी है—परमागम में अंग

उक्तं च—

परमागमे अङ्गपूर्वाणां पदसंख्या मध्यमपदैरेव गीयन्ते। अस्यैकमध्यमपदस्याक्षराणां प्रमाणं कथ्यते—
सोलससयचउतीसा, कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।

सत्तसहस्साट्ठसया, अट्ठासीदी य पदवण्णा॥^१

एकस्मिन् मध्यमपदे षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोटि-त्र्यशीतिलक्ष-सप्तसहस्र-अष्टशत-अष्टाशीति-अक्षराणि सन्ति। अनेन प्रकारेण द्वादशांगस्य समस्तपदानां संख्याः कथ्यन्ते—

बारुत्तरसयकोडी, तेसीदी तहय होंति लक्ख्वाणं।

अट्ठावण्णसहस्सा, पंचेव पदाणि अंगाणं^२॥३५०॥

एकशतद्वादशकोटि-त्र्यशीतिलक्ष-अष्टपंचाशत्सहस्र-पंचपदानि द्वादशांगे सन्तीत्यर्थः।

अधुना अंगबाह्यास्याक्षराणि कथ्यन्ते—

अडकोडिएलक्खवा, अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।

पण्णत्तरि वण्णाओ, पइण्णयाणं पमाणं तु^३॥३५१॥

अष्टकोटि-एकलक्ष-अष्टसहस्र-एकशत-पंचसप्तति अक्षराणि प्रकीर्णकअंगबाह्ये सन्तीत्यर्थः। एतावद्भिः अक्षरैर्मध्यमपदं न भवति अतएव इयद्भिः अक्षरैः अंगपूर्वाणां पदसंख्या न भवति तस्मात् कारणादेव एतदक्षरैः ग्रथितश्रुतस्य अंगबाह्यसंज्ञा वर्तते। अस्यांगबाह्यस्य चतुर्दशभेदाः सन्ति— सामायिक-चतुर्विंशतिस्तव-वंदना-प्रतिक्रमण-वैनयिक-कृतिकर्म-दशवैकालिक-उत्तराध्ययन-कल्पव्यवहार-कल्पाकल्प-महाकल्प-पुण्डरीक-महापुण्डरीक-निषिद्धिकाश्चेति।

पूर्वो की पदसंख्या मध्यम पदों के द्वारा ही बतलाई गई है। उस एक मध्यमपद के अक्षरों का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरों का एक मध्यम पद होता है।

अर्थात् एक मध्यमपद में सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षर होते हैं। इस प्रकार से द्वादशांग के समस्त पदों की संख्या कहते हैं—

गाथार्थ—द्वादशांग के सब मध्यम पदों का प्रमाण एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पाँच है।

अर्थात् ११२८३५८००५ पद द्वादशांग में होते हैं ऐसा अभिप्राय है।

अब अंगबाह्य के अक्षरों की संख्या कहते हैं—

गाथार्थ—प्रकीर्णक अर्थात् सामायिक आदि चौदह अंग बाह्यों के अक्षर आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पिचहत्तर प्रमाण होते हैं।

अर्थात् ८०१०८१७५ अक्षर प्रकीर्णक—अंगबाह्य में होते हैं ऐसा अर्थ हुआ।

इतने अक्षरों से मध्यमपद नहीं होते हैं अतएव इतने अक्षरों के द्वारा अंग पूर्व की पदसंख्या नहीं बनती है, इसी कारण इन अक्षरों के द्वारा ग्रथित-गूँथे गये-वर्णित किए गए श्रुत की 'अंगबाह्य' संज्ञा मानी गई है।

इस अंगबाह्य के चौदह भेद हैं—

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका ये चौदह भेद अंगबाह्य के हैं।

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३३६। २. गोम्मटसार जीवकाण्ड, ज्ञानमार्गणा, गा. ३५०। ३. गोम्मटसार जीवकांड, ज्ञानमार्गणा, गाथा ३५१।

१. तत्र सामायिकनाम श्रुतं — नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावेषु समताविधानं वर्णयति। उक्तं चान्यत्र—“तीसु वि संज्झासु पक्खमासदिणेषु वा सगिच्छिदबेलासु वा बज्झंतरंगासेसत्थेषु संपरायनिरोहो वा सामायियं णाम।”^१

२. चतुर्विंशतिस्तवः — चतुर्विंशति-तीर्थकराणां वंदनाविधि-तन्नाम-संस्थान-उत्सेध-पंचमहाकल्याण-चतुस्त्रिंशदतिशयस्वरूपं तीर्थकरवंदनासफलत्वं च प्ररूपयति।

३. वंदना — एकजिन-जिनालयविषय-वंदनायाः निरवद्यभावं कथयति।

४. प्रतिक्रमणं — कालं पुरुषं च आश्रित्य सप्तविधप्रतिक्रमणानि निरूपयति।

५. वैनयिकं — ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-उपचारविनयान् वर्णयति।

६. कृतिकर्म — अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां पूजाविधानं कथयति।

अन्यत्र चोक्तं—

तस्स आदाहीण-तिक्खुत्त-पदाहिण-तिओणद-चदुसिर-वारसा वत्तादिलक्खणं विहाणं फलं च किदियम्मं वण्णेदि।।^२

१. इनमें से सामायिक नामका श्रुत अंगबाह्य अर्थाधिकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों द्वारा समता भाव के विधान का वर्णन करता है।

अन्यत्र कहा भी है—तीनों ही सभ्यताओं में या पक्ष और मास के संधि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अंतरंग समस्त पदार्थों में कषाय का निरोध करना सामायिक है।

२. चतुर्विंशतिस्तव श्रुत उस-उस काल संबंधी चौबीस तीर्थकरों की वंदना करने की विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौतीस अतिशयों के स्वरूप और तीर्थकरों की वंदना की सफलता का वर्णन करता है।

३. वंदना नाम का अर्थाधिकार एक जिनेन्द्रदेव सम्बंधी और उनके जिनालय संबंधी वंदना के निरवद्यभाव का अर्थात् प्रशस्तरूप भाव का वर्णन करता है।

४. प्रतिक्रमण नामका अर्थाधिकार काल और पुरुष का आश्रय लेकर सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का निरूपण करता है।

भावार्थ — प्रमाद कृत दैवसिक आदि दोषों का निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमार्थिक के भेद से सात प्रकार का है। दुष्पम आदि काल और छह संहनन से युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाव वाले पुरुषों का आश्रय लेकर यथायोग्य इन सातों प्रतिक्रमणों का प्ररूपण करने वाला यह प्रतिक्रमण अर्थाधिकार है।

५. वैनयिक नामका अर्थाधिकार ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय इन पाँच प्रकार के विनयों का वर्णन करता है।

६. कृतिकर्म नामका अर्थाधिकार अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की पूजा आदि की विधि का वर्णन करता है।

अन्यत्र भी कहा है—

उस कृतिकर्म के आत्माधीन होकर किए गए तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण, भेद फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

७. दशवैकालिकं — आचार-गोचरविधिं वर्णयति।

८. उत्तराध्ययनं — उत्तरपदानि वर्णयति। “तच्च चतुर्विधोपसर्गाणां द्वाविंशति-परीषहाणां च सहनविधानं तत्फलं एवं प्रश्ने एवमुत्तरमित्युरविधानं वर्णयति।”

९. कल्पव्यवहारः — साधूनां योग्यमाचरणं अकल्पसेवनेभ्यः प्रायश्चित्तं कथयति।

१०. कल्पाकल्पिकं — साधूनां यत्कल्प्यते यच्च न कल्प्यते तत्सर्वं वर्णयति।

११. महाकल्पिकं — काल-संहननानि आश्रित्य साधु-प्रायोग्य-द्रव्य-क्षेत्रादीनां कथनं करोति।

१२. पुण्डरीकं — चतुर्विधदेवेषूपपादकारण-अनुष्ठानानि प्ररूपयति।

१३. महापुण्डरीकं — सकलेन्द्र-प्रतीन्द्रेषु उत्पत्तिकारणं कथयति।

१४. निषिद्धिका — बहुविध-प्रायश्चित्तविधानकथनं करोति।^१

७. दशवैकालिक अर्थाधिकार मुनियों के आचार और गोचरी विधि का वर्णन करता है।

भावार्थ — विशिष्ट काल को विकाल कहते हैं। उसमें जो विशेषता होती है उसे वैकालिक कहते हैं। वे वैकालिक दश हैं। उनको कहने वाला दशवैकालिक है।

८. उत्तराध्ययन अर्थाधिकार उत्तरपदों का वर्णन करता है। यह चार प्रकार के उपसर्गों का, बाईस प्रकार के परीषहों का एवं उन सबके सहन करने की विधि का तथा फल का प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन करता है।

९. कल्पव्यवहार साधुओं के योग्य आचरण का और अयोग्य आचरण के होने पर प्रायश्चित्त विधि का वर्णन करता है।

भावार्थ — कल्प नाम योग्य का है और व्यवहार नाम आचार का है उन सबका वर्णन करने वाला कल्पव्यवहार है।

१०. कल्पाकल्पिक द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है इस तरह इन सबका वर्णन करता है।

११. महाकल्प काल और संहनन का आश्रय कर साधुओं के द्रव्य-क्षेत्रादि का वर्णन करता है।

भावार्थ — इसमें उत्कृष्ट संहनन आदि विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्ति करने वाले जिनकल्पी साधुओं के योग्य त्रिकालयोग आदि अनुष्ठान का और स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना आदि का विशेष वर्णन है।

१२. पुण्डरीक नामका अर्थाधिकार भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारणरूप, दान, पूजा, तपश्चरण, अकामनिर्जरा, सम्यग्दर्शन और संयम आदि अनुष्ठानों का वर्णन करता है।

१३. महापुण्डरीक समस्त इंद्र और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारण रूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है।

१४. निषिद्धिका अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त विधान का कथन करता है।

भावार्थ — प्रमादजन्य दोषों के निराकरण करने को निषिद्धि कहते हैं और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकार के प्रायश्चित्त के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं।

प्रोक्तं च श्रीमद्भट्टाकलंकदेवेन अंगांगबाह्यलक्षणं—

अङ्गप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयद्विभक्तगणधरानुस्मृतग्रन्थरचनम्^१॥१२॥

आरातीयाचार्यकृतार्थाङ्गप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम्॥१३॥

यद्गणधरशिष्यप्रशिष्यै-रारातीयै-रधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थ-मुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्।

तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात्॥१४॥

तदङ्गबाह्यमनेकविधं—कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्याय-काले नियतकालं कालिकं। अनियतकालमुत्कालिकं। तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः।^२

अत्र पर्यन्तं अंगांगबाह्यानां लक्षणं समासेन कथितम्।

श्रुतदेव्याः लक्षणं—

इयं द्वादशांगवाणी ग्रन्थेषु श्रुतदेवीरूपेणापि वर्णिताऽस्ति।

उक्तं च प्रतिष्ठातिलकग्रन्थे—

आर्याछन्दः—

बारहअंगंगिज्जा-दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा। चोदसपुव्वाहरणा, ठावे दव्वा य सुयदेवी॥१॥

अनुष्टुप् छन्दः—

आचारशिरसं सूत्र-कृतवक्त्रां सुकंठिकाम्। स्थानेन समवायांग-व्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम्॥२॥

श्री भट्टाकलंकदेव ने भी अंगांगबाह्य का लक्षण कहा है—

अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि बारह भेद हैं जिन्हें बुद्धि आदि अतिशयकारी ऋद्धियों से संपन्न गणधर देवों ने स्मरण करके ग्रंथरचना की है॥१२॥

आरातीय आचार्यकृत अंग अर्थ के आधार से रचे गए ग्रंथ अंगबाह्य हैं॥१३॥

श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु एवं अल्प बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गए संक्षिप्त ग्रंथ अंगबाह्य हैं।

वह अंगबाह्य कालिक, उत्कालिक आदि विकल्प से अनेक प्रकार का है॥१४॥

कालिक और उत्कालिक आदि की अपेक्षा उस अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। स्वाध्याय काल में जिनके पठन-पाठन का नियम अर्थात् नियतकाल है वे 'कालिक' कहलाते हैं तथा जिनके पठन-पाठन का कोई नियत समय न हो वे 'उत्कालिक' हैं। उत्तराध्ययन आदि अनेक प्रकार के अंगबाह्य ग्रंथ हैं।

यहाँ तक अंगांगबाह्य का संक्षेप से लक्षण कहा है।

श्रुतदेवी का लक्षण—

यह द्वादशांग वाणी ग्रंथों में श्रुतदेवीरूप से भी वर्णित की गई है।

प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में कहा भी है—

गाथार्थ—श्रुतदेवी के बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन यह तिलक है, चारित्र उनका वस्त्र है, चौदह पूर्व उनके आभरण हैं ऐसी कल्पना करके श्रुतदेवी की स्थापना करनी चाहिए।

बारह अंगों में से प्रथम जो "आचारांग" है, वह श्रुतदेवी-सरस्वती देवी का मस्तक है, "सूत्रकृतांग"

वाग्देवतां ज्ञातृकथो-पासकाध्ययनस्तनीम्। अंतकृद्दशसन्नाभि-मनुत्तरदशांगतः॥३॥
 सुनितम्बां सुजघनां, प्रश्नव्याकरणश्रुतात्। विपाकसूत्रदृग्वाद-चरणां चरणाम्बराम्॥४॥
 सम्यक्त्वतिलकां पूर्व-चतुर्दशविभूषणाम्। तावत्प्रकीर्णकोदीर्ण-चारुपत्रांकुरश्रियम्॥५॥
 आप्तदृष्टप्रवाहौघ-द्रव्यभावाधिदेवताम्। परब्रह्मपथादृप्तां, स्यादुक्तिं भुक्तिमुक्तिदाम्॥६॥

पुनश्च-मालिनीछंदः —

सकलयुवतिसृष्टेरम्ब! चूड़ामणिस्तवं, त्वमसि गुणसुपुष्टेर्धर्मसृष्टेश्च मूलम्।
 त्वमसि च जिनवाणि! स्वेष्टमुक्त्यंगमुख्या। तदिह तव पदाब्जं भूरिभक्त्या नमामः॥

श्रीवीरसेनाचार्येणापि प्रोक्तं —

बारहअंगंगिज्जा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।
 विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइर^१॥२॥

अन्यत्र चापि —

अंगंगबज्झणिम्मी, अणाइमज्झंत-णिम्मलंगाए।
 सुयदेवय-अंबाए, णमो सया चक्खुमइयाए^२॥४॥

मुख है, “स्थानांग” कण्ठ है, समवायांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये दोनों अंग उनकी दोनों भुजाएँ हैं, ज्ञातृकथांग और उपासकाध्ययनांग ये दोनों अंग उस सरस्वती देवी के दो स्तन हैं, अंतकृद्दशांग यह नाभि है, अनुत्तरदशांग श्रुतदेवी का नितम्ब है, प्रश्नव्याकरणांग यह जघन भाग है, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये दोनों अंग उन सरस्वती देवी के दोनों पैर हैं। “सम्यक्त्व” यह उनका तिलक है, चौदह पूर्व अलंकार हैं और “प्रकीर्णक श्रुत” सुन्दर बेल-बूटे सदृश हैं। ऐसी कल्पना करके यहाँ पर द्वादशांग जिनवाणी को सरस्वती देवी के रूप में लिया गया है।

श्री जिनेन्द्रदेव ने सर्व पदार्थों की सम्पूर्ण पर्यायों को देख लिया है, उन सर्व द्रव्य पर्यायों की यह “श्रुतदेवता” अधिष्ठात्री देवी हैं अर्थात् इनके आश्रय से पदार्थों की सर्व अवस्थाओं का ज्ञान होता है। परमब्रह्म के मार्ग का अवलोकन करने वाले लोगों के लिए यह स्याद्वाद के रहस्य को बतलाने वाली है तथा भव्यों के लिए भुक्ति और मुक्ति को देने वाली ऐसी यह सरस्वती माता है।

हे अम्ब! आप सम्पूर्ण स्त्रियों की सृष्टि में चूड़ामणि हो। आपसे ही धर्म की और गुणों की उत्पत्ति होती है। आप मुक्ति के लिए प्रमुख कारण हो, इसलिए मैं अतीव भक्तिपूर्वक आपके चरणकमलों को नमस्कार करता हूँ।

श्रीवीरसेनाचार्य ने भी कहा है —

गाथार्थ — जो श्रुतज्ञान के प्रसिद्ध बारह अंगों से ग्रहण करने योग्य हैं अर्थात् बारह अंगों का समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकार के मल (अतीचार) और तीन मूढ़ताओं से रहित सम्यग्दर्शन रूप उन्नत तिलक से विराजमान है और नाना प्रकार के निर्मल चारित्र ही जिनके आभूषण हैं ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो।

अन्यत्र भी कहा है —

गाथार्थ — जिसका आदि-मध्य और अन्त से रहित निर्मल शरीर, अंग और अंगबाह्य से निर्मित है और जो सदा चक्षुष्मती अर्थात् जागृतचक्षु हैं ऐसी श्रुतदेवी माता को नमस्कार हो।

सरस्वतीस्तोत्रेऽपि सरस्वतीदेव्या लक्षणानि सन्ति। यथा —

चन्द्रार्ककोटिघटितोज्ज्वलदिव्यमूर्ते! श्रीचन्द्रिकाकलितनिर्मलशुभ्रवासे!!

कामार्थदे! च कलहंससमाधिरूढे! वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि^१॥१॥

अन्यच्च —

सरस्वती मया दृष्टा, दिव्या कमललोचना।

हंसस्वंधसमारूढा, वीणापुस्तकधारिणी^२॥

अस्याः सरस्वतीमातुः षोडशनामान्यपि गीयन्ते —

भारती, सरस्वती, शारदा, हंसगामिनी, विदुषांमाता, वागीश्वरी, कुमारी, ब्रह्मचारिणी, जगन्माता, ब्राह्मणी, ब्रह्मणी, वरदा, वाणी, भाषा, श्रुतदेवी गौश्चेति^३।

अन्यत्र — अष्टोत्तरशतनाममंत्राः^४ अपि विद्यन्ते।

सरस्वतीदेव्याः मूर्तयो जैनमंदिरेषु अपि दृश्यन्ते। नेयं चतुर्णिकायदेवानां देवी। प्रत्युत द्वादशांगजिनवाणी स्वरूपा माता एव अतएव इयं मुनिभिरपि वंद्या भवति इति ज्ञातव्यः। वस्त्रालंकारभूषितापि न सरागिणी वस्त्रवेष्टितशास्त्रमिव सर्वदा पूज्या एव सर्वैस्तस्मान्नाशंकनीयं किंचिदपि विद्वद्भिः।

अत्रोपसंहारः —

अनेन भगवान् महावीरोऽर्थकर्ता श्रीगौतमस्वामी गणधरदेवो ग्रन्थकर्ता इति वर्णितं भवति।

सरस्वती स्तोत्र में भी सरस्वती देवी के लक्षण कहते हैं। जैसे —

श्लोकार्थ — करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा के एकत्रित तेज से भी अधिक तेज धारण करने वाली, चन्द्र किरण के समान अत्यंत स्वच्छ एवं श्वेत वस्त्र को धारण करने वाली तथा कलहंस पक्षी पर आरूढ़ दिव्यमूर्ति श्री सरस्वती देवी हमारी प्रतिदिन रक्षा करें।

अन्यत्र भी कहा है —

श्लोकार्थ — दिव्य कमल के समान नेत्रों वाली, हंस वाहन पर आरूढ़, वीणा और पुस्तक को हाथ में धारण करने वाली सरस्वती देवी मैंने देखी है।

उस सरस्वती माता के सोलह नाम भी गाये जाते हैं —

१. भारती २. सरस्वती ३. शारदा ४. हंसगामिनी ५. विद्वानों की माता ६. वागीश्वरी ७. कुमारी ८. ब्रह्मचारिणी ९. जगन्माता १०. ब्राह्मिणी ११. ब्रह्मणी १२. वरदा १३. वाणी १४. भाषा १५. श्रुतदेवी और १६. गो।

अन्यत्र एक सौ आठ नाम मंत्र भी सुने जाते हैं।

सरस्वती देवी की मूर्ति जैन मंदिरों में भी देखी जाती हैं, ये चार निकाय वाले देवों में से किसी निकाय की देवी नहीं हैं बल्कि द्वादशांग जिनवाणी स्वरूप माता ही हैं इसलिए मुनियों के द्वारा भी वंद्य हैं ऐसा जानना चाहिए। वस्त्र-अलंकारों से भूषित होने पर भी वे सरागी नहीं हैं। वस्त्र से वेष्टित शास्त्र के समान वे सरस्वती की प्रतिमाएँ भी सभी के द्वारा सर्वदा पूज्य ही हैं इसलिए विद्वानों को इस विषय में किंचित् भी शंका नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार से भगवान् महावीर स्वामी द्वादशांग के अर्थकर्ता हैं तथा श्री गौतमस्वामी गणधर देव ग्रंथकर्ता हैं ऐसा वर्णन हुआ।

१-२-३. जिनस्तोत्रसंग्रह (वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित)। ४. श्रुतस्कंधविधान (वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित)।

तेन गौतमस्वामिना द्विविधमपि श्रुतज्ञानं लोहाचार्याय प्रदत्तं। तेनापि जम्बूस्वामिनः संचारितं। परिपाटीक्रमेण एते त्रयोऽपि सकलश्रुतधारकाः भणिताः। अपरिपाट्या पुनः सकलश्रुतपारगाः संख्यातसहस्रा जाताः। तदनु विष्णु-नन्दिमित्र-अपराजित-गोवर्धन-भद्रबाहुनामधेया इमे पंच आचार्याः परिपाटीक्रमेण चतुर्दशपूर्वधारिणः संजाताः। तत्पश्चात् विशाखाचार्य-प्रोष्ठिल-क्षत्रिय-जयाचार्य-नागाचार्य-सिद्धार्थ-स्थविर-धृतिसेन-विजयाचार्य-बुद्धिल्ल-गंगदेव-धर्मसेननामधेयाः एकादशाचार्याः एकादशांग-दशपूर्वाणां ज्ञातारः तथा च उपरिमचतुःपूर्वाणां एकदेशज्ञातारो बभूवुः।

तदनंतरं नक्षत्राचार्य-जयपाल-पांडुस्वामि-ध्रुवसेन-कंसाचार्यनामधेयाः एते पंचाचार्याः परिपाटीक्रमेण सर्व-अंग-पूर्वाणां एकदेशधारकाः संजाताः। तदनु सुभद्र-यशोभद्र-यशोबाहु-लोहार्याख्या इमे चत्वारः आचार्याः आचारांगधारिणः शेषदश-अंग-चतुर्दशपूर्वाणां एकदेशज्ञातारः अभवन्।

तदनु एकादशांग-चतुर्दशपूर्वाणां एकदेशज्ञानं आचार्यपरम्पराभिः समायातं श्रीधरसेनाचार्येण लब्धम्। अधुना श्रुतावतारकथा वक्ष्यते—

सौराष्ट्रदेशस्य गिरिनगरचन्द्रगुहानिवासिना अष्टांगमहानिमित्तपारगेन श्रीधरसेनाचार्येण एकदा मनसि चिन्तितं, अग्रे अंगश्रुतस्य व्युच्छेदो भविष्यति इति केनाप्युपायेन तस्यांगश्रुतज्ञानस्य रक्षार्थं प्रयत्नो विधेयः, तर्हि पंचवर्षीय-साधुसम्मेलने सम्मिलितदक्षिणदेशवासिसूरीणां पार्श्वे एको लेखः प्रेषितः। लेखस्थितधरसेना-चार्यवचनमवधार्य तैराचार्यैः ग्रहणधारणसमर्थो देशकुलजातिशुद्धौ द्वौ साधू प्रेषितौ आन्ध्रदेशस्य वेणानदीतटात्।

उन गौतम स्वामी के द्वारा दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहाचार्य को प्रदान किया गया, लोहाचार्य ने भी जम्बूस्वामी को दिया अतः परिपाटी-परम्परा क्रम से ये तीनों भी सकलश्रुत के धारक माने गये। पुनः अपरिपाटी—अक्रम परम्परा से सकलश्रुत के पारगामी संख्यात हजार हुए हैं। उसके पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु नाम वाले ये पाँच आचार्य परम्परा क्रम से चौदह पूर्व के धारी हुए। तत्पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थस्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन नामके ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग और दश पूर्व के ज्ञाता हुए तथा उपरिम चार पूर्वों के एक देश ज्ञाता हुए हैं।

तदनन्तर नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य नामके ये पाँच आचार्य परिपाटी क्रम से सभी अंग और पूर्वों के एक देश धारक हुए। उसके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहार्य नाम वाले चार आचार्य एक आचारांग के धारी थे तथा शेष दश अंग एवं चौदह पूर्वों के एक देश ज्ञाता थे।

उसके पश्चात् चौदह पूर्वों का एक देश ज्ञान आचार्य परम्परा से चलता हुआ श्रीधरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। यहाँ इसी प्रसंग में श्रुतावतार की कथा का वर्णन करेंगे—

सौराष्ट्र देश के गिरिनगर—गिरिनार की “चन्द्र” नामक गुफा में निवास करने वाले अष्टांगमहानिमित्त के पारगामी—ज्ञानी श्रीधरसेन आचार्य ने एक बार मन में विचार किया कि आगे भविष्य में अंग श्रुत का व्युच्छेद—खंडन हो जाएगा अतः किसी भी उपाय से उस अंग श्रुतज्ञान की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए, तब उन्होंने पंचवर्षीय साधुसम्मेलन में सम्मिलित दक्षिणदेशवासी आचार्यों के पास एक लेख-संदेश भिजवाया। लेख में लिखित श्रीधरसेनाचार्य के वचनों पर विचार-विमर्श करके उन आचार्यों ने श्रुत को अच्छी प्रकार से ग्रहण एवं धारण करने में समर्थ, देश, कुल, जाति से शुद्ध दो दिगम्बर मुनियों को आन्ध्रदेश के वेणा नदी के तट से गिरिनार की ओर विहार करा दिया— भेज दिया।

उक्तं च^१—

देशे ततः सुराष्ट्रे, गिरिनगरपुरान्तिकोर्जयन्तगिरौ।
 चन्द्रगुहाविनिवासी, महातपाः परममुनिमुख्यः॥१०३॥
 अग्रायणीयपूर्वस्थित-पंचम-वस्तुगत-चतुर्थमहा-
 कर्मप्राभृतज्ञः, सूरिर्धरसेननामाभूत्॥१०४॥
 सोऽपि निजायुष्यांतं, विज्ञायास्माभिरलमधीतमिदम्।
 शास्त्रं व्युच्छेदमवाप्स्यतीति संचिन्त्य निपुणमतिः॥१०५॥
 देशेन्द्रदेशनामनि, वेणाकतटीपुरे महामहिमा।
 समुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम्॥१०६॥
 आदाय लेखपत्रं तेप्यथ तद्ब्रह्मचारिणो हस्तात्।
 प्रविमुच्य बंधनं वाचयाम्बभूवुस्तदा महात्मानः॥१०७॥
 स्वस्ति श्रीमत ऊर्जयन्ततटनिकटचन्द्रगुहा-
 वासाद् धरसेनगणी वेणाकतटसमुदित-यतीन्॥१०८॥
 अभिवंद्य कार्यमेवं निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम्।
 स्वल्पं तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्तिः॥१०९॥
 न स्याद् यथा तथा द्वौ, यतीश्वरौ ग्रहणधारणसमर्थौ।
 निशितप्रज्ञौ यूयं, प्रस्थापयतीति लेखार्थम्॥११०॥
 सम्यगवधार्य तैरपि, तथाविधौ द्वौ मुनी समन्विष्य।
 प्रहितौ तावपि गत्वा, चापतुरमूर्जयन्तगिरिम्॥१११॥

श्रुतावतार कथा में कहा भी है—

श्लोकार्थ— सौराष्ट्र देश के गिरिनगरपुर के समीप ऊर्जयन्त पर्वत पर चंद्रगुफा में निवास करने वाले महातपस्वी, मुनिश्रेष्ठ, आग्रायणीय पूर्व स्थित पंचमवस्तुगत चतुर्थ महाकर्म प्राभृत के ज्ञाता श्रीधरसेनाचार्य थे। उन्होंने अपनी आयु का अंत निकट जानकर और आगे श्रुत का विच्छेद होने वाला है— हो जायेगा अतः मुझे इसे किसी निपुणमति—बुद्धिमान के लिए प्रदान करना चाहिए ऐसा विचार करके वेणानदी के तट पर महामहिम उत्सव में एकत्रित हुए मुनियों के पास एक ब्रह्मचारी के द्वारा लेख-पत्र भिजवाया।

उन मुनियों ने ब्रह्मचारी से लेख प्राप्त करके समस्त मुनिसभा के बीच में उन महात्मा महामुनि का लिखित संदेश सुनाया कि—

ऊर्जयन्त तट के निकट चन्द्रगुफा निवासी मैं धरसेन आचार्य वेणाक तट पर एकत्रित स्वस्ति श्रीमान् मुनियों की वंदना करते हुए इस कार्य के लिए निवेदन करता हूँ कि मेरी आयु अब थोड़ी ही शेष बची है और मेरे पास स्थित श्रुत का आगे व्युच्छेद हो जाएगा अतः आप लोग श्रुत को ग्रहण-धारण करने में समर्थ ऐसे दो शिष्य मुझसे श्रुत को प्राप्त करने तथा आगे की श्रुत परम्परा चलाने हेतु मेरे पास भिजवाने का अनुग्रह करें।

उन मुनियों ने श्रीधरसेनाचार्य के लेख का अभिप्राय भलीभाँति समझ कर उपर्युक्त गुणों के धारक दो मुनियों का पूरे संघ में से अन्वेषण करके श्री धरसेनाचार्य के पास भेज दिया। वे दोनों विहार करते हुए ऊर्जयन्त पर्वत पर पहुँच गए। (१०३-१११ तक)

एकस्मिन् दिने पश्चिमरात्रौ श्रीधरसेनाचार्येण स्वप्ने दृष्टं यत् समस्तशुभलक्षणान्वितौ द्वौ शुभ्रवृषभौ मां त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य नम्रीभूतांगौ मच्चरणयोः पतितौ। तदा संतुष्टमनाः आचार्यः “जयतु श्रुतदेवता” इति वाक्यमुच्चार्य उदतिष्ठत्। तस्मिन्नेव दिने दक्षिणापथप्रस्थापितौ द्वौ मुनी समागतौ। तौ धरसेनभगवन्तं कृतिकर्मविधिना नमस्कृत्य द्विदिवसानंतरं तृतीयदिवसे विनयेन धरसेनभट्टारकं अकथयतां।

भगवन्! भवत्पत्रानुसारेण आवां द्वौ मुनी भवत्पादमूलमुपगतौ। “सुष्ठु भद्रं” इत्युक्त्वा श्रीसूरिणा द्वावपि आश्वासितौ। तदा चिंतितं भगवता-“स्वैरमुनीनां विद्यादानं संसारभयवर्द्धनं” इति। यद्यपि शुभस्वप्नदर्शनेन अनयोर्मुन्योर्योग्यत्वं ज्ञायते तथापि सुपरीक्षा हृदये संतोषं करोतीति निर्णयं कृत्वा ताभ्यां द्वे विद्ये दत्ते, तत्रैका अधिकाक्षरा अपरा हीनाक्षरा। “युवां इमे विद्ये साधयतं षष्ठोपवासेण” इति।

उक्तं च —

“श्रीमन्नेमिजिनेश्वर-सिद्धिशिलायां विधानतो विद्या-

संसाधनं विदधतोस्तयोश्च पुरतः स्थिते देव्यौ^१॥११६॥”

ततः तौ सिद्धविद्यौ विद्यादेवते पश्यतः। हीनाक्षरविद्यासाधकस्य एकलोचना देवी अग्रे स्थिता। अधिकाक्षरविद्यासाधकस्य दंतुरा देवी सन्मुखे स्थिता। नायं देवतानां स्वभावो भवितुमर्हतीति संचिन्त्य मन्त्रव्याकरणकुशलौ तौ हीनाक्षरमंत्रे वर्णं क्षिप्त्वा अधिकाक्षरमंत्रात् वर्णं निष्कास्य च मंत्रयोः शुद्धी

एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में श्रीधरसेनाचार्य ने स्वप्न में देखा कि समस्त शुभ लक्षणों से समन्वित दो सुन्दर वृषभ-बैल मेरी तीन प्रदक्षिणा करके नम्रीभूत अंगों से मेरे चरणों में झुककर नमन कर रहे हैं। तब संतुष्टमना आचार्य “जयतु श्रुतदेवता” इस वाक्य का उच्चारण करके निद्रा से उठकर बैठ गए। उसी दिन प्रातःकाल दक्षिणापथ से विहार करते हुए वे दोनों मुनि वहाँ पहुँच गए। उन दोनों मुनियों ने कृतिकर्म विधिपूर्वक श्रीधरसेन भगवन्त को नमस्कार किया। पुनः दो दिन के बाद तीसरे दिन विनयपूर्वक श्री धरसेन-भट्टारक से निवेदन किया —

भगवन्! आपके पत्रानुसार हम दो मुनि आपके पादमूल में आ गए हैं। “बहुत अच्छा” ऐसा बोलकर आचार्यश्री ने भी उन दोनों को आश्वस्त किया। तब श्रीधरसेनाचार्य ने चिन्तन किया कि-“स्वैराचारी — स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले मुनियों को दिया गया विद्यादान संसार भय को बढ़ाने वाला है।” यद्यपि शुभ स्वप्न के दर्शन से उन्होंने इन दोनों मुनियों की योग्यता को जान लिया था फिर भी “अच्छी तरह से परीक्षा कर लेने पर हृदय पूर्ण सन्तुष्ट हो जाता है” ऐसा निर्णय करके उन्होंने दोनों को दो विद्या मंत्र दिए जिसके एक मंत्र में एक अक्षर अधिक था एवं दूसरे मंत्र में एक अक्षर कम था। “आप दोनों षष्ठोपवास — बेला (दो उपवास) करके इन विद्याओं की सिद्धि करें” ऐसी आज्ञा देकर उन्हें गिरनार पर्वत पर भेज दिया।

श्रुतावतार कथा में कहा भी है —

श्लोकार्थ — श्रीनेमिनाथ जिनेश्वर की सिद्धभूमि पर दोनों मुनियों ने विधिपूर्वक विद्या साधना की तब उनके सामने दो विद्या देवियाँ प्रगट हो गईं॥११६॥

तब उन दोनों मुनिराजों ने अपने सामने विद्या देवियों को देखा। एक अक्षर कम वाले मंत्र की साधना करने वाले मुनि के समक्ष जो देवी प्रगट हुई वह एक आँख वाली थी। अधिकाक्षर मंत्र की साधना करते हुए साधक मुनि के सम्मुख लम्बे-लम्बे दाँत वाली देवी प्रगट हुई। “देवताओं का स्वभाव — रूप ऐसा तो नहीं

अकुरुतां। पुनश्च विधिवन्मंत्रसाधनेन देव्यौ दिव्यरूपेण समागते। ताभ्यां 'किं करणीयं' इति पृष्ठे सति नावयोः किमपि कार्यमिति गदिते सति ते देव्यौ स्वास्पदं जग्मतुः। पुनः ताभ्यां धरसेनभगवतः सकाशे आगत्य यथावत् सर्वं वृत्तान्तं विनयेन निवेदितं, तत्सर्वं श्रुत्वा तुष्टमनसा श्रीधरसेनभट्टारकेण सौम्यतिथिनक्षत्रवारे ग्रन्थस्याध्यापनं प्रारब्धं ताभ्याम्।

यदि तौ मुनी विद्यासिद्धेः प्रागेव मंत्रयोः संशोधनं अकरिष्यतां तर्हि आचार्यदेवं प्रति श्रद्धाभक्ति-गुणयोलोपोऽभविष्यत्। तथा च यदि पश्चात् संशोधनं अकरिष्यतां तर्हि कुशाग्रबुद्धेरभावात् अपात्रतां अगमिष्यतां।

अतः सर्वाङ्गीणयोग्यतामवलोक्य ताभ्यां मुनीभ्यां आचार्यप्रवरधरसेनभट्टारकेण स्वस्थितद्वितीयपूर्वस्यां-तर्गतैकदेशविद्या प्रदत्ता। क्रमेण व्याख्यानं कुर्वता तेन आषाढमास-शुक्लपक्ष-एकादश्यां पूर्वाण्हे ग्रन्थसमाप्तिः कृता विधिना।

विनयेन ग्रन्थास्याध्ययनं कृतं इति तुष्टैर्भूतजातिव्यन्तरदेवैरेकस्य महती पूजा पुष्प-बलि-शंख-तूर्यरवसंकुला कृता, तां पूजां दृष्ट्वा तस्य "भूतबलिः" इति नाम कृतं भट्टारकेण। अपरस्य भूतैः पूजितस्य अस्त-व्यस्तस्थितदन्त-पंक्तिमपसार्य तैरेव देवैः समीकृतदन्तस्य तस्य गुरुणा 'पुष्पदन्तः' इति नाम कृतं।

ततः "गुरुवयणमलंघणिज्जं" इति चिंतयित्वा तत्रत्यात् विहारं कृत्वा अंकलेश्वरग्रामे आगत्य वर्षायोगः कृतः ताभ्यां।

होता है" अर्थात् देवों का स्वरूप-आकार विकृत नहीं होता है ऐसा सोचकर मंत्रव्याकरण में कुशल उन दोनों मुनियों ने हीन अक्षर वाले मंत्र में एक वर्ण मिलाकर तथा अधिक अक्षर वाले मंत्र में एक अक्षर निकाल कर मंत्रों को शुद्ध किया। पुनः विधिवत् मंत्र साधना करने से उनके समक्ष दिव्य रूप वाली देवियाँ प्रगट हो गईं। "क्या कार्य है?" ऐसा उन देवियों के पूछने पर "हम लोगों का कुछ भी कार्य — प्रयोजन नहीं है" मुनियों का उत्तर सुनकर वे दोनों अपने-अपने स्थान पर वापस चली गईं।

पुनः दोनों मुनियों ने श्री धरसेन आचार्य के पास आकर यथावत् समस्त वृत्तान्त विनयपूर्वक निवेदन किया, जिसे सुनकर सन्तुष्टमना श्रीधरसेन भट्टारक ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र एवं शुभ वार — दिन में उन दोनों को ग्रंथ अध्ययन प्रारंभ करा दिया।

यदि वे मुनि विद्यासिद्धि करने से पहले ही मंत्रों में संशोधन कर लेते तो आचार्य देव के प्रति श्रद्धा-भक्ति गुण का लोप हो जाता और यदि बाद में संशोधन नहीं करते तो कुशाग्र बुद्धि के अभाव में उनमें अपात्रता हो जाती।

अतः उन मुनियों की सर्वाङ्गीण योग्यता देखकर आचार्यप्रवर धरसेन भट्टारक ने अपने में स्थित — अपने अंदर स्थित जो ज्ञान था इस द्वितीय पूर्व के अंतर्गत एकदेश विद्या — ज्ञान को उन्हें प्रदान किया। क्रमपूर्वक व्याख्यान करते हुए उन्होंने आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की एकादशी तिथि के पूर्वाह्न काल में विधिपूर्वक ग्रंथ समाप्त किया।

विनयपूर्वक ग्रंथ का अध्ययन इन लोगों ने किया है इस बात से संतुष्ट होकर भूत जाति के व्यन्तर देवों ने पुष्प, बलि (नैवेद्य), शंख, तूर्य आदि के शब्दों से गुंजायमान एक बहुत बड़ी पूजा का आयोजन किया। उस पूजा को देखकर आचार्य भट्टारक देव ने उन मुनिराज का "भूतबलि" यह नामकरण कर दिया। दूसरे मुनि की भूतों ने पूजा करके उनकी अस्त-व्यस्त स्थित दन्तपंक्ति को हटाकर उन्हें एक समान कर दिया तब गुरुदेव ने उनका "पुष्पदन्त" यह नाम रख दिया।

उसके पश्चात् "गुरु वचन अलंघनीय होते हैं" ऐसा चिन्तन करके उन दोनों मुनियों ने वहाँ से विहार करके गुजरात के "अंकलेश्वर" ग्राम में आकर वर्षायोग किया।

उक्तं च—

स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा माभूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन्।
इति गुरुणा संचिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन॥१२९॥
प्रियहितवचनैरमुष्य तावुभौ एव कुरीश्वरं प्रहितौ।
तावपि नवभिर्दिवसैर्गत्वा तत्पत्तनमवाप्य॥१३०॥
योगं प्रगृह्य तत्राषाढे मास्यसितपक्षपंचम्याम्।
वर्षाकालं कृत्वा विहरन्तौ दक्षिणाभिमुखम्॥१३१॥

अत्र आषाढमासशुक्लपक्षएकादश्यां ग्रन्थाध्यापनं पूर्णीकृतं पश्चात् विहारं कृत्वा आषाढमासि कृष्णपक्षपञ्चम्यां वर्षायोगः कृतः। अत्र शुक्लपक्षानंतरं कृष्णपक्षव्यवस्था दक्षिणे वर्तते। उत्तरप्रान्ते तु आषाढशुक्लपक्षानंतरं श्रावणमासं आगच्छति। अत्र श्रावणमासि कृष्णपक्षपंचम्यां ताभ्यां वर्षायोगः स्थापितः।

तदनु वर्षायोगं समाप्य पुष्पदन्ताचार्यो जिनपालितनाम-स्वभागिनेयेन समं वनवासदेशं अगच्छत्। भूतबलिभट्टारकोऽपि तमिलदेशं अगच्छत्। ततः पुष्पदन्ताचार्येण जिनपालिताय दीक्षां दत्त्वा पुनः विंशतिसूत्राणि रचयित्वा तस्मै पाठयित्वानन्तरं भूतबलिभगवतः पार्श्वे प्रेषितः। भूतबलिभगवता जिनपालितमुनिं विंशतिसूत्राणि च दृष्ट्वा एनं पुष्पदन्ताचार्यमल्पायुष्कं च जिनपालितमुनिना ज्ञात्वा मनसि चिंतितं।

‘महाकर्मप्रकृतिप्राभृतस्य’ व्युच्छेदो भविष्यति इति विचार्य सहपाठिपुष्पदंतमुनेरभिप्रायं च अवबुद्ध्य

कहा भी है—

श्लोकार्थ— अपनी मृत्यु को निकट जान कर इन शिष्यों को संक्लेश नहीं होने पावे ऐसा विचार करके उन गुरुदेव ने हित, मित, प्रिय वचनों के द्वारा उन दोनों मुनियों को कुरीश्वर की ओर भेज दिया, वे दोनों भी नौ (९) दिनों में उस पत्तन में पहुँच गए और आषाढ़ कृष्ण पंचमी (उत्तर भारत के अनुसार श्रावण कृ. ५) को वर्षायोग स्थापित करके, वर्षाकाल व्यतीत करके पुनः दक्षिण भारत की ओर दोनों विहार कर गए॥१२९, १३०, १३१॥

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी तिथि को ग्रंथ का अध्ययन पूर्ण किया, उसके बाद विहार करके आषाढ़ कृष्ण की पंचमी तिथि में वर्षायोग स्थापन किया। यह शुक्लपक्ष के अनंतर कृष्णपक्ष की व्यवस्था दक्षिण भारत में चलती है और उत्तर प्रांत के आषाढ़ शुक्लपक्ष के अनंतर श्रावण मास आता है अतः यहाँ यह समझना कि श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की पंचमी तिथि को उन दोनों मुनियों ने वर्षायोग स्थापन किया।

उसके पश्चात् वर्षायोग समाप्त करके “पुष्पदन्त” आचार्य “जिनपालित” नामके अपने भानजे के साथ “वनवास ” देश को चले गये, ‘भूतबलि’ भट्टारक भी ‘तमिल’ देश को चले गये। उसके बाद पुष्पदन्ताचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर पुनः बीस सूत्र रचकर उनको पढ़ाकर अनंतर उन्हें भूतबलि भगवान् के पास में भेज दिया। भूतबलि भगवान् जिनपालित मुनि को और उन बीसों सूत्रों को देखकर तथा जिनपालित के मुख से पुष्पदन्ताचार्य को अल्पायुष्क जानकर मन में चिन्तित हो गये।

“महाकर्मप्रकृतिप्राभृत” का विनाश हो जाएगा ऐसा विचार करके, अपने सहपाठी पुष्पदंत मुनिराज के

पुनः द्रव्यप्रमाणानुगमं आदौ कृत्वा ग्रन्थरचना कृता। ततः षट्खण्डागमसिद्धान्तं प्रतीत्य पुष्पदन्तभूतबलिसूरी अपि ग्रन्थकर्तारौ उच्येते।

अत्र 'विंशतिसूत्राणि' पदेन विंशतिप्ररूपणागर्भितसत्प्ररूपणासूत्राणि बोद्धव्यानि, इमानि सूत्राणि सप्तसप्तत्यधिकशतानि सन्ति। अग्रे द्रव्यप्रमाणानुगमात् तृतीयपुस्तकात् ग्रथितसूत्राणि भूतबलिसूरीणां विरचितानि सन्ति इति ज्ञातव्यं पाठकैः।

एतदेवोक्तं श्री वीरसेनाचार्येणैव मंगलगाथासूत्रस्यादौ —

“इदि णायमाइरियपरंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं ति-रयण हेउ ति पुफ्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्णं सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह —

‘णमो अरिहंताणं’ इत्यादि।

पुनः अग्रे द्रव्यप्रमाणानुगमस्यादौ कथ्यते श्रीवीरसेनाचार्येण —

“संपहि चोहसण्हं जीवसमासाण-मत्थित्त-मवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणपडिवोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह —

दव्वपमाणानुगमेण दुविहो णिहेसो ओघेण आदेसेण यं ॥१॥

अभिप्राय को जान कर पुनः उन भूतबलि मुनिराज ने “द्रव्यप्रमाणानुगम” को आदि में करके ग्रंथ रचना की। उसके बाद षट्खंडागम सिद्धान्त की प्रतीति करके पुष्पदन्त-भूतबलि दोनों आचार्य भी ग्रंथकर्ता कहे जाते हैं।

यहाँ “बीस सूत्र” इस पद से बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा सूत्रों को जानना चाहिए। ये सभी सत्प्ररूपणा के कुल सूत्र एक सौ सतत्तर (१७७) हैं। आगे “द्रव्यप्रमाणानुगम” नाम की षट्खंडागम की तृतीय पुस्तक से गुंथे गये सूत्रों को भूतबलि आचार्य ने रचा है ऐसा पाठकों को जानना चाहिए।

भावार्थ — यहाँ उत्थानिका में यह स्पष्ट किया है कि यहाँ जो “विंशतिसूत्राणि” पद से बीससूत्रों का वर्णन है उनसे बीस प्ररूपणा गर्भित सूत्रों को लेना चाहिए। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीपुष्पदन्ताचार्य ने प्रथमखण्ड के बीस प्ररूपणा गर्भित एक सौ सतत्तर (१७७) सूत्रों को रचा है और उसके बाद की समस्त रचना श्रीभूतबलि आचार्य द्वारा हुई है।

श्रीवीरसेनाचार्य ने ही मंगल गाथा सूत्र की आदि में कहा है —

“आचार्य परम्परा से आए हुए इस न्याय को मन में धारण करके और पूर्वाचार्यों के आचार अर्थात् व्यवहार-परम्परा का अनुसरण करना रत्नत्रय का कारण है ऐसा समझकर पुष्पदन्त आचार्य सकारण मंगलादिक छहों अधिकारों का व्याख्यान करने के लिए मंगल सूत्र कहते हैं —

“अरिहन्तों को नमस्कार हो” इत्यादि।

पुनः आगे द्रव्यप्रमाणानुगम की आदि में श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं —

“जिन्होंने चौदह गुणस्थानों के अस्तित्व को जान लिया है ऐसे शिष्यों को अब उन्हीं चौदह गुणस्थानों के अर्थात् चौदहों गुणस्थानवर्ती जीवों के परिमाण (संख्या) के ज्ञान कराने के लिए भूतबलि आचार्य आगे का सूत्र कहते हैं —

द्रव्यप्रमाणानुगम की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार का है, ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश ॥१॥

एतदेवोक्तं श्रुतावतारेऽपि—

अथ पुष्पदंतमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभागिनेयं तम्।
 कर्मप्रकृतिप्राभृत-मुपसंहार्यैव षड्भरिह खण्डैः॥१३४॥
 वाञ्छन् गुणजीवादिक-विंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया।
 युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक्॥१३५॥
 सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरोः पार्श्वम्।
 तदभिप्रायं ज्ञातुं, प्रस्थापदगमदेशोऽपि॥१३६॥
 तेन ततः परिपठितां भूतबलिः सत्प्ररूपणाः श्रुत्वा।
 षट्खण्डागमरचना - अभिप्रायं पुष्पदंतगुरोः॥१३७॥
 विज्ञायात्यायुष्या-नल्पमतीन् मानवान् प्रतीत्य ततः।
 द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारः खंडपंचकस्यान्वक्॥१३८॥
 सूत्राणि षट्सहस्र-ग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि।
 प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्ठकं खंडम्॥१३९॥
 त्रिंशत्सहस्रसूत्र - ग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।
 तेषां पंचानामपि, खण्डानां शृणुत नामानि॥१४०॥
 आद्यं जीवस्थानं क्षुल्लकबन्धाह्वयं द्वितीयमतः।
 बंधस्वामित्वं भाव - वेदनावर्गणाखण्डे॥१४१॥

ऐसा ही श्रुतावतार में भी कहा है—

श्लोकार्थ—इसके अनंतर पुष्पदंत मुनि ने भी उस अपने भगिनीपुत्र (भानजे) जिनपालित को पढ़ाने के लिए इस करहाट नगर में छह खण्डों के द्वारा गुणस्थान, जीवसमास आदि बीस प्रकार की सत्प्ररूपणा से युक्त कर्मप्रकृति से युक्त प्रकरण का संक्षेप में सम्यक् रीति से जीवस्थानादि अधिकार की रचना की॥१३४-१३५॥

उन सौ सूत्रों को पढ़ाकर अनंतर भूतबलि गुरु के निकट उनका अर्थ जानने के लिए भेजा। वह जिनपालित भी शिष्यबुद्धि से उनके पास पहुँचे॥१३६॥

इसके अनंतर महात्मा भूतबलि ने उन पुष्पदन्त आचार्य के शिष्य जिनपालित द्वारा पढ़ी गई सत्प्ररूपणा को सुनकर जिनवाणी के पिपासु भव्य जीवों को अल्प आयु तथा अल्पबुद्धि का जानकर तथा पुष्पदंत गुरु के षट्खंडागम की रचना के अभिप्राय को जानकर द्रव्यप्ररूपणा अधिकार के बाद पुष्पदन्त गुरु द्वारा लिखित जिनपालित द्वारा सुनाए गए सौ सूत्रों सहित छह हजार सूत्र प्रमाण ग्रंथ की रचना कर तीस हजार सूत्रों के ग्रन्थनपूर्वक छोटे महाबन्ध नामक ग्रंथ को बनाया। उन पाँच खण्डों के नामों को कहते हैं सो सुनिये॥१३७-३८-३९-४०॥

इनमें पहला जीवस्थान, दूसरा क्षुल्लकबन्ध (क्षुद्रकबंध), तीसरा बन्धस्वामित्व, चौथा वेदनाखण्ड तथा पाँचवां वर्गणा खण्ड थे॥१४१॥

एवं षट्खण्डागम-रचनां प्रविधाय भूतबल्यार्थः।
 आरोप्यासद्भाव-स्थापनया पुस्तकेषु ततः॥१४२॥
 ज्येष्ठसितपक्षपञ्च-म्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः।
 तत्पुस्तकोपकरणै-र्व्यधात्क्रियापूर्वकं पूजाम्॥१४३॥
 श्रुतपंचमीति तेन, प्रख्यातिं 'तिथिरियं' परामाप।
 अद्यापि येन तस्यां, श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः॥१४४॥
 जिनपालितं ततस्तं, भूतबलिः पुष्पदन्तगुरुपार्श्वम्।
 षट्खण्डान्यध्ययगमयत्तत्पुस्तकसमेतम्॥१४५॥
 अथ पुष्पदन्तगुरुरपि जिनपालितहस्तसंस्थितमुदीक्ष्य।
 षट्खण्डागमपुस्तकमहो! मया चिंतितं कार्यम्॥१४६॥
 संपन्नमिति समस्ताङ्गोत्पन्न-महाश्रुतानुरागभरः।
 चातुर्वर्ण्यसुसंघान्वितो विहितवान् क्रियाकर्म॥१४७॥
 गंधाक्षतमाल्याम्बर-वितानघण्टाध्वजादिभिः प्राग्वत्।
 श्रुतपंचम्यामकरोत् सिद्धांतसुपुस्तकमहेज्याम्॥१४८॥
 एवं षट्खण्डागम-सूत्रोत्पत्तिं प्ररूप्य पुनरधुना।
 कथयामि कषायप्राभृतस्य सत्सूत्रसंभूतिम्^१॥१४९॥

ततो मूलतन्त्रकर्ता वर्धमानभट्टारकः, अनुतन्त्रकर्ता गौतमस्वामी, उपतन्त्रकर्तारो भूतबलिपुष्पदन्तादयो वीतरागद्वेष-मोहा मुनिवराः।

इस प्रकार भूतबलि महाराज ने षट्खंडागम ग्रंथ की रचना की। अनंतर असद्भाव स्थापना से पुस्तकों में आरूढ़ कर-लिपिबद्ध करके चातुर्वर्ण्य संघ की सन्निधि में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन पुस्तक संबंधित उपकरणों — वेष्टन आदि द्वारा विधिपूर्वक पूजा की॥१४२-१४३॥

उस कारण से यह ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी की तिथि श्रुतपंचमी के नाम से पर्व के रूप में अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हुई, जिसके कारण जैन समुदाय आज भी इस दिन श्रुतज्ञान की पूजा करते हैं॥१४४॥

तदनन्तर भूतबलि महाराज ने उन जिनपालित मुनि से पुष्पदन्त गुरु के निकट षट्खंडागम नामक यह पुस्तक भिजवाई॥१४५॥

इसके पश्चात् पुष्पदंत गुरु ने भी जिनपालित के हाथ में सुस्थित षट्खंडागम ग्रंथ को भले प्रकार से देखकर आश्चर्य में पड़ते हुए-‘अरे! मेरे द्वारा विचारा गया कार्य सम्पन्न हो गया’ कह कर समस्त अंगों में उल्लास से भरकर चातुर्वर्ण्य-मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप संघ से युक्त होकर पूजा की॥१४६-१४७॥

उन पुष्पदंत आचार्य ने भी भूतबलि आचार्य की भाँति उसी तरह गंध, अक्षत, माला, वस्त्र, चन्दोवा, घण्टा, ध्वजा आदि के द्वारा श्रुतपंचमी के दिन सिद्धान्त महागम की पूजा करवाई॥१४८॥

इस प्रकार षट्खण्डागम सूत्र की उत्पत्ति का प्ररूपण करके फिर इस समय कषायप्राभृत सूत्र की उत्पत्ति कहता हूँ॥१४९॥

इसलिए मूलतन्त्रकर्ता श्रीवर्धमान भगवान् हैं, अनुतन्त्रकर्ता — उनकी वाणी के अनुसरण कर्ता गौतम

किमर्थं कर्ता प्ररूप्यते ? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम् “वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्” इति न्यायात्^१।
अत्र एतज्ज्ञायते यत् जिनपालितमुनेः पाठनार्थं श्रीपुष्पदंतगुरुणा सत्प्ररूपणासूत्राणि विरचितानि पुनः
द्रव्यप्रमाणानुगमं आदौ कृत्वा पूर्णरूपेण षट्खण्डागमे विभक्तानि सर्वाणि सूत्राणि भूतबलिसूरिणा विरचितानि
सन्ति। अतएव अस्य षट्खण्डागमग्रन्थस्य “निमित्तं जिनपालितः^२” इति उक्तं श्रीवीरसेनाचार्येण।

षट्खण्डागमस्य षट् टीकाः—

अधुना अस्य सिद्धान्तग्रन्थस्य टीकाकाराणां नामोल्लेखं क्रियते संक्षेपेण—

सर्वप्रथम एषां आद्यानां त्रयखंडानां ‘परिकर्म नाम’ टीकाकर्ता श्रीकुंदकुदाचार्यो बभूव। विद्वद्भिः
अस्य कालः विक्रमाब्दस्य द्वितीयशताब्दिः अनुमीयते।

उक्तं च—

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।

गुरुपरिपाट्या ज्ञातः, सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे।।१६०।।

श्रीपद्मनन्दिमुनिना, सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।

ग्रन्थपरिकर्मकर्त्रा, षट्खण्डाद्य-त्रिखण्डस्य^३।।१६१।।

तदनु श्रीशामकुंडाचार्यकृत-पद्धतिनामा टीका अभूत्। षष्ठं खंडं विहाय पंचखण्डानां कषायप्राभृतग्रन्थस्यापि
च टीका द्वादशसहस्रश्लोकप्रमाणास्ति, संस्कृत-प्राकृत-कन्नडभाषा-मिश्रिता। अस्याः टीकायाः कालो

स्वामी हैं, उपतन्त्रकर्ता—परंपरा से ग्रंथकर्ता श्री भूतबलिपुष्पदन्तादि राग, द्वेष, मोह से रहित मुनिवर हैं।

शंका—ग्रंथकर्ता का प्ररूपण किसलिए किया जाता है ?

समाधान—शास्त्र की प्रमाणता दिखाने के लिए कर्ता का प्ररूपण किया जाता है, क्योंकि “वक्ता की प्रमाणता से ही वचनों में प्रमाणता आती है” ऐसा न्याय है।

यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि जिनपालित मुनि को पढ़ाने के लिए श्री पुष्पदन्त गुरु ने सत्प्ररूपणा सूत्रों को रचा था पुनः द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि करके पूर्णरूप से षट्खण्डागम में विभक्त सभी सूत्र भूतबली आचार्य के द्वारा रचे गये हैं। अतएव षट्खण्डागम ग्रंथ की रचना में निमित्त जिनपालित हैं ऐसा श्रीवीरसेनाचार्य ने कहा है।

अब इस सिद्धान्त ग्रंथ के टीकाकारों का नामोल्लेख संक्षेप में करते हैं—

सबसे पहले इस ग्रंथ के आदि के तीन खण्डों पर “परिकर्म” नाम की टीका के कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य हुए। कुछ विद्वानों के द्वारा उनका काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी माना गया है।

कहा भी है—

श्लोकार्थ—इस प्रकार द्रव्य-भावरूप पुस्तक गत दो प्रकार का सिद्धांत गुरुपरिपाटी से कुण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दी मुनि द्वारा (प्रचलित नाम आचार्य कुन्दकुन्द) द्वारा जाना गया। उन्होंने भी बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक टीका ग्रंथ की रचना षट्खण्डागम के आदि के तीन खंडों पर टीका या भाष्य रूप में की।।१६०-१६१।।

उसके पश्चात् श्रीशामकुंड आचार्य ने “पद्धति” नामकी टीका लिखी। छठे खण्ड को छोड़कर पाँच खण्डों की तथा कषायप्राभृत ग्रंथ की टीका बारह हजार श्लोक प्रमाण है और वह टीका संस्कृत, प्राकृत,

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. ७३। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. ६१। ३. श्रुतावतार।

विक्रमाब्दस्य तृतीयशताब्दिः अनुमीयते।

तत्पश्चात् तुम्बुलूरग्रामवासी श्रीतुम्बुलूरचार्यो द्वयोः सिद्धान्तग्रन्थयोः महाबन्धनाम्ना षष्ठ्यखंडेन विना 'चूडामणिः' नामा टीका रचिता। इयं टीका चतुरशीतिसहस्रश्लोकप्रमितासीत् कर्णाटभाषया, पुनः षष्ठ्यखंडे 'पंचिकानामा' व्याख्या सप्तसहस्रश्लोकप्रमाणा कृता। अस्याचार्यस्य कालः विक्रमाब्दस्य चतुर्थशताब्दिः अनुमीयते।

चतुर्थी टीका तार्किकार्केण श्रीसमन्तभद्रस्वामिना रचिता संस्कृत-मृदुसरलभाषया षष्ठं खण्डं अन्तरेण पंचखण्डानामुपरि अष्टचत्वारिंशत्सहस्रश्लोकप्रमितासीत्। अस्यापि सूरः कालो विक्रमाब्दस्य पंचमशताब्दिरनुमीयते।

तदनु श्रीवप्पदेवगुरुणा गुरुपरंपरया सिद्धान्तज्ञानं संप्राप्य महाबन्धमन्तरेण पंचखंडानामुपरि 'व्याख्याप्रज्ञप्तिः' टीका रचिता, पश्चात् षष्ठ्यखण्डस्य संक्षिप्ता व्याख्या लिखिता। पंचखंडस्य कषायप्राभृतस्य च टीकायाः प्रमाणं षष्ठिसहस्रश्लोकप्रमितमासीत्, महाबन्धस्य टीकायाः प्रमाणं पंचाधिक-अष्टसहस्रश्लोकप्रमितं च। इयं टीका प्राकृतभाषायां श्रूयते। अस्याचार्यस्य कालः विक्रमाब्दस्य षष्ठस्याष्टमस्य च शताब्दिमध्ये अनुमीयते।^१

संप्रति इमाः पंच टीकाः नोपलभ्यन्ते, अस्माकं जैनधर्मावलम्बिनां दौर्भाग्येन एताः सर्वाः कालस्यास्ये समाविष्टाः केवलं ग्रन्थेषु एव श्रूयन्ते।

कन्नड़ भाषा मिश्रित लिखी गई है। इस टीका का काल विक्रम की तृतीय शताब्दी अनुमानित किया जाता है।

तत्पश्चात् "तुम्बुलूर" ग्रामवासी श्रीतुम्बुलूर नामके आचार्य ने दोनों सिद्धांत ग्रंथों पर "महाबन्ध" नामके छठे खंड के बिना (पाँच खण्डों पर) "चूडामणि" नामकी टीका लिखी। यह टीका कर्नाटक भाषा में चौरासी हजार श्लोक प्रमाण थी, पुनः छठे खंड पर "पंचिका" नामकी व्याख्या सात हजार श्लोक प्रमाण की थी। अनुमानतः इन आचार्यश्री का काल विक्रमसंवत् की चतुर्थ शताब्दी माना जाता है।

चौथी टीका तार्किकसूर्य श्रीसमन्तभद्र स्वामी के द्वारा मिष्ट, सरल संस्कृत भाषा में रची गई, जो कि छठे खंड को छोड़कर पाँच खण्डों के ऊपर अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण है। इन आचार्यश्री का काल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है।

उसके बाद श्रीवप्पदेवगुरु ने गुरुपरम्परा से सिद्धांतज्ञान को प्राप्त करके महाबन्ध के अतिरिक्त पाँच खण्डों के ऊपर "व्याख्याप्रज्ञप्ति" टीका लिखी, पुनः छठे खंड की संक्षिप्त व्याख्या लिखी। पाँच खंडों की एवं कषायप्राभृत की टीका का प्रमाण सात हजार श्लोक प्रमाण है और महाबन्ध की टीका का प्रमाण पाँच अधिक आठ हजार श्लोक है। यह टीका प्राकृतभाषा में सुनी जाती है। इस टीका के कर्ता आचार्य का काल विक्रम की छठी और आठवीं शताब्दी के मध्य में अनुमानित किया जाता है।

आज वर्तमान में ये पाँचों टीकाएँ उपलब्ध नहीं हैं, हम जैनधर्मावलम्बियों के दुर्भाग्य से वे सभी टीकाएँ काल के मुख में समाविष्ट हो गईं और केवल ग्रंथों में ही इनकी महिमा सुनने को मिलती है।

विशेषार्थ — यद्यपि जैनसिद्धांत के समस्त ग्रंथों का लेखन लगभग दो हजार वर्षों से ही सुनने और देखने में आता है, उससे पूर्व का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है फिर भी बीच के इस दीर्घ काल में मुगल एवं अन्य सम्प्रदायों के शाही राजतन्त्र ने जैन सम्प्रदाय के मंदिरों को एवं ग्रंथों को भारी क्षति पहुँचाई। उस समय जैन लोग अहिंसक बने, घरों में बैठे अपने धर्मायतनों पर होते अत्याचारों को सहन करते रहे। उसी का दुष्परिणाम है कि हमारे आचार्यों द्वारा दी गई अमूल्य निधियाँ समाप्त हो गईं और उनका लाभ समाज नहीं उठा सका।

तदनन्तरं श्रीवीरसेनाचार्येण कृता 'धवला' नामधेया इयं टीका वर्तमानकाले उपलब्धास्ति।
उक्तं च श्रुतावतारे—

काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः॥१७७॥
तस्य समीपे सकलं, सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितमनिबन्धना-दधिकारानष्ट च लिलेख॥१७८॥
आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्।
वाटग्रामे चात्राऽनतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा॥१७९॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्।
उपरितमबन्धनादधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥१८०॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य।
इति षष्ठां खण्डानां, ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या॥१८१॥
प्राकृतसंस्कृतभाषा-मिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्।
जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनां॥१८२॥

आचार्य श्रीकुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित चौरासी पाहुड़ ग्रंथ सुने जाते हैं किन्तु वर्तमान में उनके केवल ९ ग्रंथ ही उपलब्ध हो रहे हैं, शेष ७५ ग्रंथ संभवतः इसी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो गये। काल की यह स्थिति देखकर ही बीसवीं सदी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर महाराज ने धवल, जयधवल, महाधवल ग्रंथों को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करने की श्रावकों को प्रेरणा दी थी तथा उन ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद हेतु विद्वानों को प्रेरणा प्रदान की थी, जिसके फलस्वरूप आज देशभर के मंदिरों, पुस्तकालयों में वे ग्रंथ उपलब्ध हो रहे हैं। उन्हीं ग्रंथों की प्रस्तावनाओं में विद्वानों ने खोज के आधार पर उपर्युक्त टीका-ग्रंथों का वर्णन किया है।

उसके पश्चात् श्रीवीरसेनाचार्य द्वारा रचित “धवला” नाम की टीका वर्तमान में उपलब्ध है। श्रुतावतार कथा में लिखा भी है—

गाथार्थ—कितना ही समय व्यतीत होने पर इसके बाद फिर चित्रपुर में रहने वाले श्रीमान् एलाचार्य सिद्धांत तत्त्व को जानने वाले हुए॥१७७॥

उन चित्रकूटपुर में निवास करने वाले श्रीमान् एलाचार्य के निकट सम्पूर्ण सिद्धांतों को पढ़कर वीरसेन गुरु ने उपरितम निबन्धनादि आठ अधिकारों को लिखा॥१७८॥

तदनन्तर भगवान् वीरसेनाचार्य गुरु के आदेश से चित्रकूटपुर से आकर वाटग्राम में यहाँ के आनतेन्द्र द्वारा निर्मित जिनमंदिर में ठहरकर उसमें वप्पदेव गुरु द्वारा रचित “व्याख्याप्रज्ञप्ति” नामक टीका प्राप्त कर पूर्व षट्खण्ड से अर्थात् षट्खंडागम के छठवें (महाबन्ध) खण्ड को छोड़ कर शेष पाँच खण्डों की उपरितम निबन्धनादि अठारह अधिकारों द्वारा “सत्कर्म” नामक तथा छठे खण्ड को संक्षिप्त किया। इस प्रकार छहों खण्डों की बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत, संस्कृत मिश्रित “धवला” नामक टीका को लिखकर कषायप्राभृत पर चार विभक्तियों की बीस हजार श्लोक प्रमाण “जयधवला” नामक टीका लिखकर स्वर्गवासी हो

विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम्।

यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेन-गुरुनामा॥१८३॥

तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान्।

जयधवलैवं षष्ठिसहस्रग्रन्थोऽभवद्वीका॥१८४॥

एतेन ज्ञायते श्रीमान् एलाचार्यो श्रीवीरसेनस्य शिक्षागुरुः, अस्य समीपे एव अनेन सिद्धान्तस्याध्ययनं कृतं। पुनश्च व्याख्याप्रज्ञप्तिनामधेयां षट्खण्डागमस्य टीकां श्रीवप्पदेवगुरुणा कृतां संप्राप्याधीत्य च प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां धवलाख्यां टीकां द्विसप्ततिसहस्रश्लोकप्रमाणैः व्यरचयत्। तदनु कषायप्राभृत-सिद्धान्तग्रन्थस्य जयधवलाख्यां टीकां आरभ्य विंशतिसहस्रश्लोकप्रमितं रचयित्वा समाधिमरणमवाप्नोत्। पश्चात् तस्य शिष्यः जयसेन^१मुनिः गुरुदेवस्यावशेषकार्यं पूरयितव्यमिति मत्वा चत्वारिंशत्सहस्रश्लोक-प्रमाणमिमां जयधवलाटीकां अपूरयत्।

अस्या धवलाटीकायाः समापनकालो विद्वद्भिः एवं निर्णीयते।

अष्टत्रिंशदधिक-सप्तशततमे शकसंवत्सरे कार्तिकमासि शुक्लपक्षे त्रयोदशीतिथौ इयं धवलाटीका पूर्णा जाता। तदनुसारं अष्टदिनांके, अक्टूबरमासे षोडशाधिकाष्टशततमे ख्रिष्टाब्दे बुधवारदिवसे असौ टीका संपन्नाभवत्^२।

ततः बृहत्कायधवलाटीकापेक्षया टीकासहितस्यास्य ग्रन्थस्य वीरसेनस्वामी अपि कथंचित् ग्रन्थकर्ता भवितुमर्हति।

अत्र गद्यरूपा टीकायां यत् श्लोकप्रमाणसंख्याः कथ्यन्ते तदनुष्टुपि छन्दसि श्लोके चतुःपादेषु

गये। तत्पश्चात् उनके शिष्य जयसेन अपरनाम जिनसेन ने उनके (कषायप्राभृत—जिस पर वीरसेनाचार्य ने जयधवला टीका लिखी) शेष भाग टीका को उससे आगे चालीस हजार श्लोक प्रमाण में लिख कर उसे समाप्त किया। इस प्रकार कषायप्राभृत की जयधवला टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण हुई। १७९ से १८४ तक।

इससे यह ज्ञात होता है कि श्रीमान् एलाचार्य श्रीवीरसेनस्वामी के शिक्षागुरु थे, उनके समीप ही उन्होंने सिद्धान्त का अध्ययन किया था। पुनः श्रीवप्पदेवगुरु द्वारा रचित षट्खण्डागम की 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नामक टीका को प्राप्त करके और पढ़ करके प्राकृत, संस्कृत भाषा से मिश्रित बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण "धवला" नाम की टीका रची। उसके पश्चात् "कषायप्राभृत" सिद्धान्त ग्रंथ की "जयधवला" नाम की टीका प्रारंभ करके बीस हजार श्लोक प्रमाण उसकी रचना करके वे वीरसेन स्वामी समाधिमरण को प्राप्त हो गये। पुनः उनके शिष्य 'जयसेन' मुनि ने "गुरुदेव के अवशेष कार्य को पूर्ण करना चाहिए" ऐसा सोचकर चालीस हजार श्लोक प्रमाण उस जयधवला टीका को लिखकर पूर्ण किया।

विद्वान् लोग इस धवला टीका का समापन काल इस प्रकार निर्णीत करते हैं—

शक संवत् सात सौ अड़तीस (७३८) में कार्तिक मास के शुक्लपक्ष में त्रयोदशी तिथि को यह धवला टीका पूर्ण हुई, तदनुसार ८ अक्टूबर सन् ८१६ बुधवार के दिन प्रातःकाल में यह टीका सम्पन्न हुई थी।

उसके पश्चात् बृहत्काय धवला टीका की अपेक्षा से टीका सहित इस ग्रंथ के कर्ता कथंचित् श्रीवीरसेन स्वामी भी माने जाते हैं।

यहाँ गद्यरूप टीका में जो श्लोक प्रमाण संख्या कही गई है वह अनुष्टुप् छन्द के श्लोक के चार चरणों

द्वात्रिंशदक्षराः भवन्ति। अनेन द्वात्रिंशदक्षरप्रमाणेन प्रमाणपदेन श्लोकानां संख्या गण्यन्ते। उक्तं च —

“तत्थ पमाणपदं अट्ठक्खरणिप्पणं, जहा, “धम्मो मंगलमुक्कट्टं” इच्चाइ। एदेहि चट्ठहि पदेहि एगो गंथो^१।”

एवं श्रुतावतारकथां निरूप्य ग्रन्थकर्तारो निरूपिताः सन्ति।

षट्खण्डागमादिसिद्धान्तग्रन्थानां स्थायित्वं —

अस्मिन् विंशतिशताब्दौ प्रथमाचार्येण चारित्रचक्रवर्ति-श्रीशांतिसागरगुरुदेवेन एकदा वारामतीनगर्या गुरुभक्तानां श्रीमतां धीमतां च सभामध्ये सिद्धान्तश्रुत-संरक्षणचिंतया धवलाटीकासमेतः षट्खंडागमो, जयधवलाटीकासमेतः कषायप्राभृतग्रन्थो, महाधवलाटीकासमेतो महाबंधग्रन्थश्चेति त्रयाणामपि सिद्धान्तमहाग्रन्थानां ताम्रपत्राणामुपरि टंकोत्कीर्णार्थं अन्येषामपि पूर्वाचार्यप्रणीतग्रन्थानां प्रकाशनार्थं च प्रेरणा कृता। तदानीं आचार्यदेवस्य प्रेरणयाशीर्वादेन च तत्काले फाल्गुनकृष्णाद्वितीयायां एकसप्तत्यधिक-चतुर्विंशतिशततमे वीराब्दे “श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ति-आचार्यशांतिसागरदिगम्बरजैनजिनवाणीजीर्णोद्धारक-संस्था” इति नाम्ना एकस्याः संस्थायाः स्थापना संजाता।

ततः प्रभृति अनेके विद्वान्सः श्रेष्ठिनश्च ग्रन्थप्रकाशनकार्येषु संलग्नाः बभूवुः। तदा नववर्षान्तरं अशीत्यधिकचतुर्विंशतिशततमे वीराब्दे फल्टननाम्नि नगरे गुरुणां गुरोः श्रीशांतिसागराचार्यवर्यस्य हीरक-जयन्तीमहोत्सवे गजराजस्योपरि ग्रन्थान् समारोप्य महामहोत्सवेन सह शोभायात्रां कृत्वा मुद्रितास्ताम्रपत्रोत्कीर्णा

में जो बत्तीस अक्षर (३२) अक्षर होते हैं उन्हीं बत्तीस अक्षर प्रमाण से प्रमाणपद के द्वारा श्लोकों की संख्या इसमें गणना की जाती है।

कहा भी है —

“वह प्रमाणपद आठ अक्षरों से निष्पन्न होता है, यथा—“धम्मो मंगलमुक्कट्टं” इसमें ८ अक्षर हैं इत्यादि। इसी प्रकार के ८ अक्षर के ४ पदों से एक ग्रंथ-श्लोक बनता है।

इस प्रकार श्रुतावतार कथा का निरूपण करके ग्रंथकर्ता आचार्यों का निरूपण हो जाता है।

षट्खण्डागम आदि सिद्धान्तग्रंथों का स्थायित्व कैसे हुआ यह बताते हैं —

इस बीसवीं शताब्दी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर गुरुदेव ने एक बार “वारामती” नगरी में गुरुभक्त श्रेष्ठी एवं विद्वानों की सभा में सिद्धान्त श्रुत ग्रंथों के संरक्षण की चिंता से धवला टीका सहित षट्खंडागम, जयधवला टीका समेत कषायप्राभृत ग्रंथ एवं महाधवला टीका समन्वित महाबन्ध इन तीनों महाग्रंथों को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराने की तथा अन्य भी पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रंथों के प्रकाशन की प्रेरणा प्रदान की।

तब आचार्यदेव की प्रेरणा और आशीर्वाद से तत्काल में फाल्गुन कृष्णा द्वितीया को चौबीस सौ इकहत्तर (२४७१) वीर निर्वाण संवत् में “श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था” के नाम से एक संस्था की स्थापना हुई।

तब से ही अनेक विद्वान् और श्रेष्ठी ग्रंथ प्रकाशन के कार्यों में संलग्न हो गये। तब नौ (९) वर्ष के बाद चौबीस सौ अस्सी (२४८०) वीर निर्वाण संवत् में “फल्टण” नामक नगर में गुरुणां गुरु श्री शांतिसागर आचार्यवर्य के हीरक जयन्ती महोत्सव में हाथी के ऊपर ग्रंथों को विराजमान करके महामहोत्सवपूर्वक

ग्रन्थाश्च विद्वद्वगण-श्रेष्ठिवर्गसमन्वितैः समस्तश्रावकजनैः श्रीशांतिसागरसूरेः करकमलयोः समर्पिताः।

अद्यत्वे ताम्रपत्रोत्कीर्ण-धवलाटीकासमेतषट्खण्डागमग्रन्थाः तथा मुद्रितास्त्रयोऽपि सिद्धान्तग्रन्थाः फल्टननगर्या श्रीचन्द्रप्रभमंदिरे “आचार्य श्रीशांतिसागर-श्रुतभाण्डारभवने” स्थापिताः सन्ति। एवमेव ताम्रपत्रोत्कीर्णाः जयधवलासमेत-कषायप्राभृतग्रन्थाः महाबन्धग्रन्थाश्च मुम्बईपत्तने कालवादेवीदिगम्बरजैनमंदिरे स्थापिताः सन्तीति ज्ञातव्यं।

वर्तमानकाले इह पृथिव्यां जैनधर्मावलम्बि-श्रावकाणामुपरि अस्याचार्यदेवस्य महानुपकारो वर्तते। जैनश्रुतसुरक्षा-करणं प्रकाशनं च ग्रन्थानां, तीर्थक्षेत्रेषु भगवतां मूर्तिनिर्माणं, दिगम्बरजैनमुनीनां दीक्षाशिक्षादानं आर्यिका-दीक्षादानं क्षुल्लक-क्षुल्लिकादीक्षादानं च कृत्वा चतुर्विधसंघस्य व्यवस्थापनादिकार्यं कृतं गुरुदेवेन श्री चारित्रचक्रवर्तिनाचार्येण।

अस्य प्रथमाचार्यस्योपकारं स्मारं स्मारं अस्मै नमोऽस्तु विधीयते मया कोटिशः।

अथ पर्यायाक्षरादिश्रुतज्ञानानि कथ्यन्ते—

अत्र ग्रन्थकर्तृ-प्रकरणे गौतमगणधरादिभिः ग्रथित-अंग-पूर्वाणां अंगबाह्यप्रकीर्णकानां च लक्षणं संक्षेपेण कथितं। अधुना पर्यायाक्षरपदसंघातादिश्रुतज्ञानभेदानां संक्षिप्तलक्षणं वक्ष्यते। अथवा अग्रे द्वितीयसूत्रस्य टीकायां अक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिअनुयोगद्वाराणां नामानि पुनः पुनरागतानि तेषां किं लक्षणमिति पृच्छायां अत्र संक्षेपेण विवेच्यते—

अस्मिन् श्रुतज्ञानप्रकरणे अक्षरानक्षरात्मकयोः शब्दज-लिंगजयोः श्रुतज्ञान-भेदयोर्मध्ये शब्दजं,

शोभायात्रा निकाल कर मुद्रित एवं ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण ग्रंथों को विद्वानों एवं श्रेष्ठियों से समन्वित समस्त श्रावक बन्धुओं ने श्री शांतिसागर महाराज के करकमलों में समर्पित किया था।

आज भी ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण धवला टीका समेत षट्खंडागम ग्रंथ तथा मुद्रित तीनों ही सिद्धांत ग्रंथ फल्टन नगरी के “श्रीचंद्रप्रभ मंदिर में” “आचार्य श्री शांतिसागर श्रुतभाण्डार” नामक भवन में स्थापित — विराजमान हैं।

इसी प्रकार ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण जयधवला टीका सहित कषायप्राभृत ग्रंथ तथा महाबन्ध ग्रंथ मुम्बई शहर के “कालवा देवी दिगम्बर जैन मंदिर” में स्थापित हैं ऐसा जानना चाहिए।

वर्तमान काल में इस पृथ्वी पर जैन धर्मावलम्बी श्रावकों पर इन आचार्य देव का महान् उपकार है। जैन श्रुत की सुरक्षा करने का और ग्रंथों के प्रकाशन का, तीर्थक्षेत्रों पर भगवन्तों की मूर्तियाँ निर्माण की प्रेरणा देकर, दिगम्बर जैन मुनियों को दीक्षा-शिक्षा देकर, आर्यिका दीक्षा देकर, क्षुल्लक-क्षुल्लिका आदि की दीक्षा प्रदान कर उन शांतिसागर गुरुदेव ने चतुर्विध संघ की व्यवस्था बनाई थी।

अब पर्यायाक्षर आदि श्रुतज्ञानों का कथन करते हैं —

इन प्रथमाचार्य के उपकारों को स्मरण करते हुए मेरा उन्हें बारम्बार नमस्कार है।

यहाँ ग्रंथकर्ता के प्रकरण में गौतम गणधर आदि के द्वारा गूँथे गए अंग-पूर्वों का, अंगबाह्य और प्रकीर्णकों का लक्षण संक्षेप में किया गया। अब पर्याय, अक्षर, पद, संघात आदि श्रुतज्ञान के भेदों का संक्षेप में लक्षण कहेंगे अथवा द्वितीय सूत्र की टीका के अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोगद्वारों के नाम पुनः-पुनः आने वाले हैं, उनके लक्षण क्या हैं ? ऐसी पृच्छा होने पर यहाँ संक्षिप्त विवेचन करते हैं—

इस श्रुतज्ञान के प्रकरण में अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक तथा शब्दज और लिंगज श्रुतज्ञान के इन दो भेदों

वर्णपदवाक्यात्मकशब्दजनितं श्रुतज्ञानं प्रधानं दत्तग्रहणशास्त्राध्ययनादिसकलव्यवहाराणां तन्मूलत्वात्। अनक्षरात्मकं तु लिंगजं श्रुतज्ञानं एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु विद्यमानमपि व्यवहारानुपयोगित्वादप्रधानं भवति।

अथ श्रुतज्ञानस्य अक्षरानक्षरात्मकभेदौ प्ररूपयति—

पज्जायक्खरपदसंघादं, पडिवत्तियाणिजोगं च।

दुगवारपाहुडं च य, पाहुडयं वत्थु पुव्वं च॥३१७॥

तेसिं च समासेहिय, वीसविधं वा हु होदि सुदणाणं।

आवरणस्स वि भेदा, तत्तियमेत्ता हवंतित्ति॥३१८॥

पर्यायः, पर्यायसमासः, अक्षरं, अक्षरसमासः, पदं, पदसमासः, संघातः, संघातसमासः, प्रतिपत्तिकः, प्रतिपत्तिकसमासः, अनुयोगः, अनुयोगसमासः, प्राभृतक-प्राभृतकं, प्राभृतकप्राभृतकसमासः, प्राभृतकं, प्राभृतकसमासः, वस्तु, वस्तुसमासः, पूर्व, पूर्वसमासश्चेति।

इतो विस्तरः— श्रुतज्ञानस्य अक्षरानक्षरात्मकौ द्वौ भेदौ, तत्रानक्षरात्मके श्रुतज्ञाने पर्याय-पर्यायसमासौ द्वौ भेदौ स्तः। अक्षरात्मके श्रुतज्ञाने अक्षराक्षरसमासादि-अष्टादशभेदाः सन्ति।

तत्रानक्षरात्मके पर्यायपर्यायसमासलक्षणे सर्वजघन्यज्ञानमादिं कृत्वा स्वोत्कृष्टपर्यन्तं असंख्येयलोकमात्राः ज्ञानविकल्पा भवन्ति। ते च असंख्येयलोकमात्रवारषट्स्थानवृद्ध्या संवर्धिता भवन्ति। अक्षरात्मकं श्रुतज्ञानं अक्षरअक्षरसमासादि-अष्टादशभेदभिन्नं द्विरूपवर्गधारोत्पन्नषष्ठवर्गस्य एकद्वान्मो यावन्ति रूपाणि एकरूपोनानि

में से शब्दज श्रुतज्ञान का लक्षण कहते हैं—

वर्ण, पद, वाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज श्रुतज्ञान कहलाता है, वह श्रुतज्ञान प्रधानता से दत्त— देना, ग्रहण करना, शास्त्र अध्ययन आदि समस्त व्यवहारों का मूल है।

अनक्षरात्मक ज्ञान लिंगज श्रुतज्ञान है, वह एकेन्द्रिय आदि जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों में विद्यमान रहते हुए भी व्यवहार में उपयोगी न होने के कारण अप्रधान— गौण रहता है।

अब श्रुतज्ञान के अक्षर एवं अनक्षरात्मक दोनों भेदों का प्ररूपण करते हैं—

गाथार्थ— पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृतक, वस्तु और पूर्व इन सबमें 'समास' शब्द जोड़ने से श्रुतज्ञान के बीस भेद हो जाते हैं इनमें आवरण के भेद भी उतने ही-बीस होते हैं॥३१७-३१८॥

पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतक-प्राभृतक, प्राभृतकप्राभृतकसमास, प्राभृतक, प्राभृतकसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये कुल बीस भेद हैं।

इनका विस्तार से वर्णन करते हैं—

श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ये दो भेद हैं, उनमें अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के दो भेद हैं— पर्याय और पर्याय समास तथा अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के अक्षर, अक्षरसमास आदि अठारह भेद हैं।

उनमें अनक्षरात्मक पर्याय तथा पर्यायसमास श्रुतज्ञान के लक्षण में सर्वजघन्य ज्ञान को आदि में करके उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्येय लोकमात्र ज्ञान के विकल्प— भेद होते हैं। और वे असंख्यात लोक प्रमाण बार-असंख्यात बार षट्स्थान वृद्धिरूप से संवर्धित होते हैं—वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अक्षर, अक्षरसमास आदि अठारह भेदों से भिन्न द्विरूपवर्गधारा में उत्पन्न छठे वर्ग का, जिसका प्रमाण एकट्टी है उसके

सन्ति-तावन्ति अक्षराणि अपुनरुक्ताक्षराण्याश्रित्य संख्यातविकल्पं भवति। विवक्षितार्थाभिव्यक्तिनिमित्तं पुनरुक्ताक्षरग्रहणे ततोऽधिकप्रमाणं भवतीत्यर्थः^१।

अथ पर्यायज्ञानस्य लक्षणं कथ्यते —

पर्यायाख्यं प्रथमं श्रुतज्ञानं तु पुनः सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकस्य संबंधि सर्वजघन्यं श्रुतज्ञानं भवति।

सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये निरावरणं — प्रच्छादन रहितं नित्योद्घाटं अतएव सर्वदा प्रकाशमानं सर्वजघन्यं — सर्वनिकृष्टशक्तिकं पर्यायाख्यं श्रुतज्ञानं भवति। यदि अस्य पर्यायज्ञानस्योपरि आवरणं भवेत्तर्हि जीवस्यैव अभावो भवेत् अतो नास्यावरणं। एतल्लब्ध्यक्षरापरनामधेयमपि, लब्धिर्नाम — श्रुत-ज्ञानावरणक्षयोपशमः अर्थग्रहणशक्तिर्वा, लब्ध्या अक्षरं अविनश्वरं लब्ध्यक्षरं तावतः क्षयोपशमस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्। द्वितीयादि-समयेषु ज्ञानदर्शनवृद्धिसंभवात्।

अधुना पर्यायसमासप्रकरणं प्ररूपयति —

सर्वजघन्यपर्यायज्ञानस्य उपरि क्रमेण वक्ष्यमाणपरिपाट्या अनंतभागवृद्धिः असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यातगुणवृद्धिः अनंतगुणवृद्धिश्चेति षट्स्थानपतिता वृद्धयो भवन्ति खलु। द्विरूपवर्गधारायां अनंतानंतानि वर्गस्थानानि अतीत्यातीत्य उत्पन्नानां जीवपुद्गलकालाकाश-श्रेणीनां उपर्युपरि अनंतानंतवर्गस्थानानि अतीत्य सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकस्य जघन्यज्ञानाविभागप्रतिच्छेदाना-मुत्पत्तिकथनात् तज्जघन्यज्ञानस्यानन्तात्मकभागहारः सुघटन् न विरुद्ध्यते।

प्रमाण में से एक कम करने पर जितने अपुनरुक्त अक्षर होते हैं उतने हैं। ये संख्यात भेदरूप हैं। इसका आशय यह है कि विवक्षित अर्थ को प्रगट करने के लिए पुनरुक्त अक्षरों के ग्रहण करने पर उससे अधिक प्रमाण हो जाता है।

अब पर्यायज्ञान का लक्षण कहते हैं —

पर्याय नामका जो प्रथम श्रुतज्ञान है वह पुनः सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के सर्वजघन्य रूप से होता है।

सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जन्म लेने के प्रथम समय में आवरण रहित नित्य उद्घाटित रहता है अतएव हमेशा प्रकाशमान रहने वाला सर्वजघन्य-अत्यन्त निकृष्ट शक्ति वाला पर्याय नामक श्रुतज्ञान होता है। यदि इस पर्यायज्ञान के ऊपर आवरण आ जावे तो जीव का ही अभाव हो जाएगा इसलिए इस ज्ञान पर कभी भी आवरण नहीं पड़ता है। इसका दूसरा नाम लब्ध्यक्षर ज्ञान भी है, श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम का नाम लब्धि है अथवा अर्थग्रहण की शक्ति भी लब्धि कहलाती है उस लब्धि से अक्षर-अविनश्वर-कभी नष्ट नहीं होने वाला ज्ञान लब्ध्यक्षर कहलाता है क्योंकि उसके उतने मात्र का क्षयोपशम सदैव विद्यमान रहता है। उन जीवों के द्वितीय आदि समयों में ज्ञान-दर्शन की वृद्धि भी संभव है।

अब पर्यायसमास प्रकरण का कथन करते हैं —

सर्वजघन्य पर्यायज्ञान के ऊपर क्रम से वक्ष्यमाण-भाविकथन परिपाटी क्रम से अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनंतगुणवृद्धि इस प्रकार षट्स्थान पतित वृद्धि होती हैं। द्विरूपवर्गधारा के अनंतानंत वर्गस्थानों को छोड़-छोड़ कर उत्पन्न हुए जीव, पुद्गल, काल, आकाशश्रेणियों के ऊपर-ऊपर अनंतानंत भाग वर्गस्थानों के उल्लंघन करके सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जघन्य ज्ञान के अविभागीप्रतिच्छेदों की उत्पत्ति का कथन किया जाता है, क्योंकि तज्जघन्य ज्ञान का अनन्तात्मकरूप से भागहार घटित करने में कोई विरोध नहीं आता है।

पूर्ववृद्धौ — अनन्तभागवृद्धौ सूच्यंगुलासंख्यातभागमात्रवारान् गतायां सत्यां तु पुनः परवृद्धिः — असंख्यातभागवृद्धिरेकवारं भवति खलु स्फुटं, पुनरपि अनन्तभागवृद्धौ सूच्यंगुलासंख्यातैकभागमात्रवारान् गतायां सत्यां असंख्यात-भागवृद्धिरेकवारं भवति। अनेन क्रमेण तावदगन्तव्यं यावदसंख्यातभागवृद्धिरपि सूच्यंगुलासंख्यातैकभागमात्रवारान् गच्छति। ततः पुनरपि अनन्तभागवृद्धौ सूच्यंगुलासंख्यातैकभागमात्रवारान् गतायां संख्यातभागवृद्धिरेकवारं भवति। पुनरपि पूर्वोक्तक्रमेण पूर्वपूर्ववृद्धौ सूच्यंगुलासंख्यातभागमात्रवारान् गतायां परवृद्धिरेकवारं भवतीत्यंगुलासंख्यातभागमात्रसंख्यातभागवृद्धौ गतायां पुनः पूर्ववृद्धिषु सर्वासु पूर्वोक्तक्रमेण संख्यातभागवृद्धिरहितं आवर्तितासु संख्यातगुणवृद्धिरेकवारं भवति। इत्यादिप्रकारेण षट्स्थानवृद्धीनां वृत्तिक्रमः गोम्मटसारजीवकाण्डग्रन्थस्य जीवतत्त्वप्रदीपिकाटीकायां दृष्टव्योऽस्ति विशेषजिज्ञासुजनैः नात्र विस्तीर्यते गहनविषयत्वात्।

एवमुक्तप्रकारेण अनक्षरात्मके पर्यायसमासज्ञानविकल्पसमूहे षट्स्थानवारा असंख्यातलोकमात्रा भवन्ति।
अक्षरज्ञानं कथ्यते —

सर्वोत्कृष्टपर्यायसमासज्ञानादनन्तगुणमर्थाक्षरज्ञानं भवति। अस्य विस्तरः —

रूपोनैकदृष्टमात्रापुनरुक्ताक्षरसंदर्भरूपद्वादशांगश्रुतस्कंधजनितार्थज्ञानं श्रुतकेवलमित्युच्यते। तस्य श्रुत-केवलस्य संख्यातभागमात्रं अर्थाक्षरज्ञानमित्युच्यते। अक्षराज्जातं ज्ञानं अक्षरज्ञानं अर्थविषयं अर्थस्य ग्राहकं ज्ञानं अर्थाक्षरज्ञानं।

अथवा त्रिविधमक्षरं — लब्ध्यक्षरं निर्वृत्यक्षरं स्थापनाक्षरं चेति। तत्र पर्यायज्ञानावरणप्रभृतिश्रुतकेवलज्ञाना-

पूर्ववृद्धि — अनन्तभाग वृद्धि के सूच्यंगुल के असंख्यात भाग मात्र बार होने पर परवृद्धि अर्थात् असंख्यातभागवृद्धि एक बार होती है। पुनः अनन्तभागवृद्धि सूच्यंगुल के असंख्यात भाग बार होने पर असंख्यातभाग वृद्धि एक बार होती है। इस क्रम से तब तक जानना चाहिए जब तक असंख्यातभागवृद्धि भी सूच्यंगुल के असंख्यात भाग बार होवे। उसके पश्चात् पुनः अनन्तभागवृद्धि के सूच्यंगुल के असंख्यात भाग मात्र बार होने पर संख्यात भाग वृद्धि एक बार होती है। पुनः पूर्वोक्त क्रम से पूर्व-पूर्व वृद्धि के सूच्यंगुल के असंख्यात भाग मात्र बार होने पर वृद्धि एक-एक बार होती है। इस प्रकार सूच्यंगुल के असंख्यात भाग मात्र संख्यात भागवृद्धि के होने पर पुनः पूर्वोक्त क्रम से संख्यात भाग वृद्धि के सिवाय सब पूर्व वृद्धियों की आवृत्ति होने पर एक बार संख्यातगुण वृद्धि होती है।

इत्यादि प्रकार से षट्स्थान वृद्धि का वृत्तिक्रम गोम्मटसारजीवकाण्ड ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका में विशेष जिज्ञासुओं को देखना चाहिए, यहाँ पर गहन विषय होने से अधिक विस्तार नहीं किया गया है।

उक्त प्रकार से अनक्षरात्मक पर्याय समास ज्ञान के भेदों के समूह में असंख्यात लोकमात्र बार षट्स्थान होते हैं।
अक्षरज्ञान को कहते हैं —

सर्वोत्कृष्ट पर्याय समास ज्ञान को अनन्त से गुणा करने पर अर्थाक्षर श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसी का विस्तार करते हैं —

एक कम एक ही मात्र अपुनरुक्त अक्षरों की रचना रूप द्वादशांग श्रुतस्कन्ध से उत्पन्न हुए ज्ञान को श्रुतकेवलज्ञान कहते हैं। उस श्रुतकेवलज्ञान का संख्यातभागमात्र अर्थाक्षरज्ञान कहलाता है। अक्षर से उत्पन्न हुआ ज्ञान अक्षरज्ञान है, अर्थ के विषय को अथवा अर्थ के ग्राहक ज्ञान को अर्थाक्षरज्ञान कहते हैं।

अथवा अक्षर तीन प्रकार का है — लब्ध्यक्षर, निर्वृत्यक्षर और स्थापनाक्षर। उनमें से पर्याय ज्ञानावरण

वरणपर्यंत क्षयोपशमादुद्भूतात्मनोऽर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः भावेन्द्रियं, तद्रूपं अक्षरं लब्ध्यक्षरं, अक्षर-ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात्। कंठोष्ठताल्लादिस्थान-स्पष्टतादिकरण-प्रयत्ननिर्वर्त्यमानस्वरूपं अकारादि-ककारादि-स्वरव्यञ्जनरूपं मूलवर्णतत्संयोगादिसंस्थानं निर्वृत्यक्षरं। पुस्तकेषु तत्तद्देशानुरूपतया लिखितसंस्थानं स्थापनाक्षरम्। एवंविधैकाक्षरश्रवणसंजातार्थज्ञानमेकाक्षरश्रुतज्ञानमिति जिनैः कथितत्वात् किञ्चित्प्रतिपादितम्।

अत्र श्रुतनिबद्धविषयप्रमाणं दर्शयते —

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।

पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदण्णिबद्धो॥३३४॥^१

अनभिलाष्यानां अवाग्विषयाणां केवलं केवलज्ञानगोचराणां भावानां जीवाद्यर्थानां अनंतैकभागमात्राः भावाः जीवाद्यर्थाः प्रज्ञापनीयाः तीर्थकरसातिशयदिव्यध्वनिप्रतिपाद्या भवन्ति। पुनः प्रज्ञापनीयानां भावानां जीवाद्यर्थानां अनंतैकभागः श्रुतनिबद्धः द्वादशांगश्रुतस्कन्धस्य निबद्धः भवतीत्यर्थः।^२

अक्षरसमासलक्षणं कथ्यते —

एकाक्षरजनिता र्थज्ञानस्योपरि तु पुनः पूर्वोक्तषट्स्थानवृद्धिक्रमरहिततया एकैकाक्षरेणैव वर्धमानाः द्वयक्षर-त्रयक्षरादिरूपोनैकपदाक्षरमात्रपर्यन्ताक्षरसमुदायश्रवणसंजनिताक्षरसमासज्ञानविकल्पाः संख्येयाः द्विरूपोनैकपदाक्षरप्रमितागताः।

वर्तमानकाले इमे अक्षर-अक्षरसमासज्ञाने एवास्माकं विद्येते इति अवबुध्यते।

से लेकर श्रुतकेवलज्ञानावरण पर्यन्त के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मा के अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति लब्धिरूप भावेन्द्रिय है। उस रूप अक्षर लब्ध्यक्षर है क्योंकि वह अक्षर ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है। कण्ठ, ओष्ठ, तालु आदि स्थानों की हलन-चलन आदि रूप क्रिया तथा प्रयत्न से जिनके स्वरूप की रचना होती है वे अकारादि स्वर, ककारादि व्यंजनरूप मूलवर्ण और उनके संयोग से बने अक्षर निर्वृत्यक्षर हैं। पुस्तकों में उस-उस देश के अनुरूप लिखित अकारादि का आकार स्थापनाक्षर है। इस प्रकार के एक अक्षर के सुनने पर उत्पन्न हुआ अर्थज्ञान एकाक्षर श्रुतज्ञान है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। उसी के आधार से मैंने किञ्चित् कहा है।

अब श्रुत के विषय को तथा श्रुत में कितना निबद्ध है इसे कहते हैं —

गाथार्थ — अनभिलप्य पदार्थों के अनंतवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनंतवें भाग प्रमाण श्रुत में निबद्ध है॥३३४॥

जो भाव अनभिलप्य अर्थात् वचन के द्वारा कहने में नहीं आ सकते, मात्र केवलज्ञान के ही विषय हैं ऐसे पदार्थ जीवादि के अनंतवें भाग मात्र प्रज्ञापनीय हैं अर्थात् तीर्थकर की सातिशय दिव्यध्वनि के द्वारा कहे जाते हैं। पुनः प्रज्ञापनीय जीवादि पदार्थों का अनंतवाँ भाग द्वादशांग श्रुतस्कन्ध के विषयरूप से निबद्ध होता है ऐसा भावार्थ हुआ।

अब अक्षर समास का लक्षण कहा जाता है —

एक अक्षर से उत्पन्न अर्थज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त षट्स्थान पतित वृद्धि के क्रम के बिना एक-एक अक्षर बढ़ते हुए दो अक्षर, तीन अक्षर आदि रूप एक हीन पद के अक्षर पर्यन्त अक्षर समूह के सुनने से उत्पन्न अक्षरसमास ज्ञान के विकल्प संख्यात हैं अर्थात् दो हीन पद के अक्षर प्रमाण हैं।

वर्तमान काल में ये अक्षर और अक्षरसमास ज्ञान ही हम लोगों के हैं ऐसा माना जाता है।

पदनामश्रुतज्ञानमुच्यते—

उत्कृष्ट-अक्षरसमासज्ञानस्योपरि एकाक्षरवृद्धौ सत्यां पदनाम श्रुतज्ञानं भवति। पदं त्रिविधं—अर्थपदं, प्रमाणपदं, मध्यमपदं चेति। एतेषां त्रयाणां लक्षणं प्रागेव कथितमस्ति। अत्र परमागमे षोडशशत-चतुस्त्रिंशत्कोट्यः त्र्यशीतिलक्षाणि सप्तसहस्राणि अष्टशतानि अष्टाशीतिश्च अपुनरुक्ताक्षरसमूहो मध्यमपदमेव पदज्ञानं भवति। अस्मिन् पदे एकाक्षरन्यूने सति उत्कृष्टाक्षरसमासः जायते।

पदसमासज्ञानं कथ्यते—

एकपदस्य उक्तप्रमाणाक्षरसमूहस्योपरि एकैकाक्षरवृद्ध्या एकपदाक्षरमात्रेषु पदसमासज्ञानविकल्पेषु गतेषु द्विगुणपदज्ञानं भवति। तस्योपरि पुनरपि एकपदाक्षरमात्रेषु पदसमासज्ञानविकल्पेषु गतेषु त्रिगुणपदज्ञानं भवति एवं प्रत्येकमेकपदाक्षरमात्रविकल्पसहचरितेषु चतुर्गुणपदादिषु संख्यातसहस्रगुणितपदमात्रेषु रूपोनेषु पदसमासज्ञानविकल्पाः भवन्ति।

संघातश्रुतज्ञानं वर्ण्यते—

उत्कृष्टपदसमासज्ञानस्य उपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति संघातश्रुतज्ञानं भवति। तच्चतसृणां गतीनां मध्ये एकतमगतिस्वरूपनिरूपक-मध्यमपदसमुदायरूप-संघातश्रवणजनितार्थज्ञानं कथ्यते।

संघातसमासस्य लक्षणमुच्यते—

पूर्वोक्तप्रमाणस्य एकतमगतिनिरूपकसंघातश्रुतस्य उपरि पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकवर्णवृद्धिसह-चरितैकैकपदवृद्धिक्रमेण संघातसहस्रपदमात्रसंघातेषु संख्यातसहस्रेषु रूपोनेषु संघातसमासज्ञानभेदाः भवन्ति।

अब पद नामक श्रुतज्ञान को कहते हैं—

उत्कृष्ट अक्षरसमास ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पद नाम का श्रुतज्ञान होता है। पद तीन प्रकार का है—अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद। इन तीनों का लक्षण पहले ही कर चुके हैं। यहाँ परमागम में सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरों का एक पद होता है और इस एकपद के अपुनरुक्त अक्षरों का समूह मध्यम पद है इसका ज्ञान ही पद ज्ञान होता है। इस पद में एक अक्षर के न्यून होने पर उत्कृष्ट अक्षरसमास होता है।

अब पदसमास ज्ञान को कहते हैं—

एक पद के उक्त प्रमाण अक्षर समूह के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते एक पद के अक्षर प्रमाण पद समास ज्ञान के विकल्पों के होने पर पदश्रुतज्ञान दूना होता है। उसके ऊपर पुनः एक पद के अक्षर प्रमाण पदसमास ज्ञान के विकल्प बीतने पर पद ज्ञान तिगुना होता है। इस प्रकार प्रत्येक एक पद के अक्षर मात्र विकल्पों के बीतने पर पदज्ञान के चतुर्गुणे-पंचगुणे होते-होते संख्यात हजार गुणित पद मात्र पदसमास ज्ञान के विकल्पों में एक अक्षर घटाने पर जो प्रमाण रहे उतने पदसमास ज्ञान के विकल्प होते हैं।

अब संघातश्रुतज्ञान का वर्णन करते हैं—

उत्कृष्ट पद समास ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर संघातश्रुतज्ञान होता है। वह चार गतियों में से किसी एक गति के स्वरूप का कथन करने वाले मध्यम पद के समुदाय रूप संघात श्रुतज्ञान के सुनने से उत्पन्न हुआ अर्थज्ञान कहलाता है।

अब संघात समास का लक्षण बताते हैं—

पूर्वोक्त प्रमाण किसी एक गति के निरूपक संघात श्रुत के ऊपर पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक अक्षर की

प्रतिपत्तिकज्ञानं प्रोच्यते—

अंतिमसंघातसमासस्योपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति प्रतिपत्तिकनाम श्रुतज्ञानं भवति। तच्च नारकादिचतुर्गतिस्वरूप-सविस्तरप्ररूपकप्रतिपत्तिकाख्यग्रन्थश्रवणजनितार्थज्ञानमिति निश्चेतव्यम्।

प्रतिपत्तिकसमासज्ञानं प्ररूप्यते—

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपकप्रतिपत्तिकात् परं तस्योपरि प्रत्येकमेकैकवृद्धिक्रमेण संख्यातसहस्रेषु पदसंघातप्रतिपत्तिकेषु वृद्धेषु रूपोनतावन्मात्रा प्रतिपत्तिकसमासज्ञानविकल्पाः भवन्ति।

अधुना अनुयोगज्ञानं कथ्यते—

तच्च उत्कृष्टप्रतिपत्तिकसमासविकल्पस्य उपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति अनुयोगाख्यं श्रुतज्ञानं भवति। एतत् चतुर्दशमार्गणास्वरूपप्रतिपादकानुयोगसंज्ञशब्दसंदर्भश्रवणजनितार्थज्ञानमित्यर्थः।

अनुयोगसमासज्ञानं वर्ण्यते—

चतुर्दशमार्गणासंयुतानुयोगात्परं तस्योपरि पूर्वोक्तक्रमेण प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादि-वृद्धिभिश्चतुराद्यनुयोगेषु संवृद्धेषु सत्सु रूपोनतावन्मात्रानुयोगसमासज्ञानविकल्पाः भवन्ति।

अथ प्राभृतकप्राभृतकज्ञानस्वरूपं निरूप्यते—

तच्चरमानुयोगसमासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकाक्षरवृद्धौ सत्यां प्राभृतक-प्राभृतकनाम श्रुतज्ञानं भवति।

वृद्धिपूर्वक एक-एक पद की वृद्धि के क्रम से संख्यात हजार पदप्रमाण संख्यात हजार संघात में होते हैं। उनमें एक अक्षर कम करने पर संघात समास ज्ञान के भेद होते हैं।

प्रतिपत्तिक ज्ञान को कहते हैं—

अंतिम संघात समास के ऊपर एक अक्षर को बढ़ाने पर प्रतिपत्तिक नाम का श्रुतज्ञान होता है। नारक आदि चार गतियों के स्वरूप का विस्तार से कथन करने वाले प्रतिपत्तिक नामके ग्रंथ को सुनने से उत्पन्न होने वाला अर्थज्ञान प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान होता है।

प्रतिपत्तिक समास ज्ञान का प्ररूपण करते हैं—

चतुर्गति के स्वरूप को कहने वाले प्रतिपत्तिक से आगे उसके ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से संख्यात हजार पदों के समुदायरूप संख्यात हजार संघात और संख्यात हजार संघातों के समूह रूप प्रतिपत्तिक की संख्यात हजार प्रमाण वृद्धि होने पर उसमें से एक अक्षर कम करने पर प्रतिपत्तिक समास ज्ञान के विकल्प होते हैं।

अब अनुयोग ज्ञान को कहते हैं—

उसके अंतिम प्रतिपत्तिक समास के उत्कृष्ट विकल्प के ऊपर एक अक्षर वृद्धि करने पर अनुयोग नाम का श्रुतज्ञान होता है। चौदह मार्गणाओं के स्वरूप के प्रतिपादक अनुयोग नामक श्रुतग्रन्थ के सुनने से हुआ अर्थज्ञान अनुयोग श्रुतज्ञान है।

अब अनुयोग समास ज्ञान का वर्णन करते हैं—

चौदह मार्गणाओं से सम्बद्ध अनुयोग के आगे उसके ऊपर पूर्वोक्त क्रम से प्रत्येक एक-एक अक्षर की वृद्धि से युक्त पद आदि की वृद्धि के द्वारा चार आदि अनुयोगों की वृद्धि होने पर उसमें एक अक्षर कम करने पर उतने मात्र अनुयोग समास ज्ञान के विकल्प होते हैं।

अब प्राभृतकप्राभृतक ज्ञान का स्वरूप निरूपित करते हैं—

उस उत्कृष्ट अनुयोग समास में उत्कृष्ट भेदों के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर “प्राभृतक प्राभृतक”

अत्र वस्तुनाम श्रुतज्ञानस्य अधिकारः प्राभृतकं वेति द्वौ एकार्थौ। प्राभृतकस्य अधिकारोऽपि प्राभृतक-प्राभृतकनामा भवति, ततः कारणात् एकार्थः पर्यायशब्दः इति जिनेः — अर्हद्भट्टारकैः निर्दिष्टं न स्वरुचिविरचितमित्यर्थः।

प्राभृतक-प्राभृतकसमासज्ञानमुच्यते —

द्विकबारप्राभृतकात्परं तस्योपरि पूर्वोक्तक्रमेण प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्धिभिः चतुर्विंशतिप्राभृतक-प्राभृतकेषु वृद्धेषु रूपोन्तावन्मात्रेषु प्राभृतक-प्राभृतकज्ञानविकल्पेषु गतेषु प्राभृतक-प्राभृतकसमासभेदाः भवन्ति।

अथ प्राभृतकज्ञानमुच्यते —

तत्प्राभृतक-प्राभृतकसमासस्य उत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकाक्षरवृद्धौ सत्यां प्राभृतकं नाम श्रुतज्ञानं भवति।

प्राभृतकसमासज्ञानं निरूप्यते —

पूर्वोक्तप्राभृतकस्याग्रे तदुपरि पूर्वोक्तक्रमेण एकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिभिः विंशतिप्राभृतक-नामाधिकारेषु संवृद्धेषु सत्सु रूपोन्तावन्मात्राः प्राभृतकसमासज्ञानविकल्पाः भवन्ति।

अथ वस्तुनाम श्रुतज्ञानं कथ्यते —

तच्चरमप्राभृतकसमासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकाक्षरवृद्धौ सत्यां एकं वस्तुनामाधिकारश्रुतज्ञानं भवति।

‘वीसं वीसं’ इति उत्पादादिपूर्वाश्रितवस्तुसमूहवीप्सायां द्विवचनमुक्तं। सर्वत्राक्षरसमासप्रथमविकल्पात् प्रभृति पूर्वसमासोत्कृष्टविकल्पपर्यन्तेषु क्रमेण पर्यायाक्षरपदसंघातेत्यादिपरिपाठ्या एकैकवर्णवृद्धिः इदमुपलक्षणं,

नामक श्रुतज्ञान होता है। यहाँ वस्तु नामक श्रुतज्ञान का अधिकार कहो या प्राभृतक कहो, दोनों का एक ही अर्थ है। प्राभृतक का अधिकार भी प्राभृतक-प्राभृतक नामक होता है, इस कारण से एकार्थवाची — पर्यायवाची पर्यायशब्द जिनेन्द्रदेव — अर्हन्तदेव ने कहा है, यह स्वरुचि द्वारा रचित नहीं है।

प्राभृतक-प्राभृतक समास ज्ञान को कहते हैं —

प्राभृतक-प्राभृतक से आगे उसके ऊपर पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्येक एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से पद आदि की वृद्धि के होते-होते चौबीस प्राभृतक प्राभृतकों की वृद्धि में एक अक्षर घटाने पर प्राभृतक-प्राभृतक समास ज्ञान के भेद होते हैं।

अब प्राभृतक ज्ञान को कहते हैं —

उस प्राभृतक-प्राभृतक समास ज्ञान के उत्कृष्ट विकल्प के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर प्राभृतक नामक श्रुतज्ञान कहलाता है।

प्राभृतक समास ज्ञान का कथन —

पूर्वोक्त प्राभृतक के आगे उसके ऊपर पूर्वोक्त क्रम से एक-एक वर्ण की वृद्धि से सहित पदादिकों के द्वारा बीस प्राभृतक नाम वाले अधिकारों की वृद्धि करते हुए उसमें एक अक्षर कम करने पर उतने मात्र प्राभृतक समास ज्ञान के विकल्प होते हैं।

अब वस्तु नामक श्रुतज्ञान का कथन करते हैं —

उसके अंतिम प्राभृतक समास के उत्कृष्ट विकल्प के ऊपर एक अक्षर बढ़ने पर एक वस्तु नामका श्रुतज्ञान होता है।

उत्पादपूर्व आदि पूर्वों के वस्तु समूह की वीप्सा में “वीसं वीसं” ऐसा दो बार कथन किया है। सर्वत्र अक्षर समास के प्रथम भेद से लेकर पूर्व समास के उत्कृष्ट विकल्प पर्यन्त क्रम से पर्याय, अक्षर, पद, संघात

तेन एकैकवर्णपदसंघातादिवृद्धयो ज्ञातव्याः। एतत्सूत्रानुसारेण वृत्तौ तथा लिखितम्।

अथ पूर्वनामश्रुतज्ञानस्वरूपं प्ररूपयंस्तदवयवभूतोत्पादपूर्वादिचतुर्दशपूर्वाणामुत्पत्तिक्रमं च दर्शयन् वस्तुसमासश्रुतज्ञानमपि प्ररूप्यते —

पूर्वोक्तवस्तुश्रुतज्ञानस्य उपरि प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्धिभिः वक्ष्यमाणोत्पादादिचतुर्दश-पूर्वाधिकारे यथासंख्यं दश-चतुर्दश-अष्ट-अष्टादश-द्वादश-द्वादश-षोडश-विंशति-त्रिंशत्-पंचदश-दश-दश-दश-दश वस्तुषु वृद्धेषु सत्सु-यथाक्रमं उत्पादपूर्वं अग्रायणीयपूर्वं वीर्यप्रवादपूर्वं अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वं ज्ञानप्रवादपूर्वं सत्यप्रवादपूर्वं आत्मप्रवादपूर्वं कर्मप्रवादपूर्वं प्रत्याख्यानपूर्वं विद्यानुवादपूर्वं कल्याणवादपूर्वं प्राणवादपूर्वं क्रियाविशालपूर्वं त्रिलोकबिन्दुसारपूर्वं चेति चतुर्दशपूर्वाणि भवन्ति।

अधुना वस्तुसमासश्रुतज्ञानं उच्यते —

पूर्वोक्तवस्तुश्रुतज्ञानस्य उपरि अग्रे प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्ध्या दशवस्तुप्रमितवस्तुसमास-ज्ञानविकल्पेषु गतेषु रूपोनैतावन्मात्रवस्तुश्रुतसमासज्ञानविकल्पाः भवन्ति।

चतुर्दशपूर्वाणामन्तर्गत-उत्पादपूर्वं कथ्यते —

वस्तुसमासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकाक्षरवृद्धौ सत्यां उत्पादपूर्वंश्रुतज्ञानं भवति।

अथ उत्पादपूर्वसमासज्ञानमुच्यते —

ततः उत्पादपूर्वंश्रुतज्ञानस्य उपरि प्रत्येकमेकैकाक्षरवृद्धिसहचरितपदादिवृद्ध्या चतुर्दशवस्तुषु वृद्धेषु रूपोनतावन्मात्रोत्पादपूर्वसमासज्ञानविकल्पाः भवन्ति।

इत्यादि परिपाटी से एक-एक अक्षर की वृद्धि करना यह उपलक्षण है। अतः एक-एक अक्षर, पद, संघात आदि की वृद्धि जानना चाहिए। इस सूत्र के अनुसार टीका में सर्वत्र यथास्थान लिखा गया है।

अब पूर्व नामक श्रुतज्ञान का स्वरूप कहते हुए उसके अवयवभूत उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्वों की उत्पत्ति का क्रम दर्शाते हुए वस्तुसमास श्रुतज्ञान का प्ररूपण करते हैं —

पूर्वोक्त वस्तु श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के साथ पद आदि की वृद्धि होते-होते आगे कहे गये उत्पादपूर्व आदि चौदह अधिकारों के क्रम से दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु अधिकारों के वृद्धि करने पर यथाक्रम उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व ऐसे चौदह पूर्व होते हैं।

अब वस्तुसमास श्रुतज्ञान कहते हैं —

पूर्वोक्त वस्तु श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के साथ दस वस्तु प्रमाण वस्तुसमास ज्ञान के विकल्पों में एक अक्षर से हीन विकल्पपर्यन्त वस्तुसमास श्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं।

चौदह पूर्वों के अंतर्गत उत्पादपूर्व का कथन करते हैं —

वस्तु समास के उत्कृष्ट विकल्प के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर उत्पादपूर्व श्रुतज्ञान होता है।

अब उत्पादपूर्व समास ज्ञान बताते हैं —

फिर उत्पादपूर्व श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से पद आदि की वृद्धि के साथ चौदह वस्तुओं की वृद्धि होने पर उसमें एक अक्षर कम विकल्प पर्यन्त उत्पाद पूर्व समास ज्ञान के विकल्प होते हैं।

अथ अग्रायणीयपूर्व कथ्यते—

तच्चरमोत्कृष्टोत्पादपूर्वसमासज्ञानविकल्पस्य उपरि एकाक्षरवृद्धौ सत्यां अग्रायणीयपूर्वश्रुतज्ञानं भवति।

एवमग्रेऽग्रेऽष्ट-अष्टादश-द्वादश-द्वादश-षोडश-विंशति-त्रिंशत्-पंचदश-दश-दश-दश-दशवस्तुक्रमेण वृद्धेऽपि रूपोनतावन्मात्र-तत्तत्पूर्वसमास-ज्ञानविकल्पेषु गतेषु तत्तत्पूर्वसमासोत्कृष्टज्ञानविकल्पस्योपरि एकैकाक्षरे वृद्धे सति तत्तद्वीर्यप्रवादपूर्वास्तिनास्तिप्रवादपूर्व-ज्ञानप्रवादपूर्व-सत्यप्रवादपूर्व-आत्मप्रवादपूर्व-कर्मप्रवादपूर्व-प्रत्याख्यानपूर्व-विद्यानुवादपूर्व-कल्याणवादपूर्व-प्राणवादपूर्व-क्रियाविशालपूर्व-त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व-नामश्रुतज्ञानान्युत्पद्यन्ते।

अत्र त्रिलोकबिन्दुसारस्य तु समासो नास्ति उत्तरज्ञानविकल्पाभावात्। तात्पर्यमेतत्—

अर्थाक्षरं तु रूपोनैकद्विविभक्तश्रुतकेवलमात्रं एकाक्षरज्ञानं। तच्च तथापदं च संघातं प्रतिपत्तिकादिपूर्वपर्यंतं चेति नव पुनः एषामेव नवानां क्रमवर्णोत्तरवर्धिताः समासाश्च नव एवमष्टादशभेदा अक्षरगतद्रव्यश्रुतविकल्पा भवन्ति। तदद्रव्यश्रुतश्रवणसंजनितश्रुतज्ञानमेव पुनः ज्ञाने विवक्षिते अनक्षरात्मकपर्यायपर्यायसमासज्ञानद्वययुतं सत् विंशतिविधं श्रुतज्ञानं भवति।

ग्रन्थे शास्त्रसंदर्भे विवक्षिते सति आचारादिद्वादशविकल्पं उत्पादपूर्वादिचतुर्दशपूर्वभेदं च द्रव्यश्रुतं तच्छ्रवणसंजनितज्ञानस्वरूपं भावश्रुतम्। पुनरपि अंगबाह्यसामायिकादिचतुर्दशप्रकीर्णकभेदद्रव्यभावात्मकश्रुतं। पुद्गलद्रव्यरूपं वर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यश्रुतं तच्छ्रवणसमुत्पन्नश्रुतज्ञानपर्यायरूपं भावश्रुतं चेति निश्चीयते।

अत्र पूर्वाणि चतुर्दश, वस्तूनि पंचनवत्युत्तरशतप्रमितानि वस्तुसंख्यायां विंशत्या गुणितायां

अब अग्रायणीयपूर्व का वर्णन करते हैं—

उसके अंतिम उत्कृष्ट उत्पादपूर्व समास ज्ञान विकल्प के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर अग्रायणीयपूर्व श्रुतज्ञान होता है।

इसी प्रकार आगे-आगे आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दस, दस, दस, दस वस्तुओं की क्रम से वृद्धि होने पर एक अक्षर कम उतने-उतने उस-उस पूर्व समास ज्ञान पर्यन्त उस-उस पूर्व समास ज्ञान संबंधी विकल्प होते हैं। उन विकल्पों के ऊपर एक-एक अक्षर बढ़ाने पर उस-उस वीर्यप्रवाद, अस्ति-नास्ति प्रवादपूर्व आदि त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व पर्यन्त पूर्व श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं।

यहाँ त्रिलोकबिन्दुसार का समास ज्ञान नहीं है क्योंकि उसके आगे श्रुतज्ञान के विकल्प नहीं हैं। तात्पर्य यह है—एक कम एकट्ठी प्रमाण से विभक्त श्रुतकेवल मात्र एकाक्षर का ज्ञान अर्थाक्षर है। अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राभूतक-प्राभूतक, प्राभूतक, वस्तु और पूर्व ये नौ तथा इन्हीं नौ के क्रम से एक-एक अक्षर से बढ़े नौ-नौ समास, इस प्रकार अठारह भेद अक्षरात्मक द्रव्य श्रुत के होते हैं। उस द्रव्य श्रुत के सुनने से उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान ही अनक्षरात्मक पर्याय और पर्यायसमास ज्ञानों को मिलाने पर बीस प्रकार का श्रुतज्ञान होता है।

ग्रंथ में शास्त्रसंदर्भ की विवक्षा होने पर आचारांग आदि बारह भेदरूप और उत्पादपूर्व आदि चौदह भेदरूप द्रव्यश्रुत है और उसके सुनने से उत्पन्न ज्ञानस्वरूप भावश्रुत है। पुनरपि अंगबाह्य, सामायिकादि चौदह प्रकीर्णक भेदरूप द्रव्यश्रुत और भावश्रुत का निश्चय किया जाता है। पुद्गलद्रव्य वर्ण, पद और वाक्यात्मक द्रव्यश्रुत होता है और उसके श्रवण से उत्पन्न ज्ञान भावश्रुत है।

यहाँ पूर्व चौदह हैं, वस्तु एक सौ पंचानवे हैं। वस्तु संख्या को बीस से गुणा करने पर यह संख्या

एतत्संख्यासंभवात्, प्राभृतकानि नवशतोत्तरत्रिसहस्राणि, द्विकवारप्राभृतकानि त्रिनवतिसहस्र-षट्शतानि, अनुयोगाः त्रयलक्ष-चतुःसप्ततिसहस्र-चतुःशतप्रमितानि, प्रतिपत्तिकसंघातपदानि संख्यातसहस्रगुणितक्रमाणि, एकपदाक्षराणि षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोट्यः त्र्यशीतिलक्षाः सप्तसहस्राणि अष्टशतानि अष्टाशीतिश्चेति। समस्ताक्षराणि रूपोनैकद्वुप्रमितानि — १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५। एतेषु एकपदाक्षरैः प्रमाणितेषु-हतेषु यल्लब्धं तद्द्वादशांगपदप्रमाणं शेषमंगबाह्याक्षराणि।

द्वादशांगपदसंख्याः —

द्वादशोत्तरशतकोट्यः त्र्यशीतिलक्षाणि अष्टपंचाशत्सहस्राणि पंच च द्वादशांगपदसंख्याः मध्यमपदैः गृहीताः सन्ति।

अंगबाह्याक्षरसंख्याः —

एकपदनिर्मितकरणे न्यूनानि अक्षराणि अंगबाह्येषु चतुर्दशसु संगृहीतानि सन्ति। तानि-अष्टकोट्येकलक्षाष्ट-सहस्रैकशतपंचसप्ततिप्रमाणाः चतुर्दशप्रकीर्णकानां वर्णाः भवन्ति।

अस्यांगबाह्यस्याक्षराणां श्लोकसंख्याः कथ्यन्ते —

पंचविंशतिलक्षाः त्रयस्त्रिंशत्शतानि अशीतिश्च श्लोकसंख्येयं।

उक्तं च —

“पुणो एदम्हि बत्तीसक्खरेहि भागे हिदे पंचवीसलक्ख-तिण्णिसहस्स-तिण्णसयं सासीदं च चोद्दसपडण्णयाणं पमाणपद-गंथपमाणं होदि एगक्खरूपगंथद्धं च २५०३३८०, एसो खंडगंथो १५/३२।”

निकलती है। प्राभृतक तीन हजार नौ सौ (३९००) हैं, प्राभृतक-प्राभृतक तिरानवे हजार छह सौ (९३,६००) हैं। अनुयोग तीन लाख चौहत्तर हजार चार सौ (३७४४००) हैं। प्रतिपत्तिक, संघात और पद उत्तरोत्तर क्रम से संख्यात हजार गुणित हैं। एक पद के अक्षर सोलह सौ चौतिस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) हैं। समस्त अक्षर एक कम एकट्ठी प्रमाण-१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ हैं। इन अक्षरों में एक पद के अक्षरों से भाग देने पर जो लब्ध आवे वह द्वादशांग के पदों का प्रमाण है और शेष बचा अंगबाह्य के अक्षरों का प्रमाण है।

द्वादशांग पद संख्या —

एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पाँच (११२८३५८००५) रूप यह द्वादशांग पद संख्या मध्यम पदों के द्वारा ग्रहण की गई है।

अंगबाह्य की अक्षर संख्या —

एक पद को निर्मित करने से न्यून अक्षरों को चौदह अंगबाह्यों में संगृहीत किया गया है। अर्थात् एक पद जिनसे नहीं बन सका उतने उन अक्षरों से अंगबाह्य बना दिया गया। वे आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८१७५) प्रमाण पद चौदह प्रकीर्णक के हैं।

इस अंगबाह्य के अक्षरों की श्लोकसंख्या कहते हैं —

पच्चीस लाख तैंतीस सौ अस्सी श्लोक प्रमाण अंगबाह्य की श्लोक संख्या है।

कहा भी है —

अनंतर इन ८०१०८१७५ अक्षरों को बत्तीस अक्षरों से भाजित करने पर चौदह प्रकीर्णकों का और उनके श्लोकों का प्रमाण पच्चीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी होता है और एक श्लोक के प्रमाण के आधे में से

चतुःषष्टिमूलवर्णैः द्वादशांगांगबाह्यवर्णाः भवन्तीति निरूप्यते—

तेत्तीसर्वेजणाई सत्तावीसा सरा तथा भणिया।

चत्तारि य जोगवहा चउसट्टी मूलवण्णा ओ।।३५२।।

ओ—अहो भव्य! व्यञ्जनानि अर्धमात्राणि क् ख् ग् घ् ङ्। च् छ् ज् झ् ञ्। ट् ठ् ड् ढ् ण्। त् थ् द् ध् न्। प् फ् ब् भ् म्। य् र् ल् व् श् ष् स् ह्। इत्येतानि त्रयस्त्रिंशत् ३३। स्वराः एकद्वित्रिमात्राः। अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ इत्येते नव, प्रत्येकं ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदैस्त्रिभिर्गुणिताः अ आ आ ३, ई ई ई ३, उ ऊ ऊ ३, ऋ ऋ ३, लृ लृ लृ ३, ए १ ए २ ए ३, ऐ १ ऐ २ ऐ ३, ओ १ ओ २ ओ ३, औ १ औ २ औ ३ इत्येते सप्तविंशतिः २७। योगवाहाः अं अः (क) (प) इत्येते चत्वारः ४ एवं मिलित्वा मूलवर्णाश्चतुःषष्टिः ६४। यथानादिनिधने परमागमे प्रसिद्धास्तथैवात्र भणिताः संजानीहि। व्यज्यते स्फुटीक्रियते अर्थो यैस्तानि व्यञ्जनानि। स्वरन्ति—अर्थं कथयन्तीति स्वराः। योगं—अन्याक्षरसंयोगं वहन्तीति योगवाहाः। मूलानि संयुक्तोत्तरवर्णोत्पत्तिकारणानि वर्णाः मूलवर्णाः इति समासार्थबलेन असंयुक्ता एव चतुःषष्टिरिति लभ्यन्ते। लृवर्णः संस्कृते दीर्घो नास्ति तथापि अनुकरणे देशान्तरभाषायां चास्ति। ए ऐ ओ औ इति चत्वारोऽस्ति संस्कृते ह्रस्वा न सन्ति तथापि प्राकृते देशान्तरभाषायां च सन्ति।

मूलवर्णप्रमाणं चतुःषष्टिपदं एकैकरूपेण विरलित्वा रूपं रूपं प्रति द्विकं दत्त्वा परस्परं सङ्गुण्य तल्लब्धे रूपोने कृते सति श्रुतज्ञानस्य द्वादशाङ्गप्रकीर्णकरूपश्रुतस्कन्धस्य द्रव्यश्रुतस्य अपुनरुक्ताक्षराणि

एक अक्षर कम कर देने पर जितना शेष रहे उतना होता है। गिनती में चौदह अंगबाह्यों में २५०, ३३८० पूर्ण श्लोक और १५/३२ खण्ड श्लोक समझना चाहिए।

चौंसठ मूलवर्णों के द्वारा द्वादशांग के अंगबाह्य वर्ण होते हैं ऐसा निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—तेत्तीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर और योगवाह चार ऐसे चौंसठ मूलवर्ण होते हैं।।३५२।।

अहो भव्य प्राणी! व्यञ्जन वर्ण अर्द्धमात्रा वाले होते हैं। जैसे—क् ख् ग् घ् ङ्। च् छ् ज् झ् ञ्। ट् ठ् ड् ढ् ण्। त् थ् द् ध् न्। प् फ् ब् भ् म्। य् र् ल् व् श् ष् स् ह् ये ३३ व्यञ्जन हैं। स्वर एक, दो और तीन मात्रा वाले होते हैं। जैसे—अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ये (९) नौ, इन सभी को ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीनों से गुणित करने पर—अ आ आ ३, ई ई ई ३, उ ऊ ऊ ३, ऋ ऋ ३, लृ लृ लृ ३, ए १ ए २ ए ३, ऐ १ ऐ २ ऐ ३, ओ १ ओ २ ओ ३, औ १ औ २ औ ३ ये २७ स्वर होते हैं। योगवाह—अं अः (क) (प) ये ४ योगवाह हैं इस प्रकार सब मिलाकर ३३+२७+४=६४ मूलवर्ण होते हैं। जैसा अनादिनिधन परमागम में प्रसिद्ध है वैसा ही वर्णन यहाँ जानना चाहिए।

‘व्यज्यते’ अर्थात् जिनके द्वारा अर्थ प्रकट किया जाता है वे व्यंजन हैं। ‘स्वरन्ति’ अर्थात् जो अर्थ को कहते हैं वे स्वर हैं। ‘योग’ अर्थात् अन्य अक्षरों के संयोग को जो ‘वहन्ति’ वहन करते हैं वे योगवाह हैं। ‘मूल’ अर्थात् संयुक्त उत्तर वर्णों की उत्पत्ति के कारण वर्ण मूलवर्ण हैं। इस समास के अर्थ के बल से असंयुक्त अक्षर ही चौंसठ हैं यह ज्ञान होता है। लृ वर्ण संस्कृत भाषा में दीर्घ नहीं है, तथापि देशान्तर की भाषा (हिन्दी) में है। ए ऐ ओ औ ये चारों संस्कृत में ह्रस्व नहीं हैं तथापि प्राकृत और देश भाषा (हिन्दी) में हैं।

मूल अक्षर प्रमाण चौंसठ पदों को एक-एक रूप से विरलन करके एक-एक रूप पर दो-दो का अंक देकर परस्पर में गुणा करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसमें एक कम करने पर द्वादशांग और प्रकीर्णक

१. कातंत्रव्याकरण में इन्हें जिह्मामूलीय और उपध्मानीय कहते हैं संज्ञा के समान चिन्ह में भी कुछ अन्तर है—क > इति जिह्मामूलीयः “॥१९॥” प) (इति उपध्मानीयः ॥२०॥ (कातंत्ररूपमाला) पृ. ६।

भवन्ति। वाक्यार्थप्रतीत्यर्थं गृहीतानां पुनरुक्ताक्षराणां संख्यानियमाभावात्।^१

एतद्विंशतिविधश्रुतज्ञानं गोम्मटसारजीवकाण्डग्रन्थात् अस्य टीकाजीवतत्त्वप्रदीपिकायाः संगृहीतं अस्ति। असौ नेमिचन्द्राचार्योऽपि धवलाटीकासमेतमिमं षट्खण्डागममधीत्यैव सिद्धान्तचक्रवर्ती बभूवेति। उक्तं च स्वयमेवानेनाचार्येण गोम्मटसारकर्मकाण्डनाम्नि ग्रन्थे-

जइ चक्केण य चक्की, छक्खंडं साहियं अविग्घेण।

तह मइचक्केण मया, छक्खंडं साहियं सम्मं।।३९७।।

अतो ज्ञायते ततः प्रभृति एव अस्य षट्खंडागमसिद्धान्तस्य ज्ञातारं महामुनिं “सिद्धान्तचक्रवर्ती” इति पदव्यालंकर्तुं परंपरा संजाता। ये केचित् अस्य त्रिखण्डस्य ज्ञातारः तेषां “त्रैविद्यदेवं” इति पदव्या विभूषयितुं व्यवस्थासीत्।

धवलाटीकारचनायाः पश्चादेव श्रीमन्नेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्तिदेवेन स्वस्य प्रमुखशिष्य “चामुण्डराय”-श्रावकस्य सिद्धान्तग्रन्थरहस्यस्य जिज्ञासया गोम्मटसारजीवकाण्ड-कर्मकाण्ड-त्रिलोकसार-लब्धिसार-क्षपणासारनामधेयाः पंचसंग्रहग्रन्था विरचिताः^२। इमे पंचापि ग्रन्थाः सिद्धान्तार्णवं अवगाहयितुं अस्मत्सदृश-जनेभ्यः सक्षमाः सन्ति।

श्रुतस्कंधरूप द्रव्य श्रुत के अपुनरुक्त अक्षर होते हैं। वाक्य के अर्थ का ज्ञान कराने के लिए गृहीत पुनरुक्त अक्षरों की संख्या का कोई नियम नहीं है।

यह बीस प्रकार का श्रुतज्ञान गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रंथ से उसकी जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका से संगृहीत किया गया है।

वे श्रीनेमिचंद्र आचार्य धवला टीका समेत इस षट्खण्डागम ग्रंथ को पढ़कर ही सिद्धान्तचक्रवर्ती कहलाए थे।

गोम्मटसारकर्मकाण्ड नामक ग्रंथ में उन आचार्यदेव ने स्वयं ही कहा है —

गाथार्थ — जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्ररत्न के द्वारा षट्खंडरूप भरतक्षेत्र को बिना किसी विघ्न बाधा के ही साधित — वश में कर लेता है उसी प्रकार मैंने भी अपनी बुद्धि रूपी चक्र के द्वारा जीवस्वामी, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध इन छह खण्डों से युक्त परमागम को अच्छी तरह साधित किया है — उसका अध्ययन किया है।।३९७।।

इससे ज्ञात होता है कि तब से ही इस षट्खण्डागम सिद्धान्त ग्रंथ के ज्ञाता महामुनि को ‘सिद्धान्त चक्रवर्ती’ इस पद से अलंकृत करने की परम्परा शुरू हुई है। जो कोई इसके तीन खण्ड के ज्ञाता हैं उनको “त्रैविद्यदेव” इस पदवी से विभूषित करने की व्यवस्था है।

धवला टीका रचना के पश्चात् ही श्रीमन् नेमिचंद्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्तिदेव ने अपने प्रमुख शिष्य श्रावक चामुण्डराय के लिए सिद्धान्तग्रंथों के रहस्य को जानने की इच्छा से गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार नामवाले पञ्चसंग्रह ग्रंथ रचे थे। ये पाँचों ही ग्रंथ सिद्धान्तरूप समुद्र में अवगाहन करने के लिए हम जैसे लोगों के लिए सक्षम हैं।

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, पृ. ५८४। २. एतच्छ्रूयते कतिपयसाधुभिः कतिपयविद्वद्भिश्च — यत् एकदा श्रीनेमिचंद्राचार्यः षट्खण्डागमग्रन्थस्य स्वाध्याये निमग्न आसीत्, तदानीं चामुण्डरायशिष्ये समागते सति गुरुणा स्वाध्यायः समापितः। भगवन्! भवता कथमयं स्वाध्यायोऽवरुद्धः। इति पृष्टे सति तेन मुनीश्वरेणोक्तं — श्रावकाणां इमं सिद्धान्तग्रन्थं पठितुमधिकारो नास्ति। तर्हि मया कथमवबुध्यते एषां रहस्यं? तदा गुरुदेवेण महदुपकारभावनया षट्खंडागमसारभूताः पंचसंग्रहग्रन्थाः रचिताः इति।

उपसंहारः—

अस्य षट्खण्डागमग्रन्थराजस्य मंगलाचरणस्योपसंहारः क्रियते—

अत्र णमोकारमहामंत्रो मंगलाचरणं। अस्मिन् सार्धद्वयद्वीप-द्वयसमुद्रेषु संजातास्त्रिकालगोचराः सर्वे पञ्चपरमेष्ठिनो भगवन्तो नमस्कृताः भवन्ति। तेषां परमेष्ठिनां संक्षेपेणार्थो विहितः। तदनु अर्हत्सिद्धयोः क्रमो दर्शितः, आचार्योपाध्यायसाधूनां देवत्वं पूज्यत्वं च। पुनः महामंत्रस्याक्षरपदमात्रादयो वर्णिताः। ततश्चास्मिन् महामन्त्रे द्वादशाङ्गरूपा जिनवाणी अंतर्गर्भा वर्तते इति दर्शितं। तत्पश्चात् मंगल-निमित्त-हेतु-परिमाण-नाम-कर्तृणाम् निरूपणायां-मंगलस्य धातु-निक्षेप-नय-एकार्थ-निरुक्ति-अनुयोगैः एतत्षड्भिः व्याख्यानं कृतं संक्षेपेण। अत्रैव षड्भिर्निक्षेपैः स्वल्पो विशेषो ग्रथितः धवलाटीकाकारस्य पंक्तिभिः। ततो मंगलस्य षट् दण्डकाः—मंगलं मंगलकर्ता मंगलकरणीयं मंगलोपायः मंगलविधानं मंगलफलमिति वर्णितं।

तदनु मंगलं कदा कर्तव्यं ? मंगलं द्रव्यार्थिकनयापेक्षया अनादिः पर्यायार्थिकनयापेक्षया सादिर्वा। इत्यादिकथनं कृतं पाठांतरणान्यग्रन्थाधारेण च। तत्पश्चात् सूत्रग्रन्थो मंगलं तथापि ग्रन्थस्यादौ मंगलं विधातव्यमिति प्रतिपादितं टीकाकाराभिप्रायेण। अत्रपर्यंतं मंगलाचरणस्य स्पष्टीकरणं जातं।

पुनः ग्रन्थराजस्य षट्खण्डागमशास्त्रस्य निमित्तं, ग्रन्थस्य हेतुः, ग्रन्थस्य नाम निरूपितं भवति।

विशेषार्थः— कुछ साधु एवं विद्वानों से ऐसा सुना जाता है कि एक बार श्रीनेमिचंद्राचार्य षट्खण्डागम ग्रंथ के स्वाध्याय में निमग्न थे, उस समय चामुण्डराय शिष्य के आने पर गुरु ने स्वाध्याय समाप्त कर दिया। पुनः “भगवन्! आपने स्वाध्याय बंद क्यों कर दिया ?” ऐसा शिष्य के द्वारा पूछने पर उन मुनिश्वर ने कहा—श्रावकों को इस ग्रंथ के पढ़ने का अधिकार नहीं है। तब चामुण्डराय बोले कि फिर मुझे इसका रहस्य कैसे ज्ञात होगा ? तो गुरुदेव ने महान् उपकार की भावना से षट्खण्डागम के सारभूत पंचसंग्रह ग्रंथों की रचना कर दी।

उपसंहार—

इस षट्खंडागम ग्रंथराज के मंगलाचरण का उपसंहार करते हैं—

ग्रंथ के प्रारंभ में णमोकार महामंत्र को मंगलाचरण के रूप में लिया है। इसमें ढाई द्वीप और दो समुद्रों में होने वाले त्रिकाल गोचर सभी पञ्चपरमेष्ठी भगवान् नमस्कृत होते हैं। उन परमेष्ठियों का संक्षेप से अर्थ बताया गया, उसके पश्चात् अर्हन्त और सिद्ध का क्रम बताया और आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं के देवपना तथा पूज्यपना दर्शाया। पुनः महामंत्र के अक्षर, पद, मात्रा आदि का वर्णन किया। उसके बाद “महामंत्र में द्वादशाङ्गरूप जिनवाणी अंतर्गर्भित है” यह बताया। तत्पश्चात् मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता के निरूपण करने में सर्वप्रथम मंगल का धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोग इन छह के द्वारा संक्षेप में व्याख्यान किया। यहीं पर छह निक्षेपों के द्वारा धवला टीकाकार की पंक्तियों के द्वारा कुछ विशेष रूप से कथन किया गया है। पुनः मंगल के छह दण्डक—मंगल, मंगलकर्ता, मंगल करने योग्य, मंगल का उपाय, मंगल का विधान और मंगल का फल वर्णित किये गये हैं।

उसके पश्चात् मंगल कब करना चाहिए ? मंगल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि है, इत्यादि कथन पाठान्तर के द्वारा एवं अन्य ग्रंथों के आधार से किया गया। तत्पश्चात् सूत्रग्रंथ स्वयं मंगल है फिर भी ग्रंथ की आदि में मंगल करना चाहिए ऐसा टीकाकार के अभिप्राय से प्रतिपादित किया। यहाँ तक मंगलाचरण का स्पष्टीकरण हुआ है।

पुनः ग्रंथराज षट्खण्डागम शास्त्र का निमित्त, ग्रंथ का हेतु, ग्रंथ का नाम निरूपित किया है। उसके बाद

पुनश्च अस्य ग्रन्थस्य कर्ता अर्थतो भावतो वा भगवान् महावीरः त्रिशलानन्दनोऽन्तिमतीर्थकरदेवः। अस्य प्रकरणे द्रव्यक्षेत्रकालभावैः कर्ता निरूपितः। तत्पश्चात् द्वादशाङ्गरूपस्य द्रव्यश्रुतस्य कर्ता गौतमस्वामी प्रथमगणधरो भगवतो महावीरस्येति कथयित्वा श्रावणकृष्णाप्रतिपत्तिथौ श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रस्य दिव्यध्वनिरा-विर्बभूव विपुलाचले, तां श्रुत्वावधार्य इन्द्रभूतिनामा गौतमस्वामी द्वादशाङ्गरचनां कृत्वा मुख्यग्रन्थकर्ता बभूवेति कथितं।

तदनु द्वादशाङ्गानां दिङ्मात्रलक्षणं निरूप्य श्रुतावतारकथा कथिता। अस्याः कथायास्मिन्नेतन् तदुत्तरोत्तरग्रन्थकर्तारः प्ररूपिताः। श्रीकुन्दकुन्ददेवप्रभृतिटीकाकर्तृणां संक्षिप्तविवरणं वर्णितं। पुनः चारित्रचक्रवर्तिना श्रीशांतिसागराचार्येण षट्खण्डागमादिसिद्धान्तग्रन्थानां ताम्रपत्राणामुपरि उत्कीर्णं कारयित्वा स्थायित्वं प्रदत्तमिति कथितं।

तदनंतरं पर्यायपर्यायसमासाक्षरादिविंशतिभेदयुतं श्रुतज्ञानं निरूप्य चतुःषष्टिमूलवर्णोभ्यः श्रुतज्ञानाक्षराणि निगदितानि। ततः षट्खण्डागमस्य ज्ञाता सिद्धान्तचक्रवर्ती बभूवेति दर्शितं।

तत्पश्चात् जीवस्थाननामः प्रथमखण्डस्यावतारश्रुतुर्विधः, उपक्रमनिक्षेपनयानुगमभेदैरिति निरूपणायां उपक्रमस्य पंचभेदान् संक्षेपेण कथयित्वा निक्षेपनययोरपि समासेन कथतं कृतं इति तात्पर्यमवबोद्धव्यम्।

अत्र जीवस्थानावतारस्य चत्वारो भेदास्तेषां विस्तरश्च श्रीवीरसेनाचार्येण कथ्यते —

संप्रति जीवस्थानस्यावतार उच्यते*—सोऽपि अवतारश्रुतुर्विधः — उपक्रमनिक्षेपनयानुगमभेदात्।

उपक्रमस्यापि पंच भेदा — आनुपूर्वी-नाम-प्रमाण-वक्तव्यता-अर्थाधिकारैरिति।

बताया कि इस ग्रंथ के अर्थ और भाव रूप से कर्ता अंतिम तीर्थकर त्रिशलानन्दन भगवान् महावीर हैं। इस प्रकरण में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के द्वारा कर्ता का निरूपण किया पुनः द्वादशाङ्गरूप द्रव्य श्रुत के कर्ता भगवान् महावीर के प्रथम गणधर श्रीगौतमस्वामी हैं ऐसा कहकर बताया है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा तिथि को श्री वर्धमान जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि विपुलाचल पर्वत पर प्रगट हुई उसे सुनकर तथा अवधारण करके इन्द्रभूति नामक गौतम स्वामी द्वादशाङ्ग की रचना करके मुख्य ग्रंथकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हुए।

उसके पश्चात् द्वादशाङ्गों का किंचित् मात्र लक्षण निरूपित करके श्रुतावतार की कथा कही। इस कथा के निमित्त से उसके आगे-आगे के ग्रंथकर्ताओं का प्ररूपण हुआ। श्रीकुन्दकुन्ददेव आदि टीकाकारों का संक्षिप्त इतिहास बताया गया, पुनः चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्रीशांतिसागर महाराज के द्वारा षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त ग्रंथों को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराकर उन्हें स्थायित्व प्रदान करने की बात बताई गई।

तदनंतर पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर आदि बीस भेद युक्त श्रुतज्ञान का निरूपण करके चौंसठ मूलवर्णों के द्वारा श्रुतज्ञान के अक्षर बताये। फिर षट्खण्डागम के ज्ञाता सिद्धान्तचक्रवर्ती होते हैं यह कथन किया।

तत्पश्चात् जीवस्थान नाम के प्रथम खंड का अवतार चार प्रकार से हुआ। उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम भेदों के द्वारा निरूपण करने पर उपक्रम के पाँच भेदों को संक्षेप से कह कर निक्षेप और नय का भी संक्षेप से कथन किया ऐसा तात्पर्य जानना चाहिए।

यहाँ जीवस्थान अवतार के ४ भेद और उनका विस्तार श्रीवीरसेनाचार्य के द्वारा कहा जाता है —

अब जीवस्थान के अवतार का प्रतिपादन करते हैं — वह अवतार उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम के भेद से चार प्रकार का है। उनमें से उपक्रम के भी पाँच भेद हैं — आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार।

उक्तं च —

तिविहा य आणुपुर्वी, दसहा णामं च छव्विहं माणं।

वत्तव्वदा य तिविहा, तिविहो अत्थाहियारो वि।।^१

तत्र पूर्वानुपूर्वी-पश्चादानुपूर्वी — यथातथानुपूर्वीषु-इदं पुन जीवद्व्याणं खण्डसिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुर्वीए द्विदं छण्हं खंडाणं पढमखंडं जीवद्व्याणमिदि।^२ षट्खण्डागमानां प्रथमखंडं जीवस्थानं नाम पूर्वानुपूर्व्या ज्ञायते।

णामस्स दस द्वाणाणि भवन्ति^३ — गौण्यपद-नोगौण्यपद-आदानपद-प्रतिपक्षपद-अनादिसिद्धान्तपद-प्राधान्यपद-नामपद-प्रमाणपद-अवयवपद-संयोगपदभेदैरिति।

गुणानां भावो गौण्यम्। यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि^४। अत्र जीवाणं द्वाण-वण्णणादो जीवद्व्याणमिदि गोण्णपदं^५। ततोऽत्र ग्रंथे जीवस्थानं इति नाम गौण्यपदनाम्ना गीयते।

अत्र प्रमाणस्य पंचभेदाः कथ्यन्ते—द्रव्यक्षेत्रकालभावनयविकल्पात्। द्रव्यप्रमाणं संख्यातासंख्यातानन्तभेदरूपं। क्षेत्रप्रमाणं एकप्रदेशादि। कालप्रमाणं समयावलि-आदि। भावप्रमाणं पंचविधं—आभिनिबोधि-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानभेदात्। नयप्रमाणं सप्तविधं—नैगमसंग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवंभूतभेदैरिति।

अत्र इदं जीवस्थानं एतेषु पंचसु प्रमाणेषु कतमं प्रमाणं ? भावप्रमाणमिति। तत्रापि पंचविधभावप्रमाणेषु श्रुतभावप्रमाणमिति^६।

कहा भी है —

गाथार्थ — आनुपूर्वी तीन प्रकार की है, नाम के दश भेद हैं, प्रमाण के छह भेद हैं, वक्तव्यता के तीन भेद हैं और अर्थाधिकार के भी तीन भेद हैं।

उसमें पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी, यथातथानुपूर्वी इन तीन में से “यह जीवस्थान नामक शास्त्र खण्ड सिद्धान्त की अपेक्षा पूर्वानुपूर्वी क्रम से लिखा गया है, क्योंकि षट्खण्डागम में जीवस्थान प्रथम खण्ड है। षट्खण्ड रूप आगम का प्रथमखण्ड जीवस्थान नाम का है और वह पूर्वानुपूर्वी क्रम से जाना जाता है।

नाम उपक्रम के दश भेद हैं — गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद।

गुणों के भाव को गौण्य कहते हैं। जैसे — सूर्य की तपन और भास् गुण की अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाएँ हैं। यहाँ जीवों के स्थानों का वर्णन करने से “जीवस्थान” यह गौण्य नाम पद है। इसलिए इस ग्रंथ में जीवस्थान यह नाम गौण्यपद नाम से जाना जाता है।

अब प्रमाण के पाँच भेद कहते हैं — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नय के भेद से यह पाँच प्रकार का है। इनमें से द्रव्यप्रमाण संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेदरूप है।

क्षेत्रप्रमाण एक प्रदेश आदि है। समय, आवली आदि रूप काल प्रमाण है। भावप्रमाण-आभिनिबोधि, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का है।

नयप्रमाण के सात भेद हैं — नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय।

प्रश्न — यहाँ यह जीवस्थान इन पाँचों प्रमाणों में से कौन सा प्रमाण है ?

उत्तर — यह भावप्रमाण है। उनमें भी पाँच प्रकार के भाव प्रमाणों में से यह “जीवस्थान” श्रुतभाव प्रमाण है।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पृ. ७३। २-३-४. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पृ. ७५।

५. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पृ. ८०। ६. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पृ. ८१।

अथवा प्रमाणं षड्विधं — नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावप्रमाणभेदात्^१। अतोऽत्र इदं जीवस्थानं प्रथमखंडसिद्धान्तं श्रुतज्ञानप्रमाणात् श्रुतज्ञानमेव।

अधुना वक्तव्यता कथ्यते — सा त्रिविधा — स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता, तदुभयवक्तव्यता चेति। यस्मिन् शास्त्रे स्वसमयश्चैव वर्ण्यते तच्छास्त्रं स्वसमयवक्तव्यं कथ्यते।

अत्र जीवस्थाने ग्रन्थे स्वसमयवक्तव्यतास्ति, स्वसमयस्यैव प्ररूपणात्^२। अधुना अर्थाधिकारो वर्ण्यते — अर्थाधिकारः त्रिविधः — प्रमाणं, प्रमेयं तदुभयं चेति। अत्र जीवस्थाननामप्रथमखंडग्रंथे एकश्चैवाधिकारः प्रमेयाभिधेयो वर्तते। प्रमेयस्यैव प्ररूपणत्वादिति^३।

एष उपक्रमो गतः।

निक्षेपो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधः। अत्र प्रकृतं जीवस्थानं नोआगमभावनिक्षेपरूपं अस्ति^४। निक्षेपो गतः।

इदानीं नयाः कथ्यन्ते। तथाहि—

नयैर्विना लोकव्यवहारनुपपत्तेर्नया उच्यन्ते। तद्यथा — प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः। स द्विविधः — द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यार्थिकस्त्रिविधः — नैगमः संग्रहो व्यवहारश्चेति। पर्यायार्थिको द्विविधः — अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति। तत्रार्थनयः — ऋजुसूत्रः। व्यञ्जननयस्त्रिविधः — शब्दः समभिरूढ एवंभूत इति।

अथवा नाम प्रमाण, स्थापना प्रमाण, द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण और भाव प्रमाण के भेद से प्रमाण छह प्रकार का है। उनमें से यहाँ यह 'जीवस्थान' नाम का प्रथम खण्ड रूप सिद्धान्तग्रंथ श्रुतज्ञान प्रमाण से श्रुतज्ञान रूप ही है।

अब वक्तव्यता का कथन करते हैं —

वह वक्तव्यता तीन प्रकार की है — स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभयवक्तव्यता।

जिन शास्त्रों में स्वसमय-जिनधर्म का ही वर्णन होता है वे “स्वसमयवक्तव्य” कहलाते हैं। इनमें से इस जीवस्थान शास्त्र में स्वसमयवक्तव्यता समझनी चाहिए, क्योंकि इसमें स्वसमय का ही वर्णन किया गया है।

अब अर्थाधिकार का वर्णन करते हैं — प्रमाण, प्रमेय और तदुभय के भेद से अर्थाधिकार तीन प्रकार का है। इस जीवस्थान नाम के प्रथम खंड में प्रमेय नामक एक अर्थाधिकार का ही वर्णन है क्योंकि इसमें प्रमाण के विषयभूत प्रमेय का ही प्ररूपण किया गया है।

इस प्रकार उपक्रम नाम का प्रकरण समाप्त हुआ।

निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार का है। इस जीवस्थान शास्त्र में नोआगमभाव जीवस्थान निक्षेप प्रकृत है।

इस तरह निक्षेप का वर्णन हुआ।

अब यहाँ नयों का कथन करते हैं —

नयों के बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है इसलिए नयों का वर्णन किया जाता है। प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। उस नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो भेद होते हैं। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं — नैगम, संग्रह और व्यवहार।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पृ. ८२। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पृ. ८३।

३. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पृ. ८३। ४. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पृ. ८४।

एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः, अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येयाः। एते च पुनर्व्यवहर्तृभिरवश्यम-
वगन्तव्याः, अन्यथार्थप्रतिपादनावगमानुपपत्तेः^१।

एवं नयप्ररूपणा गता।

पर्यायार्थिक नय दो प्रकार का है — अर्थनय और व्यञ्जननय। इसमें अर्थनय ऋजुसूत्र है और व्यञ्जननय तीन प्रकार का है — शब्द, समभिरूढ, एवंभूत।

इस प्रकार संक्षेप से ये सातों प्रकार के नय कहे और अवान्तर भेदों से यह नय असंख्यात भेदों वाला है। व्यवहारकुशल लोगों को इन नयों का स्वरूप अवश्य समझ लेना चाहिए अन्यथा नयों के स्वरूप को समझे बिना पदार्थों के स्वरूप का प्रतिपादन और उसका ज्ञान अथवा पदार्थों के स्वरूप के प्रतिपादन का ज्ञान नहीं हो सकता है।

इस तरह नयप्ररूपणा का वर्णन समाप्त हुआ।

विशेषार्थ — आगम ग्रंथों में नय का विशद विवेचन किया गया है। वचनालाप की पद्धति को सुन्दर और प्रामाणिक बनाने के लिए नयों का ज्ञान अति आवश्यक है। इनमें सर्वप्रथम जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय बताए गए हैं उनका अभिप्राय यह है कि द्रव्य ही जिसका अर्थप्रयोजन हो उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और “परि” अर्थात् भेद को जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं, वह पर्याय ही जिस नय का प्रयोजन हो उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

पुनः इन दोनों नयों के भेद-प्रभेदों में नैगम आदि सात नयों को गर्भित कर दिया है एवं व्यंजन नय की व्याख्या में धवला टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है कि “शब्द के आधार से अर्थ के ग्रहण करने में समर्थ शब्दनय है। यह नय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला है। स्त्रीलिंग के स्थान पर पुल्लिंग का कथन करना और पुल्लिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग का कथन करना आदि “लिंगव्यभिचार” है, जैसे — “तारका स्वातिः अर्थात् तारे स्वाति हैं। इस प्रयोग में तारका शब्द स्त्रीलिंग है और स्वाति शब्द पुल्लिंग है इसलिए स्त्रीलिंग के स्थान पर पुल्लिंग शब्द का प्रयोजन करना लिंगव्यभिचार है। इसी प्रकार अन्य लिंगों के साथ भी समझना चाहिए।

एकवचन आदि की जगह द्विवचन आदि का कथन करना “संख्याव्यभिचार” है। जैसे — “नक्षत्रं शतभिषजः” अर्थात् नक्षत्र शतभिषज हैं। यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त है और शतभिषज शब्द बहुवचनान्त है, इसलिए एकवचन के स्थान में बहुवचन का कथन करने से संख्याव्यभिचार है।

भविष्यत् आदि काल के स्थान पर भूत आदि काल का प्रयोग करना “कालव्यभिचार” है। जैसे — “विश्वदृश्यास्य पुत्रो जनिता” जिसने समस्त विश्व को देख लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा। यहाँ पर विश्व का देखना भविष्यत् काल का कार्य है परन्तु उसका भूतकाल के प्रयोग द्वारा कथन किया गया है। इसलिए यहाँ पर भविष्यत् काल का कार्य भूतकाल में कहने से कालव्यभिचार है।

एक साधन अर्थात् एक कारक के स्थान पर दूसरे कारक के प्रयोग करने को “साधनव्यभिचार” कहते हैं। जैसे — “ग्राममधिशेते” वह ग्राम में शयन करता है। यहाँ पर सप्तमी कारक के स्थान पर द्वितीया कारक का प्रयोग किया गया है इसलिए यह साधन व्यभिचार है।

अत्र पर्यंतं ग्रन्थावतारस्य चतुर्विधस्य मध्ये उपक्रम-निक्षेप-नयाः कथिताः सन्ति।
इति मंगलगाथासूत्रस्य विस्तृतविवेचनरूपेण प्रथमस्थले एकं गाथासूत्रं गतम्।
अधुना अनुगमस्य कथनरूपेण द्वितीयसूत्रस्यावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्यदेवेन —
तद्यथा अणुगमं वत्तइस्सामो^१ —

**एत्तो इमेसिं चोदसण्हं जीव-समासाणं मग्गणट्टदाए तत्थ इमाणि चोदस
चेव ट्टाणाणि णादव्वाणि भवंति।।२।।**

उत्तमपुरुष के स्थान पर मध्यमपुरुष और मध्यमपुरुष के स्थान पर उत्तमपुरुष आदि के कथन करने को “पुरुषव्यभिचार” कहते हैं। जैसे — “एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता” अर्थात् आओ, तुम समझते हो कि मैं रथ से चला जाऊँगा परन्तु अब न जाओगे, तुम्हारा पिता चला गया।” यहाँ पर ‘मन्यसे’ के स्थान पर ‘मन्ये’ यह उत्तमपुरुष का और ‘यास्यामि’ के स्थान पर ‘यास्यसि’ यह मध्यमपुरुष का प्रयोग हुआ है, इसलिए पुरुषव्यभिचार है।

उपसर्ग के निमित्त से परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद और आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद के कथन कर देने को “उपग्रहव्यभिचार” कहते हैं। जैसे— “रमते” के स्थान पर ‘विरमति’, ‘तिष्ठति’ के स्थान पर ‘संतिष्ठते’ का प्रयोग किया जाता है।

इस तरह जितने भी लिंग आदि व्यभिचार कहे गये हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि अन्य अर्थ का अन्य अर्थ के साथ संबंध नहीं हो सकता है। इसलिए समानलिंग, समानसंख्या और समानसाधन आदि का कथन करना ही उचित है। इसी प्रकार अन्य नयों के अनुसार आगम का सार समझा जाता है।

कहा भी है — **णत्थि णएहि विहूणं, सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदमिह।
तो णयवादे णिउणा, मुणिणो सिद्धंतिया होंति।।६८।।
तम्हा अहिगय-सुत्तेण अत्थ सम्पायणमिह जइयव्वं।
अत्थ गई वि य णय-वाद-गहण-लीणा दुरहियम्मा।।६९।।**

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है, इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए। अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागम को भले प्रकार जान लिया है उसे ही अर्थ सम्पादन में अर्थात् नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थ के परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि पदार्थों का परिज्ञान भी नयवादरूपी जंगल में अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य — जानने के लिए कठिन है।

अब अनुगम का कथन करते हैं —

यहाँ तक ग्रंथ अवतार के चार प्रकारों में से उपक्रम, निक्षेप और नय कहे गये हैं। इस प्रकार मंगल गाथा सूत्र के विस्तृत विवेचन रूप से प्रथमस्थल के द्वारा एक गाथासूत्र हुआ।

अब अनुगम के कथनरूप से श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य देव के द्वारा द्वितीय सूत्र का अवतार किया जाता है —
जैसे कि-अनुगम को कहेंगे —

सूत्रार्थ —

इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप प्रमाण से इन चौदह गुणस्थानों के अन्वेषणरूप प्रयोजन के होने पर वहाँ ये चौदह ही मार्गणास्थान जानने योग्य हैं।।२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ‘एतो’ ‘एतस्मात् प्रमाणात्’^१। ‘इमेसिं’ — एतेषाम् प्रत्यक्षीभूतानां। चोद्दसण्हं-चतुर्दशानां ‘जीवसमासाणं’ — जीवसमासानां — गुणस्थानानां मग्गणट्टदाए — मार्गणार्थतायाम् — मार्गणारूप-प्रयोजनविशेष-विवक्षायां तत्थ — तत्र तस्यां इमाणि-इमानि प्रत्यक्षीभूतानि भावमार्गणास्थानानि चोद्दस चेव — चतुर्दश चैव ट्टाणाणि णादव्वाणि भवन्ति^२ — मार्गणास्थानानि ज्ञातव्यानि भवन्तीति। अस्यायमर्थः — एतस्मात् द्रव्यश्रुतभावश्रुतप्रमाणात् एतेषां चतुर्दशगुणस्थानानां मार्गणार्थतायां अन्वेषणरूपप्रयोजने सति तत्र चतुर्दशैव मार्गणास्थानानि ज्ञातव्यानि भवन्ति।

इतो विस्तरः — प्रमाणं द्विविधं — द्रव्यभावप्रमाणभेदात्। द्रव्यप्रमाणात् संख्येयासंख्येयानन्तात्मक-द्रव्यजीवस्थानस्यावतारः^३। भावप्रमाणं पंचविधं — आभिनिबोधिक-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवलभाव-प्रमाणभेदात्।

अत्र ग्रंथं प्रतीत्य श्रुतप्रमाणात्, अर्थतः केवलप्रमाणात्^४ प्रयोजनमस्ति। अत्रापि आनुपूर्वी-नाम-वक्तव्यता-अर्थाधिकारः कथनीयो भवति।

अत्र पूर्वानुपूर्वी गणनायां द्रव्य-भावश्रुतज्ञानं प्रतीत्य द्वितीयश्रुतप्रमाणात् अर्थं प्रतीत्य पंचमकेवल-ज्ञानप्रमाणात् प्रयोजनं वर्तते। नामापेक्षया श्रुतज्ञानमिति गुणनाम। इदं श्रुतज्ञानं अक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्त्याद्यपेक्षया संख्यातमर्थतोऽनन्तं। एतस्य श्रुतप्रमाणस्य तदुभयवक्तव्यतास्ति।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यहाँ पर “एतो” अर्थात् “एतद्” पद से प्रमाण का ग्रहण किया है इसलिए एतद् अर्थात् इससे-प्रमाण से ऐसा अर्थ समझना चाहिए। पुनः सूत्र में जो ‘इमेसिं’ पद आया है उससे प्रत्यक्षीभूत पदार्थ का निर्देश होता है। इसी प्रकार “चोद्दसण्हं” पद से चौदह जीवसमासों — गुणस्थानों को ग्रहण किया है। ‘मग्गणट्टदाए’ पद मार्गणारूपप्रयोजनविशेष की विवक्षा में प्रयुक्त है। तत्थ और इमाणि पद का अर्थ है — ये प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थान हैं जो चौदह ही हैं, न्यूनाधिक नहीं।

इसका अर्थ यह है कि इन द्रव्यश्रुत और भावश्रुत प्रमाणों से उन चौदह गुणस्थानों के मार्गणारूप भाव के होने पर — अन्वेषणरूप प्रयोजन के होने पर वे मार्गणास्थान चौदह ही होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

उसी का विस्तार करते हैं — द्रव्य और भाव के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा शब्द, प्रमात् और प्रमेय के आलम्बन से क्रमशः संख्यात, असंख्यात और अनन्तरूप द्रव्य जीवस्थान का अवतार हुआ है।

भावप्रमाण के पाँच भेद हैं — आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। यहाँ पर ग्रंथ की अपेक्षा श्रुतप्रमाण से और अर्थ की अपेक्षा केवलज्ञानप्रमाण से प्रयोजन है। यहाँ भी आनुपूर्वी, नाम, वक्तव्यता और अर्थाधिकार कथन करने योग्य हैं।

यहाँ पर पूर्वानुपूर्वी से गणना करने पर द्रव्यश्रुत और भावश्रुत की अपेक्षा तो दूसरे श्रुतप्रमाण से प्रयोजन है और अर्थ की अपेक्षा पाँचवे केवलज्ञानप्रमाण से प्रयोजन है।

नाम की अपेक्षा से इस श्रुतज्ञान का यह सार्थक नाम है। यह श्रुतज्ञान अक्षर, पद, संघात और प्रतिपत्ति आदि की अपेक्षा संख्यात भेदरूप है और अर्थ की अपेक्षा अनन्त है।

तीन वक्तव्यताओं में से इस श्रुतप्रमाण की तदुभयवक्तव्यता (स्वसमय-परसमयवक्तव्यता) जानना चाहिए।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पृ. ९३। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पृ. १३२।

३. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पृ. ९४। ४. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पृ. ९६।

अर्थाधिकारो द्विविधः—अंगबाह्यः अंगप्रविष्टश्चेति। तत्रांगबाह्यस्य चतुर्दशार्थाधिकारास्ते सामायिकचतुर्विंशतिस्तवादयः। इमे चतुर्दश अंगबाह्यभेदाः प्रागेव प्रतिपादिताः सन्ति।^१

अंगप्रविष्टस्यार्थाधिकारो द्वादशविधस्ते आचारांगादयो दृष्टिवादपर्यन्ताः इमे द्वादशांगाः सन्ति। अस्मिन् ग्रन्थे किं आचारांगेण प्रयोजनं सूत्रकृतांगेन वा कतमेनांगेन प्रयोजनं ? इति आशंकायामाह— अस्मिन् ग्रन्थे दृष्टिवादांगेन प्रयोजनमस्ति।

आनुपूर्व्या द्वादशमांगोऽयं।

अयमंगो नानादृष्टिं वर्णयति इति दृष्टिवादानाम् सार्थकं वर्तते। अतो गुणनाम।

उक्तं च—णामं-दिट्ठीओ वददीदि दिट्ठिवादं ति गुणणामं।

प्रमाणापेक्षया—अक्षरपदसंघातप्रतिपत्ति-अनियोगद्वारैः संख्यातं, अर्थतोऽनन्तं—वक्तव्यतापेक्षया तदुभयवक्तव्यतास्ति अत्र अंगे। तस्य पंचार्थाधिकारा भवन्ति—परिकर्म-सूत्र-प्रथमानुयोग-पूर्वगत-चूलिकाश्चेति।

अत्रापि प्रश्नमालायां—परिकर्मादिपंचभेदेषु कतमेन प्रयोजनमत्र ? अस्मिन् जीवस्थानशास्त्रे पूर्वगतेन प्रयोजनमस्ति।

पूर्वगतस्य चतुर्दश भेदाः—उत्पादपूर्व अग्रायणीयं इत्यादयः प्रागेव प्रतिपादिताः।

अत्रापि पंचविध उपक्रमः कथयितव्योऽस्ति।

अत्र पूर्वानुपूर्व्या गणनायां अग्रायणीयनामद्वितीयपूर्वेण प्रयोजनं। नामापेक्षया—अंगानां अग्रं प्रधानभूतपदं

आचार्य कहते हैं कि—अर्थाधिकार दो प्रकार का है—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। उनमें से अंगबाह्य के चौदह अर्थाधिकार हैं। वे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि चौदह अंगबाह्य के भेद पहले ही प्रतिपादित किये जा चुके हैं। अंगप्रविष्ट के अर्थाधिकार बारह प्रकार के हैं। आचारांग आदि से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अंग हैं। इस ग्रंथ में क्या आचारांग से प्रयोजन है ? अथवा सूत्रकृतांग से अथवा किस अंग से प्रयोजन है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

इस ग्रंथ में दृष्टिवादअंग से प्रयोजन है। आनुपूर्वी की अपेक्षा यह दृष्टिवाद अंग बारहवाँ है।

यह अंग नाना दृष्टियों का वर्णन करता है इसलिए इसका दृष्टिवाद यह नाम सार्थक है, अतः यह गुणसहित सार्थक नाम वाला है।

कहा भी है—

नाम—इनमें अनेक दृष्टियों का वर्णन किया गया है इसलिए इसका 'दृष्टिवाद' यह गुणनाम-गौण्यनाम-गुणसहित सार्थक नाम वाला है।

प्रमाण की अपेक्षा से अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारों से संख्यातप्रमाण और अर्थ की अपेक्षा अनन्तप्रमाण है।

वक्तव्यता की अपेक्षा से इस अंग में तदुभयवक्तव्यता है।

उस दृष्टिवाद के पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। यहाँ भी प्रश्नमाला में—परिकर्म आदि पाँच भेदों में इस अंग में किस भेद से प्रयोजन है ? ऐसी पृच्छा होने पर कहते हैं—

इस जीवस्थान शास्त्र में पूर्वगत से प्रयोजन है।

पूर्वगत के चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय पूर्व इत्यादि चौदह अर्थाधिकार हैं। इनके नाम पहले कहे जा चुके हैं।

यहाँ पाँच प्रकार का उपक्रम भी कथन करने योग्य है।

यहाँ पूर्वानुपूर्वी से गणना करने पर अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व से प्रयोजन है।

वर्णयतीति गुणनाम सार्थकं वर्तते। प्रमाणापेक्षया — अक्षरपदसंघातप्रतिपत्ति-अनुयोगद्वारैः संख्यातमर्थतोऽनन्तं। वक्तव्यतापेक्षया-स्वसमयवक्तव्यतास्ति अस्मिन् पूर्वे।

अग्रायणीयपूर्वस्य चतुर्दश अर्थाधिकाराः सन्ति-तद्यथा — पूर्वान्त-अपरान्त-ध्रुव-अध्रुव-चयनलब्धि-अर्धोपम-प्रणधिकल्प-अर्थ-भौम-व्रतादिक-सर्वार्थ-कल्पनिर्याण-अतीतकालसिद्ध-बुद्ध-अनागतकालसिद्ध-बुद्धाश्चेति चतुर्दश वस्तूनि।

एषु वस्तुषु अत्र ग्रन्थे कतमेन प्रयोजनम् ?

अत्र पंचमवस्तुचयनलब्धिनाम्ना प्रयोजनम् अस्ति*।

पंचविध उपक्रमः कथयितव्यः —

पूर्वानुपूर्व्या पंचमाधिकारवस्तुनः। अयं चयनविधिं लब्धिविधिं च वर्णयतीति सार्थकं गुणनाम।

अक्षरपदसंघातप्रतिपत्त्यनुयोगद्वारैः संख्यातमर्थतोऽनन्तं। वक्तव्यतायां स्वसमयवक्तव्यतास्ति।

अस्मिन् चयनलब्धेः विंशतयोऽर्थाधिकाराः। तेषु अत्र कतमेन प्रयोजनं ?

विंशति-अर्थाधिकारेषु मध्येऽत्र चतुर्थप्राभृतेन प्रयोजनम्।

अत्रापि उपक्रमः पंचविधः —

पूर्वानुपूर्व्या 'कर्मप्रकृतिप्राभृतनाम्ना' चतुर्थेन प्राभृतेन प्रयोजनम्।

नाम की अपेक्षा से — अंगों में अग्र प्रधानभूत पद का वर्णन करता है इसलिए गुणसहित सार्थक नाम है।

प्रमाण की अपेक्षा से — अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग द्वारों से संख्यात है और अर्थ की अपेक्षा अनन्तप्रमाण है।

वक्तव्यता की अपेक्षा — इस पूर्व में स्वसमयवक्तव्यता है।

अग्रायणीय पूर्व के चौदह अर्थाधिकार हैं, जो कि इस प्रकार हैं —

पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, चयनलब्धि, अर्धोपम, प्रणधिकल्प, अर्थ, भौम, व्रतादिक, सर्वार्थ, कल्पनिर्याण, अतीतकालसिद्धबुद्ध और अनागतकालसिद्धबुद्ध ये चौदह वस्तु हैं।

इन वस्तुओं में से इस ग्रंथ में किस वस्तु से प्रयोजन है ?

यहाँ पंचम वस्तु की चयन नामक लब्धि से प्रयोजन है।

अब पाँच प्रकार का उपक्रम कथन किया जाना चाहिए —

पूर्वानुपूर्वी से वस्तु का पाँचवाँ अधिकार है। यह अधिकार चयनलब्धि का और लब्धि की विधि का वर्णन करने वाला सार्थक नाम वाला है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग द्वारों से असंख्यात है और अर्थ की अपेक्षा अनन्तप्रमाण है।

वक्तव्यता की अपेक्षा इस अधिकार में स्वसमयवक्तव्यता है।

इस चयनलब्धि के बीस अर्थाधिकार हैं, उनमें से यहाँ किस अर्थाधिकार से प्रयोजन है ?

बीस अर्थाधिकारों के मध्य में यहाँ चतुर्थप्राभृत से प्रयोजन है।

यहाँ उपक्रम नामक चतुर्थप्राभृत अर्थाधिकार भी पाँच प्रकार का है —

यहाँ पूर्वानुपूर्वी क्रम से कर्मप्रकृतिप्राभृत नाम के चतुर्थ प्राभृत से प्रयोजन है।

अयं प्राभृतग्रन्थः कर्मप्रकृतीनां स्वरूपं वर्णयति। अतोऽस्य कर्मप्रकृतिप्राभृतमिदं गौण्यनाम। अस्य 'वेदनाकृत्स्नप्राभृतमपि' द्वितीयं नामास्ति। कर्मणामुदयो वेदना इति भण्यते, तां निरवशेषेण वर्णयति इति वेदनाकृत्स्नप्राभृतमपि गौण्यनाम वर्तते। इदं अक्षरपदसंघातप्रतिपत्ति-अनुयोगापेक्षया संख्यातप्रमाणमपि अर्थतोऽनन्तं वर्तते। स्वसमयस्य प्रतिपादनेन स्वसमयवक्तव्यतास्ति।

कर्मप्रकृतिप्राभृतस्य चतुर्विंशति-अर्थाधिकाराः सन्ति। तद्यथा — कृति-वेदना-स्पर्श-कर्म-प्रकृति-बंधन-निबंधन-प्रक्रम-उपक्रम-उदय-मोक्ष-संक्रम-लेश्या-लेश्याकर्म-लेश्यापरिणाम-सातासात-दीर्घह्रस्व-भव-धारणीय-पुद्गलत्व^१-निधत्तानिधत्त-निकाचित-अनिकाचित-कर्मस्थिति-पश्चिमस्कंधाश्चेति। एषु सर्वेषु अल्पबहुत्वं योजनीयं।

अत्र एषु विंशतिअर्थाधिकारेषु कतमेन प्रयोजनम् ?

अत्र बन्धननाम्ना षष्ठाधिकारेण प्रयोजनमस्ति।

अत्रापि पंचविध उपक्रमो वक्तव्योऽस्ति। तथाहि —

पूर्वानुपूर्व्या षष्ठाधिकारेण प्रयोजनं।

अयं बन्धननामाधिकारो बंधस्वरूपं वर्णयतीति अस्य इदं गौण्यनाम। अक्षरपदसंघातप्रतिपत्त्यनुयोगापेक्षया संख्यातप्रमाणमर्थतोऽनन्तम्। स्वसमयं कथयतीति स्वसमयवक्तव्यतास्ति अत्र।

अस्य बन्धन-अर्थाधिकारस्य चत्वारो भेदाः सन्ति। तथाहि —

बंधो बंधको बंधनीयो बंधविधानं चेति।

यह प्राभृतग्रंथ कर्मप्रकृतियों के स्वरूप का वर्णन करता है इसलिए इसका “कर्मप्रकृति प्राभृत” यह नाम सार्थक गुणवाला है। इसका दूसरा नाम “वेदनाकृत्स्नप्राभृत” भी है।

कर्मों का उदय वेदना कहलाता है, उस वेदना — उदय का पूर्णरूप से वर्णन करने वाला होने से इसका “वेदनाकृत्स्नप्राभृत” यह गौण्य-सार्थक नाम है।

यह प्राभृत अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग द्वारों से संख्यात प्रमाण वाला है एवं अर्थ की अपेक्षा अनन्त प्रमाण है। स्वसमय के प्रतिपादन की मुख्यता से इस प्राभृत में “स्वसमयवक्तव्यता” है।

कर्मप्रकृतिप्राभृत के चौबीस अर्थाधिकार हैं, जो इस प्रकार हैं —

कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातअसात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलत्व, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित, अनिकाचित, कर्मस्थिति और पश्चिमस्कंध। इन सबमें अल्पबहुत्व की योजना कर लेना चाहिए।

यहाँ इन चौबीस अर्थाधिकारों में किस अधिकार से प्रयोजन है ?

यहाँ बंधन नाम के छठे अधिकार से प्रयोजन है।

इस शास्त्र में भी यहाँ पाँच प्रकार का उपक्रम वक्तव्य — कथन करने योग्य है। जैसे — पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा से छठे अधिकार से प्रयोजन है।

यह बंधन नाम का अधिकार बंधनस्वरूप का वर्णन करता है ऐसा इसका सार्थक नाम है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग की अपेक्षा इसका प्रमाण संख्यातरूप है और अर्थ की अपेक्षा अनन्त प्रमाण है। स्वसमय का कथन करने से इसमें स्वसमयवक्तव्यता है।

इस बंधन नामक अर्थाधिकार के चार भेद हैं। उनके नाम — बंध, बन्धक, बंधनीय और बन्धविधान।

अत्रापि काभ्यां इति प्रश्ने सति बन्धकेन बंधविधानेन च प्रयोजनम्।

अत्र बन्धकार्थाधिकारस्य एकादश अनुयोगद्वाराणि। तद्यथा—एकजीवापेक्षया स्वामित्वानुगमः, एकजीवापेक्षया कालानुगमः, एकजीवापेक्षया अन्तरानुगमः, नानाजीवापेक्षया भंगविचयानुगमः, द्रव्यप्रमाणानुगमः, क्षेत्रानुगमः, स्पर्शनानुगमः, नानाजीवापेक्षया कालानुगमः, नानाजीवापेक्षया अन्तरानुगमः, भागाभागानुगमः, अल्पबहुत्वानुगमश्चेति।

अत्रापि पृच्छायां सत्यां एतस्मिन् ग्रन्थे पंचमद्रव्यप्रमाणानुगमात् प्रयोजनमस्ति इति वक्तव्यम्।

एतस्मिन् जीवस्थानमहाशास्त्रे यो द्रव्यप्रमाणानुगमोऽधिकारोऽस्ति स अस्य बंधकनामाधिकारस्य द्रव्यप्रमाणानुगमनाम्नः पंचमाधिकारान्निर्गतोऽस्ति।

द्वितीयस्य बंधविधानस्य चत्वारो भेदाः—प्रकृतिबंध-स्थितिबंध-अनुभागबंध-प्रदेशबन्धाश्चेति।

प्रकृतिबंधस्य मूलप्रकृतिबन्धोत्तरप्रकृतिबन्धौ द्वौ भेदौ स्तः। तयोर्द्वयोः मूलप्रकृतिबंधकथनं स्थगितं कृत्वा उत्तरप्रकृतिबंधो वदति।

उत्तरप्रकृतिबंधस्य द्वौ भेदौ—एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धाव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबंधौ। तयोर्द्वयोः मध्ये एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धस्य चतुर्विंशति अनुयोगद्वाराणि भवन्ति। ते ईदृशाः—

समुत्कीर्तना-सर्वबंध-नोसर्वबंध-उत्कृष्टबंध-अनुत्कृष्टबंध-जघन्यबंध-अजघन्यबंध-सादिबन्ध-अनादिबन्ध-ध्रुवबंध-अध्रुवबंध-बन्धस्वामित्वविचय-बन्धकाल-बन्धान्तर-बन्धसन्निकर्ष-नानाजीवापेक्षा भंगविचय-भागाभागानुगम-परिमाणानुगम-क्षेत्रानुगम-स्पर्शनानुगम-कालानुगम-अन्तरानुगम-भावानुगम-अल्पबहुत्वानुगमश्चेति।

एषु चतुर्विंशति-अधिकारेषु यः समुत्कीर्तनानामाधिकारोऽस्ति। तस्मात् प्रकृतिसमुत्कीर्तना,

यहाँ पर किन दो से प्रयोजन है ? ऐसा प्रश्न होने पर बंधक और बंधविधान से प्रयोजन है।

उस बंधक अर्थाधिकार के ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। वे इस प्रकार हैं—एक जीव की अपेक्षा से स्वामित्वानुगम, एक जीव की अपेक्षा कालानुगम, एक जीव की अपेक्षा अन्तरानुगम, नाना जीव की अपेक्षा भंगविचयानुगम, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, नाना जीव की अपेक्षा कालानुगम, नाना जीव की अपेक्षा अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

यहाँ भी पृच्छा होने पर इस ग्रंथ में पंचमद्रव्यप्रमाणानुगम से प्रयोजन है ऐसा कहना चाहिए।

इस जीवस्थान नामक महाशास्त्र में जो द्रव्यप्रमाणानुगम अधिकार है वह इस बंधक नामक अधिकार के द्रव्यप्रमाणानुगम नाम के पंचम अधिकार से निकला है।

द्वितीय बंधविधान के चार भेद हैं—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। प्रकृतिबंध के मूलप्रकृतिबंध और उत्तरप्रकृतिबंध ये दो भेद हैं। इन दोनों में मूलप्रकृतिबंध का कथन स्थगित करके उत्तर-प्रकृतिबंध का कथन करते हैं।

उत्तरप्रकृतिबंध के दो भेद हैं—एकैकोत्तर प्रकृतिबंध और अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबंध।

इन दोनों के मध्य में एकैकोत्तरप्रकृतिबंध के चौबीस अनुयोगद्वार होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

समुत्कीर्तना, सर्वबंध, नोसर्वबंध, उत्कृष्टबंध, अनुत्कृष्टबंध, जघन्यबंध, अजघन्यबंध, सादिबंध, अनादिबंध, ध्रुवबंध, अध्रुवबंध, बन्धस्वामित्वविचय, बंधकाल, बन्धान्तर, बन्धसन्निकर्ष, नानाजीव की अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

इन चौबीस अधिकारों में जो समुत्कीर्तना नाम का अधिकार है उससे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थान

स्थानसमुत्कीर्तना, त्रयो महादण्डकाश्च निर्गताः। तथा च त्रयोविंशतितमात् भावानुगमात् भावानुगमो निर्गतोऽस्तीति।

अव्वोगाढ-उत्तरप्रकृतिबंधस्य द्वौ भेदौ स्तः — भुजगारबन्धः प्रकृतिस्थानबन्धश्चेति। अत्रापि प्रकृतिस्थान-बंधस्याष्टौ अनुयोगद्वाराणि। ते ईदृशाः — सत्प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगमः क्षेत्रानुगमः स्पर्शनानुगमः कालानुगमः अन्तरानुगमो भावानुगमोऽल्पबहुत्वानुगमश्चेति।

एभ्योऽष्टाभ्योऽनुयोगद्वारेभ्यः षडनुयोगद्वाराणि निर्गतानि। ते इमे — सत्प्ररूपणा क्षेत्रप्ररूपणा स्पर्शन-प्ररूपणा कालप्ररूपणा अन्तरप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा चेति। इमे षडनुयोगद्वाराणि सन्ति। पुनः बंधकनामाधिकारस्य एकादशाधिकारेषु द्रव्यप्रमाणानुगमात् द्रव्यप्रमाणानुगमो निर्गतः।

पुनश्च-एकैकोत्तरप्रकृतिबंधस्य चतुर्विंशतिअधिकारेषु त्रयोविंशतितमभावानुगमात् भावप्रमाणानुगमो निर्गत इति।

षड् द्वौ मिलित्वा अस्य जीवस्थानस्याष्टौ अनियोगद्वाराणि भवन्ति। ते के इति चेत् ? उच्यते- सत्प्ररूपणा क्षेत्रप्ररूपणा स्पर्शनप्ररूपणा कालप्ररूपणा अन्तरप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगमो भावप्रमाणानुगमश्चेति अष्टौ अनुयोगद्वाराणि अस्मिन् जीवस्थाननाम्नि महाग्रंथे सन्तीति।

स्थितिबंधस्य द्वौ भेदौ — मूलप्रकृतिस्थितिबंध उत्तरप्रकृतिस्थितिबंधश्च। तत्रोत्तरप्रकृतिस्थितिबंधस्य चतुर्विंशति अनुयोगद्वाराणि — अर्धच्छेदः सर्वबंधः नोसर्वबंधः उत्कृष्टबंधः अनुत्कृष्टबंधः जघन्यबंधः अजघन्यबंधः सादिबंधः अनादिबंधः ध्रुवबंधः अध्रुवबंधः बंधस्वामित्वविचयः बंधकालः बंधान्तरं बंधसन्निकर्षः नानाजीवापेक्षा भंगविचयः भागाभागानुगमः परिमाणानुगमः क्षेत्रानुगमः स्पर्शनानुगमः कालानुगमः अन्तरानुगमः भावानुगमः अल्पबहुत्वानुगमश्चेति।

समुत्कीर्तना और तीन महादण्डक निकले हैं और तेईसवें भावानुगम से भावानुगम निकला है।

अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबंध के दो भेद हैं — भुजगारबंध और प्रकृतिस्थानबंध। उसमें भी प्रकृतिस्थानबंध के आठ अनुयोगद्वार हैं, जो इस प्रकार हैं — सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

इन आठ अनुयोगद्वारों से छह अनुयोग द्वार निकले हैं। वे इस प्रकार हैं —

सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा ये छह अनुयोगद्वार हैं। पुनः बंधक नामक अधिकार के ग्यारह अधिकारों में द्रव्यप्रमाणानुगम से द्रव्यप्रमाणानुगम निकलता है।

पुनश्च, एकैकोत्तरप्रकृतिबंध के चौबीस अधिकारों में तेईसवें भावानुगम से भावप्रमाणानुगम निकला है। छह और दो (६+२=८) मिलकर इस जीवस्थान के आठ अनियोगद्वार होते हैं। वे कौन हैं ? उन्हें कहते हैं — सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम और भावप्रमाणानुगम ये आठ अनुयोगद्वार इस जीवस्थान नामक महाग्रंथ में हैं।

स्थितिबंध के दो भेद हैं — मूलप्रकृतिस्थितिबंध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबंध।

उनमें से उत्तरप्रकृतिबंध के चौबीस अनुयोगद्वार हैं — अर्धच्छेद, सर्वबंध, नोसर्वबंध, उत्कृष्टबंध, अनुत्कृष्टबंध, जघन्यबंध, अजघन्यबंध, सादिबंध, अनादिबंध, ध्रुवबंध, अध्रुवबंध, बंधस्वामित्वविचय, बंधकाल, बन्धान्तर, बन्धसन्निकर्ष, नानाजीव की अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

तत्रार्धच्छेदो द्विविधः — जघन्यस्थिति अर्धच्छेदः उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेदश्चेति।

जघन्यस्थित्यर्धच्छेदात् जघन्यस्थितिर्निगता।

उत्कृष्टस्थित्यर्धच्छेदादुत्कृष्टस्थितिर्निगता च।

दृष्टिवादाङ्गस्यान्तर्गतात् सूत्रभेदात्सम्यक्त्वोत्पत्तिर्नामाधिकारो निर्गतः।

व्याख्याप्रज्ञप्तिनामपंचमांगात् 'गत्यागती' नामाधिकारो निर्गतः।

अधुना नव चूलिकानां उत्पत्तिक्रमो दर्शयति —

पूर्वोक्त-एकैकोत्तरप्रकृतिनामाधिकारस्य प्रथमसमुत्कीर्तनाधिकारात् प्रकृतिसमुत्कीर्तना स्थानसमुत्कीर्तना त्रयो महादण्डकाश्चेति पंचचूलिकाः। तासु जघन्यस्थितिअर्धच्छेद उत्कृष्टस्थितिअर्धच्छेदः सम्यक्त्वोत्पत्तिः गत्यागती एतच्चतुरधिकारेषु प्रक्षिप्तेषु नव चूलिकाः भवन्तीति ज्ञातव्याः।

अस्य जीवस्थानस्योपसंहारः —

द्वादशाङ्गेषु दृष्टिवादाङ्गश्चरमः। अस्य दृष्टिवादाङ्गस्य पूर्वगतनाम चतुर्थो भेदः। तेषु पूर्वेषु अग्रायणीयनाम द्वितीयपूर्व। अस्याग्रायणीयपूर्वस्य चतुर्दशार्थाधिकारेभ्यः चयनलब्धिर्नाम पंचमं वस्तु ग्राह्यं। अस्याः चयनलब्धेः विंशति अधिकाराः प्राभृतनाम्ना सन्ति। तेभ्यः विंशतिप्राभृतेभ्यः चतुर्थं कर्मप्रकृतिप्राभृतं। अस्यापि कर्मप्रकृतिप्राभृतस्य चतुर्विंशति-अर्थाधिकारेषु 'बन्धन'-नाम षष्ठाधिकारो गृह्यते।

अस्य बन्धनाधिकारस्य चतुर्षु भेदेषु बन्धको बन्धविधानं चेति द्वौ अधिकारौ गृहीतव्यौ। बन्धकस्य एकादशानुयोगद्वारेभ्यो द्रव्यप्रमाणानुगमो नामपंचमानियोगद्वारं ग्राह्यं।

इनमें से अर्धच्छेद के दो भेद हैं — जघन्यस्थितिअर्धच्छेद और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेद।

जघन्यस्थितिअर्धच्छेद से जघन्यस्थिति निकली है और उत्कृष्टस्थितिअर्धच्छेद से उत्कृष्टस्थिति निकली है।

दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत सूत्र भेद से सम्यक्त्वोत्पत्ति नामका अधिकार निकला है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग से गत्यागती नामका अधिकार निकला है।

अब नवचूलिकाओं का उत्पत्तिक्रम दर्शाते हैं —

पूर्वोक्त एकैकोत्तर प्रकृति नामक अधिकार के प्रथम समुत्कीर्तना अधिकार से प्रकृति समुत्कीर्तना, स्थान समुत्कीर्तना और तीन महादण्डक ये पाँच चूलिकाएँ निकली हैं।

उनमें जघन्यस्थिति अर्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गत्यागती इन चार अधिकारों को मिला देने पर नवचूलिका हो जाती हैं ऐसा जानना चाहिए।

इस जीवस्थान का उपसंहार करते हैं —

बारह अंगों में दृष्टिवाद नाम का अंतिम अंग है। इस दृष्टिवाद अंग का पूर्वगत नामक चौथा भेद है। उन पूर्वों में द्वितीय अग्रायणीय नाम का पूर्व है। उस अग्रायणीयपूर्व के चौदह अधिकारों में से चयनलब्धि नामक पंचम वस्तु ग्रहण करने योग्य है। इस चयनलब्धि के प्राभृत आदि नाम से बीस अधिकार हैं। उन बीस प्राभृतों में से कर्मप्रकृतिप्राभृत नाम का चतुर्थ अधिकार है। इस कर्मप्रकृतिप्राभृत के भी चौबीस अर्थाधिकारों में से बंधन नाम का छठा अधिकार यहाँ ग्रहण किया गया है।

इस बंधन अधिकार के चार भेदों में बंधक और बंधविधान ये दो अधिकार यहाँ ग्रहण करना चाहिए। बंधक के ग्यारह अनुयोग द्वारों में से "द्रव्यप्रमाणानुगम" नाम का पंचम अनियोगद्वार ग्राह्य है।

द्वितीयबंधविधानस्य प्रकृतिबंधादिचतुर्भेदेषु प्रकृतिबन्धस्य द्वयोर्भेदयोः उत्तरप्रकृतिबंधो गृहीतव्यः। अस्योत्तरप्रकृतिबन्धस्य एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धनाम प्रथमभेदे समुत्कीर्तनादयः चतुर्विंशति-अनुयोगद्वाराणि सन्ति। तेभ्यः प्रथमं समुत्कीर्तनानाम अनुयोगद्वारं गृहीतव्यं। एकैकोत्तरप्रकृतिबंधात् एभ्य एव चतुर्विंशति-अनुयोगद्वारेभ्यः त्रयोविंशतितमात् भावानुगमाद् भावप्रमाणानुगमो ग्राह्यः।

उत्तरप्रकृतिबंधात् निर्गत-अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबंधस्य प्रकृतिस्थानबन्धनाम्नो द्वितीयभेदात् अष्टसु अनुयोगद्वारेषु सत्प्ररूपणादिषडधिकारा गृहीतव्याः, एषु द्रव्यप्रमाणानुगमं भावानुगमं च प्रक्षिप्य अष्टौ अनियोगद्वाराणि ज्ञातव्यानि।

ते इमे ज्ञातव्याः — सत्प्ररूपणा क्षेत्रप्ररूपणा स्पर्शनप्ररूपणा कालप्ररूपणा अन्तरप्ररूपणा अल्पबहुत्व-प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगमो भावप्रमाणानुगमश्चेति अष्टौ अनुयोगद्वाराणि।

नव चूलिकानां कथनं —

एकैकोत्तरप्रकृतिबंधस्य चतुर्विंशति-अनुयोगद्वारेभ्यः प्रथमः समुत्कीर्तनाधिकारो गृहीतव्यः। अस्याः प्रकृतिसमुत्कीर्तना स्थानसमुत्कीर्तना त्रयो महादण्डकाः निर्गताः।

स्थितिबंधस्य द्वितीयेषु उत्तरप्रकृतिस्थितिबंधेषु चतुर्विंशति-अनुयोगद्वारेभ्यः अर्धच्छेदो नाम्ना प्रथमो भेदः। अस्य जघन्यस्थितिअर्धच्छेदः उत्कृष्टस्थितिअर्धच्छेदश्चेति द्वाभ्यां भेदाभ्यां जघन्यस्थितिः उत्कृष्टस्थितिः इमे द्वे चूलिके निर्गते।

दृष्टिवादांगस्य सूत्रात् सम्यक्त्वोत्पत्तिः व्याख्याप्रज्ञप्तिनामपंचमाङ्गात् गत्यागती इति। अतः — प्रकृतिसमुत्कीर्तना स्थानसमुत्कीर्तना त्रयो महादण्डकाः जघन्यस्थिति-अर्धच्छेदः उत्कृष्टस्थिति-अर्धच्छेदः सम्यक्त्वोत्पत्तिः गत्यागती चेमाः नव चूलिकाः भवन्तीति।

द्वितीय बंध विधान के प्रकृतिबंधादि चार भेदों में से प्रकृतिबंध के दो भेदों में उत्तरप्रकृतिबंध ग्रहण करना चाहिए। इस उत्तरप्रकृतिबंध के एकैकोत्तरप्रकृतिबंध नामक प्रथम भेद में समुत्कीर्तना आदि चौबीस अनुयोग द्वार हैं, उनमें से प्रथम समुत्कीर्तना नाम का अनुयोग द्वार ग्रहण करना चाहिए। एकैकोत्तरप्रकृतिबंध से ही निकले हुए चौबीस अनुयोग द्वारों में से तेईसवाँ भावानुगम है उस भावानुगम से भावप्रमाणानुगम ग्राह्य है।

उत्तरप्रकृतिबंध से निर्गत अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबंध के प्रकृतिस्थानबंधनामक द्वितीय भेद से आठ अनुयोग द्वारों में सत्प्ररूपणा आदि छह अधिकार ग्रहण करना चाहिए। उन छह अधिकारों में द्रव्यप्रमाणानुगम और भावानुगम को मिलाकर आठ अनुयोगद्वार जानना चाहिए।

वे इस प्रकार हैं — सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम और भावप्रमाणानुगम ये आठ अनुयोगद्वार हैं।

नवचूलिकाओं का कथन —

एकैकोत्तरप्रकृतिबंध के चौबीस अनुयोगद्वारों में से प्रथम समुत्कीर्तना अधिकार ग्रहण करना चाहिए। इससे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डक निकले हैं।

स्थितिबंध के द्वितीय भेद उत्तरप्रकृति स्थितिबंध में चौबीस अनुयोगद्वारों से “अर्धच्छेद” नाम का प्रथम भेद निकला है। इसकी जघन्यस्थिति अर्धच्छेद और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेद इन दो भेदों में से जघन्यस्थिति, उत्कृष्टस्थिति ये दो चूलिका निकली हैं।

दृष्टिवाद अंग के सूत्र से सम्यक्त्वोत्पत्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम के पंचम अंग से गत्यागती अधिकार निकला है। अतः प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना, तीनों महादण्डक, जघन्यस्थिति अर्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति

षट्खण्डागममहाग्रन्थस्य जीवस्थाननाम्नि प्रथमखण्डे पूर्वकथिताष्टौ अनुयोगद्वाराणि, इमाः नव चूलिकाश्च वर्णिताः सन्तीति अवबोद्धव्या भव्यजनैः।

ग्रन्थस्य प्रामाण्यं—

अस्य षट्खण्डागमग्रन्थस्य भगवन्महावीरस्वामिनो दिव्यध्वनेः संबंधोऽस्ति। किंच तदेव श्री वीरसेनस्वामिना कतिपये स्थले स्वयमेव कथितं। तद्यथा—

“सांप्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमर्हन्मुखोद्गतार्थं गणधरदेवग्रथितशब्दसंदर्भं प्रवाहरूपतया-निधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलंकमुत्तरसूत्रं पुष्पदन्तभट्टारकः प्राह”^१—

अस्मिन्नेव ग्रन्थे अन्यत्रापि—

“नाप्यार्षसन्ततेर्विच्छेदः, विगतदोषावरणार्हद्व्याख्यातार्थस्यार्थस्य चतुरमलबुद्ध्यतिशयोपेतनिर्दोष-गणभृदवधारितस्य ज्ञानविज्ञानसंपन्नगुरुपर्वक्रमेणायातस्याविनष्टप्राक्तनवाच्यवाचकभावस्य विगतदोषावरण-निष्प्रतिपक्षसत्यस्वभावपुरुषव्याख्यातत्वेन श्रद्धाप्यमानस्योपलम्भात्।”^२

पुनरपि दृश्यतां—तित्थयरकहियत्थाणं गणहरदेव-कय-गंथरयणाणं बारहंगाणं आइरियपरंपराए णिरंतरमागयाणं जुगसहावेण बुद्धीसु ओहट्टंतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाणं पुणो सुट्ठु-

अर्धच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गत्यागती ये नव चूलिका होती हैं।

षट्खण्डागम महाग्रंथ के जीवस्थान नामक प्रथमखण्ड में पूर्वकथित आठ अनुयोगद्वार हैं और ये नव चूलिकाएँ वर्णित हैं ऐसा भव्यजनों को जानना चाहिए।

ग्रंथ की प्रमाणता

इस षट्खण्डागम ग्रंथ का भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि से संबंध है। इसी बात को श्री वीरसेनस्वामी ने भी कतिपय स्थलों पर स्वयमेव कहा है। वह इस प्रकार है—

अब पुष्पदंतभट्टारक अंतिम गुणस्थान के स्वरूप के निरूपण करने के लिए, अर्थरूप से अरहंत परमेशी के मुख से निकले हुए गणधर देव के द्वारा गूँथे गये शब्द रचना वाले, प्रवाहरूप से कभी भी नाश को नहीं प्राप्त होने वाले और सम्पूर्ण दोषों से रहित होने के कारण निर्दोष ऐसे आगे के सूत्र को कहते हैं—

इसी ग्रंथ में अन्यत्र भी कहा है—

हमारे यहाँ आर्यपरम्परा का विच्छेद भी नहीं है, क्योंकि जिसका दोष और आवरण से रहित अरहंत परमेशी ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल बुद्धिरूप अतिशय से युक्त और निर्दोष गणधरदेव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न गुरुपरम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्य-वाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य स्वभाव वाले पुरुष के द्वारा व्याख्यान होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है।

पुनः अन्यत्र और भी देखें—

तीर्थकरों ने अर्थरूप से जिनका प्रतिपादन किया है और गणधर देव ने जिनकी ग्रंथरचना की ऐसे बारह अंग आचार्य परम्परा से निरन्तर चले आ रहे हैं। परन्तु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १९३। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १९७।

बुद्धीणं खयं ददूण तित्थ-वोच्छेदभएण वज्ज-भीरुहि गिहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तण-विरोहादो।^१

एवमेव कसायपाहुडस्य जयधवलाटीकायामपि श्रीवीरसेनाचार्येण उक्तं—

“एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्डमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदमलोहज्ज-जंबुसामियादि-आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहितो जयिवसहमुहणयिय चुण्णिमुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे।”^२

एते ग्रन्थाः अकाले न पठितव्याः—

एतदुद्धरणेभ्यो ज्ञायते—इमे षट्खण्डागमादयः सूत्रग्रन्थाः अकाले पठितुं न युज्यन्ते। स्वाध्यायस्य पंचभेदाः—

“वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।।^३”

अत्रापि वाचनास्वाध्यायो मुख्योऽस्ति। “शिष्याध्यापनं वाचना, सा चतुर्विधा-नंदा, भद्रा, जया, सौम्या चेति। पूर्वपक्षीकृतपरदर्शनानि निराकृत्य स्वपक्षस्थापिका व्याख्या नन्दा। युक्तिभिः प्रत्यवस्थाय पूर्वापरविरोधपरिहारेण तंत्रस्थाशेषार्थव्याख्या भद्रा। पूर्वापरविरोधपरिहारेण विना तंत्रार्थकथनं जया। क्वचित्क्वचित्स्खलितवृत्तेर्व्याख्या सौम्या। एतासां वाचनानामुपगतं वाचनोपगतं परप्रत्यायनसमर्थं इति

और उन अंगों को धारण करने वाले योग्य पात्र के अभाव में वे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं। इसलिए जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषों का अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरू थे, जिन्होंने गुरुपरम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्यों ने तीर्थ विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता है।

इसी प्रकार कषायपाहुड की जयधवला टीका में श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है—

“विपुलाचल के शिखर पर स्थित महावीर रूपी दिवाकर से निकल कर गौतम, लोहार्य, जम्बूस्वामी आदि आचार्यपरम्परा से आकर गुणधराचार्य को प्राप्त होकर गाथारूप से परिणत हो पुनः आर्यमंक्षु-नागहस्ति के द्वारा यतिवृषभ के मुख से चूर्णिसूत्ररूप से परिणत हुई दिव्यध्वनिरूपी किरणों से हमने जाना है।”

इन ग्रंथों को अकाल में नहीं पढ़ना चाहिए—

इन उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि ये षट्खण्डागम आदि सूत्रग्रंथ अकाल में पढ़ना योग नहीं है। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

यहाँ भी वाचना स्वाध्याय मुख्य है। शिष्यों को पढ़ाना वाचना है, वह वाचना चार प्रकार की है—नंदा, भद्रा, जया और सौम्या। अन्य दर्शनों को पूर्वपक्ष करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्ष को स्थापित करने वाली व्याख्या नन्दा कहलाती है। आगम और युक्तियों द्वारा समाधान करके पूर्वापर विरोध का परिहार करते हुए सिद्धान्त में स्थित समस्त पदार्थों की व्याख्या का नाम भद्रा है। पूर्वापर विरोध के परिहार के बिना सिद्धान्त के अर्थों का कथन करना जया वाचना कहलाती है। कहीं-कहीं स्खलनपूर्ण वृत्ति से जो व्याख्या की जाती है वह सौम्या वाचना कही जाती है। इन चार प्रकार की वाचनाओं को प्राप्त वाचनोपगत कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जो दूसरों को ज्ञान कराने के लिए समर्थ है वह वाचनोपगत है।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. २२२। २. जयधवला—आ. पत्र ३१३ (कसायपाहुड प्रस्तावना पृ. ११ से)। ३. तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, सूत्र २५।

यावत्। एत्थ वक्खाणंतेहि सुणंतेहि वि दव्व-खेत्त-काल-भावसुद्धीहि वक्खाण-पढणवावारो कायव्वो।” तत्र ज्वर-कुक्षि-शिरोरोग-दुःस्वप्न-रुधिर-विट्-मूत्र-लेपातीसार-पूयस्त्रावादीनां शरीरे अभावो द्रव्यशुद्धिः। व्याख्यातृव्यावस्थितप्रदेशात् चतसृष्वपि दिक्ष्वष्टाविंशतिसहस्रायतासु^१ विणमूत्रास्थि-केश-नख-त्वगाद्यभावः षष्ठातीतवाचनातः^२ आरात्यंचेन्द्रियशरीराद्रीस्थि-त्वग्मांसासृक्संबंधाभावश्च क्षेत्रशुद्धिः। विद्युदिन्द्रधनुर्ग्रहोपरागा-कालवृष्ट्यभ्रगर्जन-जीमूतव्रातप्रच्छाददिग्दाह-धूमिकापात-संन्यास-महोपवास-नन्दीश्वर-जिनमहिमाद्यभावः कालशुद्धिः।

अत्र कालशुद्धिकरणविधानमभिधास्ये। तं जहा — पच्छिमरत्तिसज्झायं खमाविय बहि णिक्कलिय पासुगे भूमिपदेसे काओसग्गेण पुव्वाहिमुहो ट्ठाइदूण णवगाहापरियट्टणकालेण पुव्वदिसं सोहिय पुणो पदाहिणेण पल्लट्टिय एदेणेव कालेण जम-वरुण-सोमदिसासु सोहिदासु छत्तीसगाहुच्चारणकालेण (३६) अट्टसदुस्सासकालेण वा कालसुद्धी समप्पदि (१०८) अवरणहे वि एवं चेव कालसुद्धी कायव्वा। णवरि एक्केक्काए दिसाए सत्त-सत्तगाहापरियट्टणेण परिच्छिण्णकाला त्ति णायव्वा। एत्थ सब्बगाहापमाणमट्ठावीस (२८) चउरासीदिउस्सासा (८४) पुणो अणत्थमिदे दिवायरे खेत्तसुद्धिं कादूण अत्थमिदे कालसुद्धिं पुव्वं व कुज्जा। णवरि एत्थ कालो वीसगाहुच्चारणमेत्तो (२०) सट्ठिउस्सासमेत्तो वा (६०) अवररत्ते णत्थि वायणा, खेत्तसुद्धिकरणोवायाभावादो। ओहि-मणपज्जवणाणीणं सयलंगसुदधराणमागासट्ठियच्चारणाणं

यहाँ व्याख्यान करने वालों और सुनने वालों को भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि से व्याख्यान करने या पढ़ने में प्रवृत्ति करना चाहिए। उनमें ज्वर, कुक्षिरोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्टा, मूत्र, लेप, अतीसार और पीव का बहना इत्यादिकों का शरीर में न रहना द्रव्यशुद्धि कही जाती है। व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश से चारों ही दिशाओं में अट्ठाईस हजार आयत क्षेत्र में विष्टा, मूत्र, हड्डी, केश, नख और चमड़े आदि के अभाव को; तथा छठी अतीत वाचना से समीप में (या दूरी तक) पंचेन्द्रिय जीव के शरीर संबंधी गीली हड्डी, चमड़ा, मांस और रुधिर के संबंध के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते हैं। बिजली, इन्द्र-धनुष, सूर्य-चन्द्र का ग्रहण, अकालवृष्टि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आच्छादित दिशायेँ, दिशादाह, धूमिकापात (कुहरा), संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वरमहिमा और जिनमहिमा इत्यादि के अभाव को कालशुद्धि कहते हैं।

यहाँ कालशुद्धि करने के विधान को कहते हैं। वह इस प्रकार है — पश्चिम रात्रि के स्वाध्याय को समापन करके बाहर निकल कर प्रासुक भूमिप्रदेश में कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओं के उच्चारण काल से पूर्व दिशा को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणरूप से पलटकर इतने ही काल से दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओं को शुद्ध कर लेने पर छत्तीस (३६) गाथाओं के उच्चारणकाल से अथवा एक सौ आठ (१०८) उच्छ्वासकाल से कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराह्नकाल में भी इसी प्रकार ही कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि इस समय की कालशुद्धि एक-एक दिशा में सात-सात गाथाओं के उच्चारणकाल से सीमित है, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ सब गाथाओं का प्रमाण अट्ठाईस एवं उच्छ्वासों का प्रमाण चौरासी (८४) है। पश्चात् सूर्य के अस्त होने से पहले क्षेत्रशुद्धि करके सूर्य के अस्त हो जाने पर पूर्व के समान कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है यह काल बीस (२०) गाथाओं के उच्चारण प्रमाण और साठ (६०) उच्छ्वास प्रमाण है। अपररात्र अर्थात् रात्रि के पिछले भाग में वाचना नहीं है क्योंकि उस समय

मेरु-कुलसेलगम्भट्टियचारणाणं च अवररत्तियवाचणा वि अत्थि अवगयखेत्तसुद्धीदो। अवगयराग-
दोसाहंकारदु-रुद्धज्झाणस्स पंचमहव्वयकलिदस्स तिगुत्तिगुत्तस्स णाण-दंसण-चरणादिचारणवट्ठिदस्स
भिक्खुस्स भावसुद्धी होदि। अत्रोपयोगिश्लोकाः। तद्यथा —

यमपटवहरश्रवणे रुधिरस्त्रावेऽगतोऽतिचारे^१ च।
दातृष्वशुद्धकायेषु भुक्तवति चापि नाध्येयम्॥१२॥
तिलपलल-पृथुक-लाजा-पूपादिस्निग्धसुरभिगंधेषु।
भुक्तेषु भोजनेषु च दावाग्निधूमे च नाध्येयम्॥१३॥
योजनमण्डलमात्रे संन्यासविधौ महोपवासे च।
आवश्यकक्रियायां केशेषु च लुच्यमानेषु॥१४॥
सप्तदिनान्यध्ययनं प्रतिषिद्धं स्वर्गगते श्रमणसूरौ।
योजनमात्रे दिवसत्रितयं त्वतिदूरतो दिवसम्॥१५॥
प्राणिनि च तीव्रदुःखान्प्रियमाणे स्फुरति चातिवेदनया।
एकनिवर्तनमात्रे तिर्यक्षु चरत्सु च न पाठ्यम्॥१६॥
तावन्मात्रे स्थावरकायक्षयकर्मणि प्रवृत्ते च।
क्षेत्राशुद्धौ दूराद् दुर्गंधे वातिकुणपे वा॥१७॥
विगतार्थागमने वा स्वशरीरे शुद्धिवृत्तिविरहे वा।
नाध्येयः सिद्धान्तः शिवसुखफलमिच्छता व्रतिना॥१८॥

क्षेत्रशुद्धि करने का कोई उपाय नहीं है। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, समस्त अंगश्रुत के धारक, आकाशस्थित चारण तथा मेरु व कुलाचलों के मध्य में स्थित चारण ऋषियों के अपररात्रिक वाचना भी है, क्योंकि वे क्षेत्रशुद्धि से रहित हैं, अर्थात् भूमि पर न रहने से उन्हें क्षेत्रशुद्धि करने की आवश्यकता नहीं होती। राग, द्वेष, अहंकार, आर्त व रौद्र ध्यान से रहित, पाँच महाव्रतों से युक्त, तीन गुणियों से रक्षित, तथा ज्ञान, दर्शन व चारित्र आदि आचार से वृद्धि को प्राप्त भिक्षु के भावशुद्धि होती है। यहाँ उपयोगी श्लोक इस प्रकार हैं —

गाथार्थ — यमपटह का शब्द सुनने पर, अंग से रक्तस्त्राव के होने पर, अतिचार के होने पर तथा दाताओं के अशुद्धकाय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए॥१२॥

तिलमोदक, चिउड़ा, लाई और पुआ आदि चिक्कण एवं सुगंधित भोजनों के खाने पर तथा दावानल का धुआँ होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए॥१३॥

एक योजन के घेरे में संन्यासविधि, महोपवासविधि, आवश्यकक्रिया एवं केशों का लोंच होने पर तथा आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक अध्ययन का प्रतिषेध है। उक्त घटनाओं के योजनमात्र में होने पर तीन दिन तक तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक अध्ययन निषिद्ध है॥१४-१५॥

प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से छटपटाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा या गुंठा) मात्र में तिर्यचों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए॥१६॥

उतने मात्र में स्थावरकाय जीवों के घातरूप कार्य में प्रवृत्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यन्त सड़ी गंध के आने पर, ठीक अर्थ समझ में न आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्धि से रहित होने पर मोक्षसुख के चाहने वाले व्रती पुरुष को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिए॥१७-१८॥

प्रमितिररत्तिशतं स्यादुच्चारविमोक्षणक्षितेरात्।
 तनुसलिलमोक्षणेऽपि च पंचाशदरत्तिरेवातः॥१९१॥
 मानुषशरीरलेशावयवस्याप्यत्र दण्डपंचाशत्।
 संशोध्य तिरश्चां तदर्द्धमात्रैव भूमिः स्यात्॥१९०॥
 व्यन्तरभेरीताडन-तत्पूजासंकटे कर्षणे वा।
 संमृक्षण-संमार्ज्जनसमीपचाण्डालबालेषु॥१९१॥
 अग्निजलरुधिरदीपे मांसास्थिप्रजनने तु जीवानां।
 क्षेत्रविशुद्धिर्न स्याद्यथोदितं सर्वभावज्ञैः॥१९२॥
 क्षेत्रं संशोध्य पुनः स्वहस्तपादौ विशोध्य शुद्धमनाः।
 प्रासुकदेशावस्थो गृह्णीयाद् वाचनां पश्चात्॥१९३॥
 युक्त्या समधीयानो वक्षणकक्षाद्यमस्पृशन् स्वाङ्गम्।
 यत्नेनाधीत्य पुनर्यथाश्रुतं वाचनां मुंचेत्॥१९४॥
 तपसि द्वादससंख्ये स्वाध्यायः श्रेष्ठ उच्यते सदिभः।
 अस्वाध्यायदिनानि ज्ञेयानि ततोऽत्र विद्वदिभः॥१९५॥
 पर्वसु नन्दीश्वरवर महिमा दिवसेषु चोपरागेषु।
 सूर्याचन्द्रमसोरपि नाध्येयं जानता व्रतिना॥१९६॥
 अष्टम्यामध्ययनं गुरु-शिष्यद्वयवियोगमावहति।
 कलहं तु पौर्णमास्यां करोति विघ्नं चतुर्दश्याम्॥१९७॥

मल छोड़ने की भूमि से नौ अरत्ति प्रमाण दूर, तनुसलिल अर्थात् मूत्र के छोड़ने में भी इस भूमि से पचास अरत्ति दूर, मनुष्य शरीर के लेशमात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष तथा तिर्यचों के शरीरसंबन्धी अवयव के स्थान से उससे आधी मात्र अर्थात् पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए॥१९१-१९०॥

व्यन्तरों के द्वारा भेरीताड़न करने पर, उनकी पूजा का संकट होने पर, कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालकों के समीप में झाड़ा-बुहारी करने पर, अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के मांस व हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र की विशुद्धि नहीं होती जैसा कि सर्वज्ञों ने कहा है॥१९१-१९२॥

क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना को ग्रहण करे॥१९३॥

बाजू और काँख आदि अपने अंग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करके पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड़ दे॥१९४॥

साधु पुरुषों ने बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय को श्रेष्ठ कहा है। इसलिए विद्वानों को स्वाध्याय न करने के दिनों को जानना चाहिए॥१९५॥

पर्वदिनों (अष्टमी व चतुर्दशी आदि) नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिमदिवसों अर्थात् अष्टाह्निक दिनों में और सूर्य-चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान् व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए॥१९६॥

अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनों के वियोग को करता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है॥१९७॥

कृष्णचतुर्दश्यां यद्यधीयते साधवो ह्यमावस्याम्।
 विद्योपवासविधयो विनाशवृत्तिं प्रयान्त्यशेषं सर्वे॥१०८॥
 मध्यान्हे जिनरूपं नाशयति करोति संध्योर्व्याधिम्।
 तुष्यन्तोऽप्यप्रियतां मध्यमरात्रौ समुपयान्ति॥१०९॥
 अतितीव्रदुःखितानां रुदतां संदर्शने समीपे च।
 स्तनयितुविद्युदभ्रेष्वतिवृष्ट्या उल्कनिर्घाते॥११०॥
 प्रतिपद्येकः पादो ज्येष्ठामूलस्य पौर्णमास्यां तु।
 सा वाचनाविमोक्षे छाया पूर्वाणहबेलायां॥१११॥
 सैवापराणहकाले वेला स्याद्वाचनाविधौ विहिता।
 सप्तपदी पूर्वाणहापराणहयोर्ग्रहण-मोक्षेषु॥११२॥
 ज्येष्ठामूलात्परतोऽप्यापौषादद्वयंगुला हि वृद्धिः स्यात्।
 मासे मासे विहिता क्रमेण सा वाचना छाया॥११३॥
 एवं क्रमप्रवृद्ध्या पादद्वयमत्र हीयते पश्चात्।
 पौषादाज्येष्ठान्ताद् द्वयंगुलमेवेति विज्ञेयम्॥११४॥
 दव्वादिवदिक्रमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण।
 असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च॥११५॥

यदि साधुजन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवासविधि सब विनाशवृत्ति को प्राप्त होते हैं॥१०८॥

मध्यान्हकाल में किया गया अध्ययन जिनरूप को नष्ट करता है, दोनों संध्याकालों में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्तजन भी द्वेष को प्राप्त होते हैं॥१०९॥

अतिशय तीव्र दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए॥११०॥

जेठ मास की प्रतिपदा एवं पूर्णमासी को पूर्वान्ह काल में वाचना की समाप्ति में एक पाद अर्थात् एक वितस्ति प्रमाण (जांघों की) वह छाया कही गई है। अर्थात् इस समय पूर्वान्हकाल में बारह अंगुल प्रमाण छाया के रह जाने पर अध्ययन समाप्त कर देना चाहिए॥१११॥

वही समय (एक पाद) अपरान्हकाल में वाचना की विधि में अर्थात् प्रारंभ करने में कहा गया है। पूर्वान्हकाल में वाचना का प्रारंभ करने और अपरान्हकाल में उसके छोड़ने में सात पाद (वितस्ति) प्रमाण छाया कही गई है (अर्थात् प्रातःकाल जब सात पाद छाया हो जावे तब अध्ययन प्रारंभ करे और अपरान्ह में सात पाद छाया रह जाने पर समाप्त करे)॥११२॥

ज्येष्ठ मास के आगे पौष मास तक प्रत्येक मास में दो अंगुल प्रमाण वृद्धि होती है। यह क्रम से वाचना समाप्त करने की छाया का प्रमाण कहा गया है॥११३॥

इस प्रकार क्रम से वृद्धि होने पर पौष मास तक दो पाद हो जाते हैं। पश्चात् पौष मास से ज्येष्ठ मास तक दो अंगुल ही क्रमशः कम होते जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए॥११४॥

सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ से किया गया द्रव्यादिक का अतिक्रमण असमाधि अर्थात् सम्यक्त्वादिकी विराधना, अस्वाध्याय अर्थात् शास्त्रादिकों का अलाभ, कलह, व्याधि और वियोग को करता है॥११५॥

विणएण सुदमधीदं किह वि पमादेण होइ विस्सरिदं।
 तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।।११६।।
 अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।
 निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः।।११७।।^१

श्रीकुंदकुंददेवेनापि प्रोक्तं दिक्शुद्धिप्रकरणं —

णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोधीए।
 पुव्वणहे अवरणहे, पदोसकाले य सज्झाए।।२७३।।^२

पुनः द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिं प्रतिपाद्य सूत्रस्य लक्षणमपि निरूप्य अस्वाध्यायकाले कस्य के के ग्रन्थाः पठितुं न शक्यन्ते।

इति प्ररूपयन्नाह —

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरदइत्थिवग्गस्स।
 एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए।।२७८।।^३

तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य संयत समूहस्य स्त्रीवर्गस्य चार्थिकावर्गस्य च इतोऽस्मादन्यो ग्रन्थः कल्प्यते पठितुमस्वाध्यायेऽन्यत्युनः सूत्रं कालशुद्ध्याद्यभावेऽपि युक्तं पठितुमिति।

किं तदन्यत् सूत्रमित्यत आह —

आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
 पच्चक्खाणावासय-धम्मक्काहाओ य एरिसओ।।२७९।।^४

विनय से पढ़ा गया श्रुत यदि किसी प्रकार भी प्रमाद से विस्मृत हो जाता है तो परभव में वह उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है।।११६।।

जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, संदेह से रहित हो, परमार्थ सहित हो, गूढ पदार्थों का निर्णय करने वाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और यथार्थ हो उसे पण्डित जन सूत्र कहते हैं।।११७।।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने भी दिक्शुद्धिप्रकरण को कहा है —

गाथार्थ — पूर्वान्ह, अपरान्ह और प्रदोषकाल के स्वाध्याय करने में दिशाओं के विभाग की शुद्धि के लिए नव, सात और पाँच बार गाथा प्रमाण णमोकार मंत्र को पढ़े।।२७३।।

पुनः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव शुद्धि का प्रतिपादन करके सूत्र के लक्षण का भी निरूपण करके अस्वाध्याय काल में किसको कौन-कौन से ग्रंथ नहीं पढ़ना चाहिए, ऐसा प्ररूपित करते हैं —

गाथार्थ — अस्वाध्याय काल में मुनिवर्ग और आर्थिकाओं को इन सूत्रग्रंथ का पढ़ना ठीक नहीं है। इनसे भिन्न अन्य ग्रंथ को अस्वाध्याय काल में पढ़ सकते हैं।।२७८।।

विरत वर्ग अर्थात् संयतसमूह को और स्त्रीवर्ग अर्थात् आर्थिकाओं को अस्वाध्याय काल में — पूर्वोक्त कालशुद्धि आदि से रहित काल में इन सूत्रग्रंथों का स्वाध्याय करना युक्त नहीं है किन्तु इन सूत्रग्रंथों से अतिरिक्त अन्य ग्रंथों को कालशुद्धि आदि के अभाव में भी पढ़ा जा सकता है ऐसा समझना चाहिए।

इनसे भिन्न अन्य सूत्र ग्रंथ कौन-कौन से हैं ? ऐसा पूछने पर कहते हैं —

गाथार्थ — आराधना के कथन करने वाले ग्रंथ, मरण को कहने वाले ग्रंथ, संग्रह ग्रंथ, स्तुतिग्रंथ,

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक ९, पृ. २५३ से २५७। २. मूलाचार गाथा २७३। ३. मूलाचार गाथा २७८। ४. मूलाचार गाथा २७९।

संग्रहः पंचसंग्रहादयः—गोम्मटसारादयो ग्रन्थाः अस्वाध्यायकालेऽपि पठितुं शक्यन्ते। अत्रैतत् ज्ञातव्यं—मुनीनामिव आर्यिकाणामपि सिद्धान्तग्रन्थपठनस्याधिकारोऽस्ति। किं च—मूलाचारे गाथायामपि ‘विरदइत्थिवग्गस्स’ पाठो वर्तते। टीकायामपि सिद्धान्तचक्रवर्तिश्रीवसुनन्दिसूरिणा कथितं—“स्त्रीवर्गस्य चार्थिकावर्गस्य इति” तथा च “वर्तमाने काले षट्खण्डागम-कषायप्राभृत-महाबंधग्रन्थाः एतेषां धवलाजयधवला-महाधवला टीकाः सिद्धान्तग्रन्थरूपेण मान्याः सन्ति इति ज्ञातव्यं” श्रीटीकाकारवीर-सेनाचार्यवाक्यैरिति नात्र संदेहो विधातव्यः।

प्रत्याख्यान, आवश्यक क्रिया और धर्मकथा संबंधी ग्रंथ तथा और भी ऐसे ही ग्रंथ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं।।२७९।।

‘संग्रह’ ग्रंथ से पञ्चसंग्रह आदि — गोम्मटसार आदि ग्रंथ अस्वाध्याय काल में भी पढ़े जा सकते हैं।

यहाँ यह जानना चाहिए कि मुनियों के समान ही आर्यिकाओं को भी सिद्धान्तग्रंथ पढ़ने का अधिकार है। दूसरी बात यह है कि मूलाचार की गाथा में भी विरतस्त्रीवर्ग पाठ है। उसकी टीका में भी सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य ने कहा है कि यहाँ स्त्रीवर्ग से आर्यिकावर्ग को ग्रहण करना चाहिए। वर्तमानकाल में षट्खण्डागम, कषायप्राभृत और महाबंध नाम के ग्रंथ हैं, उनकी धवला, जयधवला, महाधवला टीकाएँ सिद्धान्तग्रंथ रूप से मान्य हैं ऐसा टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य के वाक्यों से मानना चाहिए इसमें कोई संदेह नहीं करना चाहिए।

विशेषार्थ — वर्तमानकाल में षट्खण्डागम सूत्र, कसायपाहुड़ सूत्र और महाबंध सूत्र अर्थात् धवला, जयधवला और महाधवला को सूत्रग्रंथ माना जाता है। चूँकि श्रीवीरसेनाचार्य ने धवला, जयधवला टीका में इन्हें सूत्रसदृश मानकर सूत्रग्रंथ कहा है। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों को अस्वाध्याय काल में भी पढ़ा जा सकता है।

मूलाचार ग्रंथ में उपर्युक्त दिक्शुद्धि प्रकरण को टीकाकार श्री वसुनन्दि आचार्य ने अपनी आचारवृत्ति टीका में खुलासा किया है जिसकी हिन्दी टीका करते हुए पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी लिखती हैं —

दिशाओं का विभाग दिग्विभाग है। उसकी शुद्धि अर्थात् दिशाओं का उल्कापात आदि से रहित होना। पूर्वान्हकाल के स्वाध्याय के विषय में इस दिग्विभाग की शुद्धि के निमित्त प्रत्येक दिशा में कायोत्सर्ग से स्थित होकर नव-नव गाथा प्रमाण जाप्य करना चाहिए। उसमें यदि दिशादाह आदि होते हैं तब कालशुद्धि नहीं होती है। जैसे — पश्चिमरात्रि में स्वाध्याय समाप्त कर वसंतिका से बाहर निकलकर प्रासुक भूमिप्रदेश में कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओं के उच्चारण काल से पूर्व दिशा को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणा क्रम से पलटकर इतने ही काल से दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा को शुद्ध कर लेने पर छत्तीस गाथाओं के उच्चारणकाल से अथवा एक सौ आठ उच्छ्वास काल से (एक बार णमोकार मंत्र में तीन उच्छ्वास होने से चार दिशा संबंधी नव-नव के छत्तीस $9 \times 8 = 36$ के $36 \times 3 = 108$ एक सौ आठ उच्छ्वासों से) कालशुद्धि समाप्त होती है। अपरान्हकाल में भी इसी प्रकार कालशुद्धि करनी चाहिए। विशेष इतना है कि इस समय की कालशुद्धि एक-एक दिशा में सात-सात गाथाओं के उच्चारण से होती है। यहाँ सब गाथाओं का प्रमाण अट्ठाईस अथवा उच्छ्वासों का प्रमाण चौरासी है। पश्चात् सूर्य के अस्त होने से पहले क्षेत्रशुद्धि करके सूर्यास्त हो जाने पर पूर्व के समान कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ काल बीस गाथाओं के उच्चारण

तात्पर्यमेतत् — द्वादशम-दृष्टिवादांगस्यांतर्गत-द्वितीयाग्रायणीयपूर्वस्यांशात्मके अस्मिन् आगमग्रन्थे मंगलाचरणरूपस्य प्रथमगाथासूत्रस्यानन्तरं ग्रन्थप्रतिपाद्यविषयप्रतिज्ञारूपे द्वितीयसूत्रे एतत्कथितं, यत् चतुर्दशगुणस्थानानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि वक्तव्यानि भवन्ति। तत्रापि प्रथमतः मार्गणानामानि वक्ष्यन्ते। तत्किं मार्गणं नाम ? इति पृष्ठे सति प्रत्युत्तरयत्याचार्यदेवः —

सत्संख्याक्षेत्राद्यनुयोगद्वारैः विशिष्टानि चतुर्दशगुणस्थानानि मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणम्।

अथ मार्गणाप्रतिपादनसूचनार्थं तृतीयसूत्रमवतरति —

तं जहा।।३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अस्मिन् सूत्रे तदिति शब्देन पूर्वप्रकरणं परामृश्यते “तं” तत् मार्गणविधानं ‘जहा’ यथा इति। येन प्रकारेण ग्रन्थे प्रतिपादितमस्ति। ‘तथा’ तेनैव प्रकारेण वक्ष्यामीति एतदेवबोद्धव्यम्।

प्रमाण अर्थात् साठ उच्छ्वास प्रमाण है।

अपररात्रि के समय वाचना नहीं है क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का उपाय नहीं है, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, समस्त अंगश्रुत के धारक, आकाश स्थित चारणमुनि तथा मेरु व कुलाचलों के मध्य स्थित चारण ऋषियों के अपररात्रिक वाचना भी है, क्योंकि वे क्षेत्रशुद्धि से रहित हैं।

अभिप्राय यह हुआ कि पिछली रात्रि के स्वाध्याय में आजकल मुनि और आर्यिकाएँ सूत्रग्रंथों का वाचना नामक स्वाध्याय न करें एवं उनसे अतिरिक्त आराधना ग्रंथ आदि का स्वाध्याय करके सूर्योदय के दो घड़ी (४८ मिनट) पहले स्वाध्याय समाप्त कर बाहर निकलकर प्रासुक प्रदेश में खड़े होकर चारों दिशाओं में तीन-तीन उच्छ्वासपूर्वक नव-नव बार णमोकारमंत्र का जाप्य करके दिशा-शुद्धि करें। पुनः पूर्वान्ह स्वाध्याय समाप्ति के बाद भी अपरान्ह स्वाध्याय हेतु चारों दिशाओं में सात-सात बार महामंत्र जपें। तथैव अपरान्ह स्वाध्याय के अनन्तर भी पूर्वर्रात्रिक स्वाध्याय हेतु पाँच-पाँच महामंत्र से दिशाशोधन कर लें। अपररात्रिक के लिए दिक्शोधन का विधान नहीं है, क्योंकि उस काल में ऋद्धिधारी महामुनि ही वाचना स्वाध्याय करते हैं और उनके लिए दिशा-शुद्धि की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि बारहवें दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत द्वितीय अग्रायणीय पूर्व के अंशरूप इस आगमग्रंथ में मंगलाचरणरूप प्रथम गाथासूत्र के अनन्तर ग्रंथ के प्रतिपाद्यविषय की प्रतिज्ञारूप द्वितीय सूत्र में यह कहा है कि चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थान कहे गये हैं। उसमें भी पहले मार्गणा के नामों को कहेंगे। वह “मार्गणा” नाम क्यों पड़ा ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव प्रत्युत्तर देते हैं —

सत्, संख्या, क्षेत्रादि आठ अनुयोगद्वारों से विशिष्ट चौदह गुणस्थानों को जिसमें खोजा जाता है वह मार्गणा है।

अब मार्गणाओं के प्रतिपादन की सूचना के लिए तृतीय सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

वे चौदह मार्गणास्थान हैं जैसे कि अगले सूत्र में प्रतिपादित हैं।।३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इस सूत्र में जो ‘तं’ शब्द है उससे तत् इस अर्थ से पूर्व प्रकरण का परामर्श — ग्रहण होता है। ‘तत्’ इस शब्द से मार्गणा के भेदों का विधान करना चाहिए। ‘जहा’ अर्थात् ‘यथा’ जिसका अर्थ है — जैसे। अर्थात् जिस प्रकार से ग्रंथ में प्रतिपादित है उसी प्रकार से मैं कहूँगा ऐसा जानना

अथवा तानि मार्गणास्थानानि कानि ? इति शिष्यस्य प्रश्ने सति—

तत् मार्गणास्थानप्रतिपादनार्थं उत्तरसूत्रस्यावतारो भवति—

**गड़ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय
सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि।।४।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एतानि चतुर्दशमार्गणानामानि — गड़-गतौ, इंदिए-इन्द्रिये, काए-काये, जोगे-योगे, वेदे-वेदे, कसाए-कषाये, णाणे-ज्ञाने, संजमे-संयमे, दंसणे-दर्शने, लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए-लेश्यायां, भव्ये, सम्यक्त्वे, संज्ञिनि, आहारे, चेदि-च इति। एषु जीवसमासा-गुणस्थानानि मृग्यन्ते। अत्र 'च' शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते समुच्चयार्थः। 'इति' शब्दः समाप्तौ वर्तते।

अत्र सूत्रे सप्तमीनिर्देशः किमर्थः ?

तेषामधिकरणत्वप्रतिपादनार्थः। तृतीयानिर्देशोऽपि अविरोद्धः।

स तृतीया निर्देशः कथमवबुद्ध्यते ?

निर्देशस्य देशामर्शकत्वात्। यत्र च गत्यादौ विभक्तिर्न श्रूयते तत्रापि 'आइ-मज्झंत-वण्ण-सर-लोवो' इति लुप्ता विभक्तिरित्यभ्यूह्यम्। अहवा 'लेस्सा-भविय-सम्मत्त-सण्णि-आहारए चेदि' एकपदत्वात् न अवयवविभक्तयः श्रूयन्ते।

चाहिए। अथवा वे मार्गणास्थान कौन से हैं ? ऐसा किसी शिष्य के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उन मार्गणास्थानों के प्रतिपादन के लिए उत्तर सूत्र का अवतार हुआ है।

सूत्रार्थ —

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं और इनमें जीव खोजे जाते हैं।।४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — चौदह मार्गणाओं के ये नाम हैं — गति में, इन्द्रिय में, काय में, योग में, वेद में, कषाय में, ज्ञान में, संयम में, दर्शन में, लेश्या में, भव्यत्व में, सम्यक्त्व में, संज्ञी में और आहार में जीवसमास अर्थात् गुणस्थानों को खोजा जाता है।

यहाँ सूत्र में 'च' शब्द प्रत्येक के साथ लगाने वाला समुच्चयार्थ का सूचक है। 'इति' शब्द समाप्तिरूप अर्थ में आया है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मार्गणाएँ चौदह ही होती हैं।

प्रश्न — सूत्र में यहाँ सप्तमी निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर — उन गति आदि मार्गणाओं को जीवों का आधार बताने के लिए सप्तमी विभक्ति का निर्देश किया है। इसी तरह सूत्र में प्रत्येक पद के साथ तृतीया विभक्ति का निर्देश भी हो सकता है इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

प्रश्न — वह तृतीया विभक्ति का निर्देश कैसे जाना जाता है ?

उत्तर — यहाँ तृतीया विभक्ति का कथन देशामर्शक है इसलिए तृतीया और सप्तमी दोनों का ग्रहण किया जा सकता है।

सूत्रोक्त गति आदि जिनपदों में विभक्ति नहीं पाई जाती है, वहाँ पर भी "आइमज्झंतवण्णसरलोवो" अर्थात् आदि, मध्य और अन्त के वर्ण और स्वर का लोप हो जाता है। इस प्राकृत व्याकरण के सूत्र के

अथ लोकेऽपि चतुर्भिः प्रकारैः अन्वेषणं दृश्यते—ततोऽत्रापि चतुर्भिः मार्गणा निष्पद्यमाना उपलभ्यते। तद्यथा—मृगयिता, मृग्यं, मार्गणं, मार्गणोपायः इति। एषु तावत्-मृगयिता भव्यपुण्डरीकः तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीवः, चतुर्दशगुणस्थानविशिष्टजीवाः मृग्यं, मृग्यस्याधारतां आस्कंदन्ति मृगयितुः करणतामादधानानि वा गत्यादीनि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणोपायः इति।

सूत्रे शेषत्रितयं परिहृत्य किमिति मार्गणमेवोक्तमिति चेन्न, तस्य देशामर्शकत्वात्, तन्नान्तरीयकत्वाद्वा।^१
अत्र तावन्मार्गणायाः लक्षणमुच्यते—

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तथा दिट्ठा।

ताओ चोद्दस जाणे, सुदणाणे मग्गणा होति।।^२

आसां मार्गणानां उत्तरभेदाः पंचनवतिः भवन्ति। चतुःकषायापेक्षया चतुःसप्ततिः, षोडशकषायापेक्षया षडशीतिः पंचविंशतिकषायापेक्षया वा पंचनवतिः इति। इतो विस्तरः—गतयश्चतस्रः, इन्द्रियाणि पंच, कायाः षट्, योगाः पंचदश, वेदास्त्रयः, कषायाः चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः, अनन्तानुबन्ध्यादि-

नियमानुसार विभक्ति का लोप हो गया है फिर भी उसका अस्तित्व समझ लेना चाहिए। अथवा “लेस्साभवियसम्मत्तसण्णिआहारए” यह एक पद समझना चाहिए, इसलिए लेश्या आदि प्रत्येक पद में विभक्तियाँ देखने में नहीं आती हैं।

लोक में अर्थात् व्यवहारिक पदार्थों का विचार करते समय भी चार प्रकार से अन्वेषण देखा जाता है। वे चार प्रकार ये हैं—मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय। वे इस प्रकार हैं—जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला भव्यपुण्डरीक मृगयिता अर्थात् लोकोत्तर पदार्थों का अन्वेषण करने वाला है। चौदह गुणस्थानों से युक्त जीव मृग्य अर्थात् अन्वेषण करने योग्य है। जो मृग्य अर्थात् चौदह गुणस्थानविशिष्ट जीवों के आधारभूत हैं अथवा अन्वेषण करने वाले भव्य जीव को अन्वेषण करने में अत्यन्त सहायक कारण हैं ऐसी गति आदिक मार्गणा हैं। शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणा के उपाय हैं।

प्रश्न—इस सूत्र में मृगयिता, मृग्य और मार्गणोपाय इन तीन को छोड़कर केवल मार्गणा का ही उपदेश क्यों दिया गया है ?

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि गति आदि मार्गणावाचक पद देशामर्शक हैं इसलिए इस सूत्र में कही गई मार्गणाओं से तत्संबंधी शेष तीनों का ग्रहण हो जाता है अथवा मार्गणा पद शेष तीनों का अविनाभावी है, इसलिए भी केवल मार्गणा का कथन करने से शेष तीनों का ग्रहण हो जाता है।

अब मार्गणा का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—प्रवचन में जिस प्रकार से देखे हों उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार-अन्वेषण किया जाए उनको ही मार्गणा कहते हैं, उनके चौदह भेद हैं ऐसा समझना चाहिए।

इन मार्गणाओं के उत्तरभेद पंचानवे (९५) होते हैं। चार कषायों की अपेक्षा इनके चौहत्तर (७४) भेद हैं, सोलह कषाय की अपेक्षा छियासी (८६) भेद हैं और पच्चीस कषाय की अपेक्षा पंचानवे (९५) भेद हैं।

उन्हीं का विस्तार करते हैं—

चार गति, पाँच इन्द्रियाँ, छह काय, पन्द्रह योग, तीन वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय

अपेक्षया षोडश, हास्यादिनवनोकषायापेक्षया पंचविंशतयो भवन्ति, ज्ञानानि अष्टौ, संयमाः सप्त — सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्याताख्यभेदैः पंच, देशसंयमोऽसंयमश्चेति सप्त। दर्शनानि चत्वारि चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदात्। लेश्याः षट् कृष्णनीलकापोतपीतपद्मशुक्लभेदात्। भव्यमार्गणा द्विविधा भव्यत्वाभव्यत्वभेदात्। संज्ञिमार्गणा द्विविधा संज्ञित्वासंज्ञित्वभेदात्।

सम्यक्त्वमार्गणाः षट् विधा उपशमक्षयक्षयोपशम-मिश्रसासादनमिथ्यात्वभेदात्। संज्ञिमार्गणा द्विविधा संज्ञित्वासंज्ञित्वभेदात्। आहारकमार्गणा द्विविधा आहारकानाहारकभेदात्।

अस्मिन् सत्परूपणाग्रन्थे कषायस्य चत्वारो भेदा एव विवक्षिताः सन्ति।

मेरठजनपदे कमलानगरस्य जिनमंदिरे विदेहक्षेत्रेषु विहरमाण-सीमन्धरादिविंशतितीर्थकराणां मूर्तयः कमल-कमलस्योपरि स्थापयितव्या इति नूतनयोजना प्रेमचंद्रश्रावकस्य मया दत्ता। अग्रे विराजयिष्यमाणाः सर्वाः जिनप्रतिमा मह्यं चतुर्विधस्य संघस्य च सर्वसौख्यं वितरन्तु इति भावयामहे।^१

अधुना संक्षेपेण प्रत्येकमार्गणानामर्थो निगद्यते —

१. गम्यत इति गतिः। भवाद्वयसंक्रान्तिर्वा गतिः, सिद्धिगतिस्तद्विपर्यासात्।

उक्तं च —

गङ्गकम्मविणिज्जत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।

जीवा हु चाउरंगं गच्छंति त्ति य गई होइ।^२

अनन्तानुबंधी आदि की अपेक्षा सोलह कषाय और हास्यादि नौ नोकषाय की अपेक्षा कषाय के पच्चीस भेद होते हैं। ज्ञान आठ हैं, संयम सात हैं — सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात के भेद से पाँच और देशसंयम तथा असंयम ये सात संयम हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल के भेद से दर्शन चार प्रकार का है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के भेद से लेश्या छह प्रकार की है। भव्यमार्गणा भव्यत्व और अभव्यत्व के भेद से दो प्रकार की है। संज्ञित्व और असंज्ञित्व की अपेक्षा संज्ञी मार्गणा के दो भेद हैं।

सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद हैं — उपशम, क्षय, क्षयोपशम, मिश्र, सासादन और मिथ्यात्व। संज्ञित्व और असंज्ञित्व के भेद से संज्ञी मार्गणा दो प्रकार की है। आहारकमार्गणा आहारक, अनाहारक के भेद से दो प्रकार की है।

इस सत्परूपणा ग्रंथ में कषाय के चार भेद ही विवक्षित हैं।

मेरठ जनपद में कमलानगर के जिनमंदिर में मैंने प्रेमचंद्र जैन नाम के श्रावक को प्रेरणा दी कि विदेह क्षेत्रों में विहार करने वाले सीमन्धर आदि विद्यमान बीस तीर्थकरों की मूर्तियों को विराजमान करने हेतु बीस कमलों की रचना करनी चाहिए। ये कमल निर्माण होने के पश्चात् आगे इनमें विराजमान होने वाली समस्त जिनप्रतिमाएँ मेरे लिए, चतुर्विध संघ के लिए तथा सभी के लिए सर्वसुखों को प्रदान करें, ऐसी मेरी भावना है।

अब संक्षेप में प्रत्येक मार्गणा का अर्थ बताते हैं —

१. जो प्राप्त की जाय, उसे गति कहते हैं। अथवा एक भव से दूसरे भव का परिवर्तन गति है। पूर्व में जो गति नामा नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्यायविशेष को अथवा एक भव से दूसरे भव में जाने को गति कह आये हैं, ठीक इससे विपरीत स्वभाववाली सिद्धगति होती है।

कहा भी है —

गाथार्थ — गति नामा नामकर्म के उदय से जो जीव की चेष्टा विशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं अथवा जिसके निमित्त से जीव चतुर्गति में जाते हैं उसे गति कहते हैं।

१. जब यह प्रकरण लिखा तब ३०-११-१९९५ को मैं मेरठ में थी। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. १३६।

गतिनामकर्मोदयेन विनिर्वृत्ता जीवस्य या काचित् चेष्टा पर्याया सा गतिः अथवा जीवा यस्या निमित्तेन नारकतिर्यग्मनुष्यदेवरूपां चतुर्गतिं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति सा गतिर्गीयते।

२. प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणि, अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा। तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरसरूपगन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रिय-निबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत्। भावेन्द्रियकार्यत्वाद् द्रव्यस्येन्द्रियव्यपदेशः।

स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि इति वा। अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि। अथवा इन्द्रनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि। उक्तं च —

अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमहं ति मण्णंता।

ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इंदिए जाण।।^१

यथा अहमिन्द्रा देवाः स्वामिसेवकादिभेदरहिता एकोऽहं इन्द्रः, एकोऽहमिन्द्रः, इति मन्यमाना ईशन्ते — ईश्वरत्वं प्राप्नुवन्ति। तथैव इन्द्रियाण्यपि स्व-स्वविषये स्वतन्त्राणि इति। स्पर्शनरसस्पर्माणचक्षुःश्रोत्रभेदात् पंच भवन्ति।

गतिनामकर्मोदय से बनी हुई जीव की जो कोई चेष्टारूप पर्याय है वह गति है। अथवा जिसके निमित्त से जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देवरूप चार गतियों को प्राप्त करते हैं वह गति कहलाती है।

२. जो प्रत्यक्ष में व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। अक्ष इन्द्रिय को कहते हैं और जो अक्ष-अक्ष के प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो कि इन्द्रियों का विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है। उस इन्द्रियविषय अथवा इन्द्रिय ज्ञानरूप प्रत्यक्ष में जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं।

द्रव्येन्द्रियों के निमित्तरूप ऐसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध नामक ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियाँ होती हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है। क्षयोपशम रूप भावेन्द्रियों के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति होती है इसलिए भावेन्द्रियाँ कारण हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कार्य हैं। इसीलिए द्रव्येन्द्रियों को भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। जो नियमित अपने-अपने विषय में या उस-उस इन्द्रिय से उत्पन्न हुए ज्ञान में “निरतानि” अर्थात् निरत हैं — लगी हुई हैं — व्यापार करती हैं वे इन्द्रियाँ हैं अथवा अपने-अपने विषयरूप अर्थ में जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। अथवा अपने-अपने विषय का स्वतंत्र आधिपत्य करने से इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — जिस प्रकार ग्रैवेयकादि में उत्पन्न हुए अहमिन्द्र देव “मै सेवक हूँ, मैं स्वामी हूँ” इत्यादि विशेषभाव से रहित अपने को मानते हुए एक-एक होकर अर्थात् कोई किसी की आज्ञा आदि के पराधीन न होते हुए स्वयं स्वामीपने को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपने-अपने स्पर्शादिक विषय का ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित हैं अतएव अहमिन्द्रों की तरह इन्द्रियाँ जानना चाहिए।

जैसे अहमिन्द्र आदि स्वामी-सेवक के भेद से रहित होते हुए “मैं इन्द्र हूँ, मैं अहमिन्द्र हूँ” ऐसा मानते हुए ईश्वरत्व — प्रभुत्व को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय में स्वतंत्र होती हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के भेद से वे इन्द्रियाँ पाँच होती हैं।

३. चीयत इति कायः। अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः।

उक्तं च —

अप्पप्पवुत्तिसंचिद-पोग्गलपिंडं वियाण कायो त्ति।

सो जिणमदम्हि भणिओ, पुढविक्कायादिछब्भेदो।

जह भारवहो पुरिसो, वहइ भरं गेण्हऊण कावोडिं।

एमेव वहइ जीवो, कम्मभरं कायकावोडिं।।^१

योगरूपात्मप्रवृत्त्या संचितः औदारिकादिरूपपुद्गलपिण्डः कायो भवति सः जिनमते पृथ्वीजलाग्निवायु-वनस्पतित्रसभेदात् षड्विधो भणितः इति।

४. युज्यत इति योगः। आत्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिबन्धनवीर्योत्पादो वा योगः। अथवात्मप्रदेशानां संकोचविकोचो योगः।

उक्तं च —

मणसा वचसा काएण, चावि जुत्तस्स विरिय-परिणामो।

जीवस्सप्पणिओगो, जोगो त्ति जिणेहिं णिहिट्ठो।।^२

मनोवचनकायनिमित्तोद्भूतक्रियायुक्तस्यात्मनः यः कश्चित् वीर्योत्पादः शक्तिविशेषः स योगः। अथवा

३. जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं। अथवा योगरूप आत्मा की प्रवृत्ति से औदारिकादिरूप पुद्गल पिण्ड को काय कहते हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — योगरूप आत्मा की प्रवृत्ति से संचय को प्राप्त हुए औदारिक आदिरूप पुद्गलपिण्ड को काय समझना चाहिए। वह काय जिनमत में पृथिवीकाय आदि के भेद से छह प्रकार का कहा गया है। वे पृथिवी आदि छह काय, त्रसकाय और स्थावरकाय के भेद से दो प्रकार के हैं।

जिस प्रकार से भार को ढोने वाला पुरुष कावड़ को लेकर भार ढोता है उसी प्रकार यह जीव शरीररूपी कावड़ को लेकर कर्मरूपी भार को ढोता है।

योगरूप आत्मप्रवृत्ति से संचित औदारिक आदिरूप पुद्गल पिण्ड काय होता है वह जिनमत — जैन शासन में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस के भेद से छह प्रकार का कहा गया है।

४. जो संयोग को प्राप्त हो उसे योग कहते हैं। अथवा प्रदेशपरिस्पन्दरूप आत्मा की प्रवृत्ति के निमित्त से कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत वीर्य की उत्पत्ति को योग कहते हैं। अथवा आत्मा के प्रदेशों के संकोच और विस्ताररूप होने को योग कहते हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — मन, वचन और काय के निमित्त से होने वाली क्रिया से युक्त आत्मा के जो वीर्यविशेष उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं अथवा जीव के प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दरूप क्रिया को योग कहते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कथन किया है।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १४०। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १४१।

जीवस्य परिस्पंदनरूपाक्रिया योग इति जिनवरैर्निर्दिष्टः भवति।

सत्यमनोयोगमृषामनोयोग-सत्यमृषामनोयोग-असत्यमृषामनोयोगाश्च चत्वारः मनोयोगाः। सत्य-वचनयोग-मृषावचनयोग-सत्यमृषावचनयोग-असत्यमृषावचनयोगाश्चेति चत्वारः वचनयोगाः। औदारिक-काययोग-औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियिककाययोग-वैक्रियिकमिश्रकाययोग-आहारककाययोग-आहारकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगाश्चेति सप्तविधाः काययोगाः इति पंचदश योगाः भवन्ति।

५. वेद्यत इति वेदः। अत्रापि रूढिवशाद् वेदनाम्नां कर्मणामुदयस्यैव वेदव्यपदेशात्। अथवात्मप्रवृत्ते-मैथुनसम्मोहोत्पादो वेदः।

उक्तं च—

वेदस्सुदीरणाए, बालत्तं पुण णियच्छदे बहुसो।

थी-पुं-णवुंसए वि य, वेए त्ति तओ हवइ वेओ।।^१

वेदकर्मोदयोदीरणानिमित्तेन जीवस्य नानाविधं बालत्वं चांचल्यं वा उत्पद्यते स एव वेदः स्त्री-पुं-नपुंसकभेदात् त्रिधा भिद्यते।

६. सुखदुःखबहुसस्य-कर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः।

मन, वचन, काय के निमित्त से उत्पन्न क्रिया से युक्त आत्मा के जो कुछ वीर्य की उत्पत्तिरूप शक्तिविशेष है वह योग है अथवा जीव के परिस्पन्दनरूप क्रिया योग है ऐसा जिनवरों ने कहा है।

इनमें से मनोयोग के चार भेद हैं—सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग, सत्यमृषामनोयोग और असत्यमृषामनोयोग।

सत्यवचनयोग, मृषावचनयोग, सत्यमृषावचनयोग और असत्यमृषावचनयोग के भेद से वचनयोग चार प्रकार का है।

औदारिक काययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग ये सात काययोग होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर ४+४+७=१५ योग होते हैं।

५. जो वेदा जाय, अनुभव किया जाये उसे वेद कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी रूढ़ि के बल से वेद नामक कर्मों के उदय को ही वेद संज्ञा प्राप्त है।

अथवा आत्मप्रवृत्ति में स्त्री-पुरुष विषयक मैथुनरूप चित्तविक्षेप के उत्पन्न होने को वेद कहते हैं।

कहा भी है—

गाथार्थ—वेद कर्म की उदीरणा से यह जीव नाना प्रकार के बालभाव अर्थात् चांचल्य को प्राप्त होता है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव तथा नपुंसकभाव का वेदन करता है, इसलिए उस वेद कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले भाव को वेद कहते हैं।

वेदकर्म की उदीरणा के निमित्त से जीव के नाना प्रकार के बालपन अथवा चांचलता की उत्पत्ति ही वेद है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से वह वेद तीन प्रकार का है।

६. सुख-दुःखरूपी नानाप्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्मरूपी क्षेत्र को जो कर्षण करती हैं अर्थात् फल उत्पन्न करने के योग्य करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं।

उक्तं च—

सुहदुक्ख-सुबहु-सस्सं, कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।

संसार-दूर-मेरं, तेण कसाओ त्ति णं वेत्ति।।^१

सुखदुःखादिनानाविधसस्यानुत्पादयितुं योग्यं जीवस्य कर्मक्षेत्रं कृषन्ति कर्षणं कुर्वन्ति, संसारमर्यादां अत्यन्तं दूरीकुर्वन्ति ततः कारणात् इमे कषायाः इति कथयन्ति महर्षयः। क्रोधमानमायालोभभेदैश्चतुर्धा कषायाः सन्ति।

७. भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्। अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानं। एतेन संशयविपर्ययानध्यवसायावस्थामु ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात्। शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानं। ततो मिथ्यादृष्ट्यो न ज्ञानिनः इति सिद्धम् द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम्।

उक्तं च—

जाणइ तिकाल-सहिए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेए।

पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति णं वेत्ति।।^२

अनेन जीवः त्रिकालविषयान् समस्तद्रव्यगुणान् तेषां बहुभेदयुक्तान् पर्यायानपि प्रत्यक्षं परोक्षं च जानाति तज्ज्ञानं इति विदन्ति मुनयः। कुमतिकुश्रुतविभंगावधिभेदैः मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञान-भेदैश्चाष्टविधानि ज्ञानानि ज्ञानमार्गणायाम्।

कहा भी है—

गाथार्थ—सुख-दुःख आदि अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र को जो कर्षण करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं।

सुख-दुःखादि नाना प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने योग्य जीव के कर्मक्षेत्र को जो कर्षण करती हैं, संसारमर्यादा को अत्यन्त दूर करती हैं इस कारण से महर्षियों ने इन्हें 'कषाय' कहा है। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषायें चार प्रकार की हैं।

७. सत्यार्थ के प्रकाश करने वाले को ज्ञान कहते हैं अथवा सद्भाव अर्थात् वस्तु स्वरूप का निश्चय कराने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान का इस प्रकार का लक्षण करने से संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्था में ज्ञान का अभाव प्रतिपादित हो जाता है। कारण कि शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा में तत्त्वार्थ को उपलब्ध कराने वाले धर्म को ही ज्ञान कहा है। इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानी नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायों को जानते हैं उसे ज्ञान कहते हैं यह बात सिद्ध होती है।

कहा भी है—

गाथार्थ—जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को प्रत्यक्ष और परोक्षरूप जाने उसको ज्ञान कहते हैं।

इसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक समस्त द्रव्य-गुणों को और उनकी बहुत भेद युक्त पर्यायों को भी प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से जानता है इसीलिए मुनियों ने उसे ज्ञान कहा है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से आठ प्रकार का ज्ञान ज्ञानमार्गणा में कहा गया है।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १४३। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १४५।

८. संयमनं संयमः। न द्रव्ययमः संयमः, तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात्। अतोऽत्र 'सं' शब्देनात्मसात्कृता-शेषसमितित्वात्। अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः।

उक्तं च—

वदसमिद्ध-कसायाणं, दण्डाण तर्हिन्द्रियाण पंचणहं।

धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जया संजमो भणिओ।।^९

पंचमहाव्रतानां धारणं, पंचसमितीनां पालनं, चतुःकषायानां निग्रहः, मनोवचनकायानां त्रिदण्डानां त्यागः, पंचेन्द्रियाणां जयश्चेति संयमो भणितः जिनशासने। सामाधिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्म-सांपराययथाख्याताख्यपंचविधाः संयमाः, देशसंयमोऽसंयमश्चेति सप्तविधाः संयमाः संयममार्गणायाम्।

९. दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्। नाक्ष्णालोकेन चातिप्रसंगः, तयोरनात्मधर्मत्वात्। अंतर्मुखचित्प्रकाशः दर्शनं, बहिर्मुखचित्प्रकाशः ज्ञानं इति न दर्शनज्ञानयोरेकत्वम्। कश्चिदाशंकते-अंतर्बाह्यसामान्यग्रहणं दर्शनम् अंतर्बाह्यविशेषग्रहणं ज्ञानमिति चेत् ? अस्यैव समाधानं क्रियते—नैतद्वक्तव्यं, सामान्यविशेषात्मक-बाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं, तथा सामान्यविशेषात्मक-स्वरूपग्रहणं दर्शनमिति।

८. संयमन करने को संयम कहते हैं। संयम का इस प्रकार लक्षण करने पर द्रव्य यम अर्थात् भावचारित्रशून्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता है। क्योंकि संयम शब्द में ग्रहण किये गये 'सं' शब्द से उसका निराकरण कर दिया है।

अथवा पाँच व्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मनवचनकायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों का जीतना संयम है। कहा भी है—

गाथार्थ — अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का धारण करना, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालना, क्रोध, मान, माया लोभ इन चार कषायों का निग्रह करना, मन, वचन और कायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों का जय, इसको संयम कहते हैं।

पाँच महाव्रतों का धारण, पंच समितियों का पालन, चार कषायों का निग्रह, तीन दण्डों का त्याग और पञ्चेन्द्रियों के जय को जिनशासन में संयम कहा है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात यह पाँच प्रकार का संयम है तथा देशसंयम और असंयम यह सात प्रकार का संयम संयममार्गणा में कहा है।

९. जिसके द्वारा देखा जाये उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन का ऐसा लक्षण करने पर चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी देखने में सहकारी होने से उनमें से दर्शन का लक्षण चला जाता है इसलिए अतिप्रसंग दोष आता है।

अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना है इसलिए इन दोनों के एक होने में विरोध आता है।

यहाँ कोई आशंका करता है कि अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है ऐसा ग्रहण करना चाहिए ?

इस बात का समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और सामान्यविशेषात्मक स्वरूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है यह सिद्ध हो जाता है।

पुनरपि कश्चिदाह — “जं सामण्णाग्गहणं तं दंसणं” इति वचनेन विरोधः स्यादिति चेत् ?

अस्यैव समाधानं क्रियते — नैतत्, किंच — तत्रात्मनः सकलबाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात्।

सामान्यपदेनात्रात्मन एव ग्रहणमिति कथमवसीयते ?

“भावाणां णेव कट्ठु आचारं” इति वचनात्। तद्यथा — भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थां अकृत्वा यद् ग्रहणं तद्दर्शनम्। अस्यैवार्थस्य पुनरपि दृढीकरणार्थमाह — “अविसेसिऊण अट्ठे” इति, पदार्थान् अविशेष्य यद् ग्रहणं तद्दर्शनमिति।

बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनमिति चेत् ?

नैतत् सुष्ठु — विशेषरहितस्य केवलसामान्यस्य वस्तुत्वविरोधात्। तस्यावस्तुनश्च कर्मत्वाभावात्। न च सामान्यमंतरेण विशेषो ग्राह्यत्वं प्राप्नोति, अतिप्रसंगात्।

एवं सति दर्शनं अनध्यवसायरूपं स्यादिति चेत् ?

बाह्यस्यार्थस्यानध्यवसायेऽपि स्वस्याध्यवसायो भवतीति दर्शनमनध्यवसायरूपं नास्ति। एवं सति दर्शनं प्रमाणमेव, अविसंवादित्वात्। प्रतिभासः ज्ञानसामान्यं तत्प्रमाणं च अप्रमाणं च, विसंवादाविसंवादो-भयरूपस्य तत्रोपलम्भात्।

पुनः भी कोई कहता है — “वस्तु का जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं” परमागम के इस वचन के साथ विरोध आता है ?

इसका भी समाधान करते हैं — ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों में साधारण रूप से पाया जाता है इसलिए उक्त वचन में सामान्य संज्ञा को प्राप्त आत्मा को ही सामान्य पद से ग्रहण किया गया है।

शंका — सामान्य पद से यहाँ आत्मा का ही ग्रहण क्यों किया जाता है ?

समाधान — “पदार्थों के आकार अर्थात् भेद को नहीं करके” इस वचन से उक्त बात जानी जाती है। इसी को स्पष्ट करते हैं कि भावों के अर्थात् बाह्य पदार्थों के आकार अर्थात् प्रतिकर्मव्यवस्था को नहीं करके जो ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं। इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि ‘यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है’ इत्यादिरूप से पदार्थों की विशेषता न करके जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं।

शंका — क्या बाह्य पदार्थों में रहने वाले सामान्य को ग्रहण करना दर्शन है ?

समाधान — ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष रहित केवल सामान्य अवस्तु स्वरूप है इसलिए वह दर्शन के कर्मपने को नहीं प्राप्त हो सकता है। उसी प्रकार सामान्य के बिना केवल विशेष भी ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है क्योंकि अवस्तुरूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्य का ग्रहण मान लिया जावे तो अतिप्रसंग दोष आता है।

शंका — दर्शन के लक्षण को इस प्रकार का मान लेने पर अनध्यवसाय को दर्शन मानना पड़ेगा ?

समाधान — बाह्यार्थ का निश्चय न करते हुए भी स्वरूप का निश्चय करने वाला दर्शन है। इसलिए वह अनध्यवसाय नहीं है। ऐसा दर्शन अविसंवादी होने के कारण प्रमाण ही है और जो प्रतिभास अर्थात् ज्ञानसामान्य है वह प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है क्योंकि उसमें विसंवाद और अविसंवाद ये दोनों रूप पाये जाते हैं।

आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका-अस्यार्थोऽयं-आलोकते इति आलोकनमात्मा, वर्तनम् वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनम्। तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः। प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनं। अस्यार्थः— प्रकाशो ज्ञानं, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम्। विषयविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनं इत्यर्थः।

उक्तं च—

जं सामण्णग्गहणं, भावाणं णेव कट्ठ आचारं।

अविसेसिरुण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णदे समये।।^१

सामान्यविशेषात्मबाह्यपदार्थान् पृथक्-पृथक् भेदरूपेण न गृहीत्वा यत् सामान्यग्रहणं-स्वरूपमात्रावभासनं तदेव परमागमे दर्शनमिति उच्यते। तच्चतुर्विधं-चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदादिति।

१०. लिम्पतीति लेश्या। अत्र कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारपेक्षित्वात्। अथवा आत्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या, अत्र प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायत्वात्। अथवा कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या। ततो न केवलः कषायो लेश्या, नापि योगः। ततो न वीतरागाणां योगो लेश्येति न निश्चेतव्यं, योगस्य प्रधानत्वात्, न कषायस्तन्त्रं विशेषणत्वतस्तस्य प्राधान्याभावात्।

अथवा आलोकन वृत्ति को दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो आलोकन करता है उसे आलोकन अर्थात् आत्मा कहते हैं। वर्तन—व्यापार को वृत्ति कहते हैं तथा आलोकन अर्थात् आत्मा की वृत्ति को आलोकनवृत्ति कहते हैं, इसी का नाम स्वसंवेदन है, उसी को दर्शन कहते हैं। यहाँ पर 'दर्शन' इस शब्द से लक्ष्य का निर्देश किया गया है। अथवा प्रकाश—वृत्ति को दर्शन कहते हैं।

इसका अर्थ इस प्रकार है—प्रकाश ज्ञान को कहते हैं और उस ज्ञान के लिए जो आत्मा का व्यापार होता है उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं और वही दर्शन है अर्थात् विषय और विषयी के योग्य देश में होने की पूर्वावस्था को दर्शन कहते हैं। कहा भी है—

गाथार्थ—सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थों को अलग-अलग भेदरूप से ग्रहण करके जो सामान्यग्रहण अर्थात् स्वरूपमात्र का अवभासन होता है उसको परमागम में दर्शन कहा है।

सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थों को पृथक्-पृथक् भेदरूप से ग्रहण करके जो सामान्यग्रहण—स्वरूपमात्र का अवभासन है उसको ही परमागम में दर्शन कहा है। वह दर्शन चार प्रकार का है—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन।

१०. जो लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं। इस लक्षण में यहाँ “कर्मों से आत्मा को” इतने अध्याहार की अपेक्षा है। इसका तात्पर्य है कि जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं अथवा जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्म का संबंध करने वाली है उसको लेश्या कहते हैं। अथवा कषाय से अनुरंजित काययोग, वचनयोग और मनोयोग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर केवल कषाय और केवलयोग को लेश्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कषायानुबिद्ध योगप्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। इसमें ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है। कषाय प्रधान नहीं है क्योंकि वह योगप्रवृत्ति का विशेषण है। अतएव उसकी प्रधानता नहीं है।

उक्तं च—

लिंपदि अप्पीकीरदि, एदाए णियय-पुण्ण-पावं च।

जीवो त्ति होइ लेस्सा, लेस्सा-गुण-जाणय-क्खादा।।^१

एतया अयं जीवः निजात्मानं पुण्यपापाभ्यां लिम्पति, अथवा एतया पुण्य-पापं आत्मसात् करोति सा लेश्या भवति, इति लेश्यागुणज्ञायकैर्गणधरदेवैः कथिता। अस्या लेश्यायाः षड्भेदाः-कृष्णनीलकापोत-पीतपद्मशुक्लाश्चेति।

भारतदेशस्य इन्द्रप्रस्थनामधेया राजधान्यां प्रीतविहारे (कालोनीमध्ये) अनिलकुमारश्रावकस्य गृहस्याग्रे प्रांगणे कमलाकृतेर्जिनमंदिरस्य निर्माणार्थं मया यंत्रं स्थापितं। एतद्भाविमन्दिरं अस्मिन् स्थापयिष्यन्त्यः श्रीऋषभदेवप्रमुखजिनप्रतिमाश्चास्माकं सर्वत्र भारतदेशे च सर्वशान्तिं सर्वसिद्धिं च वितरन्त्विति कामयामहे^२।

११. निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः। सिद्धपदं प्राप्तुं योग्यो भव्यः।

उक्तं च—

सिद्धत्तणस्स जोग्गा, जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।

ण उ मलविगमे णियमो, ताणं कणगोवलाणमिव।।^३

ये जीवाः सिद्धत्वं प्राप्तुं योग्याः सर्वकर्मरहितां सिद्धावस्थां प्राप्तुं योग्याः, ते भव्यसिद्धाः भवन्ति, किन्तु तेषां सर्वेषां मलविगमे नियमो नास्ति कनकोपलानामिव-यथा कस्मांश्चित् स्वर्णपाषाणात् सुवर्णत्वं पृथक्कर्तुं न शक्यते, तथैव केचित् भव्या अपि दूरानुदूरभव्याः प्रोच्यन्ते तेषां तदनुकूलबाह्याभ्यन्तरसामग्र्यभावात् सिद्धत्वं भवितुं नार्हति। तद्विपरीतोऽभव्यः। अस्या भव्यमार्गणाया द्वौ भेदौ-भव्याभव्यौ इति।

कहा भी है—

गाथार्थ—जिसके द्वारा जीव पुण्य और पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं ऐसा लेश्या के स्वरूप को जानने वाले गणधरदेव आदि ने कहा है।

उस लेश्या के छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

भारतदेश की इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) नाम की राजधानी में प्रीतविहार कालोनी के श्रावक अनिल कुमार जैन के घर के बाहर प्रांगण (लॉन) में एक कमलाकार जिनमंदिर के निर्माण हेतु मैंने भूमि में यंत्र को स्थापित किया। यह भावी (भविष्य में बनने वाला) जिनमंदिर एवं इसके अंदर विराजमान होने वाली भगवान ऋषभदेव की जिनप्रतिमा हम लोगों को एवं सम्पूर्ण भारतदेश के नागरिकों को सब प्रकार की शान्ति एवं सिद्धि को प्रदान करें, यही मेरी कामना है।

११. जिसने निर्वाण को पुरस्कृत किया है अर्थात् जो सिद्धपद प्राप्त करने के योग्य है उसको भव्य कहते हैं। कहा भी है—

गाथार्थ—जो जीव सिद्धत्व अर्थात् सर्व कर्म से रहित मुक्तिरूप अवस्था पाने के योग्य हैं उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं किन्तु उनके कनकोपल अर्थात् स्वर्णपाषाण के समान मल का नाश होने में नियम नहीं है।

जैसे किसी स्वर्णपाषाण से स्वर्णपना अलग करना शक्य नहीं होता है उसी प्रकार कुछ भव्य भी 'दूरानुदूर भव्य' कहलाते हैं। उनको उनके अनुकूल बाह्यआभ्यन्तर सामग्री नहीं मिलने से वे सिद्धत्व पद प्राप्त करने के योग्य नहीं होते हैं। इन गुणों से विपरीत—जिन्होंने निर्वाण को पुरस्कृत नहीं किया है उन्हें अभव्य कहते हैं। इस भव्यमार्गणा के दो भेद हैं—भव्य और अभव्य।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १५१। २. उपरोक्त विषय यहीं पर दिनांक १२-१२-९५ को लिखा गया था। ३. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १५१।

१२. प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वं, शुद्धनयापेक्षया एतल्लक्षणं। अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, अशुद्धनयापेक्षया एतल्लक्षणं। अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं, अशुद्धतरनय-समाश्रयणात्।

उक्तं च —

छप्यंच-णवविहाणं, अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।

आणाए अहिगमेण व, सहहणं होइ सम्मत्तं।।^१

षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय-नवपदार्थाः जिनेन्द्रदेवैः उपदिष्टाः सन्ति, तेषां आज्ञया अधिगमेन वा-जिनवरस्याज्ञामात्रेण प्रमाणनयनिक्षेपादिज्ञानेन वा श्रद्धानं सम्यक्त्वं भवति। अस्य विस्तरः सम्यक्त्वमार्गणायां औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-मिथ्यात्व-सासादन-सम्यग्मिथ्यात्वभेदात् षड्विधं वक्ष्यते।

१३. सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। नैकेन्द्रियादिनातिप्रसंगः, तस्य मनसोऽभावात्। अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही संज्ञी।

उक्तं च —

सिक्खाकिरियुवदेसा-लावग्गाही-मणोवलंबेण।

जो जीवो सो सण्णी, तव्विवरीदो असण्णी दु।।^२

यो जीवो मनसोऽवलंबनेन शिक्षा-क्रिया-उपदेश-आलापान् गृहीतुं शक्नोति स संज्ञी इति कथ्यते। यः शिक्षादिग्रहणे अक्षमः स असंज्ञी भवति। अस्यां संज्ञि-असंज्ञिभेदात् द्वौ भेदौ भवतः।

१२. प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रगटता जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं। शुद्धनय — निश्चयनय की अपेक्षा यह लक्षण है।

अथवा तत्त्व और पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, अशुद्धनय — व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन का यह लक्षण है। अथवा तत्त्वों के प्रति रुचि सम्यक्त्व है अशुद्धतर नय के आश्रय से यह लक्षण कहा गया है। कहा भी है —

गाथार्थ — जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थों का आज्ञा अर्थात् आप्तवचन के आश्रय से अथवा अधिगम — प्रमाण, नय, निक्षेप और निरुक्ति रूप अनुयोगद्वारों से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं।

इसका विस्तार सम्यक्त्वमार्गणा में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, मिथ्यात्व, सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व के भेद से छह प्रकार से करेंगे।

१३. जो भली प्रकार जानता है उसको संज्ञ अर्थात् मन कहते हैं। वह मन जिसके होता है उसको संज्ञी कहते हैं। यह लक्षण एकेन्द्रिय आदि में नहीं घटता है क्योंकि उनके मन का अभाव रहता है। अथवा शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करने वाले संज्ञी कहलाते हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — जो जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं और जो इन शिक्षा आदि को ग्रहण नहीं कर सकता है उसको असंज्ञी कहते हैं।

इस संज्ञी मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी ये दो भेद होते हैं।

१४. शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः। औदारिकादिशरीरयोग्यानां पुद्गलपिण्डानां ग्रहणं आहारः।

उक्तं च —

आहरदि सरीराणं, तिण्हं एगदर-वग्गणाओ जं।

भासा-मणस्स णियदं, तम्हा आहारओ भणिओ।।^१

औदारिकवैक्रियिक-आहारकशरीराणां एकतरशरीरयोग्याः पुद्गलवर्गणाः भाषामनोयोग्यपुद्गलवर्गणाश्च यः नियमेन गृह्णाति स एवाहारकः। तद्विपरीतोऽनाहारः।

उक्तं च —

विग्गहगइमावण्णा, केवलिणो समुहदा अजोगी य।

सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारया जीवा।।

विग्रहगतिं प्राप्ताः चातुर्गतिकजीवाः, प्रतरलोकपूरणसमुद्घातप्राप्ताः सयोगकेवलिनः, अयोगकेवलिनः सिद्धाश्च अनाहाराः, शेषा आहारकाः चेति। अतः आहारक-अनाहारकभेदात् द्विभेदयुक्ता इयं मार्गणा अस्ति।

अस्यैवोपसंहारः — अस्मिन् चतुर्थसूत्रे केवलं चतुर्दशमार्गणानां नामानि वर्णितानि सन्ति। अग्रे एषां विस्तरः स्वयमेव श्रीमद्भगवत्पुष्पदन्तदेवो वक्ष्यति। तथापि श्रीवीरसेनाचार्येण प्रतिपादितटीकाधारेण संक्षिप्य मया किञ्चित् लक्षणं कथितं।

एवं तृतीयस्थले चतुर्दशमार्गणानाम् संक्षिप्त लक्षणनिरूपणत्वेन सूत्रद्वयं गतम्।

अधुना मार्गणासु अन्विध्यमाणानां गुणस्थानानां अनुयोगद्वारप्ररूपणार्थं पञ्चमसूत्रस्यावतारो भवति —

१४. शरीर के योग्य पुद्गलपिण्ड के ग्रहण करने को आहार कहते हैं। औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गल पिण्डों का ग्रहण करना आहार है। कहा भी है —

गाथार्थ — औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों में से उदय को प्राप्त हुए किसी एक शरीर के योग्य तथा भाषा और मन के योग्य पुद्गलवर्गणाओं को जो नियम से ग्रहण करता है उसको आहारक कहते हैं। इससे विपरीत अर्थात् औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गलपिण्ड के ग्रहण नहीं करने को अनाहारक कहते हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — इस तरह विग्रह गति को प्राप्त होने वाले चारों गति के जीव प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त हुए सयोगकेवली और अयोगकेवली तथा सिद्ध ये नियम से अनाहारक होते हैं। शेष जीवों को आहारक समझना चाहिए।

इस प्रकार आहारक और अनाहारक के भेद से आहारमार्गणा दो प्रकार की है।

अब इस मार्गणा प्रकरण का उपसंहार करते हैं —

इस चतुर्थसूत्र में केवल चौदह मार्गणाओं के नामों का वर्णन किया गया है आगे श्रीमत्पुष्पदन्त आचार्य भगवान् स्वयं ही इनका विस्तर करेंगे फिर भी श्रीवीरसेनाचार्य के द्वारा प्रतिपादित टीका के आधार से लेकर मैंने यहाँ कुछ लक्षण कहे हैं।

इस प्रकार तृतीय स्थल में चौदह मार्गणाओं के संक्षिप्त लक्षण निरूपण की मुख्यता से दो सूत्र पूर्ण हुए।

अब मार्गणाओं में अन्वेषण किये जाने वाले गुणस्थानों के आठ अनुयोगद्वारों के प्ररूपण करने के लिए पंचम सूत्र का अवतार होता है —

**एदेसिं चेव चोहसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्टदाए तत्थ इमाणि अट्ठ
अणियोगद्वाराणि णायव्वाणि भवंति।।५।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एतेषां चैव चतुर्दशानां जीवसमासानां-गुणस्थानानां प्ररूपणार्थतायां-कथनस्य प्रयोजने सति तत्र इमानि अष्टौ अनियोगद्वाराणि ज्ञातव्यानि भवन्ति।

‘तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि’ एतदेवात्, शेषस्य नान्तरीयकत्वादिति चेन्नैष दोषः, मंदबुद्धि-सत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। ‘अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा वर्त्तिका’ अनुयोगस्य इमानि पंच पर्यायवाचीनि नामानि सन्ति। इमे अष्टौ अधिकाराः अवश्यं ज्ञातव्याः भवन्ति, अन्यथा गुणस्थानावगमानुपपत्तेः।

तन्निश्चयार्थं आचार्यदेवः पृच्छासूत्रमाह—

तं जहा।।६।।

सिद्धान्तचिंतामणि टीका—‘तद्’ तेषां अष्टानामनुयोगद्वाराणां निर्देशः। यथेति पृच्छा-कैः प्रकारैः सन्ति ? इति पृच्छायां अग्रिमसूत्रमवतरति। अथवा येन प्रकारेण परमागमे कथनमस्ति तेन प्रकारेणैवाग्रे निर्देश्यते।

ततोऽष्टानुयोगद्वारनामनिर्देशार्थं सप्तमसूत्रावतारो भवति—

सूत्रार्थ—

इन ही चौदह जीवसमासों के (गुणस्थानों के) निरूपण करने रूप प्रयोजन के होने पर वहाँ आगे कहे जाने वाले ये आठ अनुयोगद्वार समझना चाहिए।।५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—इन्हीं चौदह जीवसमासों का अर्थात् गुणस्थानों का प्ररूपण करने की इच्छा से—कथन का प्रयोजन होने पर वहाँ ये आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य—जानने योग्य होते हैं।

“तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि” इतना सूत्र बनाना ही पर्याप्त था क्योंकि सूत्र का शेष भाग इसका अविनाभावी है। अतएव उसका ग्रहण स्वयं हो जाता है उसे सूत्र में निहित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी ? ऐसी आशंका होने पर समाधान करते हैं कि यह कोई दोष नहीं है क्योंकि मंदबुद्धि प्राणियों के अनुग्रह के लिए शेष भाग को सूत्र में ग्रहण किया गया है। अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्त्तिका ये पाँचों ही अनुयोग के पर्यायवाची नाम हैं।

ये आठों अधिकार अवश्य ज्ञातव्य हैं क्योंकि इनके ज्ञान के बिना गुणस्थानों का ज्ञान नहीं हो सकता है।

इस प्रकार का निश्चय होने पर आचार्य पृच्छासूत्र को कहते हैं—

सूत्रार्थ—

वे आठ अधिकार जैसे हैं वैसे ही अगले सूत्र में कहे जाते हैं।।६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—सूत्र में ‘तद्’ शब्द से आठ अनुयोगद्वारों का निर्देश किया गया है। “यथा” यह पद पृच्छा को प्रगट करता है अर्थात् ये आठ अनुयोगद्वार कौन से हैं ? ऐसा पूछे जाने पर अग्रिम सूत्र का अवतार होता है। अथवा जिस प्रकार से परमागम में कथन है उसी प्रकार से आगे निर्देश करते हैं।

अब आठ अनुयोगद्वारों के नाम निर्देश करने के लिए सप्तम सूत्र का अवतार होता है—

संतपरूवणा द्रव्यप्रमाणानुगमो खेत्तानुगमो फोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पाबहुगणानुगमो चेदि।।७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संतपरूवणा-सत्प्ररूपणा पदार्थानां अस्तित्वकथनं। द्रव्यप्रमाणानुगमो-द्रव्याणां ज्ञातास्तित्वपदार्थानां प्रमाणं संख्या, तस्याः अनुगमः बोधः द्रव्यप्रमाणानुगमः, खेत्तानुगमो-क्षेत्रं द्रव्याणां वर्तमानावगाह्यस्थानं तस्यानुगमो बोधः क्षेत्रानुगमः। फोसणानुगमो-द्रव्याणां अतीतकालविशिष्ट-वर्तमानस्पर्शानां अनुगमो बोधः कथनं वा स्पर्शनानुगमः, कालानुगमो-द्रव्याणां कालः स्थितिः तस्याः अनुगमो बोधः कथनं वा कालानुगमः, अंतरानुगमो-पदार्थानां अंतरं विरहकालं तस्य अनुगमः अंतरानुगमः। भावानुगमो-पदार्थानां भावस्य परिणामस्य अनुगमः कथनं भावानुगमः। अप्पाबहुगणानुगमो चेदि-पदार्थानां अल्पबहुत्वस्यानुगमः कथनं वा अल्पबहुत्वानुगमः च इति।

इतो विस्तरः — अत्राष्टनियोगद्वारेषु पूर्व-पूर्वानुयोगद्वाराणि उत्तरोत्तरानुयोगद्वारेभ्यो योनिभूतानि वर्तन्ते। यथा-सत्प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगमाय योनिभूतास्ति। अतः पूर्व-पूर्वानुयोगद्वाराणि कारणानि उत्तरोत्तरानुयोग-द्वाराणि कार्याणि सन्ति।

उक्तं च —

अत्थित्तं पुण संतं, अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं। पच्चुप्पणं खेत्तं, अदीद-पटुप्पणणं फुसणं।।
कालो द्विदि-अवघाणं, अंतरविरहो य सुण्णकालो य।भावो खलु परिणामो, स-णाम सिद्धं खु अप्पबहुं।।^१

सूत्रार्थ —

सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार हैं।।७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पदार्थों के अस्तित्व का कथन करने वाली सत्प्ररूपणा है। द्रव्यों का — जिनका अस्तित्व जान लिया है ऐसे पदार्थों का प्रमाण बतलाने वाली संख्याप्ररूपणा है, उस संख्या का बोध कराने वाला द्रव्यप्रमाणानुगम है।

क्षेत्रानुगम — द्रव्यों का क्षेत्र — उनका वर्तमान अवगाह्य स्थान, उसका बोध कराने वाला क्षेत्रानुगम है। द्रव्यों के अतीतकालविशिष्ट वर्तमान स्पर्शों का बोध अथवा कथन स्पर्शनानुयोग करता है। द्रव्यों की कालस्थिति अथवा उसका बोध कराने का वर्णन जिसमें है वह कालानुगम है। पदार्थों के अन्तर — विरह काल का वर्णन अन्तरानुगम करता है। पदार्थों के भावों का — परिणामों का ज्ञान कराने वाला भावानुगम है और पदार्थों के अल्पबहुत्वपने का कथन कराने वाला अल्पबहुत्वानुगम है।

उसी का विस्तार करते हैं —

यहाँ आठ अनुयोगद्वारों में पूर्व-पूर्व के अनुयोगद्वारों को उत्तरोत्तर अनुयोगद्वारों से जाना जाता है क्योंकि वे पूर्व की प्ररूपणायें योनिभूत हैं। यथा — सत्प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगम के लिए योनिभूत है। अतः पूर्व-पूर्व के अनुयोगद्वार कारण हैं और आगे-आगे के अनुयोगद्वार कार्यरूप हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाली प्ररूपणा को सत्प्ररूपणा कहते हैं। जिन पदार्थों के अस्तित्व का ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थों के परिमाण का कथन करने वाली संख्याप्ररूपणा है। वर्तमान क्षेत्र का वर्णन करने वाली क्षेत्रप्ररूपणा है। अतीतस्पर्श और वर्तमानस्पर्श का वर्णन करने वाली स्पर्शनप्ररूपण है। जिससे पदार्थों की जघन्य और

सत्प्ररूपणा पदार्थानां अस्तित्वं कथयति, येषां पदार्थानामस्तित्वं ज्ञातं तेषामेव प्रमाणं संख्यानां प्रतिपादनं करोति द्रव्यप्रमाणानुयोगः, आभ्यां द्वाभ्यां ज्ञातास्तित्वप्रमाणानां पदार्थानां वर्तमानावगाहनां यः प्ररूपयति स क्षेत्रानुयोगः, त्रिभिरनुयोगद्वारैः ज्ञातसत्संख्याक्षेत्राणां पदार्थानां अतीतकाल-विशिष्ट-स्पर्शनं प्ररूपयति यः सः स्पर्शनानुयोगः, पूर्वोक्तसत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनानुयोगद्वारैः ज्ञातपदार्थानां यः स्थितिं मर्यादां कथयति स कालानुयोगः, पंचभिरेभिरनुयोगद्वारैः ज्ञातास्तित्वादीनां पदार्थानां यः विरहकालं शून्यकालं वर्णयति स अंतरानुयोगः, षड्भिरनुयोगद्वारैः ज्ञातपदार्थानां भावान् यः कथयति स भावानुयोगः, तेषामेव सप्तभिरनुयोगद्वारैः ज्ञातपदार्थानां 'इमे अल्पाः इमे बहवः' इति यः प्ररूपयति स अष्टमः अल्पबहुत्वानुयोगः कथ्यते।

एवं अस्मिन् 'षट्खण्डागम' नाम्नि परमागमे एभिरष्टानुयोगद्वारैः 'जीवस्थान' नाम प्रथमखण्डं वक्ष्यते। अत्रापि अस्यां सत्प्ररूपणायां पीठिकाधिकारे चतुर्दशगुणस्थानप्रतिपादनार्थं 'एदेसिं' इत्यादि त्रिभिः सूत्रैश्चतुर्थस्थलं गतम्।

पंचकल्याणमेदिन्यः सातिशयस्थलानि च। यात्रानिर्विघ्नसिद्ध्यर्थं^१ नमामश्चात्मशुद्ध्ये॥१॥

इति श्रीमद्भगवत्पुष्पदन्तभूतबलिभट्टारकविरचितषट्खण्डागमस्य प्रथमखण्डे श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य-विरचिते सत्प्ररूपणानाम्नि प्रथमप्रकरणे श्रीवीरसेनाचार्यकृत-धवलाटीकाप्रमुखानेकग्रन्थाधारेण विरचितायां विंशतितमे शताब्दौ प्रथमाचार्यः चारित्रचक्रवर्ती श्रीशान्तिसागरस्तस्य प्रथमपट्टाधीशः श्रीवीरसागराचार्यस्तस्य शिष्या जंबूद्वीपरचनायाः प्रेरिकागणिनीज्ञानमतीकृत-सिद्धान्त-चिंतामणिनामटीकायां सप्तभिः सूत्रैः पीठिकाप्रतिपादकः प्रथमो महाधिकारः समाप्तः।

उत्कृष्ट स्थिति का निश्चय हो उसे कालप्ररूपणा कहते हैं। जिसमें विहरूप शून्यकाल का कथन हो उसे अन्तरप्ररूपणा कहते हैं। जो पदार्थों के परिणामों का वर्णन करे वह भावप्ररूपणा है तथा अल्पबहुवप्ररूपणा अपने नाम से ही प्रसिद्ध है। अर्थात् 'ये कम हैं ये अधिक हैं' ऐसा प्ररूपण करने वाली आठवीं अल्पबहुत्वप्ररूपणा है।

इस प्रकार इस "षट्खण्डागम" नामक परमागम में इन आठ अनुयोगद्वारों से 'जीवस्थान' नाम का प्रथम खण्ड कहेंगे। उसमें भी इस सत्प्ररूपणा के पीठिकाधिकार में चौदह गुणस्थानों का प्रतिपादन करने के लिए "एदेसिं" इत्यादि तीन सूत्रों के द्वारा चतुर्थस्थल पूर्ण हुआ।

श्लोकार्थ — तीर्थकरों के पंचकल्याणक से पवित्र भूमियाँ अर्थात् तीर्थक्षेत्रों एवं अतिशय क्षेत्रों को हम अपनी यात्रा की निर्विघ्न सिद्धि (पूर्णता) के लिए तथा अपनी आत्मशुद्धि के लिए नमस्कार करते हैं॥१॥

इस प्रकार श्रीमान् भगवान् पुष्पदन्त भूतबली भट्टारक द्वारा रचित षट्खण्डागम के प्रथमखण्ड में श्रीमान् पुष्पदन्ताचार्य विरचित सत्प्ररूपणा नाम के प्रथम प्रकरण में श्री वीरसेनाचार्य-कृत धवलाटीका को प्रमुख करके तथा अनेक ग्रंथों के आधार से रचित बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागर महाराज के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी की शिष्या जम्बूद्वीप रचना (हस्तिनापुर में निर्मित) की प्रेरिका गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित सिद्धान्तचिंतामणि नाम की टीका में सात सूत्रों के द्वारा भूमिका को प्रतिपादित करने वाला प्रथम महाधिकार समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयो महाधिकारः

मंगलाचरणं

सिद्धान् नत्वा गुणस्थाना-तीतान्तगुणान्वितान्।

वंदामहे त्रिसंध्यं ता - ननन्तगुणलब्धये॥१॥

अथ स्थलषट्केन षोडशसूत्रैः गुणस्थानप्रतिपादनत्वेन द्वितीयो महाधिकारः प्रारभ्यते। तत्र तावत् प्रथमस्थले सत्प्ररूपणायाः द्वैविध्यकथनप्रतिज्ञारूपेण “संतपरूवणदाए” इत्यादिसूत्रमेकं। तदनु द्वितीयस्थले “ओघेण अत्थि” इत्यादिसूत्रमादिं कृत्वा बहिरात्मावस्थाप्रतिपादनपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि। ततः परं तृतीयस्थले “असंजद” इत्यादिना अन्तरात्मावस्थाप्ररूपणत्वेन चत्वारि सूत्राणि। तदनंतरं चतुर्थस्थले “अपुव्वकरण” इत्यादिना श्रेण्यारोहणयतीनां परिणामविशुद्धिगुणस्थानपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि। तत्पश्चात् पंचमस्थले उत्कृष्टान्तरात्मनां वीतरागछद्मस्थमुनीनां कथनत्वेन “उवसंत” इत्यादिना द्वे सूत्रे। तदनु षष्ठस्थले परमात्मनां स्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन “सजोग” इत्यादिना त्रीणि सूत्राणि इति समुदायपातनिका।

अधुना तावत् प्रथमस्य सदनुयोगस्य स्वरूपनिरूपणायाष्टमसूत्रस्यावतारः क्रियते श्रीपुष्पदन्तभट्टारकेण —

संतपरूवणदाए दुविहो णिदेसो, ओघेण आदेसेण य॥८॥

अब द्वितीय महाधिकार प्रारम्भ होता है

मंगलाचरण

श्लोकार्थ — जिन्होंने गुणस्थानों से अतीत — रहित अवस्था को प्राप्त कर लिया है तथा जो अनंतगुणों से समन्वित हैं ऐसे सम्पूर्ण सिद्ध परमेष्ठियों को हम अनंतगुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करते हैं॥१॥

अब छह स्थलों में सोलह सूत्रों के द्वारा गुणस्थान प्रतिपादन की मुख्यता से द्वितीय महाधिकार प्रारम्भ किया जाता है। उनमें सर्वप्रथम पहले स्थल में सत्प्ररूपणा को दो प्रकार से कहने की प्रतिज्ञारूप से “संतपरूवणदाए” इत्यादि एक सूत्र है। उसके पश्चात् द्वितीय स्थल में “ओघेण अत्थि” इत्यादि सूत्र को आदि में करके बहिरात्म अवस्था के प्रतिपादन की मुख्यता से तीन सूत्र हैं। उससे आगे तृतीयस्थल में “असंजद” इत्यादि के द्वारा अंतरात्म अवस्था के कथन की मुख्यता से चार सूत्र हैं। तदनंतर चतुर्थ स्थल में “अपुव्वकरण” इत्यादि के द्वारा श्रेणी आरोहण करने वाले यतियों के परिणामविशुद्धिरूप गुणस्थान की मुख्यता से तीन सूत्र हैं। तत्पश्चात् पंचमस्थल में उत्कृष्ट अंतरात्मा वीतराग छद्मस्थ मुनियों का वर्णन करने की मुख्यता से “उवसंत” इत्यादि दो सूत्र हैं। उसके बाद छठे स्थल में परमात्मा के स्वरूप प्रतिपादन की मुख्यता से “सजोग” इत्यादि तीन सूत्र हैं, इस प्रकार यह समुदायपातनिका हुई।

अब पहले प्रथम सदनुयोग के स्वरूप का निरूपण करने के लिए श्रीपुष्पदन्तभट्टारक अष्टम सूत्र का अवतरण करते हैं —

सूत्रार्थ —

सत्प्ररूपणा में ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से और आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से इस तरह दो प्रकार का कथन है॥८॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — अत्र संतपरूषणदाए-चतुर्दशगुणस्थानानां सत्प्ररूपणायां सत्-सत्त्वं अस्तित्वं, प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापना तस्यां, चतुर्दशगुणस्थानसत्त्वप्ररूपणायामित्यर्थः। सत् शब्दः शोभनवाचकः अस्तित्ववाचकश्च। अत्र अस्तित्ववाचको ग्राह्यः। णिद्देशो-निर्देशः प्ररूपणं विवरणं व्याख्यानमिति। दुविहो-सः निर्देशः द्विविधः। ओघेण आदेसेण य-ओघेन सामान्येन अभेदेन, आदेशेन भेदेन विशेषेण च प्ररूपणमिति। न च प्ररूपणायास्तृतीयः प्रकारोऽस्ति।

इतो विस्तरः — अस्मिन् ग्रन्थे गुणस्थानं 'जीवसमास' शब्देन कथ्यते। तस्यैव स्पष्टीकरणं — जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासाः।

क्वासते ? गुणेषु। के गुणा ? औदयिकौपशमिकक्षाधिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। एतद्गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञां लभते। अतो जीवसमासेनात्र गुणस्थानानि कथ्यन्ते।

गुणस्थानस्य किं लक्षणम् ?

उक्तं च —

जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिषु संभवेहिं भावेहिं।

जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सब्बदरिसीहिं।^१

दर्शनमोहनीयादिकर्मणां उदयोपशमादिव्यवस्थासु सतीषु संभवैर्यैः भावैर्युक्ताः ये जीवाः लक्ष्यन्ते, सर्वदर्शिभिः भगवद्भिः, ते जीवा एव गुणसंज्ञाः निर्दिष्टाः — गुणस्थानसंज्ञिताः कथिताः। तेषां जीवानां भावानां गुणस्थानसंज्ञाः कथ्यन्ते इत्यर्थः।

सिद्धान्तचिन्तामणि टीका — यहाँ सत्त्वप्ररूपणा में चौदह गुणस्थानों का सत्त्व — अस्तित्व है ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए और प्ररूपणा — निरूपण — कथन किया गया है ऐसा अर्थ निकलता है। यहाँ प्ररूपणा, निरूपणा, प्रज्ञापना ये सब पर्यायवाची नाम हैं। इसलिए “चतुर्दशगुणस्थानसत्त्वप्ररूपणायां” इस पद का अर्थ यह हुआ कि चौदह गुणस्थानों से सत्त्व के निरूपण करने में “सत्” शब्द शोभन अर्थात् सुन्दर अर्थ का भी वाचक है और अस्तित्व का भी वाचक है। उनमें से यहाँ पर अस्तित्ववाचक ग्रहण करना चाहिए।

निर्देश, प्ररूपण, विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची नाम हैं। यह निर्देश ओघ और आदेश की अपेक्षा दो प्रकार का है। ओघ — सामान्य या अभेद से निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है और आदेश — भेद या विशेष रूप से निरूपण करना दूसरी आदेश प्ररूपणा है। इनके अतिरिक्त प्ररूपणा का कोई तृतीय प्रकार नहीं है।

इसी का विस्तार करते हैं — इस ग्रंथ में “जीवसमास” शब्द से गुणस्थान को कहा गया है। उसी का स्पष्टीकरण — जीव जिसमें सम्यक् — भली प्रकार से रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उन्हें जीवसमास कहते हैं।

जीव कहाँ रहते हैं ? गुणों में जीव रहते हैं। वे गुण कौन से हैं ? औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पाँच गुण हैं। इन गुणों के साहचर्य से आत्मा भी गुण संज्ञा को प्राप्त होता है। अतः यहाँ ‘जीवसमास’ शब्द से गुणस्थानों का कथन किया गया है।

गुणस्थान का क्या लक्षण है ? सो ही कहा है —

गाथार्थ — दर्शन मोहनीय आदि कर्मों के उदय आदि अवस्थाओं में जीव के जो परिणामों की उत्पत्ति होती है, उनको ही सर्वज्ञदेव ने गुणस्थान नाम से कहा है।

दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञदेव ने गुणसंज्ञा वाला कहा है अर्थात् गुणस्थान संज्ञा वाला कहा है। उन जीवों के भावों को गुणस्थान संज्ञा से कहते हैं ऐसा अभिप्राय हुआ।

तानि गुणस्थानानि चतुर्दश भवन्ति —

मिच्छो सासण मिसो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।

विरदो पमत्त इदरो, अपुव्व-अणियट्ठि-सुहुमो य।।

उवसंत-खीणमोहो, सजोग-केवलिजिणो अजोगी य।

चउदस जीवसमासा, कमेण सिद्धा य णायव्वा।।

अत्रौघेन गुणस्थानं आदेशेन मार्गणाग्रहणं इत्यपि सूच्यते —

उक्तं च —

संखेओ ओघो त्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोग भवा।

वित्थारादेसो त्ति य, मग्गणसण्णा स कम्मभवा।।

संक्षेप इति ओघ इति च गुणस्थानस्य संज्ञा अनादिनिधनार्थं रूढा प्रसिद्धा, इमौ द्वौ गुणस्थानस्य पर्यायवाचिनौ स्तः। सा च संज्ञा मोहयोगाभ्यां संजाता भवति। सामान्यं चापि गुणस्थानस्य संज्ञा भवति। तथा विस्तार आदेशो विशेषश्चेति मार्गणायाः पर्यायवाचिनः सन्ति।

एवं सत्प्ररूपणानिरूपणपरत्वेन गुणस्थान-मार्गणयोः द्वैविध्यकथनप्रतिज्ञारूपेण एकं सूत्रं गतम्।

अत्राप्यधुना अनन्तसंसारिजीवानां सामान्यगुणस्थानरूपेण प्रथमगुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रस्यावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण —

ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी।।९।।

वे गुणस्थान चौदह होते हैं —

गाथार्थ — मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवलीजिन और अयोगिजिन ये चौदह जीवसमास — गुणस्थान हैं। उसके पश्चात् सिद्धों को गुणस्थानातीत जानना चाहिए।।

यहाँ 'ओघ' शब्द से गुणस्थान और 'आदेश' शब्द से मार्गणा का ग्रहण किया है इस बात को भी सूचित करते हैं —

कहा भी है —

गाथार्थ — संक्षेप, ओघ और गुणस्थान ये पर्यायवाची नाम हैं जो कि मोह और योग के निमित्त से होते हैं तथा विस्तार, आदेश और मार्गणा ये पर्यायवाची हैं जो कि कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।।

संक्षेप और ओघ यह गुणस्थान की संज्ञा अनादिनिधन अर्थ में रूढ़ — प्रसिद्ध है, ये दोनों गुणस्थान के ही पर्यायवाची नाम हैं और वह संज्ञा मोह तथा योग से उत्पन्न होती है। और 'सामान्य' संज्ञा भी गुणस्थान की होती है तथा विस्तार, आदेश एवं विशेष यह मार्गणा के पर्यायवाची हैं।

इस प्रकार सत्प्ररूपणा के निरूपण की मुख्यता से गुणस्थान और मार्गणा के दो प्रकार के कथन की प्रतिज्ञारूप से एक सूत्र पूर्ण हुआ।

यहाँ अब अनन्तसंसारी जीवों का सामान्य गुणस्थानरूप से श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य प्रथमगुणस्थान के स्वरूप का कथन करने के लिए सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

सामान्य से गुणस्थान की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव हैं।।९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ओघेण — सामान्येन गुणस्थानापेक्षया वा, अस्थि मिच्छादृष्टी — सन्ति मिथ्यादृष्टयः। मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदय-जनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयः।

कश्चिदाह — द्वित्र्यादि अनेकभेदाः कथिताः सन्ति पुनः कथं पंचविधनियमो संभवेत् ?

श्रीवीरसेनाचार्यः समाधत्ते — नैतद् नियमोऽस्ति, किंतूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पंचविधं मिथ्यात्वमिति। अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः। उक्तं च —

मिच्छन्तं वेयंतो, जीवो विवरीय-दंसणो होई।

ण य धम्मं रोचेदि हु, म्हरं खु रसं जहा जरिदो।^१

मिथ्यात्वप्रकृत्युदयेन मिथ्यात्वभावं अनुभवन् जीवः विपरीतश्रद्धावान् भवति, यथा पित्तज्वररोगिणे मधुररसो न रोचते तथैव अस्मै जीवाय धर्मो न रोचते।

पुनरपि मिथ्यात्वस्य लक्षणं भेदांश्च निरूपयति —

तं मिच्छन्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।

संसइदमभिग्गहिदं, अणभिग्गहिदं ति तं ति विहं।^२

मिथ्यात्वकर्मोदयेन जीवस्य तत्त्वार्थानां विषये यत् अश्रद्धानं भवति तन्मिथ्यात्वं, तस्य संशयित-अभिगृहीत-अनभिगृहीतापेक्षया त्रयो भेदाः सन्ति। अथवा —

सिद्धान्तचिंतामणि टीका — ओघ से — सामान्य से अथवा गुणस्थान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि होते हैं। मिथ्या, वितथा, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं, दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवों के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

यहाँ कोई कहता है कि दो, तीन आदि अनेक भेद कहे गये हैं पुनः पाँच प्रकार के मिथ्यात्व का नियम कैसे संभव है ?

तब श्रीवीरसेनाचार्य समाधान करते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु उपलक्षण मात्र से मिथ्यात्व के पाँच भेद होते हैं। अथवा मिथ्या शब्द का अर्थ वितथ और दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है। जिन जीवों की रुचि असत्य में होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं कहा भी है —

गाथार्थ — मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व भाव का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धा वाला होता है। जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मधुर रस अच्छा नहीं लगता है उसी प्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा नहीं मालूम होता है।

पुनः मिथ्यात्व के लक्षण और भेदों का निरूपण करते हैं —

गाथार्थ — जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्त्वार्थ के विषय में अश्रद्धान उत्पन्न होता है अथवा विपरीत श्रद्धान होता है उसको मिथ्यात्व कहते हैं। उसके संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत इस प्रकार तीन भेद हैं।

जावदिया वयणपहा, तावदिया चेव होंति णयवादा।

जावदिया णयवादा, तावदिया चेव परसमया।।^१

अतएव यावन्तो वचनमार्गाः, तावन्तश्चैव नयवादाः यावन्तः नयवादाः तावन्तश्चैव परसमयाः अनेकान्तमतबाह्या इति।

एवं स्थूलांशाश्रयेण मिथ्यात्वस्य पंचविधत्वादिकं कथितं, सूक्ष्मांशाश्रयेणासंख्यातलोकमात्रविकल्प-संभवात् तत्र व्यवहारानुपपत्तेः।^२

अन्यत्र ग्रन्थे-गोम्मटसारकर्मकाण्डे —

मिथ्यात्वस्य त्रिषष्टि-उत्तरत्रिंशत्भेदा अपि कथिताः सन्ति।

कश्चिदाह — अत्र सूत्रे ‘ओघेण’ पदमनर्थकं अस्ति पूर्वसूत्रे गृहीतत्वात् तस्य संबंधो वर्तते एव ?

नैतद्वक्तव्यं, “तस्य दुर्मेधोजनानुग्रहार्थत्वात्। सर्वसत्त्वानुग्रहकारिणो हि जिनाः नीरागत्वात्।^३” इति धवलाकारेण कृतानि वाक्यानि सूत्रकाराचार्यं प्रति जिनत्वं स्थापयन्ति।

संप्रति द्वितीयगुणस्थानस्वरूपं निरूपयत्याचार्यदेवः —

सासणसम्माइट्ठी।।१०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सासणसम्माइट्ठी — असनं क्षेपणं सम्यक्त्वविराधनं, तेन सह वर्तते यः स सासनः^४ इति निरुक्त्या सासनाश्च सम्यग्दृष्टयश्च सासनसम्यग्दृष्टयः इति। अथवा आसादनं सम्यक्त्वविराधनं

अथवा —

गाथार्थ — जितने भी वचन — मार्ग हैं उतने ही नयवाद अर्थात् नय के भेद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय — अनेकान्त से बाह्य मत होते हैं।

इस प्रकार स्थूल अंश के आश्रय से मिथ्यात्व के पाँचप्रकारपना आदि को कहा है और सूक्ष्म अंश के आश्रय से असंख्यातलोकप्रमाण विकल्प भी संभव हैं क्योंकि व्यवहार में उनकी उपपत्ति — प्राप्ति नहीं होती है।

अन्यत्र गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रंथ में —

मिथ्यात्व के तीन सौ त्रेसठ उत्तर भेद कहे गए हैं।

कोई शंका करता है कि यहाँ सूत्र में “ओघेण’ पद अनर्थक है क्योंकि पूर्वसूत्र में ग्रहण किया जा चुका है उसका सम्बन्ध तो चला ही आ रहा है ?

उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि अल्पबुद्धि या मूढ़जनों के अनुग्रह के लिए सूत्र में ‘ओघ’ शब्द का उल्लेख किया है। जिनदेव सम्पूर्ण प्राणियों का अनुग्रह करने वाले होते हैं क्योंकि वे वीतरागी हैं। धवलाकार श्रीवीरसेनस्वामी के द्वारा कहे गये ये वाक्य सूत्रकार आचार्य के प्रति जिनत्व की स्थापना करते हैं अर्थात् श्रीपुष्पदन्ताचार्य के प्रति अनन्यश्रद्धा को व्यक्त करते हैं।

अब आचार्यदेव द्वितीय गुणस्थान के स्वरूप का निरूपण करते हैं —

सूत्रार्थ —

सामान्य से सासादन सम्यग्दृष्टि जीव हैं।।१०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सासादनसम्यग्दृष्टि का अर्थ है — असन अर्थात् क्षेपण — सम्यक्त्व

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १६३। २. गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका। ३. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १६३। ४. गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका।

सह आसादनेन वर्तते इति सासादनः। विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादनः इति भण्यते।

कश्चिदाह — सासादनगुणस्थानवर्ती जीवः न स्यान् मिथ्यादृष्टिः मिथ्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टिः सम्यक्चरभावात्, न सम्यग्मिथ्यादृष्टिः उभयविषयरुचरभावात्। न च चतुर्थी दृष्टिरस्ति, ततो नैतद्गुणस्थानं सिद्ध्यति ?

तस्य समाधानं क्रियते — सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्धनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वात् भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु 'सासादन' इति व्यपदिश्यते। किंच अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। अस्य गुणस्थानवर्तिनः विपरीताभिनिवेशोऽभूत् अनन्तानुबन्धिनः, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात्। विवक्षितदर्शनमोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेण उत्पन्नत्वात् पारिणामिकः सासादनगुणः इति।

विपरीताभिनिवेशदूषितस्य तस्य कथं सम्यग्दृष्टित्वं ?

नैतद् वक्तव्यं, भूतपूर्वगत्या तस्य सम्यग्दृष्टित्वव्यपदेशोपपत्तेरिति।

उक्तं च —

की विराधना, उस विराधना के साथ जो वर्तन करता है वह सासन है इस निरुक्ति से सासन और सम्यग्दृष्टि इनका द्वन्द्व समास करने से "सासनसम्यग्दृष्टि" यह पद बनता है।

जहाँ सम्यग्दर्शन का विनाश हो गया है किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व परिणामों की प्राप्ति नहीं हुई है फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थान के अभिमुख जो जीव हैं उन्हें सासादन कहते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है — सासादनगुणस्थानवर्ती जीव न तो मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसके मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होता है, सम्यक् श्रद्धा के अभाव में वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं रहता है। पुनः न तो वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसके दोनों प्रकार की रुचि का भी अभाव रहता है। इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, इसलिए इस सासादन गुणस्थान की सिद्धि नहीं बन सकती है ?

आचार्य देव उसका समाधान करते हैं — सम्यग्दर्शन और चारित्र का प्रतिबंध करने वाले अनंतानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है इसलिए द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहाँ नहीं पाया जाता है इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं किन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं। दूसरी बात यह है कि अनंतानुबन्धी प्रकृतियों की द्विस्वभावता का कथन सिद्ध हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती विपरीताभिनिवेश से युक्त अनंतानुबन्धी कषाय वाले जीव के दर्शनमोहनीय का उदय नहीं होता है क्योंकि उनके चारित्रावरण का उदय रहता है। विवक्षित दर्शनमोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होने से सासादनगुणस्थान पारिणामिक है ऐसा सिद्ध हो जाता है।

शंका — विपरीताभिनिवेश से दूषित उस जीव के सम्यग्दृष्टिपना कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि पहले तो वह सम्यग्दृष्टि था इसलिए भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है।

कहा भी है —

सम्मत्तरयणपव्वय, सिहरादो मिच्छभूमि-समभिमुहो।

णासियसम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वो।।^१

सम्यक्त्वरत्नपर्वतस्य शिखरात् पतितः कश्चिद् जीवो मिथ्यात्वभूमिसमभिमुख एव न चाधोपतितः, किन्तु विराधितसम्यक्त्वः असौ सासादनगुणस्थानवर्ती ज्ञातव्यः।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वकाले जघन्येन एकसमये उत्कृष्टेन आवलिषट्के चावशिष्टे सति अनंतानुबंधिकषाय-चतुष्के अन्यतमकषायस्योदये जाते यो विनाशितसम्यक्त्वो जायते स सासादन इत्युच्यते। अथवा द्वितीयोपशम-सम्यक्त्वकालेऽपि सासादनगुणस्थानप्राप्तिर्भवतीति कषायप्राभूताभिप्रायो भवति।

इदानीं तृतीयगुणस्थानस्वरूपप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

सम्मामिच्छाइट्ठी।।११।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—अत्र “सम्मामिच्छाइट्ठी” सम्यक् समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्ययः इति यावत्।

न चैतत्काल्पनिकं, पूर्वस्वीकृतदेवतापरित्यागेनार्हन्नापि देवः इत्यभिप्रायवतः पुरुषस्योपलम्भात्। अस्मिन् गुणस्थाने क्षायोपशमिको भावोऽस्ति। तद्यथा—मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात् तस्यैव

गाथार्थ—सम्यग्दर्शनरूपी रत्नगिरि के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमि के अभिमुख है अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है परन्तु मिथ्यादर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है उसे सासन अर्थात् सासादनगुणस्थानवर्ती समझना चाहिए।

सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वत के शिखर से गिरा हुआ कोई जीव मिथ्यात्वरूपी भूमि के अभिमुख है, वह अभी नीचे गिरा नहीं है किन्तु उसके सम्यक्त्व की विराधना हो चुकी है उसे सासादनगुणस्थानवर्ती जानना चाहिए।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में जघन्य से एक समय में, उत्कृष्ट से छह आवली के शेष रहने पर अनंतानुबंधि कषाय चतुष्क में से किसी एक के उदय आ जाने पर जो सम्यक्त्व का विनाश हो जाता है वह ‘सासादन’ कहा जाता है। अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के काल में भी सासादन गुणस्थान की प्राप्ति होती है ऐसा कषायप्राभृत ग्रंथ का अभिप्राय है।

अब तृतीय गुणस्थान का स्वरूप बतलाने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

सामान्य से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं।।११।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—यहाँ “सम्मामिच्छाइट्ठी” पद से सम्यक्—समीचीन और मिथ्या, दृष्टि—रुचि दोनों प्रकार का मिश्ररूप श्रद्धान है जिसके वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये एकार्थवाची हैं।

यह सब कथन काल्पनिक नहीं हैं क्योंकि पूर्व स्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ-साथ अरिहंत भी देव हैं। ऐसा अभिप्राय वाला पुरुष पाया जाता है।

इस मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है। वह इस प्रकार है—

वर्तमान समय में मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से, सत्ता में रहने वाले

सतः उदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पृहकोदयात् चोत्पद्यते इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः।

उक्तं च —

दहिगुडमिव वामिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।

एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो।।^१

जात्यन्तरसर्वघातिकार्यरूपसम्यग्मिथ्यात्वप्रकृत्युदयेन जीवस्य युगपत्सम्यक्त्वमिथ्यात्वशबलितपरिणामो भवति। अयं गुणस्थानवर्ती सकलसंयमं देशसंयमं वा न गृण्हाति, तथा च चतुर्गतिनिबन्धनानि आयूंष्यपि न बध्नाति, मरणकाले नियमेन सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामं त्यक्त्वा असंयतसम्यग्दृष्टित्वं वा मिथ्यादृष्टित्वं वा नियमेन प्राप्यैव पश्चात् भ्रियते। अस्मिन् मिश्रगुणस्थाने मारणान्तिकसमुद्घातोऽपि नास्ति।^२ इत्थं तृतीयगुणस्थानं संक्षेपेण कथितम्।

एवं मिथ्यात्वस्य तदनुभयरूपसासादनस्य तदुभयमिश्ररूपगुणस्थानस्य च प्रतिपादनपरं द्वितीयान्तराधिकारेण सूत्रत्रयं गतम्।

अधुना जघन्यान्तरात्मनः सम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानप्ररूपणार्थं सूत्रावतारो भवति —

असंजदसम्माइट्ठी।।१२।।

उसी मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावक्षय लक्षण उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघातिस्पर्धकों के उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है। इसलिए वह क्षायोपशमिक है। कहा भी है —

गाथार्थ — जिस प्रकार दही और गुड़ को मिला देने पर उनको अलग-अलग नहीं अनुभव किया जा सकता है किन्तु मिले हुए उन दोनों का रस मिश्रभाव को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामों को मिश्रगुणस्थान कहते हैं ऐसा समझना चाहिए।

जात्यन्तरसर्वघातिकार्यरूप सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के युगपत् सम्यक्त्व मिथ्यात्व सहित परिणाम होता है। इस गुणस्थानवाला जीव सकलसंयम अथवा देशसंयम को ग्रहण नहीं करता है तथा चारों गतियों का निबन्धन — प्राप्त कराने वाली आयु का बंध भी नहीं करता है। मरणकाल में वह नियम से सम्यग्मिथ्यात्व परिणाम को छोड़कर असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करके ही मरता है। अर्थात् मिश्रगुणस्थान में मरण नहीं होता है। इस मिश्रगुणस्थान में मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है। इस प्रकार संक्षेप से तृतीयगुणस्थान का लक्षण कहा है।

इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान का, मिथ्यात्व-सम्यक्त्व दोनों से रहित सासादन गुणस्थान एवं सम्यग्मिथ्यात्व से मिश्रित परिणामरूप मिश्र गुणस्थान के प्रतिपादन की मुख्यता से द्वितीय अंतराधिकार के द्वारा तीन सूत्र हुए।

अब जघन्य अंतरात्मा के सम्यग्दृष्टियों का गुणस्थान बताने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

सामान्य से असंयतसम्यग्दृष्टि जीव हैं।।१२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — समीचीना दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च असंयतसम्यग्दृष्टिः। सोऽपि सम्यग्दृष्टिः त्रिविधः — क्षायिकसम्यग्दृष्टिः वेदकसम्यग्दृष्टिः उपशमसम्यग्दृष्टिश्चेति। दर्शनचरणगुणघातिचतुरनन्तानुबंधिप्रकृतीनां मिथ्यात्व-सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व त्रिदर्शनमोहप्रकृतीनां चैतासां सप्तप्रकृतीनां निरवशेषक्षयेण क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुच्यते। एतासामेव सप्तप्रकृतीनां उपशमेन उपशमसम्यग्दृष्टिर्भवति। सम्यक्त्वसंज्ञितदर्शनमोहनीयभेदकर्मणः उदयेन वेदकसम्यग्दृष्टिर्गीयते।

तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्न कदाचिदपि मिथ्यात्वं गच्छति, न संदेहमपि करोति, न मिथ्यात्वोद्भवं अतिशयं दृष्ट्वा विस्मयं याति। एतादृशश्चैव उपशमसम्यग्दृष्टिः, किन्तु परिणामनिमित्तेन मिथ्यात्वं गच्छति, सासादनगुणस्थानमपि प्रतिपद्यते, सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानमपि प्राप्नोति वेदकसम्यक्त्वमपि लभते। यः पुनो वेदकसम्यग्दृष्टिः स शिथिलश्रद्धानः वृद्धपुरुषहस्तयष्टिग्रहणमिव शिथिलग्राही कुहेतु-कुदृष्टान्तैः झटिति विराधको भवति।

अत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकभावः, उपशमसम्यग्दृष्टेरुपशमभावः, वेदकसम्यग्दृष्टेः क्षायोपशमिक-भावश्चेति ज्ञातव्यो भवति।

वेदकसम्यक्त्वस्य लक्षणं विशेषेण ज्ञातव्यमत्र।

उक्तं च गोम्मटसारजीवकाण्डे —

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और संयमरहित सम्यग्दृष्टि को असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकार के हैं — क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुण का घात करने वाली चार अनन्तानुबंधी प्रकृतियाँ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीय की प्रकृतियाँ इन सात प्रकृतियों के सर्वथा विनाश से जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यग्दृष्टि होता है और जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्म की भेदरूप प्रकृति के उदय से यह जीव वेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है।

उनमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है, किसी प्रकार का संदेह भी नहीं करता है और मिथ्यात्व से उत्पन्न अतिशयों को देखकर विस्मय — आश्चर्य भी नहीं करता है। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसी प्रकार का होता है किन्तु परिणामों के निमित्त से उपशम सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त करता है, सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त करता है, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में भी पहुँच जाता है और वेदक सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर लेता है। तथा जो वेदकसम्यग्दृष्टि है वह शिथिलश्रद्धानी होता है इसलिए वृद्धपुरुष जिस प्रकार अपने हाथ में लकड़ी को शिथिलता पूर्वक पकड़ता है उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थ के श्रद्धान में शिथिलग्राही होता है अतः कुहेतु और कुदृष्टान्तों से वह सम्यक्त्व की विराधना करने वाला होता है।

यहाँ पर यह जानना चाहिए कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि के क्षायिक भाव, उपशम सम्यग्दृष्टि के औपशमिक भाव और वेदक सम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिक भाव होते हैं।

अब यहाँ वेदक सम्यक्त्व का लक्षण विशेषरूप से कहते हैं —

गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रंथ में कहा है —

सम्मत्तदेसघादि-स्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।

चलमलिणमगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदू।।

अनंतानुबंधिकषायाणां प्रशस्तोपशमो नास्ति इति तेषामप्रशस्तोपशमे विसंयोजने वा जाते दर्शनमोहमिथ्यात्वकर्मसम्यग्मिथ्यात्वकर्मणोः प्रशस्तोपशान्तयोः क्षपणीययोर्वा जातयोः सम्यक्त्वप्रकृतिदेश-घातिस्पर्धकानामुदये सत्येव यत्तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वं भवेत् तद्वेदकं नाम भवति। तत्सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानविनाशनसामर्थ्यशून्यत्वात् चलं मलिनं अगाढं भवति। स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ ममायं देव इति मदीयत्वेन, अन्यकारितेऽर्हच्चैत्यादौ परिकीयत्वेन च भजनाच्चलमित्युक्तं भवति। शंकादिमलदोषेण मलसंगेन मलिनं जायते। सर्वेषामर्हत्परमेष्ठिनां अनंतशक्तित्वे समाने स्थितेऽपि अस्मै शान्तिकर्मणे शान्तिनाथदेवः प्रभुर्भवति, अस्मै विघ्नविनाशादिकर्मणे पार्श्वनाथदेवः प्रभुरित्यादिप्रकारेण रुचिशैथिल्यसंभवात् यथा वृद्धकरतलगतयष्टिः शिथिलसंबंधतया अगाढा तथा वेदकसम्यक्त्वमपि आप्तागमपदार्थं श्रद्धानावस्थायामेव स्थितं कंप्रमेव अगाढमिति कीर्त्यते। एवं सम्यक्त्वप्रकृत्युदयमनुभवतो जीवस्य जायमानं तत्त्वार्थश्रद्धानं वेदकसम्यक्त्वमिति कथ्यते, इदमेव क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमपि नाम्ना उच्यते। तद्दर्शनमोहसर्वघातिस्पर्धका-नामुदयाभावलक्षणक्षये देशघातिस्पर्धकरूपसम्यक्त्वप्रकृत्युदये तस्यैवोपरितनानुदयप्राप्तस्पर्धकानां सदवस्थालक्षणोपशमे च सति समुत्पन्नत्वात्।

गाथार्थ — सम्यक्त्व नामकी देशघाति प्रकृति के उदय होने पर वेदकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है, जिसके निमित्त से आत्मा में चल, मलिन, अगाढरूप परिणाम होते हैं फिर यह वेदक सम्यग्दर्शन नित्य ही कर्मक्षपण कराने में हेतु रहता है।

अनंतानुबंधी कषायों का प्रशस्त — शुभरूप उपशम नहीं होता है यह नियम है। अतः उनका अप्रशस्त उपशम होने पर अथवा उनका विसंयोजन हो जाने पर दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व कर्म और सम्यग्मिथ्यात्व के प्रशस्त उपशम अथवा क्षय होने पर और सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर ही जो तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणरूप सम्यक्त्व होता है वही वेदकसम्यग्दर्शन कहलाता है। वह सम्यक्त्व तत्त्वार्थश्रद्धानविनाशन की सामर्थ्य से शून्य — रहित होने से चल, मलिन, अगाढरूप होता है। अपने द्वारा बनवाए गए चैत्य — जिनप्रतिमा आदि में “ये मेरे भगवान हैं” ऐसा अपनत्वभाव उत्पन्न हो जाता है और अन्यो के द्वारा निर्मापित चैत्य आदि में “परकीयभाव” उत्पन्न होता है, यह सब चल दोष कहलाता है। शंका आदि मल दोष से मलिनता उत्पन्न होती है। समस्त अर्हन्त परमेष्ठियों में समानरूप से अनंतशक्ति विद्यमान होने पर भी “शान्तिनाथ भगवान मेरी शान्ति के लिए हैं” और “पार्श्वनाथ भगवान मेरे विघ्नविनाशादि करने वाले हैं” इत्यादि रूप से श्रद्धा में जो शिथिलता लाता है वह अगाढ नाम का दोष है। जैसे किसी वृद्ध पुरुष के हाथ में पकड़ी गई लकड़ी हिलती-डुलती रहती है — कांपती रहती है उसी प्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि भी आप्त, आगम और पदार्थ के श्रद्धान की अवस्था में स्थित हुआ भी चल-विचल हो जाता है उसे अगाढ कहा जाता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का अनुभव करते हुए जीव के उत्पन्न हुआ तत्त्वार्थश्रद्धान “वेदकसम्यक्त्व” कहलाता है, इसको ही “क्षायोपशमिक सम्यक्त्व” नाम से भी जाना जाता है। वह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय से सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय होने पर, देशघातिस्पर्धक रूप सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर और उसी के उपरितन अनुदयप्राप्त स्पर्धकों के सदवस्थालक्षण उपशम होने पर उत्पन्न होता है।

तत्तु सम्यक्त्वं नित्यं कर्मक्षपणहेतु, अत्र नित्यमिति विशेषणेन जघन्येनान्तर्मुहूर्तत्वेऽपि उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमकालावस्थायीत्युत्कृष्टविवक्षयोक्तं न तु सार्वकालिकं। कर्मक्षपणहेतु इत्यनेन मोक्षकारण-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेषु सम्यक्त्वमेव मुख्यकारणमिति सूच्यते।

एवमुक्तत्रिविधसम्यक्त्वानामन्यतमेन परिणतसम्यग्दृष्टिः द्वितीयकषायाणां अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमान-मायालोभानामन्यतमोदयेन असंयतो भवति^१।

अत्रानन्तानुबन्धिकषायाणां दर्शनचरणघातीत्युक्तं तत्र चरणशब्देन सम्यक्त्वाचरणं गृहीतव्यं न तु स्वरूपाचरणचारित्रं। तच्च चारित्रप्राभृतग्रन्थे श्रीकुन्दकुन्ददेवेन सम्यक्त्वाचरणस्य लक्षणं प्रोक्तमस्ति।

अस्मिन् सूत्रे 'असंजद' इति विशेषणं तदन्तदीपकत्वात् अधस्तनत्रयाणामपि गुणस्थानानां असंयतत्वं प्ररूपयति। 'सम्माइट्टी' इति विशेषणं उपरितनसर्वगुणस्थानेषु अनुवर्तते गंगानदीप्रवाहः इव।

सम्यग्दृष्टिजीवानां अन्याः अपि का का विशेषताः? इति प्रश्ने सति कथ्यते—

सम्माइट्टी जीवो, उवइट्टुं पवयणं तु सहहदि।

सहहदि असम्भावं, अजाणमाणो गुरुणियोगा।^२

वह सम्यक्त्व नित्य ही कर्मक्षय कराने में कारण है। यहाँ "नित्य" इस विशेषण से जघन्य से अन्तर्मुहूर्त होते हुए भी उत्कृष्ट से छायासठ सागर काल तक रहता है यहाँ पर उत्कृष्ट काल विवक्षित है न कि सदा काल। अर्थात् जब तक वह सम्यक्त्व आत्मा में रहता है तब तक नित्य ही अशुभ कर्मों की निर्जरा होती रहती है।

कर्मक्षपणहेतु इस शब्द से यह समझना चाहिए कि मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणामों में सम्यक्त्व ही मुख्य कारण है।

इस प्रकार तीन प्रकार के सम्यक्त्व में से किसी भी सम्यक्त्व से परिणत सम्यग्दृष्टि द्वितीय कषाय अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक के उदय होने पर यह जीव असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

यहाँ अनंतानुबन्धी कषायों को सम्यग्दर्शन और चारित्र को घात करने वाला बताया गया है अर्थात् अनंतानुबन्धी कषाय होने पर यह जीव न तो सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है और न सम्यक्चारित्र ही धारण कर सकता है। यहाँ 'चरण' शब्द से सम्यक्त्वाचरण चारित्र को ग्रहण करना चाहिए न कि स्वरूपाचरणचारित्र को। चारित्रप्राभृतग्रन्थ में श्रीकुन्दकुन्ददेवे ने उस सम्यक्त्वाचरण के लक्षण को कहा है।

इस सूत्र में 'असंजद' यह विशेषण अन्त्यदीपक न्याय के अनुसार नीचे के तीन गुणस्थानों के असंयतपने का प्ररूपण करता है अर्थात् मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र ये तीनों गुणस्थान असंयत ही होते हैं यह समझना चाहिए।

"सम्माइट्टी" यह विशेषण उपरितन सभी गुणस्थानों में गंगानदी के प्रवाह के समान लगाने के लिए है अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के समस्त गुणस्थान सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीवों की अन्य और भी क्या-क्या विशेषताएँ होती हैं? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ — सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो श्रद्धान करता ही है किन्तु किसी तत्त्व को नहीं जानता हुआ गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है।

यः अर्हदादिउपदिष्टं प्रवचनं आप्तागमपदार्थत्रयं श्रद्धधाति-रोचते, तेषु असद्भावं-अतत्त्वमपि तस्य विशेषज्ञानशून्यत्वेन केवलगुरुनियोगात् अर्हदाद्याज्ञातः श्रद्धधाति सोऽपि सम्यग्दृष्टिरेव भवति तदाज्ञाया अनतिक्रमात्।^१

पुनरपि उच्यते—

सुत्तादो तं सम्मं, दरिसिज्जतं जदा ण सदहदि।

सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पडुडि।।^२

तथा असदर्थश्रद्धानः आज्ञासम्यग्दृष्टिर्जीवो यदा कुशलाचार्यान्तरैः प्राक्तनतद्गृहीत-असदर्थरूप-विपरीततत्त्वं गणधरादिकथितसूत्रं दर्शयित्वा सम्यक्प्ररूप्यमाणं तद् दुराग्रहादेशेन न श्रद्धधाति तदा प्रभृति स जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति। सूत्राश्रद्धानेन आज्ञातिक्रमस्य सुप्रसिद्धत्वादेव कारणात्।

“अजाणमाणो गुरुणियोगा” अस्यार्थः लब्धिसारटीकायां—

अयं वेदकसम्यग्दृष्टिः स्वयं विशेषमजानानो गुरोर्वचनाकौशल-दुष्टाभिप्रायगृहीतविस्मरणादिनिबन्धनान्नि-योगादन्यथा व्याख्यानासद्भावं तत्त्वार्थेष्वसद्रूपमपि श्रद्धधाति तथापि सर्वज्ञाज्ञाश्रद्धानात् सम्यग्दृष्टिरेवासौ। पुनः कदाचित् आचार्यान्तरेण गणधरादिसूत्रं प्रदर्श्य व्याख्यायमानं सम्यग्रूपं यदा न श्रद्धधाति ततः प्रभृति स एव जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति, आप्तसूत्रार्थाश्रद्धानात्।^३

जो अर्हतादि के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन के अनुसार आप्त, आगम और पदार्थ तीनों का श्रद्धान करता है, उनमें अतत्त्व को भी उसके ज्ञान से शून्य होने के कारण केवल गुरु के नियोग से श्रद्धान कर लेता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही रहता है क्योंकि वह जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है।

पुनरपि कहते हैं—

गाथार्थ—गणधरादि कथित सूत्र के आश्रय से आचार्यादि के द्वारा भले प्रकार समझाए जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थ का समीचीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

वह आज्ञासम्यग्दृष्टि जीव असत्—मिथ्या अर्थ का श्रद्धान करता है किन्तु जब किसी अन्य कुशल आचार्य के द्वारा पूर्व में श्रद्धा किए गए विपरीत तत्त्व को “यह गलत है” ऐसा गणधरादिकथित सूत्र दिखाकर सम्यक्—वास्तविकरूप में प्ररूपित किया जाता है फिर भी वह दुराग्रहवश उस सम्यक् अर्थ का श्रद्धान नहीं करता है तब उसी समय से वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि वह सूत्र का अश्रद्धान करता हुआ जिनेन्द्र आज्ञा का उल्लंघन करने वाला सुप्रसिद्ध है।

“अजाणमाणो गुरुणियोगा” इसका अर्थ लब्धिसार टीका में किया है—

यह वेदक सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं विशेष नहीं जानता हुआ तथा गुरु के वचन अकौशल—अभिप्राय व्यक्त करने की अक्षमता के कारण से, दुष्ट अभिप्राय से, ग्रहण किये हुए अर्थ का विस्मरण आदि हो जाने से अथवा व्याख्यान का असद्भाव होने से तत्त्वार्थ के असत् रूप का भी श्रद्धान कर लेता है फिर भी सर्वज्ञ आज्ञा का श्रद्धान करने से वह सम्यग्दृष्टि ही रहता है। पुनः कदाचित् दूसरे आचार्य के द्वारा गणधरादि कथित सूत्र को दिखाने पर भी वह व्याख्यायमान—प्रवचनकथित सम्यक् रूप का जब श्रद्धान नहीं करता है तब उसी समय से वह जीव आप्त कथित सूत्र का अश्रद्धान करने के कारण मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अयं सम्यग्दृष्टिः पुनरपि कीदृशोऽस्ति इति कथ्यते—

णो इंदिएसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे चावि।

जो सहहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो।।^१

यः इंद्रियविषयेषु नो विरतः, तथा स्थावरत्रसजीववधेऽपि नो विरतः, जिनोक्तं प्रवचनं श्रद्धधाति स जीवः अविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति। अनेन असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति समानाधिकरणत्वं समर्थितं जातं। 'अपि' शब्देन संवेगादिसम्यक्त्वगुणाः सूच्यन्ते, अनुकम्पापि स्याच्च।^२ एतेन ज्ञायते असंयतसम्यग्दृष्टेः प्रवृत्तिरनर्गला भवितुं न शक्यते। किंच सम्यग्दृष्टिः जीवः बद्धायुष्कं अंतरेण देवायुरेव बध्नाति न च त्रीण्यायूषि, अतोऽस्य प्रवृत्तिः हिंसादिषु पापेषु द्यूतादिदुर्व्यसनेष्वपि न जायते इति।

वह सम्यग्दृष्टि पुनः कैसा होता है सो कहते हैं—

गाथार्थ—जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

इस अर्थ से असंयतपना और सम्यग्दृष्टिपना दोनों का समान रूप से समर्थन हो जाता है अर्थात् दोनों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि वह सम्यग्दृष्टि अविरत—व्रत—नियम आदि से रहित होता है इसीलिए उसका नाम “असंयतसम्यग्दृष्टि” सार्थक है। गाथा में जो “अपि” शब्द है उससे संवेग आदि सम्यक्त्व के गुण भी वह सम्यग्दृष्टि जीव पालन करता है ऐसा सूचित होता है तथा प्राणिमात्र पर उसका अनुकम्पा भाव भी रहता है। इससे यह ज्ञात होता है कि असंयत सम्यग्दृष्टि का आचरण अनर्गल नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यदि उस सम्यग्दृष्टि ने सम्यक्त्व होने के पूर्व आयु का बन्ध नहीं किया है तो वह देवायु का ही बन्ध करता है, शेष तीन आयु का बन्ध नहीं कर सकता है इसलिए उसकी प्रवृत्ति हिंसा आदि पापों में और द्यूत—जुआ आदि व्यसनो में भी नहीं हो सकती है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन तीनों लोकों में सर्वोत्तम रत्न है यह प्रायः चरणानुयोग के समस्त ग्रंथों में पाया जाता है। छहढाला में पं. श्री दौलतराम जी ने उसकी महिमा का बखान करते हुए लिखा है—

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा।

सम्यकता न लहे सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।।

पुनः उसी तृतीय ढाल में कहा है—

प्रथम नरक बिन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी।

थावर विकलत्रय पशु में नहिं उपजत सम्यक्धारी।।

अर्थात् पूर्व में नरकायु का बंध कर लेने वाला बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम नरक के आगे नरकों में नहीं जा सकता है तथा भवनत्रिक में, नपुंसक वेद में, स्त्री में, स्थावर, विकलत्रय और पशुयोनि में भी वह मरकर नहीं जा सकता है। जैसे—राजा श्रेणिक के जीव ने जिनधर्म के विद्वेष से मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डालते समय ही सातवें नरक की तैंतीस सागर की आयु का बन्ध कर लिया था उसके पश्चात् उन्होंने भगवान महावीर के समवसरण में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया तो उन्हें बद्धायुष्कपने के कारण नरक गति को तो प्राप्त करना पड़ा किन्तु आयु का अपकर्षण करके प्रथम नरक की चौरासी हजार वर्ष की आयु

अधुना देशविरतगुणस्थानप्ररूपणार्थं त्रयोदशमसूत्रस्यावतारो भवति—

संजदासंजदा।।१३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—संयताश्च ते असंयताश्च संयतासंयताः। देशसंयताः अणुव्रतिनोऽगारिणः श्रावकाः अपि उच्यन्ते। कश्चिदाह—

यदि संयतः, नासौ असंयतः। अथासंयतः नासौ संयतः इति विरोधान्नायं गुणो घटते ?

आचार्यदेवः समाधत्ते—नात्र विरोधः, संयमासंयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोस्त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात्। अत्र गुणस्थाने क्षायोपशमिको भावः, अप्रत्याख्यानावरणीयस्य सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् सतां चोपशमात्

कर ली जो समुद्र में राई के सदृश लघु है। आज भी वे प्रथम नरक में अपनी उस आयु के क्षण वहाँ के भीषण दुःखों में व्यतीत कर रहे हैं किन्तु आगे की उत्सर्पिणी में वे ही इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर “महापद्म” के रूप में जन्म लेकर अयोध्या नगरी को पावन करेंगे। यह सब सम्यग्दर्शन का प्रभाव है जो कि वास्तव में अकथनीय है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में श्रीसमन्तभद्राचार्य ने कहा है—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्पि।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।

अर्थात् तीन लोक और तीन काल में प्राणियों के लिए सम्यक्त्व के समान कोई श्रेयस्कर—कल्याणकारी वस्तु नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान कोई दुःखदाई नहीं है।

समयसार आदि अध्यात्मग्रंथों में सम्यग्दृष्टि को वीतराग निर्विकल्परूप से परिणत होकर निश्चयभाव प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की है। यहाँ पर श्री पुष्पदन्ताचार्य के सूत्र पर व्याख्या करते हुए टीकाकर्त्री गणिनी श्रीज्ञानमती माताजी ने असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान में होने वाले तीनों सम्यग्दर्शन का संक्षिप्त वर्णन किया है। जिसे धारण कर अपने जीवन को सार्थक करना चाहिए।

अब देशविरत गुणस्थान की प्ररूपणा करने के लिए तेरहवें सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

सामान्य से संयतासंयत जीव हैं।।१३।।

जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं उन्हें संयतासंयत कहते हैं। ये अणुव्रती, अगारी, श्रावक और देशसंयत भी कहलाते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि—

जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है ? और जो असंयत होता है वह संयत नहीं हो सकता है क्योंकि संयमभाव और असंयमभाव का परस्पर विरोध है इसलिए यह गुणस्थान नहीं बनता है ?

इस पर आचार्य देव समाधान करते हैं—

इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि संयमभाव और असंयमभाव इन दोनों को एक आत्मा में स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है। यहाँ गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के वर्तमानकालिक सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने

प्रत्याख्यानावरणीयोदयात् संयमासंयमरूपस्याप्रत्याख्यानचारित्रस्योत्पत्तेः। अस्मिन् देशसंयमे त्रीण्यपि सम्यक्त्वानि भवन्ति।

सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो दृश्यन्त इति चेत् ?

नैतद् वक्तव्यं, निर्गतमुक्तिकांक्षस्यानिवृत्तविषयपिपास्याप्रत्याख्यानसंयमस्यानुपपत्तेः।

उक्तं च —

जो तसवहाउ विरओ, अविरओ तह य थावरवहाओ।

एक्कसमयमिह जीवो, विरयाविरओ जिणेक्कमई।^१

यो जीवः एककाले एव त्रसवधाद् विरतः स्थावरवधादविरतः स एव विरताविरत इति व्यपदिश्यते। अयं विषयभेदापेक्षया अविरोधेन विरताविरत इति व्यपदेशार्हो भवति। तथा च शब्देन प्रयोजनं विना स्थावरवधमपि न करोतीति व्याख्येयो भवति। जिनेषु-आप्तादिषु, एका-केवला, मति-इच्छा, रुचिः, यस्यासौ जिनैकमतिः — श्रावकः। इत्यनेन देशसंयतस्य सम्यग्दृष्टित्वविशेषणं निरूपितं जातं। इदं विशेषणं आदिदीपकत्वेन उत्तरत्रापि गुणस्थानेषु विशेषणत्वेन संबंधनीयं भवति।^२

अस्य देशव्रतधारिणः श्रावकस्य द्वादशव्रतानि सन्ति।

उक्तं च श्रीमद्गौतमस्वामिना पाक्षिकप्रतिक्रमणसूत्रे —

“पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वणह-
णाणेण सव्वलोयदरसिणा सावयाणं सावियाणं खुडुयाणं खुडुयाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि

योग्य उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यानचारित्र उत्पन्न होता है। इस देशसंयम गुणस्थान में तीनों सम्यक्त्व होते हैं।

सम्यक्त्व के बिना भी देशयति — देशव्रती देखे जाते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं — ऐसा नहीं कहना चाहिए, मुक्ति की आकांक्षा से रहित और विषयों की पिपासा — इच्छा से सहित जीव के अप्रत्याख्यान संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कहा भी है —

गाथार्थ—जो जीव जिनेन्द्रदेव में अद्वितीय श्रद्धा को रखता हुआ एक ही समय में त्रसजीवों की हिंसा से विरत और स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत होता है उसको विरताविरत कहते हैं।

जो जीव एक काल में ही त्रसबध से विरत और स्थावर बध से अविरत है वही “विरताविरत” कहलाता है। यह विषय के भेदाभेद की अपेक्षा से अविरोधरूप से विरताविरत इस संज्ञा के योग्य होता है।

तथा गाथा में जो ‘च’ शब्द है उससे वह प्रयोजन के बिना स्थावर बध भी नहीं करता है ऐसा व्याख्येय — जानने योग्य है। जिनेषु — आप्तादि भगवन्तों में, एका — केवल, मति — इच्छा या रुचि है जिनकी वह जिनैकमति — श्रावक है। इससे देशसंयत के सम्यग्दृष्टिपना विशेषण बन जाता है। यह विशेषण आदिदीपक होने से आगे के गुणस्थानों में भी विशेषणरूप से जुड़ जाता है।

उस देशव्रतधारी श्रावक के बारह व्रत होते हैं। श्रीगौतमस्वामी ने पाक्षिकप्रतिक्रमण सूत्र में कहा भी है —

(इन पंक्तियों का हिन्दी पद्यानुवाद इस टीका की रचयित्री गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने ही किया है सो मैं यहाँ प्रस्तुत कर रही हूँ) —

गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खा-वदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि। तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्ता-दाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदारसंतोसपरदारा-गमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकद-परिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।

तत्थ इमाणि तिण्णिण गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविध-अणत्थ-दण्डादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोग-परिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णिण गुणव्वदाणि।

तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामाइयं, विदिए पोसहो-वासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिम-सल्लेहणा-मरणं, तिदियं अब्भोवस्साणं चेदि।

से अभिमद-जीवाजीव-उवलद्ध-पुण्णपाव-आसव-संवर-णिज्जर-बंधमोक्ख-महिकुसले धम्माणुरायरत्तो पि माणु-रागरत्तो अट्ठि-मज्जाणुराय-रत्तो मुच्छिदट्ठे गिहिदट्ठे विहिदट्ठे पालिदट्ठे सेविदट्ठे इणमेव णिगंथपावयणे अणुत्तरे सेअट्ठे सेवणुट्ठे —

णिस्संकिय-णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछी य अमूढदिट्ठी य।

उवगूहण ट्ठिदिकरणं, वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ।।१।।

हे आयुष्मन्तो! पहले ही यहाँ मैंने सुना वीरप्रभु से।
 उन महाश्रमण भगवान् महति महावीर महाकाश्यप जिनसे।।
 सर्वज्ञज्ञानयुत सर्वलोकदर्शी उनसे उपदेश दिया।
 श्रावक व श्राविका क्षुल्लक अरु क्षुल्लिका इन्हीं के लिए कहा।।१।।
 ये पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत चउ शिक्षाव्रत बारह विध।
 हैं सम्यक् श्रावक धर्म इन्हीं में जो ये अणुव्रत पाँच कथित।।
 पहला अणुव्रत स्थूलतया प्राणिवध से विरती होना।
 दूजा अणुव्रत स्थूलतया असत्यवच से विरती होना।।२।।
 तीजा अणुव्रत स्थूलतया बिन दी वस्तु को नहीं लेना।
 चौथा अणुव्रत स्थूलतया परदारा से विरती होना।।
 निजपत्नी में संतुष्टी या सब स्त्रीमात्र से रति तजना।
 पंचम अणुव्रत स्थूलतया इच्छाकृत परीमाण धरना।।३।।
 त्रय गुणव्रत में पहला गुणव्रत दिश विदिशा का प्रमाण करना।
 दूजा गुणव्रत नाना अनर्थ दण्डों से नित विरती धरना।।
 तीजा गुणव्रत भोगोपभोग वस्तु की संख्या कर लेना।।
 ये तीन गुणव्रत कहे पुनः चारों शिक्षाव्रत को सुनना।।४।।
 पहला शिक्षाव्रत सामायिक दूजा प्रोषध उपवास कहा।
 तीजा है अतिथीसंविभाग चौथा सल्लेखनमरण कहा।।
 शिक्षाव्रत चार कहे पुनरपि अभ्रावकाश तृतीयव्रत है।
 जघन्य श्रावक से उत्तम तक, ये बारह व्रत तरतममय हैं।।५।।

सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि तिण्णिण गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहं गिहत्थधम्म-
मणुपालइत्ता —

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त राइभत्ते य।

बंभारंभ परिग्गह, अणुमण-मुद्धिट्ठ देसविरदो य।।१।।

महु-मंस-मज्ज-जूआ, वेसादि-विवज्जणासीलो।

पंचाणुव्वय-जुत्तो, सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।।२।।

जो एदाइं वदाइं धरेइं सावया सावियाओ वा खुड्डय खुड्डियाओ वा अट्टदह-भवण-वासिय-वाण-
विंतर-जोइसिय-सोहम्मीसाणदेवीओ वदिक्क-मित्त-उवरिम-अण्णदर-महड्डियासु देवेसु उववज्जंति।

तं जहा-सोहम्मी-साण-सणक्कुमार-माहिंद-बंभ-बंभुत्तर-लांतवकापिट्ठ-सुक्क-महासुक्क-सतार-
सहस्सार-आणत-पाणत-आरण-अच्चुत-कप्पेसु उववज्जंति।

इसमें अभिमत जीव रु अजीव उपलब्ध पुण्य अरु पाप कहे।

आस्रव संवर निर्जर व बंध अरु मोक्ष कुशल नव तत्त्व रहें।।

इनमें धर्मानुराग से रत हो भी धन में अनुरागी हो।

अस्थीमज्जा के सदृश धर्म के अनुराग में रागी हो।।६।।

ममतापूर्वक गृहीत वस्तु में, गृहीत वस्तु अरु कृतवस्तु में।

अपने पालन किये पदार्थ में, अपने सेवित सुपदारथ में।।

निर्ग्रन्थों के भी प्रवचन में, उत्तम अरु हितकर पदार्थ में।

सेवन की प्रवृत्ती रूप क्रिया में दोष हुये सो मिथ्या हों।।७।।

निःशंकित निःकांक्षित अरु निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टी हैं।

उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य प्रभावना अठ अंग कहे।।

ये सभी पाँच अणुव्रत त्रयगुणव्रत चउ शिक्षाव्रत माने हैं।

बारहविध गृहस्थधर्मों का अनुपालन श्रावक करते हैं।।८।।

दर्शन व्रत सामायिक प्रोषध सचित्तत्याग निशिभुक्ति त्यजी।

ब्रह्मचर्य व आरंभ परिग्रह अनुमति उद्दिष्ट त्याग ये देशव्रती।।

मधु मांस मद्य जुआ वेश्यादिक व्यसनविवर्जनशील गृही।

पंचाणुव्रतयुत शिक्षाव्रत आदिक सातों से जो पूर्ण वही।।९।।

जो श्रावक और श्राविका या क्षुल्लक व क्षुल्लिका इन व्रत को।

धारण कर अठरहस्थान व भावन व्यंतर में नहीं जाते वो।।

ज्योतिषियों में सौधर्म ईशान देवियों में नहीं जाते हैं।

उपरिम वैमानिक देवों में वे महाऋद्धिधर होते हैं।।१०।।

वह यह सौधर्मेशान सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म दिव में।

इन सोलह स्वर्गों में ही ये सदृष्टि सचेलक उपजत हैं।।

वे कटक व बाजूबंद मुकुट से युत आडंबर शस्त्र धरें।

भासुरवर बोधि धरें बहु ऋद्धि सहित महर्द्धिक देव बनें।।११।।

अडयंबर सत्यधरा, कडयंगद-बद्धनउड-कयसोहा।

भासुर-वर-बोहिधरा, देवा य महड्डिया होंति॥१॥

उक्कस्सेण दो तिण्णि-भव-गहणाणि जहण्णे (जहण्णेण) सत्तट्ठभव-गहणाणि तदो सुमणुसुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था पच्छा णिगंग्था होऊण सिज्झंति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सब्बदुक्खाणमंतं करेंति।^१

श्रीमद्भगवद्गौतमगणधरकथितसूत्राणामभिप्रायमेतत्, यत् ये केचित् श्रावकाः पंचाणुव्रतादीनि व्रतानि पालयन्ति ते स्वर्गसुखमनुभूय अधिकतमान् सप्ताष्टौ वा भवान् गृहीत्वा नियमेन निर्वाणपदं प्राप्नुवन्ति, इति नात्र संदेहः।

इमे पंचमगुणस्थानवर्तिनः श्रावकाः दानपूजाशीलोपवासरूपान् चतुर्विधान् श्रावकधर्मानपि पालयन्ति।

उक्तं च श्रीवीरसेनाचार्येणैव कसायपाहुडनाममहाग्रन्थस्य जयधवलाटीकायां—

“चउवीस वि तित्थयरा सावज्जा, छज्जीवविराहण हेउ-सावयधम्मोवएसकारित्तादो। तं जहा-दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। एसो चउव्विहो वि छज्जीवविराहओ, पयणपायणगि-संधुक्खण-जालण-सूदिसूदाणादि-वावारेहि जीवविराहणाए विणा दाणाणुववत्तीदो। तरुवरछिंदण-छिंदावणिट्टपादण-पादावण-तद्दहण-दहावणादिवावारेण छज्जीवविराहणहेउणा विणा जिणभवणकरण-

उत्कटपने से दो त्रय भव व जघन्य से सात आठ भव लें।

फिर मानव से देवपद ले सुदेवपद से सुमनुष्य भव लें॥

फिर सदगृहस्थ निर्ग्रथ मुनी हो सिद्ध-बुद्ध हो जाते हैं।

मुक्ती पाते कृतकृत्य बने सब दुःखों का क्षय करते हैं॥१२॥

हिन्दी में ही पद्यानुवाद होने से सबको सुगम रीति से समझ में आ जावेगा अतः गद्य में पृथक् अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है।

श्रीमान् भगवान् गौतम गणधर के द्वारा कहे गये इन सूत्रों का अभिप्राय यह है कि जो कोई श्रावक पाँच अणुव्रत आदि व्रतों का पालन करते हैं वे स्वर्गसुख का अनुभव करते हुए अधिक से अधिक सात-आठ भवों को ग्रहण करके नियम से निर्वाणपद को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

ये पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक दान, पूजा, शील और उपवासरूप चार प्रकार के श्रावकधर्म का पालन करते हैं।

श्रीवीरसेनाचार्य ने ही कसायपाहुड नामक महाग्रन्थ की जयधवला टीका में कहा है—

“शंका—छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत श्रावक धर्म का उपदेश करने वाले होने से चौबीसों ही तीर्थंकर सावद्य अर्थात् सदोष हैं। आगे इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हैं—दान, पूजा, शील और उपवास ये श्रावकों के चार धर्म हैं। यह चारों ही प्रकार का श्रावक धर्म छह काय के जीवों की विराधना का कारण है, क्योंकि भोजन का पकाना, दूसरे से पकवाना, अग्नि का सुलगाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का खूतना और खुतवाना आदि व्यापारों से होने वाली जीवविराधना के बिना दान नहीं बन सकता है। उसी प्रकार वृक्ष का काटना और कटवाना, ईंटों का गिराना और गिरवाना तथा उनको पकाना और पकवाना आदि छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है। तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चंदन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप का

करावणण्णहाणुववत्तीदो। णवणोवलेवण-संमज्जण-छुहावण-फुल्लारोहण-धूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणाभावाहि विणा पूजाकरणाणुववत्तीदो च।

कथं सीलरक्खणं सावज्जं ? ण, सदारपीडाए विणा सीलपरिवालाणुववत्तीदो।

कथं उववासो सावज्जो ? ण, सपोट्ठत्थपाणिपीडाए विणा उववासाणुववत्तीदो।

थावरजीवे मोत्तूण त्रसजीवे चेव मा मारेहु त्ति सावयाणमुवदेसदाणदो वा ण जिणा णिरवज्जा.....तम्हा ते ण वंदणिज्जा त्ति ?

एत्थ परिहारो उच्चदे। तं जहा — जइ वि एवमुवदिसंति तित्थयरा तो वि ण तेसिं कम्मबंधो अत्थि, तत्थ मिच्छत्तासंजमकसायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जासेसकम्माणं बंधाभावादो।

ण च जिणेसु देस-सयलधम्मोवदेसेण कम्मसंचओ वि अत्थि, उदयसरूवकम्मागमादो असंखेज्जगुणाए सेढीए पुव्वसंचियकम्मणिज्जरं पडिसमयं करेंतेसु कम्मसंचयाणुववत्तीदो। ण च तित्थयर-मण-वयण-कायवुत्तीओ इच्छापुव्वियायो जेण तेसिं बंधो होज्ज, किंतु दिणयर-कप्परुक्खणं पउत्तिओ व्व वयिससियाओ।^१

जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता है।

प्रतिशंका — शील का रक्षण करना सावद्य कैसे है ?

शंकाकार — नहीं, क्योंकि अपनी स्त्री को पीड़ा दिये बिना शील का परिपालन नहीं हो सकता है, इसलिए शील की रक्षा करना भी सावद्य है।

प्रतिशंका — उपवास सावद्य कैसे है ?

शंकाकार — नहीं, क्योंकि अपने पेट में स्थित प्राणियों को पीड़ा दिये बिना उपवास नहीं बन सकता है इसलिए उपवास करना भी सावद्य है।

अथवा “स्थावर जीवों को छोड़ कर केवल त्रसजीवों को ही मत मारो” श्रावकों को इस प्रकार का उपदेश देने से जिनदेव निरवद्य नहीं हो सकते हैं ?

अथवा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्ष के मूल में, सूर्य के आतप में और खुले हुए स्थान में निवास करना, उत्कुटासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि के निमित्त से होने वाले क्लेशों में जीवों को डालकर उन्हें ठगने के कारण भी जिन निरवद्य नहीं हैं और इसलिए वे वन्दनीय नहीं हैं ?

समाधान — यहाँ पर पूर्वोक्त शंका का परिहार करते हैं। वह इस प्रकार है — यद्यपि तीर्थंकर पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबन्ध नहीं होता है, क्योंकि जिनदेव के तेरहवें गुणस्थान में कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषाय का अभाव हो जाने से वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

जिनदेव देशव्रती श्रावकों के और सकलव्रती मुनियों के धर्म का उपदेश करते हैं, इसलिए उनके अर्जित कर्मों का संचय बना रहता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि उनके जिन नवीन कर्मों का बन्ध होता है जो कि उदयरूप ही हैं उनसे भी असंख्यात गुणश्रेणीरूप से वे प्रतिसमय पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करते हैं, इसलिए उनके कर्मों का संचय नहीं बन सकता है। और तीर्थंकर के मन, वचन तथा काय की प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होती हैं जिससे उनके नवीन कर्मों का बन्ध होवे। जिस प्रकार सूर्य और कल्पवृक्षों की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक होती हैं उसी प्रकार उनके भी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक अर्थात् बिना इच्छा के समझना चाहिए।

उक्तं च —

पावागमदाराइं, अणाइरुवट्टियाइं जीवम्मि।

तत्थ सुहासवदारं, उग्घादेत्ते कउ सदोसो।।^१

तात्पर्यमेतत् — कश्चिदाशंकते-तीर्थकरदेवाः दानपूजादिश्रावकधर्मान् उपदिशन्ति तत्र त्रसस्थावरजीवानां हिंसा संभवत्वेव, अतो न ते जिनेन्द्रदेवाः निर्दोषाः ततस्ते न वंदनीया भवन्तीति।

तस्य परिहारः कथ्यते —

यद्यपि तीर्थकरदेवाः इत्थं श्रावकधर्मान् मुनिधर्मान् च उपदिशन्ति तथापि तेषां न कर्मबंधोऽस्ति, किंच तेषां भगवतां मनोवाक्कायप्रवृत्तयः इच्छापूर्विकाः न सन्ति, यथा सूर्यस्य कल्पवृक्षाणां च प्रवृत्तयः स्वभावादेव तथैव भगवतां प्रवृत्तयोऽपि स्वभावादेव।

अन्यच्च — जीवे पापास्त्रवद्वाराणि अनादिकालात् स्थितानि सन्ति, तेषां विद्यमाने सति यः कश्चित् शुभास्त्रवद्वाराणि उद्घाटयति स सदोषः कथं भवेत् ? न कथमपि इति ज्ञातव्यं।

पुनश्च —

संजदधम्मकहा वि य, उवासयाणं सदारसंतोसो।

तसवहविरईसिक्खा, थावरघादो त्ति णाणुमदो।।^२

संयतानां या धर्मकथा अस्ति, तस्याः श्रावकाणां स्वदारसंतोषस्य त्रसबधविरतेश्च शिक्षा एव लभ्यते न च स्थावरघातोऽनुमतो भवति, किंच जिनेन्द्रदेवस्य उपदेशो निवृत्तिरूप एव विद्यते। एतज्ज्ञात्वा

कहा भी है —

गाथार्थ — जीव में पापास्त्रव के द्वार अनादिकाल से स्थित हैं, उनके रहते हुए जो जीव शुभास्त्रव के द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात् शुभास्त्रव के कारणभूत कार्यों को करता है वह सदोष कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि कोई शंका करता है कि तीर्थकर देव दान, पूजा आदि श्रावक के धर्म का उपदेश देते हैं उसमें तो त्रस-स्थावर सभी जीवों की हिंसा संभव ही है अतः वे जिनेन्द्रदेव निर्दोष नहीं हैं इसलिए वे वन्दनीय भी नहीं होते हैं।

उसका परिहार करते हुए आगे कहते हैं —

यद्यपि तीर्थकर देव इस प्रकार के श्रावकधर्म और मुनिधर्म का उपदेश देते हैं फिर भी उनके कर्मबंध नहीं हैं। क्योंकि उन भगवन्तों के मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होती हैं, जैसे — सूर्य और कल्पवृक्षों की प्रवृत्तियाँ स्वभाव से ही होती हैं उसी प्रकार भगवन्तों की प्रवृत्तियाँ भी स्वाभाविक ही हैं।

अन्य और भी देखें — जीव में पापास्त्रव के द्वार अनादिकाल से स्थित हैं, उनके विद्यमान रहने पर जो कोई शुभास्त्रव के द्वारों को उद्घाटित करता है वह सदोष कैसे हो सकता है ? अर्थात् कथमपि सदोषी नहीं हो सकता है ऐसा जानना चाहिए।

पुनश्च —

गाथार्थ — संयमी जनों की धर्मकथा भी उपासकों के स्वदारसन्तोष और त्रसबधविरति की शिक्षारूप होती है अतः उसका यह अभिप्राय नहीं है कि स्थावरघात की अनुमति दी गई है। तात्पर्य यह है कि संयमरूप किसी भी उपदेश से निवृत्ति ही इष्ट रहती है, उससे फलित होने वाली प्रवृत्ति इष्ट नहीं है।

संयतों की जो धर्मकथा है उससे श्रावकों को स्वदारसन्तोष और त्रसबधविरति की शिक्षा ही प्राप्त होती है न

संप्रतिप्रचलितपंथभेदस्य दुराग्रहं त्यक्त्वा आर्षकथनानुसारेण प्रवृत्तिर्विधातव्या भव्यजनैरिति।

मंगल प्रार्थना —

अत्र^१ राजस्थानस्य तिजाराख्ये श्रीचन्द्रप्रभातिशयक्षेत्रेऽत्रस्थसमितिजनानामाग्रहेण मयास्मिन् क्षेत्रे सम्मेदशिखरपर्वतस्य रचनां निर्मापयितुं नूतनयोजना कथिता। ततश्च तेषां पदाधिकारिणां प्रार्थनया वीराब्दे द्वाविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे पौषशुक्लैकादश्यां तिथौ मध्याह्नकाले तत्सम्मेदशिखरनिर्माण-स्थलेऽस्मत्सान्निध्ये ब्रह्मचारिरवीन्द्रकुमारेण सह श्रावकैः सविधिना रक्षायंत्रं स्थापितम्। एषा भाविरचना अस्यां विराजयिष्यमाणतीर्थकराणां चरणचिह्नानि श्रीचन्द्रप्रभजिनमूर्तिश्च सर्वतीर्थभाक्तिकानां मम संघस्य च स्वात्मसिद्धिं सर्वमनोरथपूर्तिं च कुर्वन्त्विति याचयामहे श्रीचन्द्रप्रभभगवत्पादयोरुहसमक्षे वयमिति।

प्रभो! त्वां विलोक्य प्रहृष्टं मनो मे। ध्वनिर्गद्गदो मोदवाष्पस्त्रवन्त्यौ॥

दृशौ स्तश्च साफल्यजन्मापि मेऽभूत्। अतः कुड्मलीकृत्य हस्तौ प्रणौमि॥^२

किं स्थावरघात की पुष्टि होती है क्योंकि जिनेन्द्रदेव का उपदेश निवृत्तिरूप ही जानना चाहिए। ऐसा जानकर वर्तमान में प्रचलित पंथभेद के दुराग्रह को छोड़कर आर्ष ग्रन्थों के कथनानुसार भव्यजनों को प्रवृत्ति करनी चाहिए।

इष्ट प्रार्थना —

राजस्थान प्रान्त के तिजारा नाम के चंद्रप्रभ अतिशयक्षेत्र में वहाँ की ट्रस्ट समिति के कार्यकर्ताओं के आग्रह से मैंने इस क्षेत्र पर सम्मेदशिखर पर्वत रचना के निर्माण की नूतन योजना बताई। पुनः उन पदाधिकारियों की प्रार्थनानुसार वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ बाईस (२५२२) की पौषशुक्ला एकादशी तिथि को मध्याह्न काल में उस सम्मेदशिखररचनानिर्माण स्थल पर मेरे संघ सानिध्य में ब्रह्मचारी रवीन्द्रकुमार के साथ श्रावकों ने विधिपूर्वक रक्षायंत्र स्थापित किया।

भविष्य में निर्मित होने वाली यह रचना तथा इसमें विराजमान होने वाले तेईस तीर्थकरों के चरणचिह्न एवं श्रीचंद्रप्रभभगवान की जिनप्रतिमा समस्त तीर्थभक्तों की एवं मेरे संघ की स्वात्मसिद्धि तथा समस्त मनोरथों की पूर्ति करें यही श्री चन्द्रप्रभ भगवान् के चरणकमलों के समक्ष हमारी याचना है।

पद्यार्थ — हे प्रभो! आपको देखकर मेरा मन हर्षित हो रहा है, वाणी गद्गद हो रही है तथा नेत्रों से हर्ष के अश्रु झर रहे हैं। मैं अपने जन्म को सफल मानता हुआ आपको अंजलिबद्ध होकर नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ — यहाँ शंकाकार का कहना है कि तीर्थकर श्रावकों को दान, पूजा, शील, उपवास और त्रसबधविरति आदि का उपदेश देते हैं तथा मुनियों को अनशन आदि बारह प्रकार के तपों के पालन करने का उपदेश देते हैं, इसलिए वे निर्दोष नहीं हो सकते, क्योंकि इन क्रियाओं में जीव-विराधना देखी जाती है। दान के लिए भोजन का पकाना-पकवाना, अग्नि का जलाना-जलवाना, बुझाना-बुझवाना, हवा का करना-करवाना आदि आरंभ करना पड़ता है। पूजन के लिए मंदिर या मूर्ति का बनाना-बनवाना, प्रक्षाल आदि का करना-करवाना आदि आरंभ करना पड़ता है। शील के पालन करने में अपनी स्त्री से संयोग का त्याग होने से उसको कष्ट होता है। तथा त्रसवध से विरति के उपदेश में स्थावरघात की सम्मति प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार जब साधु अनशन आदि को करते हैं तब एक तो उनके पेट में स्थित जीवों की विराधना होती है। दूसरे साधुओं को भी अनशनादि के करने में कष्ट होता है, अतः तीर्थकर का उपदेश सावद्य होने से वे निर्दोष नहीं

१. मांगीतुंगी यात्रा विहार के मध्य मैं ससंघ इस दिन तिजारा में थी। २. जिनस्तोत्रसंग्रह पृ. १३३ (वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से प्रकाशित)।

अथ संयतानामादिगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रावतारो भवति—

पमत्तसंजदा॥१४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पमत्तसंजदा—प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सं सम्यग् यताः विरताः संयताः। प्रमत्ताश्च ते संयताः प्रमत्तसंयताः। कश्चिदाह—

यदि प्रमत्ताः न संयताः, स्वरूपासंवेदनात्। अथ संयताः न प्रमत्ताः, संयमस्य प्रमादपरिहाररूपत्वादिति ?

कहे जा सकते हैं और इसलिए उनकी स्तुति नहीं करनी चाहिए।

श्री वीरसेनस्वामी ने इस शंका का समाधान दो प्रकार से किया है। प्रथम तो यह बतलाया है कि मिथ्यात्वादि चार बंध के कारण हैं। इनमें से प्रारम्भ के तीन कारण तीर्थकर भगवान के नहीं पाये जाते हैं। यद्यपि उनके योग के निमित्त से सातारूप कर्मों का आस्रव होता है पर वह उदयरूप ही होता है, अतः नवीन कर्मों में स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ता है और स्थिति तथा अनुभाग के बिना कर्मबन्ध का कहना औपचारिक है। तथा पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी होती रहती है, अतः तीर्थकर जिन इनकी अपेक्षा तो सावद्य कहे नहीं जा सकते हैं। योग के विद्यमान रहने से यद्यपि उनके प्रवृत्तियाँ पाई अवश्य जाती हैं पर क्षायोपशमिक ज्ञान और कषाय के नहीं रहने से वे सब प्रवृत्तियाँ अनिच्छापूर्वक होती हैं, इसलिए वे प्रवृत्तियाँ भी सावद्य नहीं कही जा सकती हैं। यद्यपि एक पर्याय से दूसरी पर्याय के प्रति जीव बिना इच्छा के ही गमन करता है। तथा सुप्तादि अवस्थाओं में भी बिना इच्छा के व्यापार देखा जाता है तो भी यहाँ कषायादि अंतरंग कारणों से विद्यमान रहने से वे सावद्य ही हैं, निरवद्य नहीं, किन्तु तीर्थकर जिन क्षीणकषायी हैं, अतः उनकी प्रवृत्तियाँ पापास्रव की कारण नहीं हैं, अतः तीर्थकर जिन निरवद्य हैं। दूसरे सभी संसारी जीवों की प्रवृत्तियाँ सराग पाई जाती हैं, अतः तीर्थकर जिन अपने उपदेश द्वारा उनके त्याग की ओर संसारी जीवों को लगाते हैं। जो पूरी तरह से इनका त्याग करने में असमर्थ हैं उन्हें आंशिक त्याग का उपदेश देते हैं और जो उनका पूरा त्याग कर सकते हैं उन्हें पूरे त्याग का उपदेश देते हैं। एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा तथा आरंभ करना श्रावकों का कर्तव्य है यह उनके उपदेश का सार नहीं है, किन्तु उनके उपदेश का सार यह है कि यदि श्रावक आरम्भादि का त्याग करने में असमर्थ हैं तो भी उन्हें यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। त्रस हिंसा तो कभी भी नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार मुनियों के बाह्य वस्तु में जो राग और द्वेष रूप प्रवृत्ति पाई जाती है उसके त्याग के लिए ही मुनियों को अनशन आदि का उपदेश दिया जाता है। उसका उद्देश्य दूसरे जीवों का वध नहीं है, अतः तीर्थकर जिन श्रावकधर्म और मुनिधर्म का उपदेश देते हुए भी सावद्य नहीं कहे जा सकते हैं और इसीलिये वे विबुधजनों से वंदनीय हैं यह सिद्ध होता है।

अब संयतों के आदि—प्रारम्भिक—प्रथम गुणस्थान निरूपण हेतु उत्तर सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

सामान्य से प्रमत्तसंयत जीव हैं॥१४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रकर्ष से मत्त जीवों को प्रमत्त कहते हैं और अच्छी तरह से विरत या संयम को प्राप्त जीवों को संयत कहते हैं। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्तसंयत कहते हैं।

शंका — यदि छठे गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं क्योंकि प्रमत्त जीवों को अपने स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता है। यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं क्योंकि संयमभाव प्रमाद के परिहारस्वरूप होता है।

आचार्यदेवः समाधानं ददाति— नैष दोषः, संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः गुप्तिसमित्यनुरक्षितः, नासौ प्रमादेन विनाश्यते, तत्र तस्मान्मलोत्पत्तेः।

संयमस्य मलोत्पादक एवात्र प्रमादो विवक्षितो न तद्विनाशक इति कुतोऽवसीयते इति चेत् ?

संयमाविनाशान्यथानुपपत्तेः। न हि मंदतमः प्रमादः क्षणक्षयी संयमविनाशकोऽस्ति। सकलसंयम-स्योत्कटरूपेण प्रतिबन्धकस्य प्रत्याख्यानानावरणस्याभावे संयमस्य विनाशो भवितुं न शक्यते।

अस्मिन् सूत्रे प्रमत्तवचनमन्तदीपकत्वात् शेषातीतसर्वगुणस्थानेषु प्रमादास्तित्वं सूचयति। अस्मिन् गुणस्थाने संयमापेक्षया क्षायोपशमिको भावोऽस्ति। प्रत्याख्यानानावरणसर्वघातिस्पर्धकोदयक्षयात्तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानसमुत्पत्तेः। अस्मिन् गुणस्थाने त्रीण्यपि सम्यक्त्वानि सन्ति।

सम्यक्त्वमतरेणापि संयमः संभवति न वा ?

न संभवति, किंच, आप्तागमपदार्थेष्वनुत्पन्नश्रद्धस्य त्रिमूढालीढचेतसः संयमानुपपत्तेः।

द्रव्यसंयमस्य नात्रोपादानमिति कुतोऽवगम्यत इति चेत् ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों से विरतिभाव को संयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से अनुरक्षित है। वह संयम वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता है क्योंकि संयम में प्रमाद से केवल मल की ही उत्पत्ति होती है।

शंका — छठे गुणस्थान में संयम में मल उत्पन्न करने वाला ही प्रमाद विवक्षित है, संयम का नाश करने वाला प्रमाद विवक्षित नहीं है यह बात कैसे निश्चय की जाय ?

समाधान — इस गुणस्थान में प्रमाद के रहते हुए संयम का सद्भाव अन्यथा नहीं बन सकता है इसलिए निश्चय होता है कि यहाँ पर मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद ही अभीष्ट है। दूसरी बात यह है कि छठे गुणस्थान में होने वाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयम का नाश भी नहीं कर सकता है क्योंकि सकल संयम का उत्कटरूप से प्रतिबन्ध करने वाले प्रत्याख्यानानावरण के अभाव में संयम का नाश नहीं पाया जाता है।

इस सूत्र में “प्रमत्त” वचन अंत दीपक होने से नीचे के — इससे पूर्व के सभी गुणस्थानों में प्रमाद का अस्तित्व सूचित हो जाता है अर्थात् मिथ्यात्व से लेकर देशविरत तक पाँचों गुणस्थान प्रमत्त ही होते हैं यह निश्चित हो जाता है।

इस छठे गुणस्थान में संयम की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव है। प्रत्याख्यानानावरण सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से उनके होने पर ही उदयाभावलक्षण उपशम से और संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान की उत्पत्ति बन जाती है।

इस गुणस्थान में क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीनों ही सम्यक्त्व हो सकते हैं।

प्रश्न — सम्यक्त्व के बिना भी संयम हो सकता है या नहीं ?

उत्तर — नहीं होता है क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थों में जिसके श्रद्धा ही उत्पन्न नहीं हुई उस जीव के तीन मूढ़ता से सहित होने के कारण संयम की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

प्रश्न — द्रव्य संयम का यहाँ पर ग्रहण नहीं किया है यह कैसे जाना जाय ?

सम्यक् ज्ञात्वा श्रद्धाय यतः संयतः इति व्युत्पत्तितस्तदवगतेः।

उक्तं च —

वत्तावत्तपमाए, जो वसइ पमत्तसंजदो होइ।

सयल-गुण-शील-कलिओ, महव्वई चित्तलायरणो।^१

व्यक्ते-स्वसंवेद्ये, अव्यक्ते-प्रत्यक्षज्ञानिनामेव संवेद्ये च प्रमादे यः संयतो वर्तते स चारित्रमोहनीय-क्षयोपशममाहात्म्येन सकलगुणशीलकलितो महाव्रती अपि भवति। अत्र साकल्यं महत्त्वं च देशसंयतापेक्षया ज्ञातव्यं। ततः कारणादेव प्रमत्तसंयतः चित्रलाचरण इत्युक्तं। चित्रं-प्रमादमिश्रं लातीति चित्रलं, चित्रलं आचरणं यस्यासौ चित्रलाचरणः। अथवा चित्रलः-सारंगः तद्वत् शवलितं आचरणं यस्यासौ चित्रलाचरणः। अथवा चित्तं लातीति चित्तलं आचरणं यस्यासौ चित्तलाचरणः इति विशेषव्युत्पत्तिरपि ज्ञातव्या।^२

अथ तेषां प्रमादानां नामसंख्याप्रदर्शनार्थं गाथासूत्रं वर्तते —

विकहा तहा कसाया, इंदिय-णिहा तहेव पणयो य।

चदु-चदु-पण-मेगेगं, होंति पमादा य पण्णरसा।।^३

संयमविरुद्धाः कथाः विकथाः, कषन्ति-हिंसन्ति संयमगुणमिति कषायाः, संयमविरोधीन्द्रियव्यापाराः

उत्तर — नहीं, क्योंकि सम्यक् प्रकार से जानकर और श्रद्धान करके जो यम सहित है उसे संयत कहते हैं। संयत शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्यसंयम का ग्रहण नहीं किया है। कहा भी है —

गाथार्थ — जो व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद में वास करता है, जो सकल गुण और शील से युक्त है वह महाव्रती चित्रलआचरण — प्रमादमिश्रित होता है।

व्यक्त — स्वसंवेद्य — स्वयं के जानने योग्य और अव्यक्त — प्रत्यक्षज्ञानियों के ज्ञान द्वारा जानने योग्य प्रमाद में जो संयत है वह चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम के माहात्म्य से सकल गुण और शील से सहित — सम्यक्त्व एवं ज्ञानादि सम्पूर्ण गुणों से और व्रतों के रक्षण करने में समर्थ ऐसे शीलों से युक्त महाव्रती भी होता है। यहाँ सकलपना और महाव्रतीपना देशसंयत की अपेक्षा जानना चाहिए। इसी कारण प्रमत्तसंयत जीव चित्रल — प्रमादयुक्त चितकबरे आचरण वाला होता है।

चित्र — प्रमाद से मिश्रित आचरण को लाने वाला चित्रल है, वह चित्रलआचरण है जिसका वह चित्रलाचरण जीव कहलाता है। अथवा चित्रल — हिरण, तद्वत् — हिरण के समान चितकबरा आचरण है जिसका उसको चित्रलाचरण जीव कहते हैं। अथवा चित्त को जो लाता है अर्थात् मन को चंचल करने वाला वह चित्तल आचरण है जिसका वह चित्तलाचरण है। यह विशेष व्युत्पत्ति भी जानना चाहिए।

अब उन प्रमादों के नाम और संख्या को प्रदर्शित करने के लिए गाथासूत्र कहते हैं —

गाथार्थ — चार विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपालकथा), चार कषायें, पाँच इंद्रियाँ, निद्रा और प्रणय इस प्रकार प्रमाद के पंद्रह भेद होते हैं।

संयम की विरोधी कथा विकथा कहलाती है, संयमगुण का घात करने वाली कषाय है। संयमविरोधी

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १७९। २. गोम्मटसारजीवकाण्ड (जीवतत्त्वप्रदीपिका)।

३. षट्खण्डागम (धवलाटीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. १७९।

इन्द्रियाणि, स्त्यानगृह्यादिकर्मत्रितयोदयेन निद्रा, प्रचलातीव्रोदयेन वा समुद्भूता जीवस्य स्वार्थसामान्य-ग्रहणप्रतिबन्धिका जाड्यावस्था निद्रा। बाह्यार्थेषु ममत्वरूपः प्रणयः, एते यथासंख्यं चतस्रः, चत्वारः, पंच, एका, एकः सर्वे मिलित्वा प्रमादाः पंचदश भवन्ति। अथ गाथायां प्रथमोद्दिष्टस्तथाशब्दः सर्वप्रमादसाधारण्यज्ञापनार्थः, द्वितीयस्तथाशब्दः समुच्चयार्थः।

अत्र प्रमादालापोत्पत्तिनिमित्ताक्षसंचारहेतुविशेषः संख्या, एषां न्यासः प्रस्तारः, अक्षसंचारः परिवर्तनं, संख्यां धृत्वा अक्षानयनं नष्टं, अक्षं धृत्वा संख्यानयनं समुद्दिष्टं। एते पंचप्रकाराः प्रमादसमुत्कीर्तने ज्ञेया भवन्ति।

अस्य विस्तरः—चतस्रः विकथाः चतुर्भिः कषायैः गुणिताः षोडश, पुनः पंचेन्द्रियैर्गुणिताः अशीतिः भवन्ति, तथैव एकया निद्रया गुणिते अशीतिरेव पुनश्च एकेन प्रणयेन गुणिते सति अशीतिरेव प्रमादाः भवन्ति।

एते संख्याप्रस्तारादयो गोम्मतसारजीवकाण्डे टीकायां दृष्टव्याः अत्र न प्रतन्यते—

अथवा प्रमादस्य पंचशताधिकसप्तत्रिंशत्सहस्रप्रमिताः भेदाः सन्ति—

तद्यथा—स्त्रीकथा अर्थकथा भोजनकथा राजकथा चोरकथा वैरकथा परपाखंडकथा देशकथा भाषाकथा गुणबंधकथा देवीकथा निष्ठुरकथा परपैशून्यकथा कंदर्पकथा देशकालानुचितकथा भण्डकथा मूर्खकथा आत्मप्रशंसाकथा परपरिवादकथा परजुगुप्साकथा परपीडाकथा कलहकथा परिग्रहकथा कृप्याद्यारम्भकथा

इंद्रियों का व्यापार इंद्रिय हैं अर्थात् पंचेन्द्रिय विषयों के व्यापार में प्रवृत्त इंद्रियाँ यहाँ ग्राह्य हैं। स्त्यानगृह्ण आदि तीनों कर्मों के उदय से निद्रा आती है अथवा प्रचलाकर्म के तीव्र उदय से उत्पन्न जीव के अपने और पर पदार्थ संबंधी सामान्य ग्रहण का प्रतिबन्ध करने वाली—रोकने वाली जड़तारूप अवस्था का नाम 'निद्रा' है। बाह्य पदार्थों में ममत्व भाव 'प्रणय' है, ये सब यथाक्रम से चार, चार, पाँच, एक, एक सब मिलकर $4+4+4+1+1=14$ भेद होते हैं अर्थात् चार विकथा, चार कषाय, पाँच इंद्रियाँ, एक निद्रा, और एक प्रणय ये पंद्रह प्रमाद हैं।

गाथा में जो 'तथा' शब्द प्रथम बार आया है वह समस्त प्रमादों के साधारणपने को ज्ञापित करता है और द्वितीय 'तथा' शब्द समुच्चय का सूचक है।

यहाँ प्रमाद के आलापों की उत्पत्ति में निमित्त अक्ष संचार का हेतुविशेष 'संख्या' कहलाती है, उनका न्यास—स्थापन 'प्रस्तार' है, अक्षसंचार को 'परिवर्तन' कहते हैं, संख्या को रख करके अक्ष का लाना 'नष्ट' है, अक्ष को रख करके संख्या का निकालना—लाना 'समुद्दिष्ट' है। प्रमादसमुत्कीर्तना में ये पाँच प्रकार जाने जाते हैं।

इसका विस्तार करते हैं—चार विकथाओं को चार कषायों से गुणित करने पर सोलह (१६) भेद हुए, पुनः सोलह को पाँच इंद्रियों से गुणा करने पर $16 \times 5 = 80$ अस्सी भेद होते हैं। उनको एक निद्रा से गुणा करने पर अस्सी ही रहे और अस्सी को पुनः एक प्रणय के गुणा करने पर प्रमाद के अस्सी भेद ही होते हैं।

ये संख्या, प्रस्तार आदि गोम्मतसार जीवकाण्ड की टीका में देखना चाहिए यहाँ उनका विस्तार नहीं किया जाता है।

अथवा प्रमाद के सैंतीस हजार पाँच सौ (३७५००) भेद हैं—

वे इस प्रकार हैं—स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा, वैरकथा, परपाखंड कथा, देशकथा, भाषाकथा, गुणबंधकथा, देवीकथा, निष्ठुरकथा, परपैशून्यकथा, कन्दर्पकथा, देशकालानुचितकथा, भण्डकथा, मूर्खकथा, आत्मप्रशंसाकथा, परपरिवादकथा, परजुगुप्साकथा, परपीडाकथा, कलहकथा, परिग्रहकथा, कृषि आदि आरंभ की कथा और संगीत वाद्यकथा ये पच्चीस विकथाएँ हैं। सोलह कषाय और नौ नोकषाय के

संगीतवाद्यकथा चेति विकथाः पंचविंशतिः (२५)। षोडशकषाय — नवनोकषायभेदेन कषायाः पंचविंशतिः (२५)। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनोनामानि इन्द्रियाणि षट् (६)। स्त्यानगृद्धिः निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला निद्रा प्रचला चेति निद्रा पंच (५)। स्नेहो मोहश्चेति द्वौ (२)। एतेषु उपरितनभंगेषु एकैकस्मिन् अधस्तनभंगाः, अधस्तनभंगेषु एकैकस्मिन् उपरितनभंगाश्च सर्वे मिलन्तीति परस्परं गुणितेषु पञ्चशताधिकसप्तत्रिंशत्सहस्रप्रमिताः तत्प्रमादाः भवन्ति (३७५००)। एतेऽपि मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तसंयतगुणस्थानावसानेषु यथासंभवं बन्धहेतुत्वेन संभवन्तः संख्यादिपंचप्रकारैः आगमाविरोधेन योजनीयाः।^१

इमे षष्ठगुणस्थानवर्तिनः साधवः नग्नदिगम्बरमुनय एव, आचार्योपाध्यायसाधुभेदेन त्रिविधा भवन्ति। एतेषामष्टाविंशतिमूलगुणा^२ नियमेनैव। अष्टाविंशतिकृतिकर्माण्यपि अहोरात्रचर्यायां भवन्ति।

उक्तं च मूलाचारग्रन्थे श्रीकुंदकुंददेवेन —

चत्वारि पडिक्कमणे, किदियम्मा तिणिण होंति सज्झाए।

पुव्वण्हे अवरण्हे, किदियम्मा चोद्दसा होंति।।६०२।।^३

टीकायां श्रीवसुनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तिना प्रोक्तं —

अथवा पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि स्वाध्याये त्रीणि वंदनायां द्वे, सवितर्युदिते स्वाध्याये त्रीणि मध्याह्नवन्दनायां द्वे एवं पूर्वाह्नक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति, तथा अपराह्नवेलायां स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि प्रतिक्रमणे चत्वारि वंदनायां द्वे योगभक्तिग्रहणोपसंहारकालयोः द्वे, रात्रौ प्रथमस्वाध्याये

भेद से पचीस कषायें हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये छह इंद्रियों के नाम हैं। स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा और प्रचला ये पाँच निद्राएँ हैं। स्नेह और मोह ये दो हैं। इन सब उपरितन भंगों में एक-एक में अधस्तन भंग होते हैं और अधस्तन भंगों में एक-एक में उपरितन भंग होकर सब मिल जाते हैं इस प्रकार उनको परस्पर में गुणा कर देने पर सैंतीस हजार पाँच सौ (३७५००) भंग हो जाते हैं। इन सभी को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर प्रमत्तसंयत छोटे गुणस्थान तक यथासंभव बन्धहेतुरूप से संभव होते हुए संख्या आदि पाँच प्रकार के द्वारा अविरोधीआगम से नियोजित कर लेना चाहिए।

ये छोटे गुणस्थानवर्ती साधु नग्न दिगम्बर मुनि ही आचार्य, उपाध्याय, साधु के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। उनके नियम से अट्ठाईस मूलगुण होते हैं और अट्ठाईस कृतिकर्म भी अहोरात्रि की चर्या में होते हैं।

मूलाचार ग्रंथ में श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है —

गाथार्थ — प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म, स्वाध्याय में तीन ये पूर्वाह्न और अपराह्न से संबंधित ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं।।६०२।।

इसकी टीका में श्रीवसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा है —

अथवा पश्चिमरात्रि के प्रतिक्रमण में क्रियाकर्म चार, स्वाध्याय में तीन और वंदना में दो, सूर्य उदय होने के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्न वंदना के दो इस प्रकार पूर्वाह्न संबंधी चौदह कृतिकर्म होते हैं तथा अपराह्न बेला में स्वाध्याय के तीन क्रियाकर्म, प्रतिक्रमण में चार, वंदना में दो, योगभक्ति ग्रहण और उपसंहार में दो एवं रात्रि में प्रथम स्वाध्याय के तीन इस तरह अपराह्न संबंधी चौदह क्रियाकर्म होते हैं। गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय काल उपलक्षण रूप है इससे अन्य भी क्रियाकर्म इन्हीं में अंतर्भूत हो जाते हैं। अतः

१. गोम्मटसार जीवतत्त्वप्रदीपिका टीकायां। २. अट्ठाईस मूलगुणों के नाम साधुपरमेष्ठी के लक्षण में दिये गये हैं।

३. मूलाचार-गाथा ६०२।

त्रीणि। एवमपराणहक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति, प्रतिक्रमस्वाध्यायकालयोरुपलक्षणत्वादिति। अन्यान्यपि क्रियाकर्माण्यत्रैवान्तर्भवन्ति नाव्यापकत्वमिति संबंधः। पूर्वाणहसमीपकालः पूर्वाणह इत्युच्यतेऽपराणहसमीप-कालोऽपराणह इत्युच्यते तस्मान्न दोषः इति।

उक्तं चानगारधर्माभूतेऽपि—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्, वंदनेऽष्टौ प्रतिक्रमे।

कायोत्सर्गा योगभक्तौ, द्वौ चाहोरात्रगोचराः॥^१

अधुना कृतिकर्मणो लक्षणमुच्यते—

दोणदं तु जधाजादं, वारसावत्तमेव च।

चदुस्सिरं तिसुद्धं च, किदियम्मं पउज्जे।।६०३॥^१

दोणदं—द्वे अवनती पंचनमस्कारादावेकावनतिभूमिसंस्पर्शस्तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ द्वितीयावनतिः शरीरनमनं द्वे अवनती, जधाजादं—यथाजातं। वारसावत्तमेव च—द्वादशावर्ता एवं च पंचनमस्कारोच्चारणादौ त्रय आवर्तास्तथा पंचनमस्कारपूर्वकसामायिकदण्डकस्य समाप्तौ त्रय आवर्ताः। तथा थोस्सामि इति चतुर्विंशतिस्तवादौ त्रय आवर्तास्तथा चतुर्विंशतिस्तवसमाप्तौ त्रय आवर्ता इति द्वादशावर्ता भवन्ति। चदुस्सिरं—चत्वारि शिरांसि पंचनमस्कारस्यादौ अंते च करमुकुलांकितशिरःकरणं तथा चतुर्विंशतिस्तवस्यादावन्ते च

अव्यापक दोष नहीं आता है। चूँकि पूर्वाह्न के समीप का काल पूर्वाह्न कहलाता है और अपराह्न के समीप का काल अपराह्न कहलाता है इसलिए कोई दोष नहीं है।

अनगारधर्माभूत में भी कहा है—

गाथार्थ—स्वाध्याय के बारह, वंदना के छह, प्रतिक्रमण के आठ और योगभक्ति के दो ऐसे अहोरात्र सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते हैं।

अब कृतिकर्म का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जातरूप—मुनि दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धि सहित कृतिकर्म का प्रयोग करें।।६०३॥

दो अवनति—पंच नमस्कार की आदि में एक अवनति अर्थात् भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार करना तथा चतुर्विंशतिस्तव के आदि में दूसरी बार अवनति—शिर का नमाना अर्थात् भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार करना, ये दो अवनति हैं। यथाजात—जातरूपधारी क्रोध, मान, माया और संग—परिग्रह या लोभ आदि रहित कृतिकर्म को मुनि करते हैं। द्वादश आवर्त—पञ्च नमस्कार के उच्चारण के आदि में मन वचन काय के संयमनरूप शुभयोगों की प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त, पञ्चनमस्कार की समाप्ति में मन वचन काय की शुभवृत्ति होना ये तीन आवर्त तथा चतुर्विंशतिस्तव के आदि में मन वचन काय की शुभ वृत्ति होना ये तीन आवर्त एवं चतुर्विंशतिस्तव की समाप्ति में शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त—ऐसे मनवचनकाय की शुभ प्रवृत्तिरूप बारह आवर्त होते हैं अथवा चारों दिशाओं में चार प्रणाम एक भ्रमण में, ऐसे ही तीन बार के भ्रमण में बारह हो जाते हैं।

चतुःशिर—पञ्चनमस्कार के आदि और अंत में कर मुकुलित करके अंजलि जोड़कर माथे से लगाना तथा चतुर्विंशतिस्तव के आदि और अंत में कर मुकुलित करके माथे से लगाना ऐसे चार शिर—शिरोनति होती हैं।

करमुकुलांकितशिरः करणमेवं चत्वारि शिरांसि भवन्ति। तिसुद्धं-मनोवाक्कायशुद्धं, किदियम् पञ्जदे-
कृतिकर्म प्रयुंक्ते करोतीत्यर्थः।

इमे प्रमत्तसंयताः षडावश्यकक्रियां पंचपरमेष्ठिनमस्कारं असही-निसही इति त्रयोदशविधक्रियां कुर्वाणाः
आत्मसिद्धिं साधयन्तीति ज्ञातव्यम्।

क्षायोपशमिकसंयमेषु शुद्धसंयमोपलक्षितगुणस्थाननिरूपणार्थं उत्तरसूत्रावतारो भवति —

अपमत्तसंजदा।।१५।।

सिद्धान्तचिंतामणि टीका — प्रमत्तसंयताः पूर्वोक्तलक्षणाः, न प्रमत्तसंयताः अप्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमाद-
रहितसंयताः इति। अस्मिन् गुणस्थानेऽपि क्षायोपशमिको भावोऽस्ति, प्रत्याख्यानावरणीयकर्मणः सर्वघातिस्पर्ध-
कोदयक्षयात्तेषामेव सतां पूर्ववदुपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्याननामसंयमोत्पत्तेः, अत्रापि त्रीणि
सम्यक्त्वानि भवन्ति। अत्र निर्विकल्पध्यानरूपेण शुद्धोपयोगोऽपि भवति।

उक्तं च —

णट्टासेस-पमाओ, वय-गुण-सीलोलि-मंडिओ णाणी।

अणुवसमओ अक्खवओ, ज्ञाणणिलीणो हु अपमत्तो।।^१

यः नष्टाशेषप्रमादः व्रतगुणशीलावलीभिर्मण्डितः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तः धर्म्यध्याननिलीनमनाः
अप्रमत्तसंयतः यावदुपशमश्रेण्यभिमुखः क्षपकश्रेण्यभिमुखो वा चटितुं न वर्तते तावत् स खलु स्वस्थानाप्रमत्त
इच्युच्यते। अत्र ज्ञानीति विशेषणं सम्यग्दर्शनचारित्र्यवत् सम्यग्ज्ञानस्यापि मोक्षहेतुत्वं सूचयति।^२

त्रिशुद्धि — मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग किया जाता है ऐसा अर्थ हुआ।

ये प्रमत्तसंयत मुनि छह आवश्यक क्रिया, पञ्चपरमेष्ठी नमस्कार और असही-निसही ये तेरह प्रकार की
क्रिया को करते हुए आत्मसिद्धि को करते हैं ऐसा जानना चाहिए।

अब क्षायोपशमिक संयमों में शुद्ध संयम से उपलक्षित गुणस्थान के निरूपण करने के लिए आगे का
सूत्र कहते हैं —

सूत्रार्थ —

सामान्य से अप्रमत्तसंयत जीव हैं।।१५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रमत्तसंयतों का स्वरूप पहले कह आए हैं, जिनका संयम प्रमाद सहित
नहीं होता है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवों के पंद्रह प्रकार का प्रमाद नहीं
पाया जाता है उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिए।

इस गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है, प्रत्याख्यानावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों के उदयक्षय से
और आगामी काल में उदय में आने वाले उन्हीं के उदयाभाव लक्षण उपशम होने से तथा संज्वलन कषाय के
मंद उदय से प्रत्याख्यान नामके संयम की उत्पत्ति होती है। यहाँ भी तीन सम्यक्त्व होते हैं। यहाँ निर्विकल्पध्यानरूप
से शुद्धोपयोग भी होता है। कहा भी है —

गाथार्थ — जिसके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार के प्रमाद नष्ट हो गए हैं, जो व्रत, गुण और शीलों से
मंडित हैं, जो निरन्तर आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान से युक्त हैं जो उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ नहीं हुए

अथ तावत् विस्तरः — सप्तमगुणस्थानस्य द्वौ भेदौ स्तः — स्वस्थानाप्रमत्तसंयतः सातिशयाप्रमत्तसंयतश्च। अद्यत्वे जंबूद्वीपस्य भरतक्षेत्रे दुःषमकाले मुनयो हीनसंहननधारिणः सन्ति, ते स्वस्थानाप्रमत्तसंयताः एव भवितुमर्हन्ति न चोपरितनाः।

अथ सातिशयाप्रमत्तस्वरूपमाह —

इगबीसमोहखवणुव-समणणिमित्ताणि तिकरणाणि तर्हिं।

पढमं अधापमत्तं, करणं तु करेदि अपमत्तो।।

यः प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धिवृद्ध्या वर्धमानो वेदकसम्यग्दृष्टिः अप्रमत्तसंयतः सः प्रथमं अनन्तानुबन्धिचतुष्टयं करणत्रयपूर्वकं संक्रमणविधानेन द्वादशकषायनवनोकषायस्वरूपेण विसंयोजयति-परिणामयति तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तकालं विश्राम्य पुनरपि करणत्रयेण दर्शनमोहत्रयमुपशमय्य द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टिर्भवति। अथवा तत्करणत्रयेण तद्दर्शनमोहत्रयं क्षपयित्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भवति। तदनन्तरं अंतर्मुहूर्तकालपर्यंतं प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोः परावृत्तिसहस्राणि करोति। तदनन्तरं प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धि-वृद्ध्या वर्धमानः एकविंशतिचारित्रमोहनीयप्रकृतिरुपशमयितुमुद्युक्तो भवति। अथवा ताः एव एकविंशतिचारित्रमोहप्रकृतीः क्षपयितुं क्षायिकसम्यग्दृष्टिरेवोद्युक्तो भवति। स एवंविधः सातिशयाप्रमत्त एव चारित्रमोहोपशमनक्षपणनिमित्तकरणत्रयपरिणामेषु मध्ये प्रथमं अधःप्रवृत्तकरणं करोतीत्यर्थः।

अथाधःप्रवृत्तकरणस्य निरुक्तिसिद्धमर्थं कथयति —

हैं और जो ध्यान में लवलीन हैं उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इन्हें 'स्वस्थानाप्रमत्त' संज्ञा से जाना जाता है। यहाँ "ज्ञानी" यह विशेषण सम्यग्दर्शन और चारित्र के समान सम्यग्ज्ञान के भी मोक्षहेतुपने को सूचित करता है।

अब उसी का विस्तार करते हैं — सप्तम गुणस्थान के दो भेद हैं — स्वस्थानाप्रमत्त और सातिशयाप्रमत्त।

आज जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में दुषमकाल में हीनसंहननधारी मुनि हैं, वे स्वस्थानाप्रमत्त ही हो सकते हैं, सातिशय अप्रमत्त नहीं हैं।

अब सातिशय अप्रमत्त का स्वरूप बतलाते हैं —

गाथार्थ — चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों के क्षय और उपशम के निमित्त से तीन करण होते हैं, उनमें से अधःप्रवृत्तकरण नामका प्रथम करण अप्रमत्त संयत जीव करता है।

जो प्रतिसमय अनन्तगुणविशुद्धिरूप वृद्धि से वर्धमान वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्तसंयत जीव है वह पहले अनन्तानुबन्धी चतुष्टय को तीनकरण पूर्वक संक्रमण विधान के द्वारा बारह कषाय, नव नोकषाय स्वरूप से विसंयोजन करता है — परिणमन कराता है, पुनः अंतर्मुहूर्त काल तक विश्राम करके फिर तीन करणों के द्वारा दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का उपशम करके द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है। अथवा उन तीन करणों से दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके पश्चात् अंतर्मुहूर्त काल तक प्रमत्त और अप्रमत्त दोनों गुणस्थानों में हजारों बार आवागमन करता है। तदनन्तर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि की वृद्धि से वर्धमान — वृद्धिगत होता हुआ वह जीव चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम करने हेतु उद्यमशील होता है। अथवा उन्हीं इक्कीस प्रकृतियों का क्षपण करने के लिए क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही उद्यम करता है। वह इस प्रकार सातिशय अप्रमत्त जीव ही चारित्रमोहनीय का उपशमन और क्षपण में निमित्तभूत तीन करणरूप परिणामों में से प्रथम अधःप्रवृत्तकरण को करता है यह अर्थ हुआ।

अब अधःप्रवृत्तकरण का निरुक्तिसिद्ध अर्थ कहते हैं —

जम्हा उवरिमभावा, हेट्टिमभावेहि सरिसगा होंति।

तम्हा पढमं करणं, अधापवत्तोति णिहिट्टं।।

यस्मात्कारणात् यस्य जीवस्य उपरितनोपरिसमयस्थितपरिणामैः सह अन्यजीवस्य अधस्तनसमय-परिणामाः सदृशा भवन्ति तस्मात्कारणात् तत्प्रथमं करणं अधःप्रवृत्तकरणमिति निर्दिष्टं-परमागमे प्रतिपादितं भवति।^१ अस्य गुणस्थानस्य गणितरूपेण विस्तरः गोम्मटसारजीवकाण्डटीकायां दृष्टव्यमस्ति।

एवं असंयतसम्यग्दृष्टैर्जघन्यान्तरात्मनः स्वरूपप्रतिपादनपरं एकं सूत्रं, देशसंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां मध्यमान्तरात्मनां स्वरूपप्रतिपादनपराणि त्रीणि सूत्राणि चैतद् तृतीयान्तराधिकारे सूत्रचतुष्टयं गतम्।

अधुना चारित्रमोहोपशमकक्षपकेषु प्रथमगुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रावतारः क्रियते श्रीमद् भगवत्पुष्पदन्ताचार्येण—

अपुव्वकरण-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा।।१६।।

सिद्धान्तचिन्तामणि टीका—अपुव्वकरणपविट्टसुद्धिसंजदेसु—न पूर्वाः अपूर्वाः, करणाः परिणामाः, तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां ते अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धयः, ते च संयताः अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धिसंयताः, तेषु संयतेषु, अत्थि-सन्ति। के ते ? उवसमा खवा—उपशमाः उपशमश्रेण्यारोहका मुनयः, क्षपकाः क्षपकश्रेण्यारोहकाश्च। नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धासंख्येयलोकपरिणामस्यास्य गुणस्थानस्यांतर्विवक्षितसमय-

गाथार्थ—जिस कारण से ऊपर-ऊपर के समय संबंधी परिणामों के साथ अन्य जीव के नीचे के समय संबंधी परिणाम समान होते हैं उस कारण से उस प्रथम करण को परमागम में अधःकरण कहा है।

जिस कारण से जिस जीव के उपरितन के ऊपरसमयस्थित परिणामों के साथ अन्य जीव के अधस्तन समयवर्ती परिणाम एक समान होते हैं इसलिए उस प्रथम करण को अधःप्रवृत्तकरण ऐसा कहा जाता है—परमागम में उसको ही अधःप्रवृत्तकरण नाम से प्रतिपादित किया है।

इस गुणस्थान का गणितरूप से विस्तार गोम्मटसारजीवकाण्ड की टीका में देखना चाहिए।

इस प्रकार असंयतसम्यग्दृष्टि जघन्य अंतरात्मा के स्वरूपप्रतिपादन की मुख्यता से एक सूत्र हुआ। देशसंयत, प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत मध्यम अंतरात्मा मुनियों के स्वरूप को बताने की मुख्यता से तीन सूत्र हुए और इस तृतीय अंतराधिकार में चार सूत्र पूर्ण हुए।

अब आगे चारित्रमोहनीय का उपशम करने वाले या क्षपण करने वाले गुणस्थानों में से प्रथमगुणस्थान के निरूपण करने के लिए श्रीपुष्पदन्ताचार्य उत्तरसूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतों में सामान्य से उपशमक और क्षपक ये दोनों प्रकार के जीव हैं।।१६।।

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका—अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयतों में—जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं, करण शब्द का अर्थ परिणाम है ऐसे अपूर्व परिणामों में जिन जीवों की शुद्धि प्रविष्ट हो गई है उन्हें अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि जीव कहते हैं और वे संयत अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धिसंयत कहलाते हैं। उन संयतों में दो प्रकार के मुनि हैं।

वे कौन हैं ? वे उपशम श्रेणी पर आरोहण करने वाले उपशमकमुनि और क्षपक श्रेणी पर आरोहण

वर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्यसमयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत्।

एतेनापूर्वविशेषणेन अधःप्रवृत्तपरिणामव्युदासः कृत इति द्रष्टव्यः, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात्।
अपूर्वकरणानामन्तः प्रविष्टशुद्धयः क्षपकोपशमकसंयताः, सर्वे संभूय एको गुणः 'अपूर्वकरण' इति।

अत्र कश्चिदाह —

क्षपणोपशमननिबन्धनत्वात् भिन्नपरिणामानां कथमेकत्वमिति चेत् ?

आचार्यदेवः समाधत्ते —

नैतद्वक्तव्यं, क्षपकोपशमकपरिणामानामपूर्वं प्रति साम्यात्तदेकत्वोपपत्तेः।

अत्र गुणस्थाने क्षायिकः औपशमिको भावः, सम्यक्त्वापेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको भावः, दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः। उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिको वा भावः, दर्शनमोहोपशमक्षयाभ्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात्।

उक्तं च —

भिण्णसमयट्टिएहि दु, जीवेहि ण होइ सव्वदा सरिसो।

करणेहि एक्कसमय-ट्टिएहि सरिसो विसरिसो वा।।

करने वाले क्षपक मुनि होते हैं। नाना जीवों की अपेक्षा आदि से लेकर प्रत्येक समय में क्रम से बढ़ते हुए असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम वाले इस गुणस्थान के अंतर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवों के परिणामों से भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान — विलक्षण होते हैं।

इसमें दिए गए अपूर्व विशेषण से अधःप्रवृत्त परिणामों का निराकरण किया गया है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि जहाँ पर उपरितन समयवर्ती जीवों के परिणाम अधस्तनसमयवर्ती जीवों के परिणामों के साथ सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ऐसे अधःप्रवृत्त में होने वाले परिणामों में अपूर्वता नहीं पाई जाती है। जिन्होंने अपूर्वकरणरूप परिणामों में विशुद्धि को प्राप्त कर लिया है ऐसे क्षपक और उपशमक संयमी जीव होते हैं और इन सबको मिलाकर एक अपूर्वकरण गुणस्थान बनता है।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

क्षपणनिमित्तक परिणाम भिन्न हैं और उपशमननिमित्तक परिणाम भिन्न हैं उनमें एकत्व कैसे हो सकता है ?

तब आचार्यदेव समाधान देते हैं —

ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि क्षपक और उपशमक परिणामों में अपूर्वपने की अपेक्षा साम्य होने से एकत्व बन जाता है।

इस गुणस्थान में क्षायिक और औपशमिक भाव होते हैं, सम्यक्त्व की अपेक्षा तो क्षपक श्रेणी वाले मुनि के क्षायिक भाव होता है क्योंकि जिसने दर्शनमोहनीय का क्षय नहीं किया है वह क्षपकश्रेणी पर नहीं चढ़ सकता है और उपशमक के औपशमिक या क्षायिक भाव होता है क्योंकि जिसने दर्शनमोहनीय का उपशम अथवा क्षय नहीं किया है वह उपशमश्रेणी पर नहीं चढ़ सकता है। कहा भी है —

गाथार्थ — अपूर्वकरण गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों की अपेक्षा कभी भी सदृशता नहीं पाई जाती है किन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणामों की अपेक्षा सदृशता और विसदृशता दोनों ही पाई जाती है।

एदह्मि गुणद्व्याणे, विसरिस-समयद्विएहि जीवेहि।
 पुव्वमपत्ता जम्हा, होंति अपुव्वा हु परिणामा।।
 तारिसपरिणामद्विय-जीवा हु जिणेहि गलियतिमिरेहि।
 मोहस्स पुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया।।^१

यथा अधःप्रवृत्तकरणे भिन्नसमयस्थितानां जीवानां परिणामसंख्याविशुद्धिसादृश्यं संभवति। तथास्मिन्नपूर्वकरणगुणस्थाने सर्वदा — सर्वकालेऽपि कस्यापि जीवस्य तत्सादृश्यं न संभवति। एकसमयस्थितकरणपरिणामानां मध्ये विवक्षितैकपरिणामापेक्षया सादृश्यं नानापरिणामापेक्षया वैसादृश्यं च जीवानामधःप्रवृत्तकरणवदत्रापि नियमो नास्ति इति ज्ञातव्यं।

यस्मात् कारणात् एतस्मिन्नपूर्वकरणगुणस्थाने विसदृशेषु उत्तरोत्तरेषु समयेषु स्थितैर्जीवैः पूर्वपूर्वसमयेष्व-प्राप्ता एव विशुद्धपरिणामाः प्राप्यन्ते तस्मात् कारणात् अपूर्वाः करणाः परिणामाः यस्मिन् तदपूर्वकरणगुणस्थानं इति निरुक्त्या लक्षणमुक्तं।

तादृशेषु पूर्वोत्तरसमयविलक्षणेषु अपूर्वकरणपरिणामेषु स्थिताः परिणताः जीवा अपूर्वकरणा इति गलितज्ञानावरणादिकर्मतिमिरैर्जनैर्भणिताः। ते च अपूर्वकरणगुणस्थानवर्तिनो मुनयः, सर्वेऽपि प्रथमसमयमादि कृत्वा चारित्रमोहनीयकर्मणः क्षपणोपशमनोद्युक्ता भवन्ति। ते मुनयः गुणश्रेणि-गुणसंक्रमण-स्थितिखण्ड-अनुभागखण्डनलक्षणानि चत्वार्यावश्यकानि कुर्वन्तीत्यर्थः।

इस गुणस्थान में विसदृश अर्थात् भिन्न-भिन्न समय वाले जीव जो पूर्व में कभी भी नहीं प्राप्त हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामों को ही धारण करते हैं, इसलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है।

पूर्वोक्त अपूर्व परिणामों को धारण करने वाले जीव मोहनीय की शेष प्रकृतियों के क्षपण अथवा उपशमन करने में उद्यत होते हैं ऐसा अज्ञानरूपी अन्धकार से सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

जैसे अधःप्रवृत्तकरण से भिन्न समय स्थित जीवों की परिणाम, संख्या, विशुद्धि एक सदृश संभव होती है उसी प्रकार इस अपूर्वकरण गुणस्थान में सदा — सर्वकाल में भी किसी भी जीव के परिणाम, संख्या और विशुद्धि की सदृशता संभव नहीं होती है अर्थात् सभी की परिणाम विशुद्धि अलग-अलग प्रकार की होती है। एक समय में स्थित करण — परिणामों के मध्य में विवक्षित एक परिणाम की अपेक्षा सदृशता और नाना परिणामों की अपेक्षा विसदृशता होती है क्योंकि जीवों के अधःप्रवृत्तकरण के समान यहाँ भी कोई नियम नहीं है ऐसा जानना चाहिए।

जिस कारण से इस अपूर्वकरण गुणस्थान में विसदृश उत्तरोत्तर समयों में स्थित जीवों के द्वारा पूर्व-पूर्व समयों में अप्राप्त — नहीं पाए गये विशुद्ध परिणामों को ही प्राप्त करते हैं उस कारण से अपूर्व हैं करण — परिणाम जिसमें वह अपूर्वकरण गुणस्थान इस निरुक्ति लक्षणपूर्वक कहा गया है।

उस प्रकार के पूर्वोत्तर समय में विलक्षण अपूर्वकरण परिणामों में स्थित — परिणत जीव अपूर्वकरण हैं ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मतिमिर — अंधकार से रहित जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया है। और वे अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती मुनि सभी प्रथम समय को आदि में करके चारित्रमोहनीय कर्म का क्षपण और उपशमन करने में उद्यमशील होते हैं। वे मुनि गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्ड और अनुभागखण्डन लक्षणरूप चार आवश्यकों को करते हैं।

अत्रापूर्वकरणगुणस्थाने विद्यमानायुष्कस्य प्रथमभागे निद्राप्रचलाद्वये बन्धतो व्युच्छिन्ने सति उपशमश्रेण्यारोहकापूर्वकरणस्य प्रथमभागे मरणं नास्ति, इति आगमोऽस्ति। ते अपूर्वकरणगुणस्थानवर्तिनः महामुनयः उपशमश्रेणिमारोहन्ति तदा चारित्रमोहनीयं नियमेन उपशमयन्ति। क्षपकश्रेणिमारुह्यमाणाः क्षपकाः तच्चारित्रमोहनीयं नियमेन क्षपयन्ति। क्षपकश्रेण्यां सर्वत्र मरणं नियमेन नास्ति।^१ ये च वज्रवृषभनाराच-नाम उत्तमसंहननधारिणस्त एव क्षपकश्रेणिमारोहन्ति। ये च त्रयाणां मध्ये कतमेन संहननेन युक्ताः ते उपशमश्रेणिमारोहन्तुं क्षमाः भवन्ति।

अद्यत्वे पंच महाविदेहेषु षष्टि-उत्तरैकशतशाश्वतकर्मभूमिषु द्वयोरपि श्रेण्यारोहकाः दिगम्बरयतयो भवन्ति। पुनश्च पंच भरतेषु पंचैरावतेषु चाधुना पंचमकाले उपशामकाः क्षपकाश्च साधवो न भवन्तीति ज्ञातव्यं। अत्र कश्चिदाशङ्कते — यदि अद्यत्वे कर्मणां क्षयो नास्ति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति, पुनः कथं दीक्षा गृहीतव्या ?

आचार्यदेवः समाधत्ते — यद्यपि मोक्षो नास्ति तथापि मोक्षमार्गो विद्यत एव, तथा चोक्तं श्रीदेवसेनाचार्येण —

वरिससहस्सेण पुरा, जं कम्मं हणइ तेण काएण।

तं संपइ वरिसेण हु, णिज्जरयइ हीणसंहणणे।।^२

पुरा-चतुर्थकाले तेण काएण-उत्तमसंहननधारी मुनिः चरमोत्तमदेहेन जं कम्मं वरिससहस्सेण हणइ-यानि कर्माणि वर्षसहस्रेण हन्ति-नाशयति-क्षपयति, तं-तानि कर्माणि-तावन्ति च कर्माणि संपइ-संप्रति

यहाँ अपूर्वकरण गुणस्थान में विद्यमान आयुष्क के प्रथम भाग में निद्रा, प्रचला इन दो प्रकृतियों का बंध से व्युच्छेद होने पर उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले जीव के अपूर्वकरण के प्रथम भाग में मरण नहीं होता है ऐसा आगम का विधान है। वे अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती महामुनि जब उपशम श्रेणी में आरोहण करते हैं तब चारित्रमोहनीय का नियम से उपशमन करते हैं। क्षपक श्रेणी में चढ़ रहे क्षपक मुनि चारित्रमोहनीय का नियम से क्षपण करते हैं। क्षपक श्रेणी में नियम से सर्वत्र मरण नहीं है। जो वज्रवृषभनाराच नामक उत्तम संहननधारी जीव हैं वे ही क्षपक श्रेणी पर आरोहण करते हैं और जो तीन संहनन (वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच) में से किसी संहनन से युक्त हैं वे उपशम श्रेणी पर चढ़ने में सक्षम होते हैं।

आज पाँच महाविदेहों की एक सौ साठ कर्मभूमियों में दोनों श्रेणियों पर चढ़ने वाले दिगम्बर यति होते हैं और पाँच भरत, पाँच ऐरावत क्षेत्रों में आज पंचम काल में उपशामक और क्षपक (दोनों श्रेणी वाले) दोनों प्रकार के साधु नहीं होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

यदि आजकल कर्मों का क्षय नहीं होता है तो मोक्ष नहीं हो सकता है पुनः दीक्षा क्यों ग्रहण की जाती है? इस बात का आचार्य देव समाधान करते हैं कि —

“यद्यपि आज कर्मों का क्षय नहीं होता है फिर भी मोक्षमार्ग तो है ही,” श्री देवसेन आचार्य ने कहा भी है—

गाथार्थ — पूर्व काल में जिन कर्मों को उत्तमसंहननयुक्त शरीर के द्वारा एक हजार वर्ष में नष्ट किया जाता था आज उन कर्मों को हीन संहनन वाले साधु एक वर्ष में ही क्षय कर सकते हैं।

चतुर्थकाल में उत्तमसंहननधारी मुनि चरमोत्तम शरीर के द्वारा जिन कर्मों को सहस्र वर्षों में नाश करते थे, आज इस पंचमकाल में हीन संहनन के द्वारा वर्षमात्र में ही उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतः आज

वर्तमानकाले-पंचमकाले हीणसंहणणे-हीनसंहननेन वरिसेण हु णिज्जरयइ-वर्षमात्रेणैव खलु निर्जरयति-विनाशयति। अतः अद्यत्वेऽपि जैनैश्चर्यं दीक्षां गृहीत्वा स्वल्पकालेनैव अधिकानि कर्माणि विनाश्य समाधिना मरणं कृत्वा स्वर्गे जन्म गृहीत्वा तत्रत्यादागत्य मुनिर्भूत्वा मोक्षो गन्तव्यः।

उक्तं च श्रीकुंदकुंददेवेन—

अज्जवि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।

लोयंतिय देवत्तं, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।^१

अस्मिन् पंचमकालेऽपि त्रिरत्नशुद्धाः महामुनयः स्वात्मानं ध्यात्वा निरतिचारमूलगुणादीन् च पालयित्वा इन्द्रपदं लभन्ते ब्रह्मचर्यशुद्ध्या लौकान्तिकदेवत्वमपि प्राप्तुं अर्हा भवन्ति। अनन्तरं तत्र स्वर्गात् च्युता पुनरपि दिगम्बरमुनयो भूत्वा सर्वकर्मक्षयं कृत्वा निर्वाणं गच्छन्ति।

संप्रति नवमगुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो विधीयते श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण—

अणियट्ठि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा।।१७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अणियट्ठि-समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निर्वृत्तिः। अथवा निवृत्तिर्व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः। बादरसांपराइय-बादराः स्थूलाः, सांपरायाः कषायाः बादराश्च ते सांपरायाश्च बादरसांपरायाः। पविट्ठसुद्धिसंजदेषु-तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते अनिवृत्तिबादर-

भी जैनैश्चर्यं दीक्षा को ग्रहण करके स्वल्प काल में ही अधिक कर्मों को नष्ट करके समाधिमरण के द्वारा स्वर्ग में जन्म लेकर वहाँ से मनुष्य भव में आकर मुनि बनकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

श्री कुंदकुंददेव ने कहा भी है—

गाथार्थ — आज भी त्रिरत्न — सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इंद्र पर्याय को प्राप्त करते हैं और लौकान्तिक देव भी बनते हैं पुनः वहाँ से च्युत होकर निर्वाणधाम चले जाते हैं—मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ — लौकान्तिक देव एक भवावतारी होते हैं एवं सौधर्मइंद्र भी एक भवावतारी होता है। निर्दोष चारित्र धारी साधु, अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालक साधु-साध्वी भी उन देव पर्यायों में जन्म लेकर मात्र एक भव मनुष्य का लेकर मुनि अवस्था के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं। इसलिए आजकल दीक्षा लेना, तपस्या करना व्यर्थ नहीं किन्तु पहले से भी अधिक कार्यकारी है ऐसा सार प्राप्त होता है।

अब नवमें गुणस्थान का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य श्री पुष्पदन्तस्वामी सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ —

अनिवृत्ति-बादर-सांपरायिक प्रविष्ट शुद्धि संयतों में उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं।।१७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — समान समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेदरहित वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं अथवा निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति है। अतएव जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं।

बादर का अर्थ है स्थूल और सांपराय का अर्थ कषाय है तथा बादर और सांपराय दोनों मिलकर बादरसाम्पराय कहलाते हैं। उन बादरसाम्परायरूप परिणामों में जिन संयतों की शुद्धि प्रविष्ट हो गई है उन्हें

सांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयताः तेषु। अत्थि उवसमा खवा-सन्ति उपशमकाः क्षपकाः। ते सर्वे संभूय एको गुणोऽनिवृत्तिरिति।

बादरग्रहणमन्तदीपकत्वाद् गताशेषगुणस्थानानि बादरकषायाणि इति। अतः बादरकषायेषु चरमगुण-स्थानमेतत्। अस्मिन् गुणस्थाने मुनिः काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति, काश्चिदुपरिष्ठादुपशमयिष्यतीति उपशम-श्रेण्यामौपशमिको भावः, क्षपकश्रेण्यां च मुनिः काश्चित्प्रकृतीः क्षपयति, काश्चिदुपरिष्ठात् क्षपयिष्यति इति क्षायिको भावः। सम्बन्धापेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक एव गुणः, तत्रान्यस्यासंभवात्। उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिकश्च उभयोरपि तत्राविरोधात्।

कश्चिदाह—

क्षपकोशमकयोः पृथक्-पृथक् गुणस्थानं किं नेष्यते इति चेत् ? तस्य समाधानं क्रियते— न गुणस्थाने द्वे भवतः, किंच गुणनिबन्धनानिवृत्तिपरिणामानां साम्यप्रदर्शनार्थं तदेकत्वोपपत्तेः।

उक्तं च—

एकम्हि कालसमये, संठाणादीहि जह णिवट्ठंति।

ण णिवट्ठंति तह च्चिय, परिणामेहिं मिहो जे हु।।

अनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं, ऐसे संयतों में उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के जीव होते हैं। उन सब संयतों का मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है।

सूत्र में जो 'बादर' पद का ग्रहण किया है वह अन्त्यदीपक होने से पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थान बादर कषाय वाले हैं यह ज्ञान होता है। अतः बादर कषायों में यह अन्तिमगुणस्थान है ऐसा अभिप्राय निकलता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण तक सभी नौ गुणस्थानों में बादर-स्थूल कषायें विद्यमान रहती हैं इसके पश्चात् दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ नामकी एक कषाय रहती है उसके आगे समस्त कषायें समाप्त हो जाती हैं।

इस गुणस्थान में मुनि मोहनीय कर्म की कितनी ही प्रकृतियों का उपशमन करता है और कितनी ही प्रकृतियों का आगे उपशमन करेगा इस अपेक्षा से उपशम श्रेणी में औपशमिक भाव होता है। और क्षपक श्रेणी में मुनि कितनी ही प्रकृतियों का क्षय करता है तथा कितनी ही प्रकृतियों का आगे क्षय करेगा इस दृष्टि से क्षायिक भाव है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा चारित्रमोह का क्षय करने वाले के यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप ही है क्योंकि क्षपकश्रेणी में दूसरा भाव संभव ही नहीं है। चारित्रमोह का उपशम करने वाले उपशमक जीव के यह औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव भी हैं क्योंकि उपशम श्रेणी की अपेक्षा वहाँ बिना विरोध के दोनों भाव संभव हैं।

शंका— क्षपक और उपशमक इन दोनों के अलग-अलग गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये हैं ?

समाधान— दो गुणस्थान अलग-अलग नहीं कहे गये हैं क्योंकि इस गुणस्थान के कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामों की समानता दिखाने के लिए उन दोनों में एकता कही है। अर्थात् उपशमक और क्षपक इन दोनों में अनिवृत्तिरूप परिणामों की अपेक्षा समानता है।

कहा भी है—

गाथार्थ— अंतर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय में रहने वाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीर के आकार, वर्ण आदिरूप से परस्पर में भेद को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जिन परिणामों के द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणाम वाले कहते हैं। और उनके प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि से बढ़ते हुए एक समान ही परिणाम पाये जाते हैं तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्नि की शिखाओं से कर्मवन को भस्म करने वाले होते हैं।

होति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जस्स एक्कपरिणामा।

विमलयर-झाण-हुयवह-सिहाहि णिदड्ढ-कम्मवणा।।^१

ये अनिवृत्तिकरणकाले एकस्मिन् समये वर्तमानस्त्रिकालगोचरा नानाजीवा यथा संस्थानवर्णवयोऽवगाहन-ज्ञानोपयोगादिभिः परस्परं भिद्यन्ते तथा विशुद्धपरिणामैर्न भिद्यन्ते खलु-स्फुटं। ते जीवा अनिवृत्तिकरणा इति सम्यग्ज्ञातव्याः। न विद्यते निवृत्तिः विशुद्धपरिणामभेदौ येषां ते अनिवृत्त्य इति निरुक्त्याश्रयणात्। ते सर्वेऽपि अनिवृत्तिकरणाः जीवाः तत्कालप्रथमसमयमादिं कृत्वा प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धिवृद्ध्या वर्धमानेन हीनाधिकभावरहितेन विशुद्धपरिणामेन प्रवर्तमानाः सन्ति यतः, ततः प्रथमसमयवर्तिजीवविशुद्धपरिणामेभ्यो द्वितीयसमयवर्तिजीवविशुद्धपरिणामा अनन्तगुणा भवन्ति। एवं पूर्व-पूर्वसमयवर्तिविशुद्धपरिणामेभ्यो जीवानामुत्तरोत्तरवर्तिजीवविशुद्धपरिणामा अनन्तानन्तगुणितक्रमेण वर्धमाना भूत्वा गच्छन्ति इत्ययं विशेषः प्रवचने प्रतिपादितः प्रत्येतव्यः। तदनिवृत्तिकरणपरिणामयुतजीवाः विमलतरध्यानाग्निशिखाभिर्निदग्धकर्मवना भवन्ति। अनेन चारित्रमोहस्य उपशमनं क्षपणं च अनिवृत्तिकरणपरिणामकार्यमिति सूचितम्।^२

इदानीं दशमगुणस्थानस्वरूपप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रस्यावतारः क्रियते श्रीआचार्यदेवेन—

सुहुम-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा।।१८।।

सिद्धान्तचिंतामणि टीका — सुहुमसांपराइय-सूक्ष्मश्चासौ सांपरायश्च सूक्ष्मसांपरायः। पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु

जो अनिवृत्तिकरण काल के एक समय में वर्तमान के त्रिकालगोचर नाना जीव जिस प्रकार के संस्थान — शरीर के आकार, वर्ण, वय — उम्र, अवगाहना और ज्ञानोपयोग आदि के द्वारा परस्पर में भेद को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार विशुद्धपरिणामों के द्वारा भेद को प्राप्त नहीं होते हैं। अतः स्पष्टरूप से वे जीव अनिवृत्तिकरण हैं ऐसा सम्यक् रूप से जानना चाहिए। क्योंकि विशुद्धि, परिणाम आदि की निवृत्ति — भेद नहीं है जिनके वे अनिवृत्तिकरण हैं ऐसा व्युत्पत्ति अर्थ है। वे समस्त अनिवृत्तिकरण जीव चूँकि उसी समय प्रथम समय को आदि में करके प्रतिसमय अनंतगुणीविशुद्धि की वृद्धि से बढ़ते हुए हीनाधिक भावों से रहित विशुद्धिरूप परिणाम से प्रवर्तमान — सहित होते हैं इसलिए जीव के प्रथमसमयवर्ती विशुद्धपरिणामों से द्वितीयसमयवर्ती जीव के विशुद्ध परिणाम (परिणामों की विशुद्धि) अनंतगुणे हो जाते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समयवर्ती परिणामविशुद्धि वालों से उत्तरोत्तर — आगे-आगे समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि अनंत-अनंत गुणित क्रम से बढ़ती चली जाती है, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की यह विशेषता प्रवचन — आगम में प्रतिपादित — कही गई है ऐसा समझना चाहिए।

उन अनिवृत्तिकरण परिणामों से सहित जीव अत्यन्त विमल ध्यानरूपी अग्नि की शिखाओं द्वारा कर्मवन को दग्ध करने वाले होते हैं। इससे चारित्रमोह का उपशमन और क्षपण अनिवृत्तिकरण परिणाम ही करते हैं ऐसा सूचित हो जाता है।

अब दशवें गुणस्थान का स्वरूप प्रतिपादित करने हेतु श्री आचार्यदेव अगले सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ —

सूक्ष्मसांपराय प्रविष्ट शुद्धि संयतो में उपशमक और क्षपक दोनों हैं।।१८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सूक्ष्म और सांपराय अर्थात् कषाय को सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। उसमें

तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयताः तेषु। अत्थि-सन्ति। उवसमा खवा-उपशमकाः क्षपकाश्च। सर्वे ते एकगुणस्थानवर्तिनः, सूक्ष्मसांपरायत्वं प्रत्यभेदात्। अपूर्वं इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च। ततस्ताभ्यां सूक्ष्मसांपरायो विशेषयितव्यः। अन्यथातीतगुणेभ्यस्तस्याधिक्यानुपपत्तेः।

अस्मिन् गुणस्थाने क्षपकश्रेण्यारोहको मुनिः प्रकृतीः काश्चित् क्षपयति क्षपयिष्यति क्षपिताश्चेति अस्य क्षायिको भावः। काश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमिताश्चेत्यौपशमिको भावः। सम्यग्दर्शनापेक्षया क्षपकस्य क्षायिको भावः, उपशमकस्य औपशमिको भावः क्षायिको वा, द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वाभ्यामुपशम-श्रेण्यारोहणसंभवात्। संयतग्रहणस्य पूर्ववत्साफल्यमुपदेष्टव्यम्।

उक्तं च —

पुष्वापुष्पफद्दय-अणुभागादो अणंतगुणहीणे।

लोहाणुमिह द्वियओ, हंद सुहुम-संपराओ सो।^१

पूर्वस्पर्धक-अपूर्वस्पर्धकयोरनुभागात् अनंतगुणहीनानुभागे सूक्ष्मलोभे स्थितः यः मुनिः सः सूक्ष्मसांपरायो भवति। अयं मुनिः पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकेषु कुशीलसंज्ञो भवति। इदं गुणस्थानं कुशीलमुनीनामन्त्यं वर्तते। यावत् कषायानां लेशो वर्तते तावत् कुशीलसंज्ञा भवति इति कषायापेक्षया कुशीलत्वं न चान्यद् इति। तथैवोक्तं —

जिन संयतों की शुद्धि ने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्मसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं। उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं। और सूक्ष्मसांपराय की अपेक्षा उनमें भेद नहीं होने से उपशमक और क्षपक इन दोनों का एक ही गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणों की अनिवृत्ति होती है। इसलिए ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत के साथ जोड़ लेना चाहिए अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानों से इस गुणस्थान की कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है।

इस गुणस्थान में क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले मुनि कितनी ही प्रकृतियों का क्षय करते हैं, आगे क्षय करेंगे और पूर्व में क्षय कर चुके हैं इसलिए उनके क्षायिक भाव है तथा कोई मुनि कितनी ही प्रकृतियों का उपशम करते हैं, आगे उपशम करेंगे और पहले उपशम कर चुके हैं इसलिए उनके औपशमिक भाव है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षपक के क्षायिक भाव है और उपशम श्रेणीवाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावों से युक्त है क्योंकि दोनों ही सम्यक्त्वों से उपशमश्रेणी का चढ़ना संभव है। इस सूत्र में ग्रहण किये गये संयत पद की पूर्ववत् अर्थात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में बतलाई गई संयत पद की सफलता के समान सफलता समझ लेना चाहिए। कहा भी है —

गाथार्थ — पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक के अनुभाग से अनंतगुणे हीन अनुभागवाले सूक्ष्म लोभ में जो स्थित है उसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिए।

इस गुणस्थानवर्ती मुनि पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पाँच भेदों में से कुशील संज्ञा वाले होते हैं। कुशील मुनियों का यह अंतिम गुणस्थान है अर्थात् दशवें गुणस्थान के आगे कुशील संज्ञा वाले मुनि नहीं होते हैं। जब तक कषायों का लेश रहता है तब तक कुशील संज्ञा होती है। इससे ऐसा समझना चाहिए कि कषाय की अपेक्षा से कुशीलपना रहता है अन्य अपेक्षा से नहीं।

उसी को कहते हैं —

धुदकोसुंभयवत्थं, होदि जहा सुहुमरायसंजुत्तं।

एवं सुहुमकसाओ, सुहुमसरागोत्ति णादव्वो।।^१

यथा धौतकौसुंभवस्त्रं सूक्ष्मरागसंयुक्तं भवति तथा सूक्ष्मकृष्टिगतलोभकषायः सूक्ष्मसांपराय इति ज्ञातव्याः।

षष्ठगुणस्थानादारभ्य एतद्दशमगुणस्थानपर्यन्ताः मुनयः सरागसंयमिनः उच्यन्ते, संज्वलनलोभकषाय-स्यांशत्वात्। अत्रपर्यंतं कर्मणां स्थिति-अनुभागबन्धौ च भवतः इति ज्ञातव्यं।

षट्खण्डागमसूत्रे मूलाचारे च दशमगुणस्थानपर्यंतं धर्म्यध्यानमेव शुक्लध्यानं तु एकादशमगुणस्थानादेव मन्यन्ते आचार्यदेवाः। तद्यथा—

षट्खण्डागमसूत्रकारेण श्रीभूतबलिभट्टारकेण दशमगुणस्थानपर्यंतं धर्म्यध्यानं कथितं। पुनश्च एकादशगुण-स्थानादारभ्य चतुर्दशगुणस्थानवर्तिकेवलिभगवतां शुक्लध्यानं कथितं। तथाहि—

असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्ठिसंजद-सुहुम-सांपराइयखवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादे। संपहि विदियसुक्कज्झाणपरूवणं कस्सामो-

जेणेगमेव दव्वं, जोगेणेक्केण अण्णदरण्ण।

खीणकसाओ ज्झायइ, तेणेयत्तं तगं भणिदं।।६१।।

एदस्स भावत्थो-खीणकसाओ सुक्कलेस्सिओ ओघबलो ओघसूरो वज्जरिसहवइरणारायण-

गाथार्थ — जैसे कुसुम्भ से रंगा हुआ वस्त्र सम्यक् रूप से धोने पर भी सूक्ष्म लाल रंग से युक्त होता है उसी प्रकार आगे के सूत्र में कहे विधान के अनुसार सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त लोभ कषाय से युक्त जीव को सूक्ष्मसांपराय जानना चाहिए।

छठे गुणस्थान से आरंभ करके इस दशवें गुणस्थान पर्यन्त मुनि सरागसंयमी कहलाते हैं क्योंकि यहाँ तक संज्वलनलोभकषाय का अंश विद्यमान रहता है यहाँ तक कर्मों का स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध भी होता है ऐसा जानना चाहिए।

षट्खण्डागम सूत्र और मूलाचार ग्रंथ में दशवें गुणस्थान तक धर्मध्यान ही होता है और शुक्लध्यान को आचार्यदेव ग्यारहवें गुणस्थान से ही मानते हैं।

षट्खण्डागम सूत्रों को रचने वाले श्री भूतबली भट्टारक — आचार्य के द्वारा दशवें गुणस्थान तक धर्मध्यान कहा गया है और ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक केवली भगवान के शुक्लध्यान कहा है।

जैसे — असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक और उपशामक अपूर्वकरणसंयत, क्षपक और उपशामक अनिवृत्तिकरणसंयत तथा क्षपक और उपशामक सूक्ष्म सांपरायसंयत जीवों के धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है ऐसा जिनदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान कषायसहित जीव के होता है।

अब द्वितीय शुक्लध्यान का कथन करते हैं —

गाथार्थ — चूँकि क्षीणकषाय जीव एक ही द्रव्य का किसी एक योग के द्वारा ध्यान करता है इसलिए उस ध्यान को एकत्व कहा है।

इसका भावार्थ यह है कि जिसके शुक्ल लेश्या है, जो निसर्ग से बलशाली है, निसर्ग से शूर है,

सरीरसंघडणो अण्णदरसंठाणो चोदसपुव्वहरो दसपुव्वहरो णवपुव्वहरो वा खइयसम्माइट्ठी खविदाशेषकसाय-
वग्गो णवपयत्थेसु एगपयत्थं दव्वगुणपज्जयभेदेण ज्ञायदि।^१

श्रीकुंदकुंददेवेनापि मूलाचारग्रन्थे एवमेव प्रोक्तं—

उवसंतो दु पुहुत्तं, ज्ञायदि ज्ञाणं विदक्कवीचारं।

खीणकसाओ ज्ञायदि, एयत्तविदक्कवीचारं॥४०४॥

सुहुमकिरियं सजोगी, ज्ञायदि ज्ञाणं च तदियसुक्कं तु।

जं केवली अजोगी, ज्ञायदि ज्ञाणं समुच्छिण्णं॥४०५॥^२

वज्रवृषभनाराचसंहनन का धारी है, किसी एक संस्थान वाला है, चौदह पूर्वधारी है, दस पूर्वधारी है या नौ पूर्वधारी है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि है और जिसने समस्त कषायवर्ग का क्षय कर दिया है ऐसा क्षीणकषाय जीव नौ पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद से ध्यान करता है।

श्रीकुंदकुंददेव ने भी मूलाचार ग्रंथ में इसी प्रकार से कहा है—

गाथार्थ—उपशान्तकषाय मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान को ध्याते हैं। क्षीणकषाय मुनि एकत्ववितर्कअवीचार नामक ध्यान करते हैं॥४०४॥

सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान सयोगी ध्याते हैं। जो अयोगीकेवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न ध्यान है॥४०५॥

विशेषार्थ—उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को ध्याते हैं। जीवादि द्रव्य अनेक भेदों से सहित हैं, मुनि इनको मन, वचन और काय इन तीनों योगों के द्वारा ध्याते हैं। इसलिए इस ध्यान का पृथक्त्व यह सार्थक नाम है। श्रुत को वितर्क कहते हैं। वितर्क—श्रुत के साथ रहता है अर्थात् नवपूर्वधारी, दशपूर्वधारी या चतुर्दशपूर्वधरों के द्वारा प्रारम्भ किया जाता है इसलिए वह वितर्क कहलाता है। अर्थ, व्यंजन और योगों के संक्रमण का नाम वीचार है अर्थात् जो एक अर्थ—पदार्थ को छोड़कर भिन्न अर्थ का ध्यान करता है, मन से चिन्तवन करके वचन से करता है, पुनः काययोग से ध्याता है। इस तरह परम्परा से योगों का संक्रमण होता है अर्थात् द्रव्यों का संक्रमण होता है और व्यंजन अर्थात् पर्यायों का संक्रमण होता है। पर्यायों में स्थूल पर्यायें व्यंजनपर्याय हैं और जो वचन के अगोचर सूक्ष्म पर्याय हैं वे अर्थपर्यायें कहलाती हैं। इनका संक्रमण इस ध्यान में होता है इसलिए यह ध्यान वीचार सहित है। अतः इसका सार्थक नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार है। इस ध्यान में तीन प्रकार हो जाते हैं अर्थात् पृथक्त्व—नाना भेदरूप द्रव्य, वितर्क—श्रुत और वीचार—अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण इन तीनों की अपेक्षा से यह ध्यान तीन प्रकार का है। इस ध्यान के स्वामी उपशान्तकषायी महामुनि हैं।

क्षीणकषायगुणस्थान वाले मुनि एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान को ध्याते हैं। वे एक द्रव्य को अथवा एक अर्थपर्याय को या एक व्यंजन पर्याय को किसी एक योग के द्वारा ध्याते हैं, अतः यह ध्यान एकत्व कहलाता है। इसमें वितर्क—श्रुत पूर्वकथित ही है अर्थात् नव, दश या चतुर्दश पूर्वों के वेत्ता मुनि ही ध्याते हैं। अर्थ, व्यंजन और योगों की संक्रांति से रहित होने से यह ध्यान अवीचार है। इसमें भी एकत्व, वितर्क और अवीचार ये तीन प्रकार होते हैं। इस तीन प्रकाररूप एकत्व, वितर्क, अवीचार ध्यान को करने वाले क्षीणकषाय महामुनि ही इसके स्वामी हैं।

एवं चतुर्थस्थले उपशमक्षपकश्रेण्योरारोहणानां कथनत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

अधुना उपशमश्रेण्यन्यगुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदंतसूरिणा —

उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था॥१९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उवसंत-कसाय-उपशंतः कषायो येषां ते उपशान्तकषायाः। वीयराय-वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः। छदुमत्था-छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। वीतरागाश्च ते छद्मस्थाः वीतरागछद्मस्थाः।

एतेन सरागछद्मस्थनिराकृतिरवगन्तव्या। उपशान्तकषायाश्च ते वीतरागछद्मस्थाश्च उपशान्तकषायवीतराग-छद्मस्थाः। एतेन उपरितनगुणस्थानस्य व्युदासोऽवगन्तव्यः। एतस्योपशमिताशेषकषायत्वादौपशमिको भावः

जो सूक्ष्मकाय क्रिया में व्यवस्थित है अर्थात् जिनमें काययोग की क्रिया भी सूक्ष्म हो चुकी है वह सूक्ष्मक्रिया ध्यान है। यह अवितर्क और अवीचार है अर्थात् श्रुत के अवलम्बन से रहित है, अतः अवितर्क है और इसमें अर्थ, व्यंजन तथा योगों का संक्रमण नहीं है अतः यह अवीचार है। ऐसे इस सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्ल ध्यान को सयोग केवली ध्याते हैं।

जिस ध्यान को अयोग केवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न है। वह अवितर्क, अवीचार, अनिवृत्तिरुद्ध योग, अनुत्तर, शुक्ल और अविचल है, मणिशिखा के समान है अर्थात् इस समुच्छिन्न ध्यान में श्रुत का अवलम्बन नहीं है अतः अवितर्क है। अर्थ, व्यंजन योग की संक्रांति भी नहीं है अतः अवीचार है। सम्पूर्ण योगों का — काययोग का भी निरोध हो जाने से यह अनिवृत्तिनिरोध योग है। सभी ध्यानों में अंतिम है इससे उत्कृष्ट अब और कोई ध्यान नहीं रहा है। अतः यह अनुत्तर है। परिपूर्णतया स्वच्छ — उज्ज्वल होने से शुक्लध्यान इसका नाम है। यह मणि के दीपक की शिखा के समान होने से पूर्णतया अविचल है। इस चतुर्थ ध्यान के स्वामी चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली हैं।

यद्यपि इन तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मन का व्यापार नहीं है तो भी उपचार क्रिया से ध्यान का उपचार किया गया है। यह ध्यान का कथन पूर्व में होने वाले ध्यान की प्रवृत्ति की अपेक्षा करके कहा गया है, जैसे कि पहले घड़े में घी रखा था पुनः उस घड़े से घी निकाल देने के बाद भी उसे घी का घड़ा कह देते हैं अथवा पुरुषवेद का उदय नवमें गुणस्थान में समाप्त हो गया है फिर भी पूर्व की अपेक्षा पुरुषवेद से मोक्ष की प्राप्ति कह देते हैं।

इस प्रकार चतुर्थस्थल में उपशम एवं क्षपक श्रेणी पर आरोहण के कथन की मुख्यता से तीन सूत्र हुए। अब उपशमश्रेणी के अंतिम गुणस्थान को बताने हेतु श्रीपुष्पदन्त आचार्य उत्तरसूत्र का अवतार करते हैं —
सूत्रार्थ —

सामान्य से उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ जीव हैं॥१९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्तकषाय कहते हैं। जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं। छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण को कहते हैं उनमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ होते हैं उन्हें वीतरागछद्मस्थ कहते हैं।

इसमें आए हुए वीतराग विशेषण से दशवें गुणस्थान तक के सराग छद्मस्थों का निराकरण समझना चाहिए। जो उपशान्त होते हुए भी वीतराग छद्मस्थ होते हैं उन्हें उपशान्तकषायवीतराग छद्मस्थ कहते हैं।

अस्मिन् गुणस्थाने, सम्यक्त्वापेक्षया क्षायिकः औपशमिको वा भावः जायते।

उक्तं च —

सकयगहलं जलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलए।

सयलोवसंत-मोहो, उवसंतकसायओ होई॥^१

यथा कतकफलचूर्णयुतं जलं प्रसन्नं अथवा अभ्रकलंकरहितशरत्काले सरःपानीयं प्रसन्नं — निर्मलं वर्तते, तथा साकल्येन उपशान्तमोहनीयः उपशान्तकषायो भवति। उपशान्ताः साकल्येन उदयायोग्याः कृताः कषायनोकषायाः येन असौ उपशान्तकषायः इति निरुक्त्या अत्यन्तप्रसन्नचित्तता सूचिता^२ भवति।

यः कश्चिन्मुनिः उपशमश्रेणीमारोहति तस्यान्तर्मुहूर्तकालेन नियमेन चतुःकषायाणामन्यतमकषायोदये सति अधःपतनं भवति, अथवा कदाचिदायुःक्षयं भवेत् तर्हि असौ मृत्वा सर्वार्थसिद्धौ उत्पद्यते नकुलसहदेववत्।

श्री ऋषभदेवभगवतः पुरा वज्रनाभिभवे महामुनिवदपि ज्ञातव्यं।

उक्तं च —

द्वितीयवारमारुह्य, श्रेणीमुपशमादिकाम्।

पृथक्त्वध्यानमापूर्य, समाधिं परमं श्रितः॥११०॥

उपशान्तगुणस्थाने, कृतप्राणविसर्जनः।

सर्वार्थसिद्धिमासाद्य, संप्रापत् सोऽहमिन्द्रताम्॥१११॥^३

इससे आगे के गुणस्थानों का निराकरण समझना चाहिए। इस गुणस्थान में सम्पूर्ण कषायें उपशान्त हो जाती हैं इसलिए इसमें औपशमिक भाव है तथा सम्यग्दर्शन की अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — निर्मली फल से युक्त निर्मल जल की तरह अथवा शरद ऋतु में निर्मल होने वाले सरोवर के जल की तरह सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं।

जैसे कतकफल के चूर्ण से युक्त जल निर्मल होता है अथवा मेघपटल से रहित शरदऋतु में जैसे सरोवर का जल ऊपर से निर्मल होता है वैसे ही पूर्णरीति से मोह को उपशान्त करने वाला उपशान्तकषाय होता है। जिसने कषाय-नोकषायों को उपशान्त अर्थात् पूर्णरूप से उदय के अयोग्य कर दिया है वह उपशान्तकषाय है। इस निरुक्ति से उसका अत्यन्त प्रसन्नचित्तपना सूचित किया है।

जो कोई मुनि उपशम श्रेणी में आरोहण करता है उसके अन्तर्मुहूर्त काल में नियम से चार कषायों में से किसी एक के उदय आ जाने पर अधोपतन — नीचे गिरना होता है। अथवा कदाचित् आयु समाप्त हो जाती है तो वह मरकर नकुल और सहदेव के समान सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

भगवान् श्री ऋषभदेव के वज्रनाभि नामक पूर्व भव में महामुनि के समान भी जानना चाहिए।

जैसा कि आदिपुराण में कहा भी है —

वे द्वितीय बार उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुए और पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान को पूर्ण कर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुए॥११०॥

अन्त में उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में प्राण छोड़कर सर्वार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिन्द्र पद को प्राप्त हो गये॥१११॥

१. षट्खण्डागम (ध्वला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १९०। २. गोम्मटसारजीवकाण्ड (जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका)। ३. आदिपुराण, पर्व ११।

अस्मात् पूर्वस्मात् अपि उपशान्तगुणस्थानात् षष्ठपर्यन्तं आगमादयं वज्रनाभिः मुनिरिति ज्ञातव्यं।
अधुना निर्ग्रन्थनामद्वादशमगुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रावतारो भवति—

खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था।।२०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — खीण-कसाय-क्षीणः कषायो येषां ते क्षीणकषायाः। वीयरायछदुमत्था-वीतो रागो येषां ते वीतरागाः। छद्मनि आवरणे तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। क्षीणकषायवीतरागाश्च ते छद्मस्थाः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः। अत्र छद्मस्थग्रहणमन्तदीपकत्वादतीताशेषगुणानां सावरणत्वस्य सूचकमित्य-वगन्तव्यम्। अस्मिन् गुणस्थाने द्रव्यभावद्वैविध्यमोहनीयस्य निरन्वयविनाशात् क्षायिकभाव एव।

उक्तं च — णिस्सेस-खीण-मोहो, फलिहामल-भायणुदय-समचित्तो।

खीण - कसाओ भण्णइ, णिगंग्थो वीयराएहिं।।^१

विशेषार्थ — जैसा कि पाँच पांडवों के बारे में जैन महाभारत — पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रंथों में वर्णन आता है कि युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ने शत्रुञ्जय पर्वत पर ध्यान करते हुए कुर्युधर के द्वारा किए गए अग्नि उपसर्ग को सहन करके मोक्षपद प्राप्त किया और नकुल, सहदेव इन दो भाइयों ने मरण करके सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

इस संबंध में प्रवचनकार, विद्वज्जन यह तर्क देते हैं कि उन दोनों भाइयों को अन्य भाइयों का मोह उत्पन्न हो गया था, उन्हें विकल्प हुआ कि मेरे ये सहोदर कैसे यह अग्नि का उपसर्ग सहन करेंगे ? उन्हें भीषण कष्ट हो रहा होगा ?.....इत्यादि विकल्पों में ही उनका मरण हो गया इसीलिए वे मोक्ष नहीं जा सके और उन्हें सर्वार्थसिद्धि में जन्म लेना पड़ा।

किन्तु वास्तविकता यह है कि सिद्धान्तसूत्रानुसार उन पाँचों पाण्डवों में से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ने उपसर्ग प्रारंभ होते ही बारह भावना का चिन्तन करते हुए क्षपक श्रेणी में आरोहण कर लिया था एवं नकुल, सहदेव ने उपशमश्रेणी पर आरोहण किया था और वहीं आयु समाप्त हो गई अतः सर्वार्थसिद्धि में जन्म ले लिया, वहाँ तैतीस सागर तक वे स्वर्ग के अहमिन्द्र सुखों का उपभोग करके आगे मनुष्यभव में मुनिपद धारणकर निर्वाणधाम को प्राप्त करेंगे। क्षपकश्रेणी पर चढ़ने वाले भाइयों ने सीधे बारहवें गुणस्थान में मोह को नाशकर अंतकृत्केवली बनकर मोक्ष प्राप्त किया था।

आज से ८६५०० वर्ष पूर्व भगवान नेमिनाथ के तीर्थकाल में यह कथानक प्रसिद्ध हुआ जो सिद्धान्तग्रंथ का प्रत्यक्ष प्रमाण दर्शाता है।

अब निर्ग्रन्थ नाम के बारहवें गुणस्थान का प्रतिपादन करने हेतु उत्तरसूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ —

सामान्य से क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ जीव हैं।।२०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिनकी कषाय क्षीण—नष्ट हो गई हैं उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं। जिनके राग समाप्त हो गया है वे वीतराग कहलाते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण में रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ कहते हैं। यहाँ सूत्र में आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है इसलिए उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानों के सावरणपने का सूचक समझना चाहिए। इस गुणस्थान में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म के पूर्णरूपेण नष्ट होने के कारण क्षायिकभाव ही है।

निःशेषक्षीणाः-प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरहिता मोहप्रकृतयो यस्यासौ निःशेषक्षीणमोहः इति निरवशेषमोह-प्रकृतिसत्त्वरहितः क्षीणकषायः। ततः कारणात् स्फटिकभाजनोदकसदृशप्रसन्नचित्तः क्षीणकषायः इति वीतरागसर्वज्ञैर्भण्यते स एव परमार्थेन निर्ग्रन्थो भवति। उपशान्तकषायोऽपि यथाख्यातचारित्रसाधारण्येन निर्ग्रन्थ इति प्रवचने प्रतिपाद्यते।

अयं क्षीणकषायो मुनिः अन्तर्मुहूर्तमात्रकालेन नियमेन सर्वज्ञो भवति इति ज्ञातव्यं।

एवं यथाख्यातचारित्रधारकयोः उपशांतकषाय-क्षीणकषायमहामुन्योः स्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन पंचमेऽन्तरस्थले सूत्रद्वयं गतम्।

अधुना स्नातकगुणस्थानप्रतिपादनार्थं उत्तरसूत्रमवतार्यते श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण—

सजोगकेवली ॥२१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — केवलं केवलज्ञानं, योगेन सह वर्तन्ते इति सयोगाः। सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः। केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्। तदेषामस्तीति केवलिनः। मनोवाक्काय-प्रवृत्तिर्योग इति। अत्र सूत्रे सयोगग्रहणमधस्तनसकलगुणानां सयोगत्वप्रतिपादकं, अन्तर्दीपकत्वात्। क्षपिताशेषघातिकर्मत्वाग्निःशक्तीकृतवेदनीयत्वान्नष्टाष्टकर्मवयवषष्टिकर्मत्वाद्वा क्षायिकगुणः।^१ अत्र

कहा भी है—

गाथार्थ — जिसने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म को नष्ट कर दिया है अतएव जिसका चित्त स्फटिकमणि के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान प्रसन्न—स्वच्छ है उन्हें वीतरागसर्वज्ञदेव ने क्षीणकषायनिर्ग्रन्थ कहा है।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश से रहित हो गया है मोहकर्म जिनका वह निःशेषक्षीणमोह है, इस प्रकार समस्त मोहप्रकृति की सत्ता से रहित क्षीणकषाय गुणस्थान होता है। इस कारण से स्फटिक भाजन में रखे हुए जल के समान निर्मल—प्रसन्नचित्त क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव होता है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। परमार्थ—निश्चयनय से वही निर्ग्रन्थ संज्ञा से सुशोभित होता है। उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव के भी साधारणरूप से (क्षीणकषाय के समान) यथाख्यातचारित्र होता है अतः प्रवचन—आगम में उनको भी निर्ग्रन्थ संज्ञा से सम्बोधित किया है।

यह क्षीणकषाय गुणस्थान वाला मुनि अन्तर्मुहूर्तकाल में नियम से सर्वज्ञ बन जाता है ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार यथाख्यातचारित्र को धारण करने वाले उपशांतकषाय एवं क्षीणकषाय दोनों गुणस्थानवर्ती महामुनियों के स्वरूप के प्रतिपादन की मुख्यता से पंचम स्थल में दो सूत्र हुए।

अब स्नातक गुणस्थान का प्रतिपादन करने के लिए श्रीमान् आचार्य पुष्पदन्तदेव के द्वारा उत्तर सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

सामान्य से सयोगकेवली जीव हैं ॥२१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — केवल पद से यहाँ केवलज्ञान का ग्रहण किया है जो योग के साथ वर्तन करते हैं उन्हें सयोग कहते हैं। इस तरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मन की अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं, वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है उन्हें केवली कहते हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति का नाम

त्रयाणामायुषां अविवक्षितत्वात् एव षष्टिप्रकृतयः कथिताः, आयुःसहिताः त्रिषष्टयः प्रकृतयः नश्यन्तीति ज्ञातव्यं। केवलज्ञानार्कोदयेन नवकेवललब्धयश्चोद्भवन्ति।

उक्तं च—

केवलणाणदिवायर-किरणकलाव-प्यणासियण्णाणो।

णवकेवललब्धुग्गम-सुजणियपरमप्य-ववएसो।।

असहायणाणदंसण-सहिओ इदि केवली हु जोएण।

जुत्तोत्ति सजोगो इदि, अणाइ-णिहणारिसे उत्तो।।^१

केवलज्ञानदिवाकरस्य किरणकलापाः— अर्थप्रकाशनपटवो दिव्यध्वनिविशेषाः तैः प्रणाशितं विनेयजनाज्ञानान्धकारं येनासौ केवलज्ञानदिवाकरकिरणकलापप्रणाशिताज्ञानः। अनेन सयोगभट्टारकस्य भव्य लोकोपकारकत्वलक्षणपरार्थसंपत्प्रणीता। नवानां केवललब्धीनां क्षायिकसम्यक्त्व-चारित्र-ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यलक्षणानां उदयेन प्रादुर्भावेन सुजनितः-वस्तुवृत्त्या विहितः परमात्मेतिव्यपदेशो यस्यासौ नवकेवललब्ध्युद्गमसुजनितपरमात्मव्यपदेशः इति भगवदहर्त्परमेष्ठिनोऽनन्तज्ञानाद्विषयस्वार्थसंपत्प्रदर्शिता।

योगेन सह युक्तः इति सयोगः असहायज्ञानदर्शनसहितः इति केवली। घातिकर्मनिर्मूलको जिनः, इत्यनादिनिधनार्थ— आगमे उक्तः प्रतिपादितः।^२

योग है। इस सूत्र में जो सयोग पद का ग्रहण किया है वह अन्तदीपक होने से नीचे के सम्पूर्ण गुणस्थानों के सयोगपने का प्रतिपादक है अर्थात् उससे पूर्व के भी सभी गुणस्थानों में मन वचन कायरूप योग का परिस्पन्दन चलता ही है। चारों घातिया कर्मों का क्षय कर देने से, वेदनीय कर्म को निःशक्त कर देने से अथवा आठों ही कर्मों के अवयवरूप साठ उत्तर कर्म प्रकृतियों को नष्ट कर देने से इस गुणस्थान में क्षायिक भाव होता है।

यहाँ तीनों आयु की विवक्षा न होने से ही साठ प्रकृतियाँ कही हैं, वे केवली भगवान् उन तीन आयु से सहित त्रेसठ (६३) प्रकृतियों का नाश करते हैं ऐसा जानना चाहिए। केवलज्ञानरूपी सूर्य के उदय से उनके नव केवललब्धियाँ प्रगट— उत्पन्न हो जाती हैं।

कहा भी है—

गाथार्थ— जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञानरूपी अंधकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिसने नव केवललब्धियों के प्रगट होने से 'परमात्मा' इस संज्ञा को प्राप्त कर लिया है वह इन्द्रिय आदि की अपेक्षा न रखने वाले ऐसे असहाय ज्ञान और दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और तीनों योगों से युक्त होने के कारण सयोगी कहे जाते हैं ऐसा अनादिनिधन आर्ष में कहा है।

जिन्होंने केवलज्ञानरूपी सूर्य के किरण समूहरूप जो पदार्थों को प्रकाशित करने में प्रवीण दिव्यध्वनि से विशेष, उनके द्वारा शिष्यजनों का अज्ञान अंधकार नष्ट कर दिया है इससे सयोगकेवली भगवान के भव्य जीवों का उपकार करनेरूप परार्थ सम्पदा कही है तथा क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन नौ केवललब्धियों के प्रकट होने से जिन्होंने वास्तव में परमात्मा नाम को प्राप्त किया है इससे भगवान अर्हन्त परमेष्ठी के अनन्तज्ञानादिरूप स्वार्थ सम्पदा दिखाई है।

योग से युक्त होने से सयोग और असहाय ज्ञानदर्शन से सहित होने से केवली, इस तरह सयोग और केवली होने से सयोगकेवली हैं और घातिया कर्मों को निर्मूल करने से जिन हैं, इस तरह अनादिनिधन आगम में उन्हें सयोगकेवलीजिन कहा है।

अधुना अन्तिमगुणस्थानस्य स्वरूपनिरूपणार्थं उत्तरसूत्रावतारः क्रियते श्रीपुष्पदंतभट्टारकेण —

अजोगकेवली ।। २२ ।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः। केवलमस्यास्तीति केवली। अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली इति।

इतो विस्तरः — अस्माकं जैनानां मते आर्षसन्ततेर्विच्छेदो नास्ति, विगतदोषावरणार्हद्व्याख्यातस्यार्षस्य चतुरमलबुद्ध्यतिशयोपेतनिर्दोषगणभूदवधारितस्य ज्ञानविज्ञानसंपन्नगुरुपर्वक्रमेणायातस्य अविनष्टप्राक्तनवाच्य-वाचकभावस्य विगतदोषावरणनिष्प्रतिपक्षसत्यस्वभावपुरुषव्याख्यातत्वेन श्रद्धाप्यमानस्योपलम्भात्।

कश्चिदाह — अप्रमाणमिदानीन्तन-आगमः, आरातीयपुरुषव्याख्यातार्थत्वाद् ?

आचार्यः समाधत्ते-नैतद्वक्तव्यं, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसंपन्नतया प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थत्वात्।

पुनरपि कश्चिदाह-कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वं ?

तस्य समाधानं-यथाश्रुतव्याख्यातृणां सत्यवादित्वं वर्तते तत्र नास्ति विरोधः।

प्रमाणीभूतगुरुपर्वक्रमेणायातोऽयमर्थः इति कथमवसीयते ?

अब अंतिम गुणस्थान के स्वरूप का निरूपण करने के लिए श्री पुष्पदन्ताचार्य उत्तरसूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

सामान्य से अयोगकेवली जीव हैं ।। २२ ।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं। जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते हैं। जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते हैं।

उसी का विस्तार करते हैं — हम जैनधर्मावलम्बियों के मत में आर्षपरम्परा का विच्छेद नहीं है क्योंकि जिसका दोष और आवरण रहित अरिहंत परमेष्ठी ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल बुद्धिरूप अतिशय से युक्त और निर्दोष गणधर देव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न गुरुपरम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्य-वाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य स्वभाव वाले पुरुष के द्वारा व्याख्यात — कहा गया होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है।

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि “आधुनिक आगम तो अप्रमाण हैं क्योंकि अर्वाचीन पुरुषों ने इसके अर्थ का व्याख्यान किया है ?”

तब आचार्यदेव समाधान करते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान-विज्ञान से सहित होने के कारण प्रमाणता को प्राप्त इस युग के आचार्यों द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है। इसलिए आधुनिक आगम भी प्रमाण हैं।

पुनः भी कोई प्रश्न करता है कि —

छद्मस्थों के सत्यवादीपना कैसे हो सकता है ?

उसका उत्तर देते हैं कि —

श्रुत के अनुसार व्याख्यान करने वाले आचार्यों के प्रमाणता मानने में कोई विरोध नहीं है।

शंका — आगम का यह अर्थ प्रामाणिक गुरुपरम्परा क्रम से आया हुआ है यह कैसे निश्चय किया जाय ?

नैतत् कथयितव्यं, किंच, दृष्टविषये सर्वत्राविसंवादात्। ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसंपन्नभूयसामा-
चार्याणामुपदेशाद्वा तदवगतेः। न च भूयांसः साधवो विसंवदन्ते। तथान्यत्रानुपलंभात्। प्रमाणपुरुषव्याख्या-
तार्थत्वात् स्थितं वचनस्य-आगमस्य प्रामाण्यम्।^१

दृश्यताम्, श्रीवीरसेनाचार्यः आगमस्य आगमकर्तुर्विषये च कियत्श्रद्धां दर्शयति। “सांप्रतमन्त्यस्य
गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमर्हन्मुखोदगतार्थं गणधरदेवग्रथितशब्दसंदर्भं प्रवाहरूपतया अनिधनतामापन्नमशेष-
दोषव्यतिरिक्तत्वादकलंकमुत्तरसूत्रं पुष्पदन्तभट्टारकः प्राह”-^२

पंचसु भावेषु अस्मिन् गुणस्थाने क्षीणाशेषघातिकर्मत्वान्निरस्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको भाव एव।
उक्तं च—

सेलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेस-आसवो जीवो।

कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होई।^३

अष्टादशसहस्रशीलाधिपत्यं संप्राप्तः, निरुद्धनिःशेषास्त्रवत्वात् नूतनबध्यमानकर्मरजोविप्रमुक्तः,
मनोवाक्काययोगरहितत्वादयोगः, अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली इति भगवत्परमेष्ठिजीवः कथितः।
अत्रपर्यंतं मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दशगुणस्थानानि प्रतिपादितानि भवन्तीति ज्ञातव्यं।

अधुना संसारातीतावस्थाप्रतिपादनार्थं त्रयोविंशतितमस्य सूत्रस्यावतारो भवति—

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्षभूत विषय में तो सब जगह विसंवाद उत्पन्न नहीं
होने से निश्चय किया जा सकता है। अथवा आधुनिक ज्ञानविज्ञान से युक्त इस युग के अनेक आचार्यों के
उपदेश से उसकी प्रमाणता जानना चाहिए अतएव आगम के अर्थ के व्याख्याता प्रामाणिक पुरुष हैं इस बात
के निश्चित हो जाने से आर्षवचन की प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है।

देखिए, श्रीवीरसेनाचार्य आगम और आगम के कर्ता के विषय में कितनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं जैसे
कि—

“अब पुष्पदन्तभट्टारक अंतिम गुणस्थान के स्वरूप निरूपण करने के लिए अर्थरूप से अरहंत परमेष्ठी
के मुख से निकले हुए, गणधर देव के द्वारा गूँथे गये शब्द रचना वाले, प्रवाहरूप से कभी भी नाश को नहीं
प्राप्त होने वाले और सम्पूर्ण दोषों से रहित होने के कारण निर्दोष ऐसे उत्तरसूत्र को कहते हैं।”

पाँच भावों में से इस गुणस्थान में सम्पूर्ण घातिया कर्मों के क्षीण हो जाने से और थोड़े ही समय में
अघातिया कर्मों के नाश को प्राप्त होने वाले होने से इस गुणस्थान में क्षायिक भाव ही है।

कहा भी है—

गाथार्थ— जिन्होंने अठारह हजार शील के स्वामीपने को प्राप्त कर लिया है अथवा जो मेरु के समान
निष्कम्प अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण आस्रव का निरोध कर दिया है जो नूतन बंधने वाले
कर्मरज से रहित हैं जो मन, वचन, काय योग से रहित होते हुए केवलज्ञान से विभूषित हैं उन्हें अयोगकेवली
परमात्मा कहते हैं।

यहाँ तक मोक्ष के सोपानभूत— सीढ़ी के समान चौदहगुणस्थानों का प्रतिपादन हुआ है ऐसा जानना चाहिए।

अब संसार से अतीत अवस्था का प्रतिपादन करने के लिए तेईसवें सूत्र का अवतार होता है—

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. १९९। २. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक
१, पृ. १९३। ३. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) पुस्तक १, पृ. २००।

सिद्धा चेति॥२३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्याः सिद्धसाध्या इति यावत्। निराकृताशेषकर्माणो बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखाः निरुपलेपाः अविचलितस्वरूपाः सकलावगुणातीताः निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात्किञ्चिन्न्यूनस्वदेहाः कोशविनिर्गतसायकोपमाः लोकशिखरनिवासिनः सिद्धाः।

उक्तं च —

अट्टविह-कम्मविजडा, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।

अट्टगुणा किदकिच्चा, लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा।।

अट्टविहकम्मवियला-अष्टविधकर्मविकलाः — इत्यष्टगुणप्रतिपक्षाणां प्रक्षयेण विकलाः निष्प्रतिपक्षाः मुक्ता इत्यर्थः, अनेन संसारिजीवस्य मुक्तिर्नास्तीति याज्ञिकमतं, सर्वदा कर्ममलैरस्पृष्टत्वेन सदा मुक्त एव सदैवेश्वर इति सदाशिवमतं अपास्तं। पुनः — सीदीभूदा-शीतीभूताः सहजशरीरागन्तुकमानसादिविविधसांसारिकदुःख-वेदनापरितापपरिक्षयेण सुनिर्वृत्ताः इत्यर्थः, अनेन मुक्तौ आत्मनः सुखाभावं वदन् सांख्यमतमपाकृतं।

पुनश्च णिरंजणा-निरंजनाः — अभिनवास्त्रवरूपकर्ममलरूपाञ्जनाभिष्क्रान्ताः इत्यर्थः, अनेन मुक्तात्मनः पुनः कर्माञ्जनसंसर्गेण संसारोऽस्ति इति वदन् मस्करीदर्शनं प्रत्याख्यातं। पुनरपि णिच्चा — नित्याः — यद्यपि

सूत्रार्थ —

सामान्य से सिद्ध जीव हैं॥२३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य ये एकार्थवाची नाम हैं। जिन्होंने समस्त कर्मों का निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रहित, अनन्त, अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुख को प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अचल स्वरूप को प्राप्त हैं, सम्पूर्ण अवगुणों से रहित हैं, सर्वगुणों के निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्मा का आकार चरम शरीर से कुछ न्यून है, जो कोश से निकले हुए बाण के समान विनिःसंग हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। कहा भी है—

गाथार्थ — जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, सब प्रकार के दुःखों से मुक्त होने के कारण परम शान्ति को प्राप्त हैं। जो निरंजन हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु इन आठ गुणों से युक्त हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं।

आठ प्रकार के कर्मों से रहित — मोहनीय कर्म क्षायिक सम्यक्त्व को घातता है, ज्ञानावरण केवलज्ञान को और दर्शनावरण केवलदर्शन का घात करता है। अन्तराय कर्म अनन्तवीर्य का, नामकर्म सूक्ष्मत्व गुण का, आयुर्कर्म अवगाहन गुण का, गोत्रकर्म अगुरुलघुत्व गुण का और वेदनीय कर्म अव्याबाध गुण का घात करता है।

इन कर्मों के क्षय से “संसारी जीव की मुक्ति नहीं है” ऐसा मानने वाला याज्ञिकमत है और “सदा कर्ममल से अस्पृष्ट होने के कारण सदा ही मुक्त जीव सदा ईश्वर है” यह सदाशिववादियों का मत इन दोनों का अपास्त — निराकरण किया है। पुनः वे सिद्ध शीतीभूत हैं अर्थात् जन्ममरणरूप सहजदुःख, रोगादिरूप शारीरिक दुःख, सर्प आदि से होने वाला आगन्तुक दुःख, आकुलतारूप मानसिक दुःख इत्यादि अनेक सांसारिक दुःखों की वेदना के संताप का सम्पूर्णरूप से विनाश हो जाने से सुखस्वरूप हैं ऐसा अर्थ हुआ। इस अर्थ से मुक्ति में आत्मा के सुख का अभाव कहने वाले सांख्यमत का निराकरण किया है।

पुनः “वे सिद्ध निरंजन हैं अर्थात् अभिनव — नवीन आस्त्रवरूप कर्ममलरूप अंजन से रहित हैं” इससे

प्रतिसमयवर्त्यर्थपर्यायैः परिणतसिद्धा उत्पादव्ययौ स्वस्मिन् कुर्वन्तोऽपि विशुद्धचैतन्यसामान्य-
रूपद्रव्याकारान्वयमाहात्म्यात् सर्वकालाश्रिताव्ययत्वात् ते नित्यतां न जहन्तीत्यर्थः, अनेन प्रतिक्षणं
विनश्वरचित्पर्याया एव एकसंतानवर्तिनः परमार्थतो नित्यद्रव्यं नेति वदन्तीति बौद्धप्रत्यवस्था प्रतिव्यूढा।

पुनश्च अट्टगुणा — अष्टगुणाः क्षायिकसम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यसौक्ष्म्यावगाहागुरुलघुकत्वाव्याबाधत्वना-
माष्टगुणयुता इत्युपलक्षणं, तेन तदनुसार्यनन्तानन्तगुणानां तेष्वेवान्तर्भाव इत्यर्थः, अनेन ज्ञानादिगुणानां
अत्यन्तोच्छित्तिरात्मनो मुक्तिरिति वदन्नैयायिकवैशेषिकाभिप्रायः प्रत्युक्तः। पुनश्च ते किदकिच्चा — कृतकृत्याः
कृतं — निष्ठापितं, कृत्यं सकलकर्मक्षयतत्कारणानुष्ठानादिकं यैस्ते कृतकृत्याः, इत्यनेन ईश्वरः सदा मुक्तोऽपि
जगन्निर्माणे कृतादरत्वेनाकृतकृत्य इति वदन् ईश्वरसृष्टिवादाकृतं निराकृतं। पुनश्च लोयगगणवासिणो —
लोकाग्रनिवासिनः — लोक्यन्ते जीवादयः पदार्थाः अस्मिन्निति लोकः, एवंविधलोकत्रयसन्निवेशाग्रे तनुवातप्रान्ते
निवासिनः स्थास्नवः। यद्यपि कर्मक्षयक्षेत्रादुपर्येव कर्मक्षयानन्तरं तथागमनस्वाभाव्यात् ते गच्छन्ति तथापि
लोकाग्रत ऊर्ध्वगमनसहकारिधर्मास्तिकायाभावान्न तदुपरि इतीदं लोकाग्रनिवासित्वमेव युक्तं तेषां, अन्यथा
लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते, अनेन आत्मनः ऊर्ध्वगमनस्वाभाव्यात् मुक्तावस्थायां क्वचिदपि
विश्रामाभावात् उपर्युपरि गमनमिति वदन्माण्डलिकमतं प्रत्यस्तं। उक्तं च —

सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णइयाइयो य वैसेसी। ईसरमंडलिदंसण - विदूसणट्ठं कयं १एदं॥

मुक्तात्मा पुनः कर्माञ्जन के संसर्ग से संसारी हो जाते हैं ऐसा कहने वाले मस्करी मत का खण्डन किया गया है।

पुनः वे सिद्ध नित्य होते हैं — यद्यपि प्रतिसमय होने वाली अर्थपर्यायरूप परिणमन करने वाले सिद्ध
अपने में उत्पाद-व्ययशील हैं फिर भी विशुद्ध चैतन्य सामान्यरूप द्रव्याकार के अन्वय के माहात्म्य से सदा
अविनाशी होने से वे नित्यता को नहीं छोड़ते हैं, इससे प्रतिक्षण विनश्वर एकसन्तानवर्ती चित्तक्षण ही परमार्थ
से सत् है, द्रव्य नित्य नहीं है ऐसा कहने वाले बौद्धमतावलम्बियों का निराकरण होता है।

पुनः वे सिद्धपरमेष्ठी अष्टगुण — क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सौक्ष्म्य, अवगाह, अगुरुलघु,
अव्याबाध से सहित हैं। ये गुण तो उपलक्षण हैं, इससे उनमें तदनुरूप अनन्तानन्त गुणों का अन्तर्भाव होता
है। इस कथन से ज्ञानादि विशेष गुणों का अत्यन्त नाश हो जाना आत्मा की मुक्ति है। ऐसा कहने वाले
नैयायिक — वैशेषिकों के अभिप्राय का निराकरण किया है।

पुनः वे सिद्ध कृतकृत्य हैं अर्थात् उन्होंने समस्त कर्मों का क्षय और उनके कारणादि का अनुष्ठानरूप
सब कृत्य पूर्ण कर लिया है, इससे ईश्वर सदा मुक्त होकर भी जगत् के बनाने में लगा रहने से अकृतकृत्य है
ऐसा ईश्वरसृष्टिवादियों का अभिप्राय निराकृत किया है।

वे सिद्ध लोकाग्रनिवासी हैं अर्थात् जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाएँ वह लोक है। इस प्रकार तीनों लोकों
के अग्रभाग — तनुवातवलय के अन्त में वे निवास करते हैं। यद्यपि वे जिस स्थान में कर्मों का क्षय करते हैं,
कर्मों का क्षय करने के बाद उस क्षेत्र के ऊपर ही जाने का उनका स्वभाव है फिर भी लोक के अग्रभाग से
आगे ऊर्ध्वगमन में सहायक धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उससे ऊपर नहीं जाते। इसलिए उनका लोक के
अग्रभाग में निवास करना ही युक्त है अन्यथा लोक और अलोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है। इससे
“आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से मुक्त होने पर कहीं भी ठहरना संभव नहीं है। अतः सर्वदा ऊपर-
ऊपर ही जाता है” ऐसा मानने वाले माण्डलिक मत का निराकरण किया गया है। कहा भी है —

सदाशिव-सांख्य-मस्करि-बुद्ध-नैयायिक-वैशेषिक-ईश्वर-मण्डलिदर्शनविदूषणार्थं कृतमेतद्विशेषणम् इति।
तात्पर्यमेतत्—चतुर्दशगुणस्थानलक्षणप्रतिपादनानन्तरं सिद्धानां लक्षणं कथितमितिक्रमेण ज्ञायतेयत् “अभूदपुण्यो हवदि सिद्धो” इति चागमाधारेणापि अवधार्यते यत् संसारपूर्वकं एव मोक्षो भवति। ये केचित् अपि भव्यजीवाः सम्यग्दर्शनं संप्राप्य देश-सकलचारित्रबलेन स्वात्मशुद्धिं कुर्वन्ति ते शुक्लध्यानाग्निना कर्मन्धनं भस्मीकृत्य सिद्धपदं प्राप्नुवन्ति। अतः प्रत्येकभव्यात्मानः धर्मपुरुषार्थं कुर्वन्तः सन्तः मोक्षपुरुषार्थमपि साधयन्तु इति।

गाथार्थ — सदाशिवमत, सांख्यमत, मस्करी, बौद्धमत, नैयायिक मत, वैशेषिक मत, ईश्वरवादी और माण्डलिक मत को दोषयुक्त बतलाने के लिए उक्त विशेषण कहे हैं।

तात्पर्य यह है कि चौदह गुणस्थानों के लक्षण बतलाने के बाद सिद्धों का लक्षण कहा है। इस क्रम से जाना जाता है कि “सिद्ध जीव अभूतपूर्व होते हैं।” यह आगम के आधार से भी ज्ञात होता है कि संसारपूर्वक ही मोक्ष होता है। जो कोई भी भव्य जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके देशचारित्र और सकलचारित्र के बल से अपनी आत्मा की शुद्धि करते हैं वे शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी ईंधन को भस्म करके सिद्धपद को प्राप्त करते हैं अतः प्रत्येक भव्य जीव धर्म पुरुषार्थ करते हुए मोक्षपुरुषार्थ की भी सिद्धि करें ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ — उपर्युक्त प्रकरण में सिद्धभगवान् के अनेक विशेषण बतलाते हुए एक शीतीभूत विशेषण भी बताया है जो कि समस्त दुःखों के सन्ताप की उपशान्ति का प्रतीक है। कल्याणमंदिर स्तोत्र में श्रीकुमुदचन्द्राचार्य ने लिखा है कि —

क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो, ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः।

प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके, नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी॥१३॥

अर्थात् लोक में ऐसा देखा जाता है कि क्रोधी मनुष्य ही शत्रुओं को जीतते हैं पर भगवन्! आपने तो क्रोध को नवमें गुणस्थान में ही जीत लिया था फिर क्रोध के अभाव में चौदहवें गुणस्थान तक कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे जीता ? आचार्य ने इस लोकविरुद्ध बात पर पहले तो आश्चर्य प्रगट किया पुनः जब बाद में उन्हें याद आता है कि ठण्डा तुषार बड़े-बड़े वनों को क्षण भर में जला देता है अर्थात् क्षमारूपी ठण्डे तुषार से कर्मरूपी वनों को दग्ध किया जा सकता है अर्थात् कर्मशत्रुओं को क्षमा जल से नष्ट किया है।

यही उदाहरण उन सिद्ध भगवन्तों में भी लागू हो जाता है कि वे अत्यन्त शान्त, शीतल हो चुके हैं इसीलिए उनके नामस्मरण से भी भक्तों का हृदय शीतल हो जाता है।

इसी प्रकार एक ‘नित्य’ पद है जो सिद्धों की शाश्वत सत्ता को सूचित करता है। इस विषय में धनञ्जय कवि ने विषापहार स्तोत्र में कहा है —

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः, कल्यान्तवातोऽम्बुनिधेर्विधातः।

संसारभोगस्य वियोगभावो, विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये॥१२६॥

इसका भाव यह है कि संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं अर्थात् राहु सूर्य का प्रतिपक्षी है, पानी अग्नि का प्रतिपक्षी है, प्रलयकाल की वायु समुद्र की प्रतिपक्षी है तथा वियोगभाव संसार के भोगों का प्रतिपक्षी — नाश करने वाला है। इस तरह आपसे भिन्न सब पदार्थ विनाश के साथ ही उदय को प्राप्त होते हैं किन्तु आप आगामी जन्म-मरण से रहित हैं और आपकी विशुद्धता, नित्यता कभी नष्ट नहीं हो सकती है इसलिए आप नित्य और शाश्वत स्वरूप को प्राप्त हुए सिद्ध भगवन्! हम सभी के अभीष्ट कार्य की सिद्धि करते हुए आत्मसिद्धि का पथ प्रशस्त करें यही प्रार्थना है। उन अनन्तगुणों से युक्त अनन्तानन्त सिद्धों को मेरा शत-शत नमस्कार होवे।

एतत्पर्यंतं अर्हत्सिद्धस्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन अथवा स्नातकमहामुनेः लक्षणनिरूपणेन गुणस्थानातीत-
सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपप्ररूपणपरत्वेन पंचमान्तराधिकारे सूत्रत्रयं गतम्।

इत्थं चतुर्दशगुणस्थानलक्षणं गुणस्थानवर्तिजीवानां च स्वरूपं प्रतिपाद्य गुणस्थानातीतसिद्धस्वरूपं
चापि प्रतिपादितं भवति।

एवं षष्ठस्थले सकलनिकलपरमात्मनां स्वरूपनिरूपणपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

उपजातिछंद—

चन्द्रप्रभो वागमृतांशुभिर्यो, जनान् प्रपुष्यन्नकलंकयुक्तः।

न चापि दोषाकरतां प्रयाति, सदा स्तुवे तं भवतापशून्यम्^१॥१॥*

इति श्रीमद्भगवत्पुष्पदन्तभूतबलिभट्टारकप्रणीतषट्खण्डागमस्य प्रथमखण्डे श्रीपुष्पदन्तसूरि-

विरचितसत्प्ररूपणानाम्नि प्रथमप्रकरणे धवलाटीकाप्रमुखनानाग्रन्थाधारेण विरचितायां

विंशतितमे शताब्दौ प्रथमाचार्यः चारित्रचक्रवर्ती श्रीशान्तिसागरस्तस्य प्रथम-

पट्टाधीशः श्रीवीरसागराचार्यस्तस्य शिष्या-जम्बूद्वीपरचनाप्रेरिकागणिनी-

ज्ञानमतीकृतसिद्धान्तचिंतामणिटीकायां गुणस्थानस्वरूप-

प्ररूपकः द्वितीयो महाधिकारः समाप्तः।

यहाँ तक अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठियों का स्वरूप बतलाने की मुख्यता से अथवा स्नातक महामुनि का लक्षण
निरूपित करके गुणस्थानातीत सिद्धपरमेष्ठि के स्वरूपप्ररूपण की मुख्यता से पंचम अन्तराधिकार में तीन सूत्र हुए।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों का लक्षण और उन-उन गुणस्थानवर्ती जीवों का स्वरूप प्रतिपादित करके
गुणस्थानातीत सिद्धों का लक्षण भी बतलाया है।

इस प्रकार छठे स्थल में सकल और निकल परमात्माओं के स्वरूप निरूपण की मुख्यता से तीन सूत्र
पूर्ण हुए।

श्लोकार्थ—जो चन्द्रप्रभ भगवान अपने वचनरूपी अमृतकिरणों से भव्यजनों को पुष्ट करते हुए
कलंक से रहित हैं और दोषाकर—दोषों के स्थान को भी प्राप्त नहीं करते हैं ऐसे भवताप से रहित चन्द्रप्रभ
की मैं स्तुति करता हूँ।

इस प्रकार श्रीमान् भगवान पुष्पदन्त-भूतबली भट्टारक द्वारा रचित षट्खण्डागम के प्रथम

खण्ड में श्रीपुष्पदन्त आचार्य द्वारा विरचित सत्प्ररूपणा नाम के प्रथम प्रकरण में धवला

टीका प्रमुख अन्य अनेक ग्रंथों के आधार से विरचित इस ग्रंथ में बीसवीं सदी के

प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्रीशान्तिसागर महाराज के प्रथम पट्टाधीश

आचार्य श्रीवीरसागरमहाराज की शिष्या, जम्बूद्वीप रचना की पावन

प्रेरिका गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा की गई सिद्धान्त-

चिंतामणिटीका में गुणस्थानों के स्वरूप का प्ररूपण

करने वाला द्वितीय महाधिकार समाप्त हुआ।

अथ तृतीयो महाधिकारः

मंगलाचरणम्

महावीरो जगत्स्वामी, सातिशायीति विश्रुतः।

तस्मै नमोऽस्तु मे भक्त्या, पूर्णसंयमलब्धये॥१॥

अथ चतुःपञ्चाशदधिक-एकशतसूत्रेषु तृतीयो महाधिकारः कथ्यते—

अस्मिन् चतुर्दशमार्गणाप्ररूपकाः चतुर्दशाधिकाराः सन्ति।

तत्र तावत् “आदेसेण गदियाणुवादेण” इत्यादिना चतुर्गतिनामसूचकत्वेन एकं सूत्रं ततः परं “णेरइया” इत्यादि सूत्रमादिं कृत्वा चतुर्भिः सूत्रैः गुणस्थानेषु चातुर्गतिकजीवानां मध्ये के-के जीवाः केषु-केषु गुणस्थानेषु इत्यादिकथनं क्रियते। तदनु तिर्यङ्मनुष्ययोः गुणस्थानापेक्षया क्व क्व स्थाने साम्यं इति प्रतिपादयिष्यन्ति चत्वारि सूत्राणि, एवं प्रथमाधिकारे नवसूत्राणि। तदनु “इंदियाणुवादेण” इत्यादि सूत्रमादिं कृत्वा एकेन्द्रियादिजीवानां तेषां गुणस्थानव्यवस्थानां च प्रतिपादनपरत्वेन द्वितीयाधिकारे षट्सूत्राणि। तत्पश्चात् “कायाणुवादेण” इत्यादि सूत्रमादिं कृत्वा षड्जीवनिकायानां स्वरूपभेदप्रभेदप्रतिपादनत्वेन तृतीयाधिकारे अष्टौ सूत्राणि, ततः परं—“जोगाणुवादेण” इत्यादि सूत्रादिना मनोवचनकाययोगिनां

अथ तृतीय महाधिकार प्रारंभ

मंगलाचरण

श्लोकार्थः—तीनों लोकों के अधिपति महावीरस्वामी का अतिशय वर्तमान में खूब प्रसिद्ध है उन महावीर स्वामी को पूर्णसंयम की प्राप्ति हेतु मेरा नमस्कार है।

अब एक सौ चौव्वन (१५४) सूत्रों में तृतीय महाधिकार कहा जाता है—

इस महाधिकार में चौदह मार्गणाओं का प्ररूपण करने वाले चौदह अधिकार हैं।

उनमें से सर्वप्रथम “आदेसेण गदियाणुवादेण” इत्यादि चारों गतियों के नाम को बतलाने वाला एक सूत्र है उसके पश्चात् “णेरइया” इत्यादि सूत्र को आदि में करके चार सूत्रों के द्वारा किस-किस गुणस्थान में किस गति के कौन-कौन से जीव हैं इत्यादि कथन किया है। उसके बाद गुणस्थान की अपेक्षा तिर्यच और मनुष्यों में किन-किन स्थान पर समानता है इत्यादि का कथन करने वाले चार सूत्र कहेंगे, इस प्रकार प्रथम अधिकार में नौ सूत्र हैं।

उसके पश्चात् “इंदियाणुवादेण” इत्यादि सूत्र को आदि में करके एकेन्द्रियादि जीवों और उनके गुणस्थानों की व्यवस्था संबंधी कथन की मुख्यता से द्वितीय अधिकार में छह सूत्र हैं। तत्पश्चात् “कायाणुवादेण” इत्यादि सूत्र को आदि में करके षट्काय के जीवों का स्वरूप, उनके भेद-प्रभेद के प्रतिपादन की मुख्यता से तृतीय अधिकार में आठ सूत्र हैं। पुनः “जोगाणुवादेण” इत्यादि सूत्र के द्वारा मन, वचन, काय योग वाले जीवों का स्वरूप एवं उनके भेद-प्रभेद बतलाने की मुख्यता से चतुर्थ अधिकार में चौवन सूत्र कहेंगे।

१. अतिशय क्षेत्र महावीर जी में विराजमान महावीर स्वामी की मूर्ति चमत्कारी प्रसिद्ध है। यहाँ मैंने सन् १९५३ में चैत्र कृ. १ को क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की थी अतः पूर्ण—महाव्रत अथवा पूर्ण—यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति के लिए भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार किया है। यात्रा के मध्य यह प्रकरण लिखा है।

स्वरूपभेदप्रभेदप्रतिपादनपरत्वेन चतुर्थाधिकारे चतुःपञ्चाशत् सूत्राणि कथ्यन्ते। तदनन्तरं-“वेदाणुवादेण” इत्यादिना त्रिवेदानां लक्षणभाव-द्रव्यवेदकथनमुख्यत्वेन गुणस्थानापेक्षया च कथनपरत्वेन पंचमाधिकारे दशसूत्राणि सन्ति। तदनु-“कसायाणुवादेण” इत्यादिना जीवानां कषायव्यवस्थासूचकत्वेन षष्ठाधिकारे चत्वारि सूत्राणि प्ररूप्यन्ते। तत्पश्चात् “णाणाणुवादेण” इत्यादिसूत्रमादिं कृत्वा जीवानां अज्ञानज्ञानस्वरूपगुणस्थान-व्यवस्थाकथनमुख्यत्वेन सप्तमाधिकारे अष्टसूत्राणि सन्ति। तत्पश्चात् “संजमाणुवादेण” संयमसंयमा-संयमासंयमप्रतिपादनपरत्वेन अष्टमाधिकारे अष्टसूत्राणि उच्यन्ते। तदनन्तरं “दंसणाणुवादेण” इत्यादिना चतुर्विधदर्शनस्य लक्षणगुणस्थानव्यवस्थादिकथनमुख्यत्वेन नवमाधिकारे पंचसूत्राणि सन्ति। तदनन्तरं “लेस्साणुवादेण” इत्यादिसूत्रमादौ कृत्वा षड्लेश्याकथनपरत्वेन दशमाधिकारे पंचसूत्राणि। ततः परं “भविआणुवादेण” इत्यादिना जीवानां भव्यत्वाभव्यत्वस्वरूपसूचकत्वेन एकादशाधिकारे त्रीणि सूत्राणि।

तत्पश्चात् “सम्मत्ताणुवादेण” इत्यादिना संसारव्युच्छेदस्य मूलकारणसम्यक्त्वलक्षणभेदप्रभेदगुणस्थान-व्यवस्थाप्रतिपादकत्वेन द्वादशाधिकारे अष्टाविंशतिसूत्राणि वक्ष्यन्ते। तत्पश्चात् “सण्णियाणुवादेण” इत्यादिना संज्ञ्यसंज्ञिजीवानां गुणस्थानव्यवस्थाकथनमुख्यत्वेन त्रयोदशाधिकारे त्रीणि सूत्राणि। पुनश्च “आहाराणुवादेण” इत्यादिना आहारकानाहारकजीवस्वरूपगुणस्थानप्रतिपादनपरत्वेन चतुर्दशाधिकारे त्रीणि सूत्राणि। इति चतुर्दशभिरधिकारैः चतुःपञ्चाशदुत्तरशतसूत्रैः समुदायपातनिका सूचितास्ति।

तदनन्तर “वेदाणुवादेण” इत्यादि के द्वारा तीनों वेदों का लक्षण और द्रव्य-भाव दो रूप वेद कथन की मुख्यता से तथा गुणस्थान की अपेक्षा उनका कथन करने की मुख्यता से पाँचवें अधिकार में दश सूत्र हैं। उसके पश्चात् “कसायाणुवादेण” इत्यादि सूत्र के द्वारा जीवों की कषायव्यवस्था को सूचित करने वाले छठे अधिकार में चार सूत्र प्ररूपित किये हैं। पुनः “णाणाणुवादेण” इत्यादि सूत्र को आदि में करके जीवों के अज्ञान-ज्ञान का स्वरूप तथा उनके गुणस्थानों की व्यवस्था कथन की मुख्यता से सप्तम अधिकार में आठ सूत्र हैं। उसके बाद “संजमाणुवादेण” इत्यादि के द्वारा संयम, संयमासंयम और असंयम के प्रतिपादन की मुख्यता से आठवें अधिकार में आठ सूत्र हैं। तदनन्तर “दंसणाणुवादेण” इत्यादि सूत्र को आदि में करके चार प्रकार के दर्शन का लक्षण, गुणस्थान की व्यवस्था आदि के कथन की मुख्यता से नवमें अधिकार में पाँच सूत्र हैं। उसके आगे “लेस्साणुवादेण” इत्यादि सूत्र को प्रधानता देकर छह लेश्याओं के कथन की मुख्यता से दशवें अधिकार में पाँच सूत्र हैं। पुनः “भविआणुवादेण” इत्यादि सूत्र के द्वारा जीवों के भव्यत्व, अभव्यत्व का कथन करने वाले तीन सूत्र ग्यारहवें अधिकार में हैं।

तत्पश्चात् “सम्मत्ताणुवादेण” इत्यादि के द्वारा संसार व्युच्छेद के मूल कारण सम्यक्त्व का लक्षण, उनके भेद-प्रभेद, गुणस्थान व्यवस्था के प्रतिपादन की मुख्यता से बारहवें अधिकार में अट्ठाईस सूत्र कहे हैं। तत्पश्चात् “सण्णियाणुवादेण” इत्यादि सूत्र के द्वारा संज्ञी-असंज्ञी जीवों की गुणस्थान व्यवस्था कथन की मुख्यता से तेरहवें अधिकार में तीन सूत्र हैं। पुनः “आहाराणुवादेण” इत्यादि से आहारक, अनाहारक जीवों के स्वरूप, गुणस्थान प्रतिपादन की मुख्यता से चौदहवें अधिकार में तीन सूत्र हैं। इस प्रकार चौदह अधिकारों के द्वारा एक सौ चौवन (१५४) सूत्रों की यह समुदायपातनिका सूचित की गई है।

अथ गतिमार्गणाधिकारः

अधुना स्थलपंचकेन नवभिः सूत्रैः गतिमार्गणानामप्रथमोऽधिकारः कथ्यते। तत्र तावत् प्रथमस्थले पंचभेदगतिप्रतिपादनत्वेन नरकगतिषु गुणस्थानप्रतिपादनत्वेन च “आदेसेण” इत्यादि द्वे सूत्रे। तदनु द्वितीयस्थले तिर्यग्गतौ गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणत्वेन “तिरिक्खा” इत्यादिसूत्रमेकं। ततः परं तृतीयस्थले मनुष्यगतौ गुणस्थानकथनपरत्वेन “मणुस्सा चोद्दससु” इत्यादिसूत्रमेकं। तत्पश्चात् चतुर्थस्थले देवगतौ गुणस्थानसूचनपरत्वेन “देवा चदुसु” इत्यादिसूत्रमेकं। तदनन्तरं पंचमस्थले तिर्यङ्मनुष्ययोः शुद्धाशुद्ध-व्यवस्थाप्ररूपणत्वेन “तिरिक्खा सुद्धा” इत्यादिसूत्रचतुष्टयं इति समुदायपातनिका।

अधुना प्रथमगतिमार्गणाप्ररूपणार्थं चतुर्विंशतितमसूत्रस्यावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण—

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धिगदी^१ चेदि॥२४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आदेसेण-विशेषेण विस्तरेण मार्गणाकथनेन गदियाणुवादेण-गतिरुक्तलक्षणा, तस्या वदनं वादः, प्रसिद्धस्याचार्यपरंपरागतस्यार्थस्य अनु पश्चाद् वादोऽनुवादः। गतेरनुवादो गत्यनुवादः तेन गत्यनुवादेन। णिरयगदी-हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु व्यापृताः निरतास्तेषां गतिर्निरतगतिः। अथवा नरान् प्राणिनः कायति यातयति खलीकरोति इति नरकः कर्म, तस्य नरकस्यापत्यं नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः।

अब गतिमार्गणाधिकार प्रारंभ होता है।

अब पाँच स्थलों में नौ सूत्रों के द्वारा गतिमार्गणा नाम का प्रथम अधिकार कहा जाता है। उनमें से प्रथम स्थल में पाँच भेदरूप गति के प्रतिपादन की मुख्यता से नरकगति में गुणस्थान वर्णन के द्वारा “आदेसेण” इत्यादि दो सूत्र हैं। उसके पश्चात् द्वितीय स्थल में तिर्यचगति की गुणस्थानव्यवस्था का निरूपण करने वाला “तिरिक्खा” इत्यादि एक सूत्र है। पुनः तृतीय स्थल में मनुष्यगति के गुणस्थानों का कथन करने वाला “मणुस्सा चोद्दससु” इत्यादि एक सूत्र है। तत्पश्चात् चतुर्थस्थल में देवगति संबंधी गुणस्थानों की सूचना देने वाला “देवा चदुसु” इत्यादि एक सूत्र है। तदनन्तर पंचमस्थल में तिर्यच और मनुष्य के शुद्ध, अशुद्ध व्यवस्था के प्ररूपण की मुख्यता से “तिरिक्खा सुद्धा” इत्यादि चार सूत्र हैं। इस प्रकार यह समुदायपातनिका हुई।

अब श्रीपुष्पदन्त आचार्यदेव पहली गतिमार्गणा के प्ररूपण हेतु चौबीसवें सूत्र का अवतार करते हैं—
सूत्रार्थ—

आदेश प्ररूपणा की अपेक्षा गत्यनुवाद से नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति है॥२४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — विशेष से विस्तार से मार्गणा कथन के क्रम में सर्वप्रथम गतिमार्गणा को कहते हैं। गति का लक्षण पहले कह आए हैं, उसके कथन करने को वाद कहते हैं। आचार्य परम्परा से आए हुए प्रसिद्ध अर्थ का तदनुसार कथन करना अनुवाद है। इस तरह आचार्य परम्परा के अनुसार गति का कथन करना गत्यनुवाद है, उससे अर्थात् गत्यनुवाद से नरकादि गतियाँ होती हैं।

नरकगति — जो हिंसादिक असमीचीन कार्यों में व्यापृत — संलग्न हैं उन्हें निरत कहते हैं और उनकी

अथवा यस्याः उदयः सकलाशुभकर्माणामुदयस्य सहकारिकारणं भवति सा नरकगतिः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकाल-
भावेष्वन्योन्येषु च विरताः न रताः तेषां गतिर्नरतगतिः।

उक्तं च —

ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य कालभावे य।

अण्णोण्णेहि य जम्हा तम्हा ते णारया भणिया।।

अथवा निर्गतोऽयः पुण्यं एभ्यस्ते निरयाः तेषां गतिः निरयगतिः।^१

सकलतिर्यक्पर्यायोत्पत्तिनिमित्ता तिर्यग्गतिः। अथवा तिर्यग्गतिकर्मोदयापादिततिर्यक्पर्याय-
कलापस्तिर्यग्गतिः। अथवा तिरो वक्रं कुटिलमित्यर्थः, तदञ्चति व्रजन्ति इति तिर्यञ्चः। तिरश्चां गतिः
तिर्यग्गतिः।

उक्तं च —

तिरियंति कुडिलभावं सुवियड-सण्णा णिगिट्टमण्णाणा।

अच्चंत - पावबहुला तम्हा तेरिच्छया णाम।।^२

यस्मात् कारणात् ये जीवाः सुविवृतसंज्ञाः अगूढाहारादिप्रकटसंज्ञायुताः, प्रभावसुखद्युतिलेश्या-
विशुद्ध्यादिभिरल्पीयस्त्वान्निकृष्टाः हेयोपादेयज्ञानादिभिर्विहीनत्वादज्ञानाः, नित्यनिगोदविवक्षया
अत्यन्तपापबहुलाः, तस्मात्कारणात्ते जीवाः तिरोभावं कुटिलभावं मायापरिणामं अञ्चन्ति-गच्छन्ति, इति

गति को निरतगति कहते हैं। अथवा जो नर अर्थात् प्राणियों को काटता है — यातना देता है, पीसता है उसे
नरक कहते हैं। नरक यह एक कर्म है इससे जिनकी उत्पत्ति होती है उनको नारक कहते हैं और उनकी गति
को नारकगति कहते हैं। अथवा जिस गति का उदय सम्पूर्ण अशुभ कर्मों के उदय का सहकारी कारण है उसे
नरकगति कहते हैं। अथवा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में तथा परस्पर में रत नहीं हैं अर्थात् प्रीति नहीं रखते
हैं उन्हें नरत कहते हैं और उनकी गति को नरतगति कहते हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — जिस कारण से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो स्वयं तथा परस्पर में कभी भी रमते नहीं
हैं इसलिए उनको नारत कहते हैं।

अथवा निकल गया है पुण्य जिनमें से, वे निरत कहलाते हैं तथा उनकी गति निरतगति कहलाती है।

समस्त जाति के तिर्यचों में उत्पत्ति का जो कारण है उसे तिर्यग्गति कहते हैं। अथवा तिर्यग्गति कर्म के
उदय से प्राप्त हुए तिर्यच पर्यायों के समूह को तिर्यग्गति कहते हैं। अथवा तिरस्, वक्र और कुटिल ये
एकार्थवाची नाम हैं इसलिए यह अर्थ हुआ कि जो कुटिलभाव को प्राप्त होते हैं उन्हें तिर्यच कहते हैं और
उनकी गति को तिर्यग्गति कहते हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — जो मन, वचन और काय की कुटिलता को प्राप्त हैं, जिनकी आहार आदि संज्ञाएँ सुव्यक्त
हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जावे उनको तिर्यच कहते हैं।

जिस कारण से जो जीव स्पष्टरूप से प्रगत संज्ञा वाले हैं, अगूढ़ — प्रगटरूप से आहार आदि प्रकट संज्ञायुत
हैं, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या, विशुद्धि आदि से हीन होने के कारण निकृष्ट हैं, हेयोपादेय ज्ञानादि से हीन — रहित
होने से अज्ञानी हैं, नित्यनिगोद की विवक्षा से अत्यन्त पापबहुल — पापों में प्रवृत्त हैं। इस कारण से वे जीव
तिरस्कारभाव, कुटिलभाव, मायापरिणाम को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तिर्यच जीवों का कथन किया है।

तिर्यञ्चो भणिता भवन्ति।

अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः। अथवा मनुष्यगतिकर्मोदयापादितमनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोपचारात्मनः मनुष्यगतिः। अथवा मनसा निपुणाः मनसा उत्कटा इति वा मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः।

उक्तं च —

मणन्ति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।

मणुउब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिया।।^१

यस्मात्कारणात् ये जीवाः नित्यं मन्यन्ते हेयोपादेयादिविशेषान् जानन्ति-वा मनसा निपुणाः-कलाशिल्पादिषु कुशलाः वा मनसोत्कटाः-अवधानादिदृढोपयोगाः वा मनोरुद्भवाः अपत्यानि इति ते जीवाः सर्वेऽपि मानुषा इति प्रवचने भणिताः।

अणिमाद्यष्टगुणावष्टम्भबलेन दीव्यन्ति क्रीडन्ति इति देवाः। देवानां गतिर्देवगतिः। अथवा देवगतिनामकर्मोदयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादको देवगतिः। देवगतिनामकर्मोदय-जनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोपचारात्।

उक्तं च —

दिव्वन्ति जदो णिच्चं, गुणेहि अट्टेहि य दिव्वभावेहि।

भासंत-दिव्वकाया, तम्हा ते वणिण्या देवा।।^२

यस्मात्कारणात् ये जीवाः नित्यं कुलगिरिमहासमुद्रादिषु दीव्यन्ति क्रीडन्ति मोदन्ते माद्यन्ति कामयन्ते

जो सम्पूर्ण मनुष्य की पर्यायों में उत्पन्न कराती है उसे मनुष्यगति कहते हैं। अथवा मनुष्यगति नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए मनुष्यपर्यायों के समूह को कार्य में कारण के उपचार से मनुष्यगति कहते हैं। अथवा मन से उत्कट — सूक्ष्म विचार आदि सातिशय उपयोग से युक्त हैं उन्हें मनुष्य कहते हैं, उनकी गति मनुष्यगति कही जाती है। कहा भी है —

गाथार्थ — जो नित्य ही मनन करते हैं अथवा जो मन से विचार करने में निपुण हैं, जो मनु से उत्पन्न हुए हैं, उन्हें मनुष्य कहते हैं।

जिस कारण से जो जीव नित्य ही हेय-उपादेय आदि विशेष बातों को जानते हैं, अथवा निपुण — कला, शिल्प आदि में जो कुशल हैं अथवा जो मनसोत्कट — अवधानादि — दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान, सूक्ष्मविचार, चिरकाल धारण आदिरूप उपयोग से युक्त हैं अथवा जो मनु की सन्तान हैं वे सभी जीव 'मानुष' इस संज्ञा से आगम में कहे गये हैं।

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियों के बल से क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, उन देवों की गति देवगति कहलाती है। अथवा देवगति नामकर्म के उदय से अणिमा आदि ऋद्धियों से युक्त 'देव' इस प्रकार के शब्द, ज्ञान और व्यवहार में कारणभूत पर्याय का जो उत्पादक है वह देवगति है। अथवा देवगति नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई पर्याय को कार्य में कारण के उपचार से देवगति कहते हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — चूँकि वे दिव्यस्वरूप अणिमादि आठ गुणों के द्वारा निरन्तर क्रीड़ा करते हैं, उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है इसीलिए उन्हें देव कहते हैं।

जिस कारण से जो जीव नित्य ही कुलपर्वतों पर, महासमुद्रादिकों में भ्रमण किया करते हैं, क्रीड़ा करते

अणिमादिभिरष्टभिः दिव्यकायैः-अमानुषगोचरप्रभावैः गुणैर्भासमानाः-प्रकाशमानाः दिव्यकायाः-
धातुमलदोषरहितप्रभास्वरमनोहरशरीराः ते जीवाः देवाः इति परमागमे भणिताः।

सिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः सकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा सा गतिः सिद्धिगतिः।

उक्तं च—

जाइजरामरणभया संजोयविओय-दुक्खसण्णाओ।

रोगादिया य जिस्से ण संति सा होई सिद्धिगई।।

जातिजरामरणभयानि, अनिष्टसंयोगेष्टवियोगदुःखसंज्ञाः, रोगादिविविधवेदनाश्च यस्यां न सन्ति सा
वृत्तन्कर्मविप्रमोक्षप्रादुर्भूतसिद्धत्वपर्यायलक्षणा सिद्धगतिरस्ति। अतएव संसारिगत्यपेक्षया
गतिमार्गणायाश्चतुर्विधत्वमुक्तं। मुक्तगत्यपेक्षया तस्यास्तद्विलक्षणत्वेन गतिमार्गणायामविवक्षितत्वात्।

अत्थि-अस्ति सर्वत्रास्ति इत्यभिसंबंधः कर्तव्यः।

तात्पर्यमेतत्—अस्मिन् सूत्रे मार्गणासु गतिमार्गणायां चतस्रो गतयः प्ररूपिताः पुनश्च गतिमार्गणायाः
परे या काचित् मुक्तिगतिः पंचमगतिः नाम्ना गीयते तस्याः निरूपणं कृतं, किंच अस्याः गतेरनन्तरं
पुनरागतिरेव न भवतीत्यर्थः।

श्रीकुन्दकुन्ददेवेन संसारिप्राणिनामपि सान्त्वनाप्रदानार्थं अध्यात्मभाषायां कथितं—

जारिसिया सिद्धप्णा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।

जरमरणजम्ममुक्का, अट्टगुणालंकिया जेण।।^१

हैं, खुशियाँ मनाते हैं, आनन्दमग्न होकर नृत्यादि करते हैं, इच्छानुसार रूप बना-बनाकर भगवान की भक्ति
करते हैं और अणिमा आदि आठ ऋद्धियों के द्वारा दिव्य शरीर धारण करके जो मनुष्यों के अगोचर प्रभाव
से—मनुष्य शरीर में जो गुण नहीं होते हैं ऐसे दिव्य गुणों से प्रकाशमान होते हुए धातु, मल आदि दोषों से
रहित मनोहर शरीर वाले हैं उन्हें परमागम में 'देव' संज्ञा से सम्बोधित किया है।

आत्मस्वरूप की प्राप्ति और अपने सम्पूर्ण गुणों से आत्मस्वरूप में स्थित होने को सिद्धि कहते हैं।
ऐसी सिद्धिस्वरूप गति को सिद्धिगति कहते हैं। कहा भी है—

गाथार्थ—जिसमें जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, आहारादि संज्ञाएँ और रोगादिक नहीं
पाए जाते हैं उसे सिद्धगति कहते हैं।

जन्म, जरा और मरण ये तीन भय हैं, अनिष्ट के संयोग और इष्ट के वियोग को दुःख कहते हैं और
रोगादि विविध वेदनाएँ जिनमें नहीं हैं वह समस्त कर्मों की क्षीणता से उत्पन्न सिद्धपर्याय लक्षणरूप सिद्धगति
है। अतएव संसारी गति की अपेक्षा गतिमार्गणा के चार भेद कहे हैं। मुक्त गति की अपेक्षा सिद्धगति में उन
गतियों से विलक्षणपना रहता है इसलिए गतिमार्गणा में उसकी विवक्षा नहीं है।

सभी जगह गति का संबंध जोड़ लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि इस सूत्र में मार्गणाओं के अन्तर्गत गतिमार्गणा में चार गतियों का वर्णन किया गया है
और पुनः उस गतिमार्गणा से परे जो कोई गति है वह सिद्धगति नाम की पंचम गति कहलाती है। उसका
निरूपण किया है। क्योंकि इस गति के पश्चात् पुनः आगति नहीं होती है ऐसा अर्थ हुआ।

श्री कुन्दकुन्द देव ने संसारी प्राणियों को भी सान्त्वना प्रदान करने के लिए अध्यात्म भाषा में कहा है—

गाथार्थ—जिस प्रकार सिद्ध जीव जन्म, जरा, मरण से मुक्त और आठ गुणों से अलंकृत होते हैं उसी

यादृशाः सिद्धात्मानः सिद्धशिलायां राजन्ते भवं आश्रित्य संसारिणो जीवाः अपि तादृशाः भवन्ति, शक्तिरूपेण न च व्यक्तरूपेण, निश्चयनयापेक्षया वा। येन हेतुना-निश्चयनयेन ये संसारिणः जरामरणजन्ममुक्ताः सन्ति तेनैव हेतुना ते अष्टगुणालंकृताश्च भवन्ति।

शक्तिरूपेण ममात्मा सिद्धसदृशः एतद्विज्ञाय स्वशुद्धात्मानो ध्यानं कारं कारं स्वात्मा व्यक्तरूपेण सिद्धात्मा विधातव्योऽस्माभिरपि इति।

सांप्रतं मार्गणायाः एकदेशरूपगतेरस्तित्वं प्रतिपाद्य तत्र गुणस्थानान्वेषणाय सूत्रस्यावतारः क्रियते—

गेरइया चदुसु द्वाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी त्ति॥२५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—गेरइया चदुसु द्वाणेसु अत्थि—नारकाः चतुःषु गुणस्थानेषु सन्ति। मिच्छाइट्ठी—मिथ्यादृष्टयः सन्ति, तत्रोत्पत्तिनिमित्तमिथ्यात्वस्य सत्त्वात्। सासणसम्माइट्ठी—सासादनसम्यग्दृष्टयः सन्ति। सासादनसम्यक्त्वेन सह मृत्वा कश्चित् अपि जीवो नरकेषु नोत्पद्यते अतः नरकेषु अपर्याप्तावस्थायां एतद्गुणस्थानं नास्ति किंतु पर्याप्तेषु नारकजीवेषु संभवति। सम्मामिच्छाइट्ठी—सम्यग्मिथ्यादृष्टयः सन्ति। एतत्तृतीयगुणस्थानमपि तत्रापर्याप्तेषु नास्ति पर्याप्तजीवानां एव संभवति। असंजदसम्माइट्ठी त्ति—असंयतसम्यग्दृष्टयः सन्ति इति।

प्रकार से संसारी जीवों को भी शक्तिरूप में सिद्ध जानना चाहिए।

जिस प्रकार से सिद्धपरमात्मा जीव सिद्धशिला पर विराजमान हैं उसी प्रकार से भव का आश्रय लेकर संसारी जीव भी शक्तिरूप से होते हैं, व्यक्तरूप से वे सिद्ध के समान नहीं हैं। अथवा निश्चयनय की अपेक्षा ही संसारियों को भी सिद्ध कहा जाता है। जिस हेतु से—निश्चय नय से जो संसारी जरा, मरण और जन्म से मुक्त—रहित होते हैं उसी हेतु से वे आठ गुणों से अलंकृत—सहित माने जाते हैं।

शक्तिरूप से मेरी आत्मा सिद्ध के समान है ऐसा जानकर अपनी शुद्धात्मा का ध्यान कर-करके हम लोगों को भी अपनी आत्मा को व्यक्तरूप से सिद्धात्मा बनाना चाहिए ऐसा अभिप्राय हुआ।

अब मार्गणा के एकदेशरूप गति का अस्तित्व बतलाकर उनमें गुणस्थानों का अन्वेषण करने के लिए अगले सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में होते हैं॥२५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—नारकी जीव चार गुणस्थानों में होते हैं। मिथ्यात्व कर्म की सत्ता के कारण नरक में जन्म लेने वाले जीव मिथ्यादृष्टि नारकी कहलाते हैं।

नरक में सासादनसम्यग्दृष्टि भी होते हैं। सो कैसे ? उसका उत्तर देते हैं—

सासादन सम्यक्त्व के साथ मरण करके कोई भी जीव नरकों में जन्म नहीं लेता है अतः नरक में अपर्याप्त अवस्था में यह गुणस्थान नहीं होता है किन्तु पर्याप्तक नारकी जीवों में यह गुणस्थान हो सकता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों की अपेक्षा से यह तृतीय गुणस्थान भी नरक में पर्याप्त जीवों के ही होता है अपर्याप्तकों के नहीं अर्थात् अपर्याप्त अवस्था में नरक में तृतीय गुणस्थान नहीं हो सकता है।

बद्धायुषां सम्यग्दृष्टीनां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टयः। तत्रापि प्रथमपृथिव्यामेव सम्यग्दृष्टयः उत्पद्यन्ते न च द्वितीयादिपृथिवीषु। तत्र नरकभूमिषु पंचमादिगुणस्थानानामसंभवः, तेषां नारकाणां संयमासंयमसंयमपर्यायेण सह विरोधात्।

तात्पर्यमेतत् — नरकेषु नारकाणामपि बाह्यान्तरंगनिमित्तानामुपलब्धौ सत्यां प्रथमोपशमसम्यग्दर्शनमुत्पद्यते क्षायोपशमिकमपि। कदाचित् राजा श्रेणिकसदृशः कश्चित् नरः बद्धायुष्को भूत्वा पुनः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य प्रथमनरके जायते न चान्यत्र। एतद्विज्ञाय नरकगतिगमनकारणाणि न करणीयानि भवद्भिः कदाचिदपि इति।

एवं गतिमार्गणायां नरकगतिषु गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादके द्वे सूत्रे गते।

अधुना तिर्यग्गतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रावतारो भवति —

**तिरिक्खा पंचसु द्वाणेषु अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मा-
मिच्छाइट्टी असंजदसम्माइट्टी संजदासंजदा त्ति॥२६॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तिरिक्खा पंचसु द्वाणेषु अत्थि — तिर्यञ्चः पंचषु गुणस्थानेषु सन्ति। मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी असंजदसम्माइट्टी संजदासंजदा त्ति — मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः असंयत सम्यग्दृष्टयः संयतासंयताः चेति।

नरक में असंयतसम्यग्दृष्टि जीव होते हैं इसका खुलासा इस प्रकार है —

जिन मनुष्य या तिर्यच जीवों ने पहले नरकायु का बंध कर लिया और बाद में उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई ऐसे बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टियों की ही नरकों में उत्पत्ति होती है इसलिए वहाँ असंयतसम्यग्दृष्टि होते हैं। उसमें भी प्रथम पृथिवी में ही सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं, द्वितीय आदि पृथिवियों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं ले सकता है। उन नरकभूमियों में पंचम आदि गुणस्थान नहीं होते हैं। क्योंकि नारकियों का संयमासंयम और संयम के साथ विरोध है अर्थात् वहाँ देशसंयम और सकलसंयम तो कदापि संभव ही नहीं है। केवल किन्हीं नारकियों को सम्यग्दर्शन अवश्य हो जाता है इसलिए चतुर्थ गुणस्थान तक वहाँ होते हैं।

तात्पर्य यह है कि नरकों में नारकी जीवों के भी बाह्य और अन्तरंग निमित्तों की उपलब्धि होने पर प्रथमोपशम और क्षयोपशम दोनों सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते हैं। कदाचित् राजाश्रेणिक के समान कोई मनुष्य बद्धायुष्क होकर पुनः क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करके प्रथम नरक में चला जाता है, अन्यत्र नहीं जाता है। ऐसा जानकर नरक गति में ले जाने वाले कारण स्वरूप पापों को आप लोगों को कभी नहीं करना चाहिए ऐसा अभिप्राय हुआ।

इस प्रकार गति मार्गणा में नरकगति की गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले दो सूत्र हुए।

अब तिर्यचगति में गुणस्थानों का अन्वेषण करने हेतु उत्तर सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

**तिर्यच जीव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि
और संयतासंयत इन पाँच गुणस्थानों में होते हैं॥२६॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तिर्यच जीव पाँच गुणस्थानों में होते हैं। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इस प्रकार ये पाँच गुणस्थान हैं।

अत्र बद्धायुष्काः एव सासादनसम्यग्दृष्टयः असंयतसम्यग्दृष्टयश्चोत्पद्यन्ते अतः अपर्याप्तकाले सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संयतासंयताश्च तत्र तिर्यक्षु न सन्तीति ज्ञातव्यं। अथ तिर्यञ्चः पंचविधाः—सामान्यतिर्यञ्चः, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चः, पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्चः, पंचेन्द्रियपर्याप्तिरश्चयः, पंचेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्चः^१ इति।

कश्चिदाह — न ज्ञायते मया इमानि पंच गुणस्थानानि क्व-क्व सन्ति ?

आचार्यदेवः समाधत्ते — न तावदपर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यक्षु पंचगुणस्थानानि सन्ति। लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणस्थानासंभवात्। सामान्यतिर्यक्षु एकेन्द्रियादि असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्ताः तिर्यञ्चः मिथ्यादृष्टयः एव भवन्ति। तिरश्चीषु अपि अपर्याप्तकाले मिथ्यात्वसासादने द्वे गुणस्थाने भवतः न च शेषानि त्रीणि।

कश्चिदाह — तिरश्चीषु अपर्याप्तावस्थायां सम्यग्दृष्टिनाम चतुर्थगुणस्थानं कथं नास्ति ?

समाधत्ते — न एतद्वक्तव्यं, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्।

तत्कृतोऽवगम्यते इति चेत् ?

छसु हेट्टिमासु पुढवीसु, जोइस-वण-भवण-सव्व इत्थीसु।

णेदेसु समुप्पज्जइ, सम्माइठ्ठी दु जो जीवो॥

यहाँ बद्धायुष्क जीव ही सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में उत्पन्न होते हैं अतः उन तिर्यचों में अपर्याप्तकाल में सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत जीव जन्म नहीं लेते हैं अर्थात् पर्याप्त काल में उनके ये दोनों गुणस्थान हो सकते हैं।

तिर्यच के पाँच भेद हैं — सामान्य तिर्यच, पंचेन्द्रिय तिर्यच, पंचेन्द्रियपर्याप्त तिर्यच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यचिनी और पंचेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यच।

यहाँ कोई शंका करता है कि मुझे यह ज्ञात नहीं है कि ये पाँच गुणस्थान कहाँ-कहाँ होते हैं ?

तब आचार्यदेव समाधान देते हैं —

अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यचों में तो पाँच गुणस्थान होते नहीं हैं क्योंकि लब्ध्यपर्याप्तकों में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को छोड़कर शेष गुणस्थान ही असंभव हैं अर्थात् नहीं होते हैं। सामान्य तिर्यचों में एकेन्द्रिय आदि से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त तिर्यच जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं अर्थात् इनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही संभव है अन्य नहीं।

तिर्यञ्चिनियों में — स्त्रीवेदी तिर्यच जीवों के भी अपर्याप्तकाल में मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं, शेष तीन गुणस्थान नहीं होते हैं।

शंका — तिर्यञ्चिनी पशुओं के अपर्याप्त अवस्था में सम्यग्दृष्टि नाम का चतुर्थ गुणस्थान क्यों नहीं होता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वहाँ उस अपर्याप्त अवस्था में असंयतसम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति का अभाव है इसलिए अपर्याप्तकाल में उनके चतुर्थ गुणस्थान नहीं पाया जाता है।

यह कैसे जाना जाता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं —

गाथार्थ — सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवी के बिना नीचे की छह पृथिवियों में, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों में तथा सभी प्रकार की स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार के आर्षवचनों से जाना जाता है कि अपर्याप्त तिर्यञ्चिनियों के सम्यग्दृष्टि गुणस्थान नहीं हो सकता है।

इत्यार्षादेवावगम्यते। तात्पर्यमेतत्—

द्वितीयादिषु षट्सु अधोभूमिषु ज्योतिर्वासिदेवेषु व्यंतरदेवेषु भवनवासिदेवेषु, सर्वस्त्रीषु एतेषु सम्यग्दृष्टिर्जीवस्तु नोत्पद्यते। अतएव तिरश्चां तिरश्चीनां च पर्याप्तकाले पंचगुणस्थानानि सन्ति। तिरश्चां अपर्याप्तकाले असंयतसम्यग्दृष्टिर्सासादननामनी द्वे गुणस्थाने संभवतः, मिथ्यात्वं तु भवत्येव। तिरश्चीनां अपर्याप्तकाले मिथ्यात्वसासादने द्वे एव गुणस्थाने स्तः न शेषानि तत्र तन्निरूपकार्षाभावात् इति ज्ञात्वा त्वया तिर्यग्गतिगमनकारणाणि हित्वा सम्यक्त्वेन सह संयमासंयमं संयमं वा गृहीत्वा मनुष्यपर्यायः सफलीकर्तव्यः।

एवं तिर्यग्गतौ गुणस्थानकथनत्वेनैकं सूत्रं गतं।

संप्रति मनुष्यगतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रावतारः क्रियते श्रीपुष्पदन्तभट्टारकेण—

मणुस्सा चोदससु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासणसम्माइट्ठी, सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियट्ठि-बादर-संपराय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहुम-संपराय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली, अजोगिकेवली त्ति॥२७॥

तात्पर्य यह है कि द्वितीय आदि छह नीचे की नरकभूमियों में, ज्योतिर्वासी देवों में, व्यन्तर देवों में, सभी प्रकार की स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं लेता है। अतएव तिर्यच और तिर्यचिनियों के पर्याप्तकाल में पाँच गुणस्थान होते हैं। तिर्यचों के अपर्याप्त काल में असंयत सम्यग्दृष्टि और सासादन नाम वाले दो गुणस्थान संभव हैं किन्तु अपर्याप्त काल में उनके मिथ्यात्व गुणस्थान तो होता ही है और तिर्यचिनियों के अपर्याप्त काल में मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान ही रहते हैं शेष तीन नहीं हो सकते हैं क्योंकि उनका निरूपण करने वाले आर्षग्रन्थों का अभाव है। ऐसा जानकर तुम्हें तिर्यचगति में गमन के कारणों का त्याग करके सम्यक्त्व के साथ देशसंयम अथवा सकल संयम को ग्रहण करके अपनी मनुष्य पर्याय सफल करना चाहिए।

इस प्रकार तिर्यचगति में गुणस्थान का कथन करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ। अब मनुष्यगति में गुणस्थानों का अन्वेषण करने के लिए श्रीमान् पुष्पदन्त आचार्य भट्टारकदेव उत्तर सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयतों में उपशमक और क्षपक, अनिवृत्तिकरण बादरसांपराय प्रविष्ट शुद्धि संयतों में उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय प्रविष्ट शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक, उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इस तरह इन चौदह गुणस्थानों में मनुष्य पाये जाते हैं॥२७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनुस्सा — मनुष्याः चोद्दससु द्वाणेषु अत्थि — चतुर्दशसु गुणस्थानेषु सन्ति। मिच्छाङ्गि — मिथ्यादृष्ट्यादयः। अयोगिकेवली ति — अयोगिकेवलिनः पर्यन्ताः इति। एतेषां चतुर्दशगुणस्थानानां लक्षणं प्रागेव प्रतिपादितमस्ति अतोऽत्र पुनः न कथ्यते। मनुष्याः चतुर्विधाः भवन्ति — सामान्यमनुष्याः, पर्याप्तमनुष्याः, योनिमतीमानुषिन्यः, लब्ध्यपर्याप्तमनुष्याश्चेति। एषु अंतिमभेदवन्मनुष्येषु लब्ध्यपर्याप्तेषु केवलमेकमेव मिथ्यात्वगुणस्थानं वर्तते, शेषेषु त्रिषु भेदेषु चतुर्दशगुणस्थानानि सन्ति नपुंसकवेदेषु योनिमतीमानुषीषु स्त्रीवेदेषु च भाववेदापेक्षया चतुर्दश गुणस्थानानि, सामान्यमनुष्यपर्याप्तमनुष्ययोः द्रव्यनपुंसकवेदद्रव्यस्त्रीवेदयोः पञ्चैव गुणस्थानानि संयतासंयतपर्यंतानि भवन्तीति ज्ञातव्यं।

अत्र तावत् संबंधप्राप्त-उपशमक-क्षपकयोः स्वरूपज्ञापनार्थं उपशमनक्षपणविधी संक्षेपेण प्ररूप्येते — तत्रापि प्रागुपशमनविधिः कथ्यते —

अनन्तानुबंधि-क्रोधमानमायालोभ-सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वमिथ्यात्वानि इति एताः सप्तप्रकृतीः असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तादीनां मध्ये कोऽपि एकः उपशमयति। स्वस्वरूपं त्यक्त्वा अन्यप्रकृतिस्वरूपेणावस्थानमनन्तानुबंधिनामुपशमः। दर्शनत्रिकस्य उदयाभावः उपशमः, तेषां उपशान्तानां अपि त्रिप्रकृतीनां उत्कर्षणं अपकर्षणं परप्रकृतिरूपेण संक्रमणं च अस्ति। अपूर्वकरणे नैकमपि कर्म उपशाम्यति। किन्तु अपूर्वकरणः प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानः स्थितिखण्डघातस्थितिबंधापसरणादिविधिं करोति।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनुष्य मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त चौदहों गुणस्थानों में होते हैं। इन चौदह गुणस्थानों का लक्षण पहले ही किया जा चुका है इसलिए यहाँ पुनः उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है।

मनुष्य चार प्रकार के होते हैं — सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, योनिमती मनुष्य और लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य। इनमें अंतिम भेद वाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों में केवल एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, शेष तीन भेद वाले मनुष्यों में चौदहों गुणस्थान होते हैं। नपुंसक वेद वाले मनुष्यों में, योनिमती मनुष्यस्त्रियों में — स्त्रीवेद वाले मनुष्यों में भाववेद की अपेक्षा चौदह गुणस्थान होते हैं। सामान्य मनुष्य और पर्याप्तक मनुष्यों में, द्रव्य नपुंसक वेदी और द्रव्य स्त्रीवेदी में पाँच गुणस्थान संयतासंयत पर्यन्त होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

उनमें से यहाँ संबंध को प्राप्त उपशमक और क्षपक जीवों के स्वरूप को बताने के लिए उपशमन तथा क्षपण विधि को संक्षेप में कहते हैं —

उसमें भी सबसे पहले उपशमन विधि कही जा रही है —

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि से संयतासंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त तक इन चार गुणस्थानों में रहने वालों में से कोई भी एक गुणस्थान वाला जीव उपशम करने वाला होता है।

अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृतिरूप से रहना अनन्तानुबंधी का उपशम है। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उदय में नहीं आना उपशम है। उन उपशान्त हुई प्रकृतियों में भी तीन प्रकृतियों का उत्कर्षण, अपकर्षण और परप्रकृतिरूप से संक्रमण पाया जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थान में एक भी कर्म का उपशम नहीं होता है किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान वाला जीव प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ता हुआ एक-एक अन्तर्मुहूर्त में एक-एक स्थिति खण्ड का घात करता हुआ स्थितिबन्धापसरण आदि विधि को करता है। पुनः अपूर्वकरण गुणस्थान को उल्लंघन करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करके बारह

पुनः अपूर्वकरणमतिक्रम्यानिवृत्तिकरणं प्रविश्य द्वादशानां कषायाणां नवनोकषायानां आगमकथितो-
पशमनविधिना उपशमनं करोति, तत्रापि संज्वलनलोभकषायबादरकृष्टिं करोति न च सूक्ष्मकृष्टिं। अनंतरं
सूक्ष्मकृष्टिरूपं लोभं अनुभवन् सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानमारोहति। तत्र सूक्ष्मकिट्टिकारूपं संज्वलनलोभमपि
उपशमय्य उपशान्तकषायगुणस्थानमारुह्य वीतरागछद्मस्थो भवति। एष मोहनीयोपशमनविधिः।

अथ क्षपणविधिं वक्ष्ये —

अष्टकर्मणां मूलोत्तरभेदभिन्नप्रकृतिस्थितिअनुभागप्रदेशानां जीवात् यः निःशेषविनाशः तत्क्षपणमुच्यते —

अनंतानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वाख्याः सप्तप्रकृतीरेताः असंयतसम्यग्दृष्टिः
संयतासंयतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तो वा क्षपयति, तस्य क्षपणस्य क्रमः—पूर्वमनन्तानुबन्धिचतुष्कं त्रीन् करणान्
कृत्वाऽनिवृत्तिकरणचरमसमयेऽक्रमेण क्षपयति। पश्चात्पुनरपि त्रीन् करणान् कृत्वा अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणौ
द्वौ अतिक्रम्यानिवृत्तिकरणकालसंख्येयभागं गत्वा मिथ्यात्वं क्षपयति ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा सम्यङ्मिथ्यात्वं
क्षपयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा सम्यक्त्वप्रकृतिं क्षपयति।

ततोऽधःप्रवृत्तिकरणं कृत्वान्तर्मुहूर्तेनापूर्वकरणो भवति स एकमपि कर्म न क्षपयति, किन्तु समयं प्रति
असंख्येयगुणस्वरूपेण प्रदेशनिर्जरां करोति, अंतर्मुहूर्तेन एकैकस्थितिखंडकं घातयन् आत्मनः कालाभ्यंतरे
संख्यातसहस्राणि स्थितिखंडकानि घातयति, तावन्मात्राणि च स्थितिबंधापसरणानि करोति, तेभ्यश्च
संख्यातसहस्रगुणानुभागखंडकघातान् करोति, यतः एकानुभागखण्डकोत्कीर्णकालादेकस्य

कषाय और नौ नोकषायों का आगम में कही गई विधि से उपशमन करता है। उनमें भी संज्वलन लोभ कषाय
का बादर कृष्टि का ही उपशमन करता है सूक्ष्मकृष्टि का नहीं। अनंतर सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभ का अनुभव करता
हुआ सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थान में आरोहण करता है। उनमें सूक्ष्मकिट्टिकारूप संज्वलन लोभ का
भी उपशमन करके उपशान्तकषाय गुणस्थान में जाकर वीतराग छद्मस्थ होता है। यह मोहनीय कर्म की
उपशमन विधि हुई।

अब आगे क्षपणविधि को कहेंगे —

जिनके आठ कर्म मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के भेद
से अनेक प्रकार के हो जाते हैं, उन कर्मों का जीव से जो अत्यन्तरूप से विनाश होता है उसे क्षपण कहते हैं।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों को असंयत
सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत जीव क्षय करता है। उनके क्षपण का क्रम इस
प्रकार है —

तीन करण करके अनिवृत्तिकरण के चरम समय में पहले अनन्तानुबन्धी चतुष्क का एक साथ क्षय करता है
तत्पश्चात् फिर से तीनों करण करके अधःकरण और अपूर्वकरण इन दोनों का उल्लंघन करके अनिवृत्तिकरण के
संख्यात बहुभाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का क्षय करता है। इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर
सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करता है तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है।

उसके बाद अधःकरण को करके अन्तर्मुहूर्त में अपूर्वकरण गुणस्थान वाला हो जाता है। वह एक भी
कर्म का क्षय नहीं करता है किन्तु प्रतिसमय में असंख्यातगुणीरूप से कर्मप्रदेशों की निर्जरा करता है। एक-
एक अन्तर्मुहूर्त में एक-एक स्थितिकांडक का घात करता हुआ अपने काल के भीतर संख्यात हजार
स्थितिकाण्डकों का घात करता है और उतने ही स्थितिबंधापसरण करता है तथा उनसे संख्यात हजार गुणे

स्थितिरखण्डकोत्कीर्णकालः संख्यातगुणः इति।

एवंविधं कृत्वा अनिवृत्तिकरणं नाम नवमगुणस्थानं प्रविश्यानिवृत्तिसंख्यातभागोऽपूर्वकरणविधानेन गमयित्वा अनिवृत्तिकालसंख्येयभागे शेषे स्त्यानगृद्धित्रय-नरकगति-तिर्यग्गति-एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजाति-नरकगति-तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्म-साधारणसंज्ञकाः षोडशप्रकृतीः क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं गत्वा प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभान् अक्रमेण क्षपयति। “एसो संतकम्पाहुड-उवएसो। कसायपाहुडउवएसो पुण।”^१ अष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पश्चादन्तर्मुहूर्त्तं गत्वा षोडशकर्माणि क्षपयति।

अत्रकश्चिदाशंकते — प्राक् षोडशकर्माणि क्षपयित्वा पश्चात् अष्टकषायान् क्षपयति इति षट्खण्डागम-स्योपदेशः, पुनः प्राक् अष्टकषायान् क्षपयित्वा अनन्तरं षोडशकर्माणि क्षपयति एष कषायप्राभृतस्योपदेशः। एतत्परस्परविरोधवाक्यं, न च जिनेन्द्रदेववचनं “नान्यथावादिनो जिनाः” इति। एतत् वचनं तु ऐदंयुगीनाचार्याणामेव। अतः सत्कर्मप्राभृतकषायप्राभृतयोः सूत्रत्वं न घटते इति ?

श्रीवीरसेनाचार्यः समाधानं ददाति —

नैतद्वक्तव्यं, “तीर्थकरकथितानां गणधरदेवकृतग्रन्थरचनानां द्वादशांगानां आचार्यपरंपरया निरन्तरमागतानां

अनुभागकाण्डकों का घात करता है क्योंकि एक अनुभागकाण्डक के उत्कीर्ण काल से एक स्थितिकाण्डक का उत्कीर्ण काल संख्यात गुणा है ऐसा सूत्र वचन है।

इस प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान संबंधी क्रिया को करके अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान में प्रवेश करके अनिवृत्तिकरण काल के संख्यात भाग को अपूर्वकरण के समान व्यतीत करके अनिवृत्तिकरण काल के संख्यात भाग के शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि त्रय — स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण संज्ञा वाली इन सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है।

उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त काल व्यतीत करके प्रत्याख्यानावरण-अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ को एक साथ नष्ट कर देता है। ऐसा सत्कर्मप्राभृत का उपदेश है। और कषायप्राभृत का ऐसा उपदेश है कि आठ कषायों के क्षीण होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्तकाल व्यतीत कर सोलह कर्मप्रकृतियों का नाश करता है।

यहाँ कोई आशंका करता है कि पहले सोलह कर्मों का क्षय करके बाद में आठ कषायों को नष्ट करता है ऐसा षट्खण्डागम का उपदेश है पुनः पहले आठ कषायों को क्षय करके उसके पश्चात् सोलह कर्मों को नष्ट करता है ऐसा कषायप्राभृत का उपदेश है। ये दोनों वाक्य तो परस्पर में विरोध को दर्शाने वाले हैं इसलिए ये जिनेन्द्रदेव के वचन नहीं हैं, क्योंकि “नान्यथावादिनो जिनाः” इस आगमवचन के अनुसार जिनेन्द्रदेव के वचन अन्यथा — झूठ नहीं होते हैं। ये उपर्युक्त परस्पर विरोधी वचन तो इस युग के आचार्यों के ही हैं अतः सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत इन दोनों ग्रंथों में सूत्रपना घटित नहीं होता है।

तब आचार्य श्रीवीरसेनस्वामी समाधान देते हैं —

ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जिनका अर्थरूप से तीर्थकरों ने प्रतिपादन किया है इत्यादि वाक्य का ऐसा अभिप्राय है कि —

तीर्थकर के द्वारा कथित, गणधर देव के द्वारा द्वादशांग ग्रंथ रचना रूप से किया गया जो आगम है वह

युगस्वभावेन-कालदोषेण उत्तरोत्तरहीनबुद्धिषु योग्यपात्राभावेन पुनः सुष्ठुबुद्धीनां क्षयं दृष्ट्वा तीर्थव्युच्छित्तिभयेन पापभीरुभिः गृहीतार्थैः आचार्यैः पोथीषु लिखितानां ग्रन्थानां असूत्रत्वविरोधात्। अतः उभयोरपि ग्रन्थयोः सूत्रत्वं घटते एव।

यदि एवं तर्हि, द्वयोरपि आगमयोः द्वादशांगावयवत्वात् सूत्रत्वं भवेत् ?

नैतत्, द्वयोर्मध्ये एकस्य वचनस्यैव सूत्रत्वं न च द्वयोर्वचनयोः, परस्परविरोधात्।

तर्हि, उत्सूत्रं लिखन् आचार्यः पापभीरुः कथं भवेत् ?

नैष दोषः, “दोणहं मज्झे एकस्सेव संगहे कीरमाणे वज्जभीरुत्तं फिट्ठति त्ति। द्वयोर्मध्ये एकस्यैव वचनस्य संग्रहे क्रियमाणे वद्यभीरुत्वं पापभीरुत्वं निर्गच्छति इति-उच्छृङ्खलत्वं भवेदिति। किन्तु द्वयोरपि संग्रहं कुर्वतां आचार्याणां पापभीरुत्वाविनाशात्।

द्वयोर्वचनयोर्मध्ये किं वचनं सत्यमिति चेत् ?

“सुदकेवली केवली वा जाणदि, ण अण्णो”-तथा निर्णयाभावात्। ततो वर्तमानकालाचार्यैः पापभीरुभिः द्वयोरपि वचनयोः संग्रहः कर्तव्यः, अन्यथा पापभीरुत्वविनाशात् इति।^१

एतत्प्रश्नोत्तरैः विज्ञायते, पूर्वाचार्यैः लिखितशास्त्राणि प्रमाणमेव। तेषां मध्ये यत् किमपि परस्परविरोधिवाक्यं भवेत् तदा द्वयोरपि वाक्ययोः श्रद्धानं कर्तव्यं, न च एकस्य प्रामाण्यं अन्यस्य अप्रामाण्यं वक्तव्यमिति।

आचार्य परम्परा से निरन्तर चला आ रहा युग — कलियुग के प्रभाव से — कालदोष से उत्तरोत्तर हीन-वृद्धि होने पर योग्यपात्र के अभाव से पुनः श्रेष्ठबुद्धि वाले मनुष्यों का हास देखकर पापभीरु आचार्यों ने तीर्थव्युच्छित्ति के भय से गुरुओं के बताए हुए अर्थ को ग्रहण करके पोथियों में — ग्रंथों में लिख दिया इसलिए उनमें असूत्रपना घटित नहीं होता है। अतः सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत इन दोनों ग्रंथों में भी सूत्रपना घटित हो ही जाता है।

यदि ऐसा है तो दोनों आगम में भी द्वादशांग का अवयवपना घटित होने से उन्हें सूत्रपना प्राप्त हो जायेगा ?

ऐसा नहीं है, दोनों में से कोई एक वचन को ही सूत्रपना सिद्ध होगा, दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते क्योंकि दोनों वचन परस्पर में विरोधी हैं।

शंका — तब तो उत्सूत्र — आगम विरुद्ध सूत्र लिखने वाले आचार्य पापभीरु कैसे रहे ? अर्थात् उनमें पापभीरुता नहीं थी ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि दोनों प्रकार के वचनों में से किसी एक ही वचन के संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है अर्थात् उच्छृङ्खलता आ जाती है किन्तु दोनों प्रकार के वचनों का संग्रह करने वाले आचार्यों के पापभीरुता नष्ट नहीं होती है अर्थात् बनी रहती है।

शंका — दोनों प्रकार के वचनों में से किस वचन को सत्य माना जाये ?

समाधान — इस बात को केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। क्योंकि इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है इसलिए पापभीरु वर्तमान काल के आचार्यों को दोनों का ही संग्रह करना चाहिए अन्यथा पापभीरुता का विनाश हो जायेगा।

इन प्रश्न-उत्तरों से ज्ञात होता है कि पूर्वाचार्यों के द्वारा लिखित शास्त्र प्रमाणरूप ही हैं। उनमें जो कुछ भी परस्परविरोधी वाक्य होवें तो दोनों ही वाक्यों पर श्रद्धान करना चाहिए, एक को प्रमाणपना और दूसरे को अप्रमाणपना नहीं कहना चाहिए।

तदनन्तरं अयं नवमगुणस्थानवर्ती मुनिः आगमोक्तविधिना नवनोकषायान् संज्वलनत्रिकं च क्षपयित्वा सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानं प्रतिपद्यते। ततः सोऽपि आत्मनः चरमसमये किट्टिकागतं सर्वं संज्वलनलोभं क्षपयति। तत्पश्चात् क्षीणकषायगुणस्थानं प्रतिपद्य अंतर्मुहूर्तं गमयित्वा आत्मनो द्विचरमसमये निद्राप्रचलासंज्ञके द्वे प्रकृती क्षपयति, अनन्तरं अस्यैव चरमसमये पंचज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणपंचान्तरायाख्याश्चतुर्दशप्रकृतीः क्षपयति।

“एदेसु सट्टिकम्मेसु खीणेषु सजोगिजिणो होदि।”^१ अत्र नरकतिर्यग्देवायुषां प्रयत्नमन्तरेण विनाशोऽभवत् अतः तेषां त्रयाणां अविवक्षया एव षष्टिकर्मणां क्षयः कथितः, किन्तु मूलाचारे टीकायां “एतेषु त्रिषष्टिकर्मसु खीणेषु सजोगिजिनो भवति” इति कथनं वर्तते।

सयोगकेवली भट्टारको न किंचिदपि कर्म क्षपयति, ततः क्रमेण विहृत्य योगनिरोधं कृत्वा अयोगकेवली भवति। सोऽपि आत्मनो द्विचरमसमयेऽनुदयवेदनीयदेवगति-पंचशरीर-पंचसंघात-पंचशरीरबन्धन-षट्संस्थान-त्र्यंगोपांग-षट्संहनन-पंचवर्ण-द्विगन्ध-पंचरस-अष्टस्पर्श-देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वास-द्विविहायोगति-अपर्याप्त-प्रत्येक-स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-दुर्भग-सुस्वरदुःस्वर-अनादेय-अयशःकीर्ति-निर्माण-नीचैर्गोत्राणि एता द्वासप्ततिप्रकृतीः क्षपयति। ततश्चरमसमये सोदयवेदनीय-मनुष्यायुर्मनुष्यगतिपंचेन्द्रिय-

उसके पश्चात् यह नवमगुणस्थानवर्ती मुनि आगमोक्त विधि से नव नोकषायों का और संज्वलनत्रिक — क्रोध, मान, माया को क्षय करके सूक्ष्मसांपराय नामक दसवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। उसके बाद वह सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानवर्ती आत्मा भी अंतिम समय में सूक्ष्मकृष्टिरूप से चला आ रहा जो समस्त संज्वलन लोभ है उसको क्षय करता है। तत्पश्चात् क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त करके वहाँ अन्तर्मुहूर्त व्यतीत करके अपने काल के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का एक साथ क्षय करता है, अनन्तर अपने काल के अंतिम समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का विनाश करता है।

इस तरह इन साठ कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाने पर यह जीव सयोगकेवली जिन हो जाता है। यहाँ नरक, तिर्यच और देवायु इन तीन प्रकृतियों का तो पुरुषार्थ के बिना ही क्षय हो गया था अतः उन तीनों की विवक्षा न होने के कारण ही साठ कर्मों का क्षय कहा है किन्तु मूलाचार ग्रंथ की टीका में ऐसा कहा है कि “इन त्रेसठ कर्मों को नष्ट करके जीव सयोगकेवली जिन होते हैं। अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में जाते हैं।”

सयोगकेवली भट्टारक — भगवान् किसी भी कर्म का क्षय नहीं करते हैं, इसके पश्चात् विहार करके और क्रम से योगनिरोध करके वे अयोगकेवली होते हैं। वे भी अपने काल के द्विचरम समय में वेदनीय की दोनों प्रकृतियों में से अनुदयरूप कोई एक वेदनीय कर्म, देवगति, पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच शरीरों के बंधन, छह संस्थान, तीन आंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीच गोत्र इन बहत्तर प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

इसके पश्चात् इस गुणस्थान के चरम — अंतिम समय में दोनों वेदनीय में से उदयागत शेष बची एक

जातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य-त्रसबादर-पर्याप्त-सुभग-आदेय-यशःकीर्ति-तीर्थकर-उच्चैर्गोत्राणि इति एताः त्रयोदश प्रकृतीः क्षपयति। अथवा मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्या सह त्रिसप्ततिप्रकृतीः द्विचरमसमये विनाश्य द्वादश प्रकृतीः चरमसमये क्षपयति।^१ ततः उपरिमसमये नीरजाः निर्मलः सिद्धो भवति।

तत्र ये महामुनयः कर्मक्षपणायां व्यापृतास्ते क्षपका उच्यन्ते। ये पुनः तेषां एव कर्मणां उपशामनायां व्यापृतास्ते उपशामकाः कथ्यन्ते। अनयोर्द्वयोरेव उपशामकाः ते नियमेन अधोऽवतीर्य कदाचित् पुनः तस्मिन्नेव भवे अन्यभवे वा क्षपकश्रेणिमारोहन्ति तदा मोक्षं गच्छन्ति। ये पुनः क्षपकश्रेणिमारोहन्ति ते तस्मिन्नेव भवे सिद्ध्यन्ति।

वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थकर और उच्चगोत्र इन तेरह कर्मप्रकृतियों का क्षय करते हैं। अथवा मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी के साथ तिहत्तर (७३) प्रकृतियों को द्विचरम समय में क्षय करके बारह प्रकृतियों को चरम समय में नष्ट करते हैं। उसके आगे उपरिम समय में नीरज — कर्म रज से रहित, निर्मल — भावकर्मरूपी मल से रहित सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं।

इनमें से जो महामुनि कर्मक्षपण में व्यापार करते हैं — उद्यत होते हैं उन्हें क्षपक कहते हैं और जो मुनि उन्हीं कर्मों की उपशमना में उद्यमशील होते हैं उन्हें उपशामक कहते हैं। इन दोनों में से जो उपशामक होते हैं वे नियम से नीचे उतरकर कदाचित् पुनः उसी भव में अथवा अन्य भव में क्षपक श्रेणी पर चढ़कर कर्मों का क्षय कर देते हैं तो मोक्ष चले जाते हैं और जो सीधे क्षपक श्रेणी में आरोहण कर लेते हैं वे उसी भव में सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं।

विशेषार्थ — यहाँ सिद्धान्तचिंतामणिटीका में सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनेन्द्र भगवान् के लिए “भट्टारक” शब्द का प्रयोग किया है जो विशेष पूज्यता का प्रतीक है। वर्तमान में ‘भट्टारक’ शब्द वस्त्रधारी पीठाधीश भट्टारकों के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है इसलिए भगवान् या दिगम्बर मुनि, आचार्य के साथ इसका प्रयोग करने पर लोगों के मन में प्रश्नचिह्न सा उभरने लगता है किन्तु यह विशेष ध्यान देने योग्य विषय है कि षट्खण्डागम ग्रंथ के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली के लिए श्रीवीरसेनाचार्य ने धवला टीका में भट्टारक और आचार्य दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। प्रथम पुस्तक के पृ. ७२ पर “भूदबलित्ति भडारण णामं कयं।” “भूदबलि भडारओ वि दमिल विसयं गदो” पुनः उसी पृष्ठ पर उनको आचार्य संज्ञा से भी सम्बोधित करते हुए कहा है—“भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति”। इसी प्रकार धरसेन आचार्य जिन्होंने पुष्पदन्त-भूतबली को अंगपूर्व का अध्ययन कराया था उनके लिए भी पृ. ६९ पर श्रीवीरसेनस्वामी कहते हैं—“धरसेण-भडारण दिट्ठो” और “धरसेण-भडारओ तेहिं विण्णत्तो” इत्यादि।

अंतिम तीर्थकर भगवान् महावीर को भी उन्होंने भट्टारक संज्ञा से सम्बोधित करते हुए कहा है, देखें धवला ग्रंथ पृ. ७३ पर—“तदो मूल-तंत-कत्ता वड्डमाण भडारओ.....” इत्यादि। भट्टारक शब्द भगवान् के सदृश पूज्यता का वाचक है यह बात वीरसेनाचार्य के शब्दों से ही स्पष्ट है, जैसा कि पृ. ७१ पर कहा है—

“धरसेण भयवदा पुणरवि ताणं परिकखा काउमाढत्ता....” अर्थात् भगवान्, भट्टारक और आचार्य ये तीनों पद आचार्य परमेष्ठी के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

वर्तमान के भट्टारकों का भी प्राचीन इतिहास जानने से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में पहले अनेक

मनुष्यगतौ गुणस्थानविवेचनस्य कर्मणामुपशमन-क्षपणविधिप्रतिपादनस्य च प्रयोजनमेतत् यन्मया मनुष्यपर्यायः कृच्छ्राल्लब्धः तथा च उपचारमहाव्रतरूपेण रत्नत्रयमपि लब्धं, अतो जिनेन्द्रदेवस्य श्रीपादसन्निधौ वयं, याचामहे श्रीपद्मनन्दि-आचार्यस्य वचनेन—

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः।

संसारे भ्रमता चिरं यदखिलं प्राप्ता मयाऽनन्तशः॥

तन्नापूर्वमिहास्ति किञ्चिदपि मे हित्वा विकल्पावलं।

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तपदवीं तां देव! पूर्णा कुरु॥^१

अस्य रत्नत्रयस्य पूर्णता अयोगकेवलिगुणस्थानस्यान्त्यसमये एव भवति इति कथितं श्रीआचार्यविद्यानन्द-महोदयेन। तद्यथा—“निश्चयनयादयोगकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य मुक्तेर्हेतुत्वव्यवस्थितेः।”^२

तीर्थो पर दिगम्बर मुनिराज ही भट्टारक बनकर वहाँ का उत्तरदायित्व संभालते थे। उन्हें “पीठाधीश” शब्द से भी सम्बोधित किया जाता था। जैसा कि आज से एक हजार वर्ष पूर्व श्रवणबेलगोला के भगवान् बाहुबली की प्रतिमा के प्रथम स्थापना काल में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को महामात्य चामुण्डराय ने “पीठाधीश” पदवी से अलंकृत किया था। इसका उल्लेख पं. नीरज जैन, सतना (म.प्र.) ने “महोत्सवदर्शन” ग्रंथ में किया है।

धीरे-धीरे समय परिवर्तन के साथ-साथ आज भट्टारकों का वेष आदि भी परिवर्तित हो गया है अतः यह भट्टारक पद या शब्द यहाँ प्रयुक्त नहीं होगा, यहाँ तो निर्ग्रन्थ पद का ही द्योतक भट्टारक शब्द है। ऐसे भगवान् भट्टारक केवली जिनेन्द्र को मेरा कोटि-कोटि वंदन है, वे मेरे भी कर्मक्षय में निमित्त बनें ऐसी प्रार्थना है।

मनुष्यगति में गुणस्थानों के विवेचन का, कर्मों के उपशमन-क्षपण विधि के प्रतिपादन का प्रयोजन यह है कि यह जो मनुष्य पर्याय मुझे बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुई है और उपचार महाव्रतरूप से रत्नत्रय को भी प्राप्त किया है अतः जिनेन्द्रदेव के पादसान्निध्य — पादमूल में हम श्रीपद्मनंदि आचार्य के शब्दों के द्वारा याचना करते हैं—

श्लोकार्थ— इस संसार में भ्रमण कर मैंने इन्द्रपना, निगोदपना और बीच में अन्य भी समस्त प्रकार की योनि अनंत बार प्राप्त की हैं इसलिए इन पदवियों में से कोई भी पदवी मेरे लिए अपूर्व नहीं है किन्तु मोक्षपद को देने वाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी अभी तक नहीं मिली है इसलिए हे भगवन्! यह प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी को ही पूर्ण करो।

इस रत्नत्रय की पूर्णता अयोगकेवली गुणस्थान के अन्त्य समय में ही होती है ऐसा श्री विद्यानन्दि आचार्य महोदय ने कहा है। जो इस प्रकार है—

“निश्चयनय से अयोगकेवली का अंतिम समयवर्ती रत्नत्रय मुक्ति का हेतु है, यह बात व्यवस्थित है।”

भावार्थ— इस कथन से यह निर्णीत हो जाता है कि चौदहवें गुणस्थान के अंत तक मार्ग है और उसके आगे मार्ग का फल है क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मार्ग है, इनमें से एक या दो से मार्ग नहीं बन सकता है।

तथैव रत्नत्रयपूर्यर्थं भावनापि भाव्यते —

ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोः प्रावृषि।

प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते।।

ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशान्तात्मनां।

मार्गे संचरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति।।^१

इत्थं भावनां भावयित्वा मनुष्यजन्म सफलीकर्तव्यमस्माभिरेष एवाभिप्रायः।

एवं मनुष्यगतौ चतुर्दशगुणस्थान प्रतिपादनत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

अधुना गतिमार्गणावयवभूतदेवगतौ गुणस्थानमार्गणार्थं सूत्रावतारो भवति—

देवा चदुसु द्वाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी त्ति।।२८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—देवा चदुसु द्वाणेसु अत्थि-देवाश्चतुर्षु गुणस्थानेषु सन्ति। कानि तानि इति चेत् ? मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी त्ति — मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिश्चेति।

कश्चिदाशंकते—अथ स्याद् यासु याभिर्वा जीवाः मृग्यन्ते ताः मार्गणा इति प्राङ्मार्गणाशब्दस्य निरुक्तिरुक्ता, आर्षे च इयत्सु गुणस्थानेषु नारकाः सन्ति, तिर्यञ्चः सन्ति, मनुष्याः सन्ति, देवाः सन्तीति

इसी प्रकार से रत्नत्रय पूर्ति की भावना भी भाई जाती है—

श्लोकार्थ—जो योगीश्वर ग्रीष्म ऋतु में पहाड़ के अग्रभाग में स्थित शिला के ऊपर ध्यानरस में लीन होकर रहते हैं तथा वर्षाकाल में वृक्षों के मूल में बैठकर ध्यान करते हैं और शरदऋतु में चौड़े मैदान में बैठकर ध्यान लगाते हैं शास्त्र के अनुसार तप के धारी तथा ध्यान से जिनकी आत्मा शान्त हो गई है ऐसे उन योगीश्वरों के मार्ग में गमन करने के लिए मुझे भी कब वह समय मिलेगा ?

ऐसी भावना भाकर हम लोगों को अपना मनुष्य जन्म सफल करना चाहिए यह अभिप्राय है। इस प्रकार मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों के प्रतिपादन की मुख्यता से एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब गतिमार्गणा के अवयवभूत देवगति में गुणस्थान का अन्वेषण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में देव पाये जाते हैं।।२८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—देव चार गुणस्थानों में पाये जाते हैं।

प्रश्न—वे चार गुणस्थान कौन से हैं ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि ये चार गुणस्थान देवों के होते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है—जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीवों का अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं, इस प्रकार पहले मार्गणा शब्द की निरुक्ति कह आए हैं और आर्ष में तो इतने गुणस्थानों में नारकी

गुणस्थानेषु मार्गणा अन्विष्यन्ते, अतस्तद्व्याख्यानमार्षविरुद्धमिति ?

आचार्यदेवः समाधत्ते — नैष दोषः “णिरय-गदीए णेरईएसु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया।”
इत्यादि भगवद्-भूतबलि-भट्टारकमुखकमलविनिर्गतगुण-संख्यादि-प्रतिपादकसूत्राश्रयेण तन्निरुक्तेरवतारात्।

कथमनयोभूतबलि-पुष्पदन्तवाक्ययोर्न विरोधः इति चेत् ?

न विरोधः।

कथमिदं तावत् ?

निरूप्यते। न तावदसिद्धेर्न असिद्धे वासिद्धस्यान्वेषणं सम्भवति, विरोधात्। नापि सिद्धे सिद्धस्यान्वेषणम्, तत्र तस्यान्वेषणे फलाभावात्। ततः सामान्याकारेण सिद्धानां जीवानां गुणसत्त्वद्रव्यसंख्यादिविशेषरूपेणासिद्धानां त्रिकोटिपरिणामात्मकानादिबन्धनबद्धज्ञानदर्शनलक्षणमात्मस्तित्वान्यथानुपपत्तितः सामान्याकरेणावगतानां गत्यादीनां मार्गणानां च विशेषतोऽनवगतानामिच्छातः आधाराधेयभावो भवतीति नोभयवाक्ययोर्विरोधः।^१

एष अभिप्रायः — श्रीमदाचार्यपुष्पदन्तेन गुणस्थानानामाधारं कृत्वा मार्गणायाः प्रतिपादनं कृतं। तथा श्रीमदाचार्यभूतबलिना अग्रे मार्गणानामाधारं कृत्वा गुणस्थानानां प्रतिपादनं कृतं अतस्तयोर्द्वयोराचार्ययो-
र्वाक्ययोर्नास्ति विरोधः।

होते हैं, इतने में तिर्यच होते हैं, इतने में मनुष्य होते हैं और इतने में देव होते हैं इस प्रकार गुणस्थानों में मार्गणा का अन्वेषण किया जा रहा है। इसलिए उक्त प्रकार से मार्गणा की निरुक्ति करना आर्षविरुद्ध है ?

इस शंका का आचार्यदेव समाधान देते हैं —

यह कोई दोष नहीं है क्योंकि ‘नरकगति में नारकियों में मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाण से कितने हैं’ इत्यादि रूप से भगवान् भूतबली भट्टारक के मुखकमल से निकले हुए गुणस्थानों का अवलम्बन लेकर संख्या आदि के प्रतिपादक सूत्रों के आश्रय से उक्त निरुक्ति का अवतार हुआ है।

शंका — तो भूतबलि और पुष्पदंत के इन वचनों में विरोध क्यों नहीं माना जाता है ?

समाधान — उनके वचनों में विरोध नहीं है। यदि पूछो किस प्रकार ? तो आगे इसी बात का निरूपण करते हैं कि असिद्ध के द्वारा असिद्ध में असिद्ध का अन्वेषण करना तो संभव नहीं है क्योंकि इस तरह अन्वेषण करने में तो विरोध आता है। उसी प्रकार सिद्ध में सिद्ध का अन्वेषण करना भी उचित नहीं है क्योंकि सिद्ध में सिद्ध का अन्वेषण करने पर कोई फल नहीं है इसलिए स्वरूप सामान्य की अपेक्षा से सिद्ध किन्तु गुणसत्त्व अर्थात् गुणस्थान, द्रव्यसंख्या आदि विशेषरूप से असिद्ध जीवों का तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रिकोटि से परिणमनशील अनादिकालीन बंधन से बँधे हुए तथा ज्ञान और दर्शन लक्षण स्वरूप आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि अन्यथा नहीं हो सकती है इसलिए सामान्यरूप से जानी गई और विशेषरूप से नहीं जानी गई ऐसी गति आदि मार्गणाओं का इच्छा से आधार-आधेय भाव बन जाता है उसी प्रकार जब मार्गणाएँ विवक्षित होती हैं तब वे आधार भाव को प्राप्त हो जाती हैं और गुणस्थान आधेयपने को प्राप्त होते हैं इसलिए भूतबलि और पुष्पदंत आचार्यों के वचनों में कोई विरोध नहीं समझना चाहिए।

यहाँ अभिप्राय यह है कि आचार्य श्री पुष्पदंत स्वामी ने गुणस्थानों को आधार बनाकर मार्गणाओं का प्रतिपादन किया है तथा श्री भूतबलि आचार्य ने आगे मार्गणाओं को आधार बनाकर गुणस्थानों का प्रतिपादन किया है अतः दोनों के कथन में कोई विरोध नहीं है।

देवगतौ अपर्याप्तकाले तृतीयं मिश्रगुणस्थानं नास्ति, किंच अस्मिन् गुणस्थाने मरणमेव न संभवति इति ज्ञातव्यं।

एवं देवगतौ गुणस्थानव्यवस्थाकथनत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

संप्रति पूर्वसूत्रेषु कथितार्थविशेषप्रतिपादनार्थं चत्वारि सूत्राणि, तेषु प्रथमसूत्रावतारो भवति—

तिरिक्खा सुद्धा इन्द्रियप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति॥२९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः। प्रभृतिरादिः, एकेन्द्रियान् प्रभृति कृत्वा। असंज्ञिनश्च ते पंचेन्द्रियाश्च असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः। यत्परिमाणमस्येति यावत्। यावदसंज्ञिपंचेन्द्रियाः शुद्धाः तिर्यञ्चः।

तिर्यक्षु शुद्धाः तिर्यञ्चः कथमेतत् ?

यदि एवम् न अकथयिष्यत् तर्हि नैतत् ज्ञायेत यत् तिर्यग्गतौ एव एकेन्द्रियादयोऽसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्तं वर्तन्ते नान्यत्र गतिषु। अतएव एतत्सूत्रावतारो जातः।

अथासाधारणतिरश्चः प्रतिपाद्य साधारणतिरश्चां प्रतिपादनार्थं उत्तरसूत्रावतारो भवति—

तिरिक्खा मिस्सा सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति॥३०॥

देवगति में अपर्याप्त काल में तृतीय मिश्र गुणस्थान नहीं होता है तथा इस गुणस्थान में मरण भी संभव नहीं है ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार देवगति में गुणस्थान कथन की मुख्यता से एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब पूर्व सूत्रों में कहे गये अर्थ के विशेष प्रतिपादन करने के लिए आगे चार सूत्र हैं उनमें से प्रथम सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव शुद्ध तिर्यच हैं॥२९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एक ही इन्द्रिय है जिनके वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं। प्रभृति का अर्थ आदि है अर्थात् “एकेन्द्रियों को आदि में करके” ऐसा अर्थ है। जो असंज्ञी होते हुए पंचेन्द्रिय होते हैं उन्हें असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहते हैं। जिसका जितना परिमाण होता है उसके उस परिमाण को प्रगट करने के लिए ‘यावत्’ शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव शुद्ध तिर्यच होते हैं।

तिर्यचों में शुद्ध तिर्यच होते हैं ऐसा क्यों कहा ?

यदि ऐसा नहीं कहा जाता तो यह ज्ञात नहीं हो पाता कि तिर्यच गति में ही एकेन्द्रिय को आदि लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव होते हैं, अन्य गतियों में ये जीव नहीं होते हैं। इसीलिए इस सूत्र का अवतार हुआ है।

अब असाधारण (शुद्ध) तिर्यचों का प्रतिपादन कर साधारण (मिश्र) तिर्यचों के प्रतिपादन करने के लिए उत्तर सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक तिर्यच मिश्र होते हैं॥३०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तिरिक्खा मिस्सा — तिर्यञ्चः मिश्राः सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति-संजि-मिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत् संयतासंयताश्चेति।

तिरश्चां अन्यैः सह मिश्रणं कथमवगम्यते ?

गुणस्थानसादृश्यापेक्षया एवावगम्यते। तद्यथा — मिथ्यादृष्ट्यादि असंयतसम्यग्दृष्टिपर्यंतगुणस्थानैः गतित्रयगतजीवसाम्यात्तैस्ते मिश्राः। संयमासंयमगुणस्थानेन मनुष्यैः सह साम्यात् तिर्यञ्चो मनुष्यैः सहैकत्वमापन्नाः इति ज्ञातव्यं भवति।

इदानीं मनुष्याणां गुणस्थानापेक्षया सादृश्यासादृश्यप्रतिपादनार्थं उत्तरसूत्रावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण —

मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति॥३१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मणुस्सा मिस्सा — मनुष्याः मिश्राः, मिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति — मिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत् संयतासंयताः इति। आदितश्चतुर्षु गुणस्थानेषु ये मनुष्यास्ते मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिर्गुणस्थानैस्त्रिगतिजीवैः समानाः, संयमासंयमेन तिर्यग्भिः सामनाः इति ज्ञातव्या भवन्ति।

पुनरपि शुद्धमनुष्यप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

तेण परं सुद्धा मणुस्सा॥३२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तिर्यच मिश्र होते हैं अर्थात् संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान पर्यन्त तिर्यच मिश्र होते हैं।

तिर्यचों का अन्य गति वाले जीवों के साथ मिश्रण कैसे जाना जाता है ?

गुणस्थान के सादृश्य की अपेक्षा ही उनका मिश्रण जाना जाता है। वह इस प्रकार है — मिथ्यादृष्टि आदि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त गुणस्थानों के द्वारा तीन गति में रहने वाले जीवों के साथ समानता है इसलिए वे जीव मिश्र कहलाते हैं। संयमासंयम गुणस्थान के द्वारा तिर्यचों की मनुष्यों के साथ समानता होने से तिर्यच मनुष्यों के साथ एकत्व को प्राप्त हुए हैं ऐसा जानना चाहिए।

अब मनुष्यों की गुणस्थानों के द्वारा समानता और असमानता का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य श्री पुष्पदंत स्वामी द्वारा आगे का सूत्र अवतरित होता है —

सूत्रार्थ —

मिथ्यादृष्टियों से लेकर संयतासंयत तक के मनुष्य मिश्र हैं॥३१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर संयतासंयत पर्यन्त जितने मनुष्य हैं वे सभी मिश्र हैं। आदि के चार गुणस्थानों में जो मनुष्य हैं वे मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थानों की अपेक्षा तीन गति के जीवों के साथ समान हैं और संयमासंयम गुणस्थान की अपेक्षा तिर्यचों के साथ समान हैं ऐसा ज्ञातव्य है।

पुनरपि शुद्ध मनुष्यों का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

पाँचवें गुणस्थान से आगे शुद्ध (केवल) मनुष्य हैं॥३२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तेण परं — तेन परं — पंचमगुणस्थानात् परं सुद्धा मणुस्सा — शुद्धाः मनुष्याः शेषगुणस्थानानां मनुष्यगतिव्यतिरिक्तगतिषु असंभवात् मनुष्येषु एव संभवन्ति अतः उपरितनगुणस्थानैः मनुष्याः न कैश्चित् समानाः अतएव शुद्धा गीयन्ते। अस्मिन्ननादिसंसारे चतुर्गतिषु एका मनुष्यगतिरेव मोक्षं प्रापयितुं सक्षमास्ति साक्षादिति। एतेन सप्तधातुभूतमलिनशरीरेण नश्वरक्षणभंगुरेण च निर्मलोऽविनश्वरः आत्मा प्रकटीकर्तव्यः। किंच, व्यवहार-निश्चयरत्नत्रयसाधनभूतमेतदेवशरीरमितिज्ञातव्यं भवद्भिः।

एवं चतुर्गतिस्वरूपं तासां गुणस्थानव्यवस्थापरं सूत्रपंचकं, पुनश्च तिर्यग्मनुष्याणां समानासमानप्रतिपादन-परत्वेन सूत्रचतुष्टयं इति प्रथमाधिकारेण नवसूत्राणि गतानि।

इति श्रीषट्खंडागमप्रथमखंडे गणिनीज्ञानमतीकृत-
सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां गतिमार्गणानाम्
प्रथमोऽधिकारः समाप्तः।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उससे आगे अर्थात् पंचमगुणस्थान से आगे शुद्ध मनुष्य होते हैं। प्रारंभ के पाँच गुणस्थानों को छोड़ कर शेष गुणस्थान मनुष्यगति के बिना अन्य तीन गतियों में नहीं पाये जाते हैं इसलिए शेष गुणस्थान मनुष्यों में ही संभव हैं। अतः छठवें आदि ऊपर के गुणस्थानों की अपेक्षा मनुष्य अन्य तीन गति के किन्हीं जीवों के साथ समानता नहीं रखते हैं इसलिए वे शुद्ध कहे जाते हैं। इस अनादि संसार में चारों गतियों में एक मनुष्यगति ही मोक्ष प्राप्त कराने में साक्षात् रूप से सक्षम है। इस सप्तधातु से भरे मलिन एवं क्षणभंगुर शरीर के द्वारा निर्मल, अविनश्वर आत्मा को प्रकट करना चाहिए क्योंकि व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय का साधनभूत यही शरीर है ऐसा आप लोगों के लिए जानने योग्य है।

इस प्रकार चतुर्गति के लक्षण एवं उनकी गुणस्थान व्यवस्था को बताने वाले पाँच सूत्र हुए हैं पुनः तिर्यच एवं मनुष्यों में समानता और असमानता के प्रतिपादन की मुख्यता से चार सूत्र हुए। इस प्रकार प्रथम अधिकार के द्वारा नौ सूत्रों का कथन हुआ है।

इस प्रकार श्री षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खंड में
गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी कृत सिद्धान्त-
चिन्तामणिटीका में गतिमार्गणा
नामका प्रथम अधिकार
समाप्त हुआ।



अथ इन्द्रियमार्गणाधिकारः

अथ स्थलत्रयेण षड्भिः सूत्रैः इन्द्रियमार्गणानामद्वितीयोऽधिकारः कथ्यते। तत्र तावत् प्रथमस्थले एकेन्द्रियादिजीवानां भेदप्रभेदकथनपरत्वेन “एइंदिया” इत्यादिसूत्रत्रयं। ततः परं द्वितीयस्थले एकेन्द्रियादिजीवानां गुणस्थानव्यवस्थाप्ररूपणत्वेन “एइंदिया” इत्यादिसूत्रद्वयं। तदनु तृतीयस्थले इन्द्रियरहितानां कथनत्वेन “तेण परं” इत्यादिसूत्रमेकं इति समुदायपातनिका।

अधुना इन्द्रियमार्गणापेक्षया सामान्येन कतिविधा जीवा ? इति प्रश्ने सति आचार्यदेवः उत्तरयति —
इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि।।३३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इंदियाणुवादेण — इन्दनादिन्द्रः आत्मा, तस्येन्द्रस्य लिंगम् इन्द्रियम्। इन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्। तेन इन्द्रियानुवादेन। तदिन्द्रियं द्विविधं — द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं चेति। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः, कर्मणा या निर्वर्त्यते निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्यपदिश्यते। सा निर्वृत्तिर्द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्र लोकप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेन अवस्थितानां उत्सेधांगुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वा वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः।

अथ इन्द्रियमार्गणाधिकार

अब तीन स्थल के द्वारा छह सूत्रों से इन्द्रिय मार्गणा नामका द्वितीय अधिकार कहते हैं। उनमें से प्रथम स्थल में एकेन्द्रिय आदि जीवों के भेद-प्रभेद कथन की मुख्यता से “एइंदिया” इत्यादि तीन सूत्र हैं। उसके पश्चात् द्वितीय स्थल में एकेन्द्रिय आदि जीवों की गुणस्थान व्यवस्था प्ररूपित करने वाले “एइंदिया” इत्यादि दो सूत्र हैं। उसके बाद तृतीय स्थल में इन्द्रियरहित जीवों के कथन की मुख्यता से “तेण परं” इत्यादि एक सूत्र है। इस प्रकार यह समुदाय पातनिका हुई।

अब इन्द्रिय मार्गणा की अपेक्षा सामान्य से जीव कितने प्रकार के हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं —

सूत्रार्थ —

इन्द्रिय मार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीव हैं।।३३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यशाली होने से यहाँ इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है और उस इन्द्र के लिंग (चिह्न) को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो इंद्र अर्थात् नामकर्म से रची जावे उसे इंद्रिय कहते हैं। उस इंद्रिय अनुवाद की अपेक्षा इंद्रिय के दो भेद हैं — द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। जो निर्वृत्ति होती है अर्थात् कर्म के द्वारा रची जाती है उसे निर्वृत्ति कहते हैं। वह निर्वृत्ति बाह्य निर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति के भेद से दो प्रकार की है। उसमें प्रतिनियत चक्षु आदि इंद्रियों के आकाररूप से परिणत हुए लोकप्रमाण अथवा उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण विशुद्ध आत्मा के प्रदेशों की रचना को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं।

अत्र कश्चिदाशंकते — चक्षुरादीनां इन्द्रियाणां क्षयोपशमो हि नाम स्पर्शनेन्द्रियस्य इव किमु सर्वात्मप्रदेशेषु जायते, उत प्रतिनियतेष्विति ? किं चातः, न सर्वात्मप्रदेशेषु, स्वसर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिप्रसंगात्। अस्तु चेन्न, तथानुपलंभात्। न प्रतिनियतात्मावयवेषु वृत्तिः, “सिया द्विया, सिया अद्विया, सिया द्वियाद्विया” इति वेदनासूत्रतोऽवगतभ्रमणेषु जीवप्रदेशेषु प्रचलत्सु सर्वजीवानां आन्ध्यप्रसंगात् इति ?

आचार्यदेवः समाधत्ते — नैष दोषः, सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्य उत्पत्त्यभ्युपगमात्। न सर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिरपि, तत्सहकारिकारणबाह्यनिर्वृत्तेशेषजीवावयवव्यापित्वाभावात्।

तेषु आत्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स बाह्या निर्वृत्तिः। मसूरिकाकारा अंगुलस्यासंख्येयभागप्रमिता चक्षुरिन्द्रियस्य बाह्या निर्वृत्तिः। यवनालिकाकारा अंगुलस्यासंख्येयभागप्रमिता श्रोत्रस्य बाह्या निर्वृत्तिः। अतिमुक्तकपुष्पसंस्थाना अंगुलस्यासंख्येयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृत्तिः। अर्धचन्द्राकारा क्षुरप्राकारा वाङ्गुलस्य संख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः। स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियतसंस्थाना। सा जघन्येन अंगुलस्यासंख्येयभागप्रमिता सूक्ष्मशरीरेषु, उत्कर्षेण संख्येयघनाङ्गुलप्रमिता महामत्स्यादित्रसजीवेषु।

यहाँ कोई आशंका करता है —

जिस प्रकार स्पर्शन इंद्रिय का क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होता है उसी प्रकार चक्षु आदि इंद्रियों का क्षयोपशम क्या संपूर्ण आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होता है या प्रतिनियत आत्मप्रदेशों में ? आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम होता है, यह तो माना नहीं जा सकता है क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा के सम्पूर्ण अवयवों से रूपादिक की उपलब्धि का प्रसंग आ जाएगा। यदि कहा जाए कि सम्पूर्ण अवयवों से रूपादि की उपलब्धि होती ही है सो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि सर्वांग से रूपादि का ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता इसलिए सर्वांग में तो क्षयोपशम माना नहीं जा सकता और यदि आत्मा के प्रतिनियत अवयवों में चक्षु आदि इंद्रियों की वृत्ति मानी जाय तो भी कहना नहीं बनता है क्योंकि ऐसा मान लेने पर “आत्मप्रदेश कथंचित् चल भी हैं, कथंचित् अचल भी हैं और कथंचित् चलाचल भी हैं” इस प्रकार वेदनाप्राभृत के सूत्र से आत्मप्रदेशों का भ्रमण अवगत हो जाने पर जीवप्रदेशों की भ्रमणरूप अवस्था में सम्पूर्ण जीवों के अन्धपने का प्रसंग आ जाएगा अर्थात् उस समय चक्षु आदि इंद्रियाँ रूपादि को ग्रहण नहीं कर सकेंगी ?

इसका आचार्यदेव समाधान देते हुए कहते हैं —

यह कोई दोष नहीं है क्योंकि जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है। परन्तु ऐसा मान लेने पर भी जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों के द्वारा रूपादि की उपलब्धि का प्रसंग भी नहीं आता है क्योंकि रूपादि के ग्रहण करने में उसके सहकारी कारणरूप बाह्य निर्वृत्ति जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में नहीं पाई जाती है।

इंद्रिय व्यपदेश को प्राप्त होने वाले उन आत्मप्रदेशों में जो प्रतिनियत आकार वाला और नामकर्म के उदय से अवस्था विशेष को प्राप्त पुद्गलप्रचय है उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। मसूर के समान आकार वाली और घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण चक्षु इंद्रिय की बाह्य निर्वृत्ति होती है। यव की नाली के समान आकार वाली और घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण श्रोत्र इंद्रिय की बाह्य निर्वृत्ति होती है। कदम्ब के फूल के समान आकार वाली और घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण घ्राण इंद्रिय की बाह्य निर्वृत्ति होती है। अर्धचन्द्र अथवा खुरपा के समान आकार वाली और घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण रसना इंद्रिय की बाह्य निर्वृत्ति होती है। स्पर्शन इंद्रिय की बाह्य निर्वृत्ति अनियत आकार वाली होती है। वह जघन्य प्रमाण की

सर्वतः स्तोकाः चक्षुषः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रियप्रदेशाः विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शने संख्येयगुणाः।^१

उक्तं च —

जवणालिया मसूरी चंदद्दइमुत्त-फुल्ल-तुल्लाईं।

इंदियसंठाणाईं पस्सं पुण णेय-संठाणं।।^२

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणं। तद् द्विविधं — बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलम् बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं शेषेष्चिन्द्रियेषु ज्ञेयम्।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते। तदुक्तनिमित्तं प्रतीत्योत्पद्यमानः आत्मनः परिणामः उपयोगः इत्यपदिश्यते। तदेतदुभयं भावेन्द्रियम्।

उपयोगस्य तत्फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिः इति चेत् ?

न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः। कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं, यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति। तथा इन्द्रियनिर्वृत्ते उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्यपदिश्यते।

अपेक्षा घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के शरीर में पाई जाती है और उत्कृष्ट प्रमाण की अपेक्षा संख्यात घनांगुल प्रमाण महामत्स्य आदि त्रस जीवों के शरीर में पाई जाती है।

चक्षु इन्द्रिय के अवगाहनारूप प्रदेश सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणे श्रोत्र इन्द्रिय के प्रदेश हैं। उनसे अधिक घ्राण इन्द्रिय के प्रदेश हैं। उनमें असंख्यातगुणे जिह्वा इन्द्रिय में प्रदेश हैं और उनसे संख्यातगुणे स्पर्शन इन्द्रिय में प्रदेश हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — श्रोत्र इन्द्रिय का आकार यव की नाली के समान है, चक्षु इन्द्रिय का मसूर के समान, रसना इन्द्रिय का आधे चन्द्रमा के समान, घ्राण इन्द्रिय का कदम्ब के फूल के समान आकार है और स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकार वाली है।

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है अर्थात् जो निर्वृत्ति का उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। वह बाह्य उपकरण और अभ्यन्तर उपकरण के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से कृष्ण और शुक्ल मण्डल नेत्र इन्द्रिय का अभ्यन्तर उपकरण है और दोनों पलकें तथा दोनों नेत्रोर्म (बरोनी) आदि उसके बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों में जानना चाहिए।

लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिय की निर्वृत्ति का कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष है उसे लब्धि कहते हैं अर्थात् जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना में व्यापार करता है ऐसे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं और उस पूर्वोक्त निमित्त के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। इस प्रकार लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियाँ हैं।

शंका — उपयोग इन्द्रियों का फल है इसलिए उपयोग को इन्द्रिय संज्ञा देना उचित नहीं है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि कारण में रहने वाले धर्म की कार्य में अनुवृत्ति होती है। अर्थात् लोक में कार्य कारण का अनुकरण करता हुआ देखा जाता है। जैसे — घट के आकार से परिणत हुए ज्ञान को घट कहा जाता है उसी प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुए उपयोग को भी इन्द्रिय संज्ञा दी गई है।

तेन इन्द्रियेण अनुवादः इन्द्रियानुवादः तेन। अत्थि एइंदिया — सन्ति एकेन्द्रियाः। एकं स्पर्शनमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः जीवाः। वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमांगोपांगनामलाभावष्टम्भात् स्पृशति अनेनेति स्पर्शनं, स्पृशतीति स्पर्शनं। स्पृश्यते इति स्पर्शो वस्तु।

यद्येवं सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शव्यवहारो न प्राप्नोति ?

नैतत्, सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु अस्ति स्पर्शः, स्थूलेषु तत्कार्येषु तद्दर्शनान्यथानुपपत्तेः। न हि अत्यन्तासतां प्रादुर्भावोऽस्ति, अतिप्रसंगात्। किंतु इन्द्रियग्रहणयोग्या ते परमाण्वादयो न भवन्ति।

ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः जीवाः सन्ति। स्पर्शनेन्द्रियवन्तः एते इति प्रतिपादकार्षोपलम्भात्। क्व तत्सूत्रमिति चेत् ? कथ्यते —

जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पासिंदिएण एक्केण।

कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एइंदिओ तेण।^१

यः कश्चित् जीवः एकेन स्पर्शनेन्द्रियेण जानाति पश्यति भुनक्ति सेवते तस्य स्वामित्वं च करोति तेनासौ एकेन्द्रियः स्थावरः जीवः कथ्यते। एषां जीवानां वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये चैकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति।

उस इंद्रिय की अपेक्षा अनुवाद अर्थात् आगमानुकूल कथन किया जाता है उसे इंद्रियानुवाद कहते हैं। उसकी अपेक्षा एक इंद्रिय जीव हैं। जिनके एक ही इंद्रिय पाई जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा आंगोपांग नामकर्म के उदयरूप आलम्बन से जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शन इंद्रिय कहते हैं। जो स्पर्श करता है उसे स्पर्शन इंद्रिय कहते हैं, जो स्पर्शित है — स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श वस्तुरूप है।

शंका — यदि ऐसा है तो सूक्ष्म परमाणु आदि में स्पर्श व्यवहार नहीं बन सकता है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म परमाणु आदि में स्पर्श है अन्यथा परमाणुओं के कार्यरूप स्थूल पदार्थों में स्पर्श की उपलब्धि नहीं हो सकती थी। किन्तु स्थूल पदार्थों में स्पर्श पाया जाता है इसलिए सूक्ष्म परमाणुओं में भी स्पर्श की सिद्धि होती है क्योंकि न्याय का यह सिद्धान्त है कि जो अत्यंत (सर्वथा) असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि सर्वथा असत् की उत्पत्ति मानी जावे तो अतिप्रसंग हो जाएगा। इसलिए यह समझना चाहिए कि परमाणुओं में स्पर्शादिक पाये तो अवश्य जाते हैं किन्तु वे इंद्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं।

वे एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति पाँच भेद रूप होते हैं। ये पाँचों एकेन्द्रिय जीव एक स्पर्शन इंद्रिय वाले होते हैं इस प्रकार कथन करने वाला आर्ष वचन पाया जाता है।

यह सूत्रवचन कहाँ पाया जाता है ? तो इसका उत्तर कहते हैं —

गाथार्थ — स्थावर जीव एक स्पर्शन इंद्रिय के द्वारा ही जानता है, देखता है, भोगता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है इसलिए उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है।

जो कोई जीव एक स्पर्शन इंद्रिय के द्वारा जानता है, देखता है, भोगता है, सेवन करता है और उसका स्वामित्व करता है वह एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा जाता है। इन जीवों के वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण

द्वे स्पर्शनरसने इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः, शंखशुक्तिकृम्यादयः।

उक्तं च —

कुक्खि-किमि-सिंपि-संखा गंडूडारिट्ठ-अक्ख-खुल्ला य।

तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे।^१

कुक्षौ कृमयः—चैतद्व्रणादिकृमीणां। शंखः प्रसिद्धः। खुल्लय-क्षुल्लकाः—क्षुद्रकाः वा प्रसिद्धाः एव बाला यैः कपर्दकैरिव क्रीडन्ते। वराडय-वराटकाः कपर्दकाः। अक्खमहांतो-कपर्दकाः, रिट्ठय-बालशरीरसमुद्भववास्तंतुसमानाः जीवविशेषाः। गंडवाल-सुप्रसिद्धः। संबूय-लघुशंखः, सिंपि-सुप्रसिद्धाः। पुलवि-जलौकाः^२।

रसयत्यनेनेतिरसनं, रसयतीति रसनं, वस्तुविषयविवक्षायां रस्यते इति रसः, रसनं रसः इति। न सूक्ष्मेषु परमाण्वादेषु रसाभावः, उक्तोत्तरत्वात्।

द्वीन्द्रियजीवानां वीर्यातरायस्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपांगनामलाभावष्टम्भे द्वीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनेन्द्रिये आविर्भवतः^३।

त्रीणि इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणानि येषां ते त्रीन्द्रियाः, कुंथुमत्कुणादयः।

का क्षयोपशम होने पर शेष इंद्रियों के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय होने पर और एकेन्द्रियजातिनामकर्म के उदय के वशवर्ती होने पर स्पर्शन नामकी एक इंद्रिय प्रगट होती है।

स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियाँ जिनके होती हैं वे शंख, शुक्ति और कृमि आदि द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — कुक्षि — कृमि, सीप, शंख, गण्डोला, अरिष्ट, अक्ष, क्षुद्रक (छोटा शंख) और कौड़ी आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं।

घाव आदि में हो जाने वाले या पेट में रहने वाले छोटे-छोटे कीड़ों को 'कृमि' कहते हैं। शंख तो प्रसिद्ध है। क्षुल्लक भी प्रसिद्ध ही है — बच्चे जिन छोटी कौड़ियों से खेलते हैं उनको क्षुद्रक कहते हैं। वराटक कौड़ी को कहते हैं। अक्षमहन्तक भी कौड़ी का ही एक अपरनाम है। बच्चों के शरीर में उत्पन्न होने वाले तंतु के समान जीव विशेष को अरिष्ट कहते हैं। गंडवाल — गंडोलक (केचुवा) सुप्रसिद्ध है — पेट में होने वाली बड़ी कृमि गण्डोलक कहलाती है। लघुकाय शंख को संबूक कहते हैं, सीप एक जीव का कलेवर है। जल में रहने वाले एक जलचर जीव को पुलवि (जोंक) कहते हैं।

जिसके द्वारा स्वाद का ग्रहण होता है उसे रसना कहते हैं। जो आस्वाद ग्रहण करती है उसको रसना कहते हैं। वस्तु के विषय की विवक्षा होने पर जिसका स्वाद लिया जाता है वह रस कहलाता है अथवा आस्वादनरूप क्रिया धर्म को रस कहते हैं। सूक्ष्म परमाणु आदि में रस का अभाव हो जाएगा, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इसका उत्तर पहले दे आए हैं।

द्वीन्द्रिय जीवों के वीर्यातराय और स्पर्शन-रसना इंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर शेष इंद्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने पर आंगोपांग नामकर्म के आलम्बन होने पर तथा द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म के उदय की वशवर्तिता होने पर स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इंद्रियाँ होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे — कुन्थु, खटमल आदि। कहा भी है —

१. षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित), पुस्तक १, पृ. २४२। २. यह प्रकरण प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी से लिया है।

३. धवला पुस्तक १, पृ. २४४।

उक्तं च —

कुंथु-पिपीलिक-मंकुण-विच्छिअ-जू इंदगोव-गोम्ही य।

उत्तिंगणट्टियादी पोया तीइंदिया जीवा^१।।

कुंथु-सूक्ष्मो जंतुः, पिपीलिकाः, मत्कुणाः-यूकाः, वृश्चिकाः, गोंभिकाः, इंद्रगोपकाश्च प्रसिद्धा एव। गोम्ही-‘कनखजूरा’ इति यावत् उत्तिंग-गर्दभाकारः कीटविशेषः, तथा णट्टियादि-नट्टियादि-कीटविशेषः, इमे त्रीन्द्रियाः जीवाः सन्ति।

जिघ्रत्यनेनात्मा इति घ्राणं। जिघ्रतीति घ्राणं। कोऽस्य विषयः ? गंधः। गन्ध्यते इति गन्धो वस्तु, गंधनं गंधः इति। त्रीन्द्रियजीवानां वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणेंद्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये चांगोपांगनामलाभावष्टम्भे त्रीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शन-रसन-घ्राणेंद्रियाण्याविर्भवन्ति।

चत्वारि इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुषि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। मशकमक्षिकादयः।

उक्तं च —

मक्कडय-भमर-महुवर-मसय-पदंगा य सलह-गोमच्छी।

मच्छी सदंस कीडा पोया चउरिंदिया जीवा^२।।

मर्कटिका-भ्रमर-मधुकर-मशक-पतंगाः च शलभ-गोमच्छिका, मच्छिका-दंशाः, कीटशब्देन गोमयकीटरक्तकीटार्ककीटादयः चतुरिन्द्रियविशेषाः गृह्यन्ते।

चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः। चष्टे इति चक्षुः। कोऽस्य विषयश्चेद् वर्णः। वर्ण्यते इति वर्णः, वर्णनं वर्णः इति वा। चतुरिन्द्रियजीवानां वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधाति-

गाथार्थ — कुंथु, पिपीलिका (चींटी), खटमल, बिच्छू, जू, इंद्रगोप, कनखजूरा, गर्दभाकार कीटविशेष तथा नट्टियादिक कीटविशेष इन सबको तीन इंद्रिय जीव जानना चाहिए।

जिसके द्वारा सूँघा जाता है उसे घ्राण इंद्रिय कहते हैं अथवा जो सूँघता है उसे घ्राण इंद्रिय कहते हैं। इस इंद्रिय का विषय क्या है ? ‘गन्ध’ इसका विषय है। जो गंध प्रदान करती है वह वस्तु गंध कहलाती है। अथवा गन्धन मात्र को गंध कहते हैं। तीन इंद्रिय जीवों के वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण इंद्रियावरण का क्षयोपशम होने पर तथा शेष इंद्रियावरण से सर्वधाति स्पर्धकों का उदय होने पर एवं आंगोपांग नामकर्म के उदय के आलम्बन से त्रीन्द्रियजातिनामकर्म के उदय की वशवर्तिता होने पर स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इंद्रियाँ प्रगत होती हैं।

जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु ये चार इंद्रियाँ होती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे — मच्छर, मक्खी आदि। कहा भी है —

गाथार्थ — मकड़ी, भौरा, मधुमक्खी, मच्छर, पतंग, शलभ, गोमक्खी, मक्खी, डंक वाले कीड़े आदि चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

जिसके द्वारा पदार्थों को देखा जाता है उसे चक्षु कहते हैं। जो देखता है वह चक्षु है। इस चक्षु इंद्रिय का विषय क्या है ? इसका विषय वर्ण है। जो देखा जाए उसे वर्ण कहते हैं अथवा देखनेरूप धर्म को वर्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति है।

चतुरिन्द्रिय जीवों के वीर्यान्तरायकर्म और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर, शेष इंद्रियावरण कर्म के सर्वधातिस्पर्धकों का उदय होने पर और आंगोपांग नामकर्म के उदय का

स्पर्धकोदये चांगोपांगनामलाभावष्टम्भे चतुरिन्द्रिय-जातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां चतुर्णामिन्द्रियाणामा-
विर्भावो भवेत्।

पंच इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि येषां ते पंचेन्द्रियाः। ते जरायुजाण्डजादयः।

उक्तं च —

संसेदिम-सम्मूर्च्छिम-उब्भेदिम-ओववादिया चेव।

रस-पोतंडज-जरजणेया पंचिंदिया जीवा^१॥

संस्वेदः प्रस्वेदः तत्र भवाः संस्वेदिमाः, समंततः पुद्गलानां मूर्च्छनं संघातीभवनं संमूर्च्छः तत्र भवाः
सम्मूर्च्छिमाः, उद्भेदनमुद्भेदः भूकाष्ठपाषाणादिकं भित्त्वोर्ध्वं निःसरणं, स येषामस्ति ते उद्भेदिमाः।
उपेत्य गत्वोपपद्यते जायतेऽस्मिन् इत्युपपादो देवनारकाणां जन्मस्थानं तत्र भवाः उपपादिमाः, रसो घृतादिः,
सप्तधातूनां प्रथमो धातुर्वा, स येषामस्ति ते रसायिकाः। पोतो मार्जारादिगर्भविशेषः, स येषामस्ति ते
पोतायिकाः। नखत्वक्सदृशमुपात्तकाठिन्यं शुक्रशोणितपरिवरणं परिमंडलमंडं, स येषामस्ति ते अंडायिकाः
अंडजाः वा। जालवत् प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं जरायुः, स येषामस्ति ते जरायिकाः जरजा वा,

आलम्बन एवं चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म की वशवर्तिता होने पर चार इंद्रियों की उत्पत्ति होती है।

जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इंद्रियाँ होती हैं वे पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। वे
जरायुज, अण्डज आदि जीव हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भेदिम, औपपादिक, रसज, पोत, अंडज, जरायुज ये सब पंचेन्द्रिय
जीव जानना चाहिए।

प्रस्वेद — पसीने में उत्पन्न होने वाले जीव संस्वेदिम कहलाते हैं, चारों ओर से पुद्गलों का मूर्च्छन अर्थात्
संघात — एकत्रीकरण का होना सम्मूर्च्छ है और उस सम्मूर्च्छ से उत्पन्न होने वाले जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं।

पृथ्वी, काष्ठ, पाषाण आदि का भेदन करके ऊपर की ओर निःसरण — निकलना उद्भेद कहा जाता है।
वह उद्भेद है जिन जीवों के ऐसे वे उद्भेदिम कहलाते हैं।

उपेत्य — आकरके यह जीव जिसमें उत्पन्न होता है वह उपपाद है, देव और नारकियों के जन्मस्थान
को वह उपपाद संज्ञा प्राप्त है। उस उपपाद में जन्म लेने वाले जीव उपपादिम कहलाते हैं।

घृत — घी (घी, तेल आदि) रस कहलाते हैं अथवा सात धातुओं में से प्रथम धातु भी रस है, उस रस
में जो जीव पैदा हो जाते हैं वे रसायिक कहलाते हैं। बिल्ली आदि के गर्भ विशेष को पोत कहते हैं वह पोत
जन्म जिनके होता है वे पोतायिक कहे जाते हैं।

नख — नाखून की त्वक् — त्वचा के समान ग्रहण किए गए काठिन्य — कठोरपने तथा शुक्र, शोणित
से युक्त परिमंडल — गोलाकार को अण्ड कहते हैं उस अण्ड से जिसका जन्म होता है वे अंडायिक अथवा
अंडज जीव कहलाते हैं।

जाल के सदृश माँस और शोणित के समूह से प्राणियों के ऊपर जो आवरण होता है उसे जरायु कहते हैं वह
जरायु जिनके होता है वे जीव जरायिक अथवा जरज कहलाते हैं। ये सभी भेद पंचेन्द्रिय जीवों के होते हैं।

इमे पंचेन्द्रियाः सन्ति। इमानि स्पर्शनादीनि करणसाधनानि। कुतः पारतन्त्र्यात्। इन्द्रियाणां हि लोके दृश्यते च पारतन्त्र्यविवक्षा आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायां, अनेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति। ततो वीर्यान्तरायश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमांगोपांगनामलाभावष्टम्भाच्छृणोत्यनेनेति श्रोत्रं। कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायां। दृश्यते च इन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति शृणोतीति श्रोत्रम्।

कोऽस्य विषयः ?

शब्दः। यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य युज्यते इति, शब्दते इति शब्दः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद् भावसाधनः शब्दः, शब्दनं शब्दः इति।

कुत एतेषामाविर्भावः इति चेत् ?

वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति अंगोपांगनामलाभावष्टम्भे पंचेन्द्रियजाति-कर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां पंचानामिन्द्रियाणां आविर्भावो भवेत्।

नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानम्, “एकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रिया भवन्ति” इति भावसूत्रेण सह विरोधात्। ततः एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः द्वीन्द्रियादिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियादयः एषोऽर्थोऽत्र प्रधानं, निरवद्यत्वात्।

ये स्पर्शन आदि इंद्रियाँ करणरूप से साधन हैं। कैसे ? क्योंकि वे परतंत्र देखी जाती हैं। लोक में आत्मा की स्वातंत्र्यविवक्षा होने पर इंद्रियों की पारतंत्र्यविवक्षा देखी जाती है। जैसे — मैं इस आँख से अच्छी तरह देखता हूँ, इस कान से मैं अच्छी तरह सुनता हूँ। इसलिए वीर्यान्तराय और श्रोत्र इंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर, आंगोपांग नामकर्म के आलम्बन से जिसके द्वारा सुना जाता है उसे श्रोत्र इंद्रिय कहते हैं। तथा स्वातंत्र्यविवक्षा में कर्तृसाधन होता है क्योंकि लोक में इंद्रियों की स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है। जैसे — मेरी यह आँख अच्छी तरह देखती है, मेरा यह कान अच्छी तरह सुनता है इसलिए पहले कहे गये हेतुओं के मिलने पर जो सुनती है उसे श्रोत्र इंद्रिय कहते हैं।

शंका — इसका विषय क्या है ?

समाधान — शब्द इसका विषय है। जिस समय प्रधानरूप से द्रव्य विवक्षित होता है उस समय इंद्रियों के द्वारा द्रव्य का ही ग्रहण होता है। उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई चीज नहीं है। इस विवक्षा में शब्द के कर्मसाधनपना बन जाता है। जैसे — ‘शब्दते’ अर्थात् जो ध्वनिरूप हो वह शब्द है। जिस समय प्रधानरूप से पर्याय विवक्षित होती है उस समय द्रव्य से पर्याय का भेद सिद्ध हो जाता है अतएव उदासीनरूप से अवस्थित भाव का कथन किया जाने से शब्द भावसाधन भी है जैसे — ‘शब्दनम् शब्दः’ अर्थात् ध्वनिरूप क्रियाधर्म को शब्द कहते हैं।

इन पाँचों इंद्रियों की उत्पत्ति कैसे होती है ?

वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर, आंगोपांग नामकर्म के आलम्बन होने पर तथा पंचेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय की वशवर्तिता होने पर पाँचों इंद्रियों की उत्पत्ति होती है।

यहाँ इस व्याख्यान की प्रधानता नहीं है क्योंकि “एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीव होते हैं” इस भावानुगम के सूत्र के साथ पूर्वोक्त कथन का विरोध आता है। इसलिए एकेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जातिनामकर्म के उदय से द्वीन्द्रियादि जीव उत्पन्न होते हैं यही अर्थ यहाँ पर प्रधान है क्योंकि यह कथन निर्दोष है।

अधुना इन्द्रियातीतजीवानां व्याख्यानं क्रियते —

न सन्तीन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः। के ते ? अशरीराः सिद्धाः।

उक्तं च —

णवि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहि गाहया अत्थे।

णेव य इंदिय-सोक्खा अणिंदियाणंत-णाण-सुहा।^१

ये जीवा नियमेन इन्द्रियकरणैः-उन्मीलनादिव्यापारैः युताः न सन्ति। तथा च अवग्रहादिभिः-क्षायोपशमिकज्ञानैरर्थग्राहकाः न भवन्ति, पुनः इन्द्रियविषयसंश्लेषजनितसुखयुता नैव सन्ति ते जिनसिद्धनामानो जीवा अनिन्द्रियानन्तज्ञानसुखकलिता भवन्ति। कस्मात् ? तज्ज्ञानसुखयोः शुद्धात्मस्वरूपोपलब्ध्युत्पन्नत्वात् इति।^२

अत्र कश्चित् शङ्कते —

तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियस्य उपयोगस्य सत्त्वात् ते सिद्धाः सेन्द्रियाः इति ?

तस्य समाधानं क्रियते — नैतत् कथयितव्यं, किंच, क्षयोपशमजनितस्य उपयोगस्य इन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति, तस्य क्षयोपशमस्य क्षायिकभावेन अपसारितत्वात्।

अतः सिद्धपरमेष्ठिनोऽतीन्द्रिया एव, ततोऽस्माभिरपि पंचेन्द्रियनिरोधव्रतैरतीन्द्रियदस्य प्राप्त्यर्थं प्रयत्नं कर्तव्यः। संप्रति एकेन्द्रियभेदानां प्रतिपादनार्थं उत्तरसूत्रावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदंतभट्टारकेन —

अब इन्द्रियातीत जीवों का व्याख्यान किया जाता है —

जिनके इन्द्रियाँ नहीं पाई जाती हैं उन्हें अनिन्द्रिय जीव कहते हैं।

वे कौन हैं ? शरीर रहित सिद्ध अनिन्द्रिय हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — जो इन्द्रियों के करण — व्यापार से युक्त नहीं हैं, अवग्रह आदिक ज्ञान के द्वारा पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं, जिनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है उनका अनंत ज्ञान और सुख अनिन्द्रिय कहलाता है।

जो जीव नियम से इन्द्रिय व्यापार — नेत्र खोलना-बंद करना आदि व्यापाररूप क्रियाओं से युक्त नहीं हैं तथा अवग्रहादि क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं, पुनः इन्द्रियविषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न सुख से युक्त भी नहीं हैं वे अरहंत और सिद्ध नाम वाले जीव अनिन्द्रिय, अनंतज्ञान, अनंतसुख से सहित होते हैं। क्यों ? क्योंकि शुद्धात्मा के स्वरूप की उपलब्धि होने पर वह अनंतज्ञान और अनंतसुख प्रगट होता है।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

उन सिद्धों में भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है इसलिए वे इन्द्रियसहित हैं ?

आचार्यदेव इसका समाधान करते हैं कि —

ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि क्षयोपशम से उत्पन्न हुए उपयोग को इन्द्रिय कहते हैं परन्तु जिनके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं ऐसे सिद्धों में क्षयोपशम नहीं पाया जाता है क्योंकि वह क्षायिक भाव के द्वारा दूर कर दिया जाता है।

अतः सिद्धपरमेष्ठी अतीन्द्रिय ही हैं, इसलिए हम लोगों को भी पाँचों इन्द्रियों के निरोधरूप महाव्रतों के द्वारा अतीन्द्रिय पद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अब एकेन्द्रिय जीवों के भेदों का प्रतिपादन करते हुए श्रीपुष्पदंत आचार्य भट्टारक उत्तरसूत्र का अवतार करते हैं —

**एइंदिया दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता।
सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता।।३४।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एइंदिया दुविहा, बादरा सुहुमा—एकेन्द्रियाः द्विविधाः—बादराः सूक्ष्मा इति। तत्र मूर्तैरन्यैः प्रतिहन्यमानशरीरनिर्वृत्तको बादरकर्मोदयः, बादरकर्मोदयवन्तो जीवाः बादराः। अप्रतिहन्यमान-शरीरनिर्वृत्तकः सूक्ष्मकर्मोदयः, सूक्ष्मकर्मोदयवन्तो जीवाः सूक्ष्माः इति।

चक्षुर्ग्राह्या बादरा अचक्षुर्ग्राह्याः सूक्ष्मा भवन्ति इति ?

नैतत् वक्तव्यं, बादरा अपि अचक्षुर्ग्राह्या भवन्ति, अवगाहनापेक्षयापि क्वचित् क्वचित् सूक्ष्मजीवात् बादरजीवावगाहना हीना श्रूयते।

उक्तं च —

“बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। सुहुमणिगोदपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा।”

अतः परैर्मूर्तद्रव्यैरप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वृत्तकं सूक्ष्मकर्म। तद्विपरीतशरीरनिर्वृत्तकं बादरकर्मैति स्थितम्। तत्र बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता—बादराः द्विविधाः पर्याप्ताः अपर्याप्ताः। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता—सूक्ष्माः द्विविधाः पर्याप्ताः अपर्याप्ताः इति। पर्याप्तकर्मोदयवन्तः पर्याप्तः, तद्विपरीतोऽपर्याप्तः।

सूत्रार्थ —

एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर एकेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।।३४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं — बादर और सूक्ष्म। उनमें से बादरनामकर्म का उदय दूसरे मूर्त पदार्थों से आघात करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है। जिन जीवों के बादर नामकर्म का उदय पाया जाता है वे बादर हैं।

सूक्ष्मनामकर्म का उदय दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है और जिनके सूक्ष्मनामकर्म का उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म हैं ऐसा सिद्ध हो जाता है।

शंका — चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पदार्थ बादर होते हैं और चक्षु के द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य पदार्थ सूक्ष्म होते हैं ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना क्योंकि कुछ बादर पदार्थ भी ऐसे होते हैं जो चक्षु के द्वारा ग्रहण नहीं किए जा सकते हैं, अवगाहना की अपेक्षा भी कहीं-कहीं सूक्ष्म जीवों से बादर जीवों की अवगाहना हीन देखी जाती है।

कहा भी है — दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है। इनसे सूक्ष्मनिगोदिया पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है।

इस कथन से यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थों से प्रतिघात नहीं होता है ऐसे शरीर को निर्माण करने वाला सूक्ष्म नामकर्म है और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थों के प्रतिघात को प्राप्त होने वाले शरीर को निर्माण करने वाला बादर नामकर्म है। इनमें से बादर के दो भेद हैं — पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म जीव के भी दो भेद हैं — पर्याप्त और अपर्याप्त। उनमें से जो पर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त हैं उन्हें पर्याप्त कहते हैं एवं इससे विपरीत अर्थात् अपर्याप्त नामकर्म के उदय से सहित जीव अपर्याप्त कहलाते हैं।

पर्याप्तकर्मोदयवतामनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटते इति चेत् ? न, नियमेन शरीरनिष्पाद-
कानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्तनामकर्मोदयसहचाराद्वा।

यदि पर्याप्तशब्दो निष्पत्तिवाचकः, कैस्ते निष्पन्नाः ? इति चेत्।

पर्याप्तिभिः निष्पन्नाः ते जीवाः, ताः पर्याप्तयः सामान्येन षट् भवन्ति-आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः
इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिः इति।

तत्राहारपर्याप्तेरर्थ उच्यते — शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धः
समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्धसंबन्धतो मूर्तीभूतमात्मानं समवेतत्वेन
समाश्रयन्ति। तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः।
सा च नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समयनैकेनैवोपजायते, आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावात्। शरीरोपादान-
प्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिर्निष्पद्यत इति यावत्। तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावय-
वैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणमनशक्त्युपेतानां
स्कन्धानामवाप्तिः शरीरपर्याप्तिः। साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते। योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थ-
ग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः। सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। न

शंका — पर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तब तक
उनमें पर्याप्त संज्ञा कैसे घटित हो सकती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि नियम से शरीर को उत्पन्न करने वाले जीवों के होने वाले कार्य में यह कार्य
हो गया, इस प्रकार उपचार कर लेने से पर्याप्त संज्ञा करने में कोई विरोध नहीं आता है अथवा पर्याप्त
नामकर्म के उदय से युक्त होने के कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है।

यदि पर्याप्त शब्द निष्पत्तिवाचक है तो यह बतलाइए कि ये पर्याप्त जीव किनसे निष्पन्न होते हैं ?

वे जीव पर्याप्तियों से निष्पन्न होते हैं। वे पर्याप्तियाँ सामान्य से छह प्रकार की होती हैं — आहार
पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इंद्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति।

इनमें से सर्वप्रथम आहारपर्याप्ति का अर्थ कहते हैं —

शरीर नामकर्म के उदय से जो परस्पर अनंत परमाणुओं के संबंध से उत्पन्न हुए हैं और जो आत्मा से व्याप्त
आकाश क्षेत्र में स्थित हैं ऐसे पुद्गलविपाकी आहारवर्गणासंबन्धी पुद्गलस्कन्ध, कर्मस्कन्ध से संबंध से कथंचित्
मूर्तपने को प्राप्त हुए आत्मा के साथ समवायरूप से संबंध को प्राप्त होते हैं, उनके खल और रसभाग पर्यायरूप
परिणमन करनेरूप शक्ति को निमित्तभूत आगत पुद्गलस्कन्धों की प्राप्ति को आहारपर्याप्ति कहते हैं। वह आहारपर्याप्ति
अंतर्मुहूर्त के बिना केवल एक समय में उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि आत्मा का एक साथ उस प्रकार का
परिणाम नहीं हो सकता है। शरीर को ग्रहण करने में प्रथम समय से लेकर एक अंतर्मुहूर्त में आहारपर्याप्ति निष्पन्न
होती है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। तिल की खली के समान उस खलभाग को हड्डी आदि कठिन अवयवरूप
से और तिल के तेल के समान रसभाग को रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव्य अवयवरूप से परिणमन करने वाले
औदारिक आदि तीन शरीरों की शक्ति से युक्त पुद्गलस्कन्धों की प्राप्ति को शरीरपर्याप्ति कहते हैं। वह शरीरपर्याप्ति
आहारपर्याप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती है। योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों के ग्रहण करने
रूप शक्ति की उत्पत्ति के निमित्तभूत पुद्गलप्रचय की प्राप्ति को इंद्रियपर्याप्ति कहते हैं। यह इंद्रियपर्याप्ति भी
शरीरपर्याप्ति के पश्चात् एक अंतर्मुहूर्त में पूर्ण होती है। परन्तु इंद्रियपर्याप्ति के पूर्ण हो जाने पर भी उसी समय बाह्य

चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषयविज्ञानमुत्पद्यते, तदा तदुपकरणाभावात्। उच्छ्वास-
निस्सारणशक्तेर्निष्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरानापानपर्याप्तिः। एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत्।
भाषावर्गणायाः स्कन्धानुचतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः।
एषापि पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः
मनःपर्याप्तिः। एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण, जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात्। निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण।
एतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः। इति संक्षेपेण ज्ञातव्यम्।

पर्याप्तिप्राणयोः को भेद ?

अनयोहिमवद्विध्ययोर्भेदोपलंभात्। यतः आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं
पर्याप्तिः। प्राणिति एभिरात्मेति प्राणाः, पंचेन्द्रियमनोवाक्कायानापानायुषि इति।

भवन्तु इन्द्रियायुष्कायाः प्राणव्यपदेशभाजः तेषां आजन्मनः आमरणात् भवधारणत्वेन उपलंभात्,
तत्रैकस्याप्यभावतोऽसुमतां मरणसंदर्शनाच्च। अपि तच्छ्वासमनोवचसां न प्राणव्यपदेशो युज्यते, तान्यन्तेरेणापि
अपर्याप्तावस्थायां जीवनोपलंभादिति चेत् ?

न, तैर्विना पश्चाज्जीवतामनुपलंभतस्तेषामपि प्राणत्वाविरोधात्।

उक्तं च —

पदार्थसंबन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है।
उच्छ्वास और निःश्वासरूप शक्ति की पूर्णता के निमित्तभूत पुद्गलप्रचय की प्राप्ति को श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते
हैं। यह पर्याप्ति भी इंद्रियपर्याप्ति के अनंतर एक अंतर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर पूर्ण होती है। भाषावर्गणा के
स्कन्धों के निमित्त से चार प्रकार की भाषारूप से परिणमन करने की शक्ति के निमित्तभूत नोकर्म पुद्गलप्रचय की
प्राप्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं। यह पर्याप्ति भी आनापान पर्याप्ति के पश्चात् एक अंतर्मुहूर्त में पूर्ण होती है।
अनुभूत अर्थ के स्मरणरूप शक्ति के निमित्तभूत मनोवर्गणा के स्कन्धों से निष्पन्न पुद्गलप्रचय को मनःपर्याप्ति कहते
हैं अथवा द्रव्यमन के आलम्बन से अनुभूत अर्थ के स्मरणरूप शक्ति की उत्पत्ति को मनःपर्याप्ति कहते हैं। इन
छहों पर्याप्तियों का प्रारंभ युगपत् होता है क्योंकि, जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु
पूर्णाता क्रम से होती है तथा इन पर्याप्तियों की अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं।

शंका — पर्याप्ति और प्राण में क्या भेद है ?

समाधान — इन दोनों में हिमवान् और विन्ध्याचल पर्वत के समान भेद पाया जाता है क्योंकि आहार,
शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन रूप शक्तियों की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं। और
जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। वे प्राण पाँच इंद्रिय, मन, वचन,
कायबल, आनापान, आयु के भेद से दश प्रकार के हैं।

शंका — पाँचों इंद्रियाँ, आयु और कायबल ये प्राणसंज्ञा को प्राप्त हों, क्योंकि वे जन्म से लेकर
मरण तक भव (पर्याय) को धारण करनेरूप से पाये जाते हैं और उनमें से किसी एक के अभाव होने पर
मरण भी देखा जाता है परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल इनको प्राणसंज्ञा नहीं दी जा सकती है
क्योंकि इनके बिना भी अपर्याप्त अवस्था में जीवन पाया जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल के बिना अपर्याप्त अवस्था के पश्चात् पर्याप्त
अवस्था में जीवन नहीं पाया जाता है इसलिए उन्हें प्राण मानने में कोई विरोध नहीं आता है।

कहा भी है —

बाहिरपाणेहि जहा तहेव अब्भंतरेहि पाणेहि।

जीवंति जेहि जीवा पाणा ते होंति बोद्धव्वा।^१

यैरभ्यन्तरैर्भावप्राणैः जीवाः जीवन्ति-जीवद्रव्यव्यवहारयोग्या भवन्ति, बाह्यैर्द्रव्यप्राणैरिव यथाशब्दस्य इवार्थवाचकत्वात्। ते आत्मनो धर्माः प्राणाः भवन्ति, इति निर्दिष्टाः। इति निर्वचनेनैव प्राणशब्दार्थस्य ज्ञातुं शक्यत्वात् तल्लक्षणं पृथक् नोक्तं। पौद्गलिकद्रव्येन्द्रियादिव्यापाररूपाः द्रव्यप्राणाः। तन्निमित्तभूत-ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमादिविजृम्भितचेतनव्यापाररूपा भावप्राणाः इति।

अथवा जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतवः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः।

अधुना एकेन्द्रियाणां भेदमभिधाय द्वीन्द्रियादिभेदप्रतिपादनार्थं उत्तरसूत्रावतारः क्रियते —

बीइंदिया दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। तीइंदिया दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। चउरिंदिया दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। पंचिंदिया दुविहा—सण्णी असण्णी। सण्णी दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। असण्णी दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि।।३५।।

गाथार्थ — जिस प्रकार बाह्य प्राणों से जीव जीते हैं उसी प्रकार आभ्यन्तर प्राणों से भी जिस जीव में जीवितपने का व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं।

जिन आभ्यन्तर प्राणों से जीव जीते हैं अर्थात् जीते हुए व्यवहार के योग्य होते हैं। बाह्य द्रव्य प्राणों के समान भाव प्राणों से जीते हैं। इसमें यथा शब्द इव — समान अर्थ का बोध कराता है जिसका तात्पर्य है कि बाह्य द्रव्य प्राणों के समान यह जीव आभ्यन्तर भाव प्राणों से जीता है। वे प्राण आत्मा के धर्म होते हैं ऐसा निर्देश किया है। इस निर्वचन के द्वारा ही 'प्राण' शब्द का अर्थ ज्ञात हो जाता है अतः उसका पृथक् लक्षण नहीं बतालाया है।

पौद्गलिक द्रव्येन्द्रिय व्यापाररूप द्रव्यप्राण हैं। उन द्रव्यप्राणों के निमित्तभूत ज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम आदि से विजृम्भित — सहित चेतन व्यापाररूप भावप्राण होते हैं।

अथवा जीवन के कारणपने की अपेक्षा न करके इंद्रियादिरूप शक्ति की पूर्णतामात्र को पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवन के कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों में भेद समझना चाहिए।

अब एकेन्द्रियों के भेद-प्रभेदों का कथन करने के बाद दो इंद्रिय आदिक जीवों के भेदों का कथन करने के लिए उत्तर सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। असंज्ञी जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक।।३५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — बीइंदिया दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता-द्वीन्द्रियाः द्विविधाः-पर्याप्ताः अपर्याप्ताः।
इत्यादिसूत्रस्यार्थः सरलं वर्तते।

एतावन्त्येवेन्द्रियाणि इति कथमवगम्यते इति चेत् ?

न, आर्षात्तदवगतेः।

किं तदार्षमिति चेत् ?

उच्यते—

एइंदियस्स फुसणं एक्कं चिय होइ सेसजीवाणं।

होति कम-वड्डियाइं जिब्भा-घ्राणक्खि-सोत्ताइं।^१

पुनश्च-पंचिंदिया दुविहा-सण्णी असण्णी। पंचेन्द्रियाः द्विविधाः-संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च। समनस्काः संज्ञिनः
अमनस्काः असंज्ञिनः इति। मनो द्विविधं-द्रव्यमनोभावमनः इति। तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः।
वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षात्मनो विशुद्धिर्भावमनः इति।

इमे द्वीन्द्रियादयो जीवाः पर्याप्ताः अपर्याप्ताश्च भवन्ति।

तात्पर्यमेतत् — एकेन्द्रियजीवो बादरः सूक्ष्मः, द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियः, पंचेन्द्रियजीवो द्विविधः
संज्ञी असंज्ञी च। इमे सर्वे पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति जीवसमासाः चतुर्दश भवन्ति।

एवं प्रथमस्थले एकेन्द्रियादिजीवानां भेदप्रभेदकथनत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

अत्र श्रीमहावीरजीअतिशयक्षेत्रे श्रीशान्तिवीरनगरे भगवतः श्रीशान्तिनाथस्य उत्तुंगप्रतिमायाः

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — द्वीन्द्रिय जीव के दो भेद हैं — पर्याप्तक और अपर्याप्तक। इत्यादि इस
सूत्र का अर्थ सरल है।

शंका — इस जीव के इतनी ही इंद्रियाँ होती हैं, यह कैसे जाना ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि आर्ष से इस बात को जाना गया है।

वह आर्ष आगम कौन-सा है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं —

गाथार्थ — एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है और शेष जीवों के क्रम से बढ़ती हुई
जिह्वा, घ्राण, अक्षि और श्रोत्र इंद्रियाँ होती हैं।

पुनः पञ्चेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं — संज्ञी और असंज्ञी। मन सहित जीव संज्ञी कहलाते हैं और
मनरहित जीव असंज्ञी कहे जाते हैं। मन के दो भेद हैं — द्रव्यमन और भावमन। उनमें से पुद्गलविपाकी
कर्मोदय की अपेक्षा द्रव्यमन होता है और वीर्यान्तराय तथा नोइंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा
आत्मा की विशुद्धि का नाम भावमन है ऐसा अभिप्राय हुआ।

ये द्वीन्द्रिय आदि सभी जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं।

तात्पर्य यह है कि एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं पुनः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,
चतुरिन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय ये सब सात भेद हुए, इन सातों को पर्याप्तक और अपर्याप्तक
से गुणा करने पर चौदह जीवसमास होते हैं।

इस प्रकार प्रथमस्थल में एकेन्द्रियादि जीवों के भेद-प्रभेद कथन की मुख्यता से तीन सूत्र पूर्ण हुए।

यहाँ श्रीमहावीरजी अतिशयक्षेत्र में श्रीशान्तिवीरनगर में भगवान् शान्तिनाथ की पच्चीस फुट उत्तुंग प्रतिमा

(२५ फुटोत्तुंगप्रतिमायाः) महामस्तकाभिषेककाले मन्दारसिद्धार्थवृक्षस्य निर्माणस्य घोषणा कृता मया। तस्य सिद्धार्थवृक्षस्य मूले चतुर्दिक्षु स्थापयिष्यमाणाः सिद्धप्रतिमाः मह्यं चतुर्विधसंघस्य सर्वभाक्तिकानां च सिद्धिं प्रयच्छन्तु, सर्वत्र क्षेमं सुभिक्षं शान्तिं च कुर्वन्तु इति भावयामहे।*

संप्रति इन्द्रियेषु गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिणाणे।।३६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एइंदिया इत्यादि—एकेन्द्रियाः द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः असंज्ञिपंचेन्द्रियाः एकस्मिन् मिथ्यादृष्टिस्थाने चैव भवन्ति।

एकेन्द्रियेषु सासादनगुणस्थानमपि श्रूयते तत्कथं घटते ?

नैतत्, अस्मिन् षट्खण्डागमसूत्रे तस्य निषेधत्वात्।

विरुद्धार्थयोर्द्वयोरपि कथं सूत्रत्वं ?

नैतत्, द्वयोः एकतरस्य सूत्रत्वात्।

द्वयोर्मध्ये इदं सूत्रमिदं च न भवतीति कथं ज्ञायते ?

उपदेशमन्तरेण तदवगमाभावात् अतः द्वयोरपि संग्रहः कर्तव्यः।

द्वयोः संग्रहं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः भवति इति ?

के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर मैंने वहाँ मंदारसिद्धार्थवृक्ष के निर्माण की घोषणा की। उस सिद्धार्थवृक्ष के मूल के चारों दिशाओं में स्थापित होने वाली सिद्धप्रतिमाएँ मुझे, चतुर्विध संघ को तथा समस्त भाक्तिकों को सिद्धि प्रदान करें एवं सर्वत्र क्षेम, सुभिक्ष और शांति की स्थापना करें ऐसी हमारी भावना है।

अब इंद्रियों में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं।।३६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव एकमात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं।

शंका—एकेन्द्रिय जीवों में सासादनगुणस्थान भी सुना जाता है वह कैसे घटित होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना क्योंकि इस षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ में उसका निषेध है अर्थात् इसमें एकेन्द्रिय जीव के सासादन गुणस्थान नहीं माना है।

शंका—तब तो दो विरोधी अर्थ को कहने वाले ग्रंथों को सूत्रपना कैसे प्राप्त होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, दोनों में से कोई एक में ही सूत्रपना सिद्ध होगा क्योंकि कोई एक कथन ही सत्य हो सकता है।

शंका—दो कथन में से 'यह सूत्र है' और 'यह सूत्र नहीं है' ऐसा कैसे जाना जावे ?

समाधान—सर्वज्ञदेव के उपदेश के बिना इसकी सत्यता का ज्ञान नहीं हो सकता है अतः दोनों

* मांगीतुंगी यात्रा के मध्य २१-१-१९९६ को शांतिवीरनगर श्री महावीर जी में मंदारवृक्ष निर्माण की घोषणा की गई। श्री प्रेमचंद जैन, दिल्ली (खारीबावली) ने इसका निर्माण कराया है।

तन्न, सूत्रोद्दिष्टमेवास्ति श्रद्धानस्य संदेहाभावात्।

उक्तं च —

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सदहदि।

सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो।।^१

तथा असदर्थश्रद्धानः कश्चित् आज्ञासम्यग्दृष्टिर्जीवोऽन्यैः कैश्चित्कुशलाचार्यैः गणधरादिकथितसूत्रं दर्शयित्वा सम्यक् प्ररूप्यते तथापि यद् दुराग्रहनिमित्तेन न श्रद्धाति तदा प्रभृति स जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति, सूत्राश्रद्धानेन आज्ञातिक्रमस्य सुप्रसिद्धत्वादेव कारणात्।

तात्पर्यमेतत् — कषायप्राभृतकारेण एकेन्द्रियादि असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यतेषु जीवेषु अपर्याप्तावस्थायां द्वितीयगुणस्थानं मन्यते न च षट्खंडागमसूत्रकाराभ्यामिति। तथापि द्वयोरपि ग्रन्थयोः सूत्रत्वं न विरुध्यते, संप्रतिकाले केवलश्रुतकेवलिभगवतां अभावात् अतः द्वयोर्ग्रन्थयोरपि श्रद्धानं कर्तव्यम् भवद्भिः भव्योत्तमैरिति।

एतस्मात् सूत्रात् अर्थापत्त्या एतज्ज्ञायते यत् संज्ञिपंचेन्द्रियेषु चतुर्दशगुणस्थानानि भवन्तीति चापि ज्ञातव्यम्।

अधुना पंचेन्द्रियजीवेषु गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

कथनों का संग्रह करना चाहिए।

शंका — दोनों का संग्रह करके तो मिथ्यादृष्टि हो जाएंगे ?

समाधान — ऐसा नहीं है क्योंकि संग्रह करने वाले के “यह सूत्र कथित ही है” इस प्रकार का श्रद्धान पाया जाता है अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है। कहा भी है —

गाथार्थ — सूत्रादि को दिखाने पर भी यदि कोई जीव उसका श्रद्धान नहीं करता है तो जीव उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

तथा असत् — गलत अर्थ का श्रद्धान करने वाला कोई आज्ञा सम्यग्दृष्टि जीव अन्य किन्हीं कुशल — ज्ञानी आचार्यों के द्वारा, गणधरादि के द्वारा कथित सूत्र को दिखाकर उसका सम्यक् प्ररूपण किया जाता है, फिर भी जो दुराग्रह के निमित्त से उस पर श्रद्धान नहीं करता है तब वह जीव उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि सूत्र पर अश्रद्धान करने से सर्वज्ञदेव की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला वह प्रसिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि कषायप्राभृत ग्रंथ के रचयिता श्री गुणधर आचार्य ने एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त जीवों में अपर्याप्त अवस्था में द्वितीय सासादन गुणस्थान माना है और षट्खंडागम सूत्र ग्रंथ के रचयिता श्री पुष्पदंत-भूतबली आचार्य ने इसे नहीं माना है। फिर भी दोनों के ग्रंथों में भी सूत्रपने का विरोध नहीं है। आज वर्तमान काल में केवली-श्रुतकेवली भगवान् का अभाव है अतः आप भव्योत्तमों को दोनों ही ग्रंथों का श्रद्धान करना चाहिए।

इस सूत्र से अर्थापत्ति के द्वारा यह ज्ञात होता है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में चौदह गुणस्थान होते हैं यह भी जानना चाहिए।

अब पंचेन्द्रिय जीवों में गुणस्थानव्यवस्था बतलाने हेतु सूत्र का अवतार करते हैं —

१. ‘जीवो तदो पहुडि’ इति पाठभेदः गोम्मटसारजीवकांडे।

पंचिंदिया असण्णिपंचिंदिय-पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।।३७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पंचिंदिया असण्णिपंचिंदियपहुडि जाव-पंचेन्द्रिया जीवः असंज्ञिपंचेन्द्रियजीवान् आदौ कृत्वा यावत् अजोगिकेवलि त्ति — अयोगिकेवलिपर्यन्ताः भवन्ति इति। असंज्ञिपंचेन्द्रियादि-अयोगिकेवलिपर्यन्ताः सर्वे जीवा पंचेन्द्रियाः एव इति तात्पर्यम्।

अत्र केवलिभगवतां भावेन्द्रियापेक्षया एव पंचेन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। किं च “केवलानां निर्मूलतो विनष्टान्तरंगेन्द्रियाणां प्रहतबाह्येन्द्रियव्यापाराणां भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियसत्त्वापेक्षया पंचेन्द्रियप्रतिपादनात्, भूतपूर्वगतिन्यायसमाश्रयणाद्वा।”

कश्चिदाह — सर्वत्र निश्चयनयमाश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यवहारनयः किमित्यवलम्ब्यते इति चेत् ?

नैष दोषः, मंदमेधसामनुग्रहार्थत्वात्। अथवा एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियजातिनामकर्मोदयेभ्यः एकेन्द्रियादि-पंचेन्द्रिया जीवा भवन्ति। केवलानामपर्याप्तजीवानां च पंचेन्द्रियनामकर्मोदयो वर्तते इति ज्ञातव्यं भवति। एवं द्वितीयस्थले एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियजीवानां गुणस्थानकथनत्वेन द्वे सूत्रे गते।

सूत्रार्थ —

असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं।।३७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पंचेन्द्रिय जीव से यहाँ पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को आदि में करके अयोगिकेवली पर्यन्त जीव होते हैं, ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त सभी जीव पंचेन्द्रिय ही होते हैं।

यहाँ केवली भगवन्तों के भावेन्द्रिय की अपेक्षा से ही पंचेन्द्रियपना माना गया है क्योंकि केवलियों के यद्यपि भावेन्द्रियाँ समूल नष्ट हो गई हैं और बाह्य इन्द्रियों का व्यापार भी बंद हो गया है तो भी भावेन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियों के सद्भाव की अपेक्षा उन्हें पंचेन्द्रिय कहा गया है अथवा भूतपूर्व का ज्ञान कराने वाले न्याय के आश्रय से उन्हें पंचेन्द्रिय कहा है। अर्थात् भावेन्द्रियों के निमित्त से ही द्रव्येन्द्रियाँ बनी हैं फिर भी घातिकर्म के अभाव से भाव इन्द्रियों का तो अभाव हो गया किन्तु द्रव्येन्द्रियों का अस्तित्व केवली भगवान् के मौजूद है ऐसा समझना।

शंका — सब जगह निश्चयनय का आश्रय लेकर वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने के पश्चात् फिर यहाँ पर व्यवहारनय का आलम्बन क्यों लिया जा रहा है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि मंदबुद्धि शिष्यों के अनुग्रह के लिए उक्त प्रकार से कथन किया है। अथवा एकेन्द्रिय आदि पंचेन्द्रियजाति नामकर्मोदय से एकेन्द्रियादि से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव होते हैं। केवली और अपर्याप्त जीवों के भी पंचेन्द्रियजाति नामकर्म का उदय होता है ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार द्वितीय स्थल में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवों के गुणस्थान कथन की मुख्यता से दो सूत्र पूर्ण हुए।

अधुना अतीन्द्रियजीवानामस्तित्वप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

तेण परमणिंदिया इदि।।३८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—तेण परं—तेन जातिनामकर्मोदयेन परं ऊर्ध्वं अणिंदिया—अनिन्द्रियाः एकेन्द्रियादिजात्यतीताः सिद्धात्मानः सन्ति सकलकर्मकलंकातीतत्वात्। सिद्धाः चरमशरीरात् किंचिदूना भवन्ति। “तत्किञ्चिदूनत्वं शरीरांगोपांगजनितनासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति यस्मिन्नेव क्षणे सयोगिचरमसमये त्रिशत्प्रकृति-उदयविच्छेदमध्ये शरीरांगोपांगनामविच्छेदो जातस्तस्मिन्नेव क्षणे जातमिति ज्ञातव्यं।”^१ अथवा पुरुषाकारः—निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमचिदुच्छलन-निर्भरशुद्धस्वभावेन निराकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिदूनचरमशरीराकारेण गतसिक्थमूषागर्भाकारवत् छायाप्रतिमावद्वा इति।^२

तात्पर्यमेतत्—मतिश्रुतयोः क्षयोपशमविशेषेण सिद्धान्तग्रन्थानभ्यस्य स्वसंवेदनज्ञानबलेन स्वशुद्धात्मानं ध्यात्वा अनिन्द्रियं केवलज्ञानं समुत्पाद्य लोकालोकौ ज्ञातव्यौ पूर्णज्ञानकिरणैः अस्माभिः, यावदेतादृशी अवस्था न भवेत् तावत् ज्ञानाभ्यासोऽभीक्षणं कर्तव्यः इति।

स्वकर्मक्षयतः शांतिं, लब्ध्वा शान्तिकरोऽभवत्।

शान्तिनाथ! नमस्तुभ्यं, मनःक्लेशप्रशान्तये^३।।१।।

अब अतीन्द्रिय जीवों के अस्तित्व का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

उन एकेन्द्रिय आदि जीवों से परे अनिन्द्रिय जीव होते हैं।।३८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—उन एकेन्द्रिय आदि जाति नामकर्म के उदय से परे अनिन्द्रिय—इन्द्रियादि से रहित सिद्धात्मा होते हैं क्योंकि उनके सम्पूर्ण कर्मकलंक-द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं पाए जाते हैं। सिद्ध जीव अंतिम शरीर से किंचित् न्यून होते हैं। वह जो उनके किंचित् न्यूनपना कहा है सो शरीर आंगोपांग से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों के अपूर्ण (खाली स्थान) होने से जिस समय सयोगी गुणस्थान के अन्त समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ उनमें शरीर आंगोपांग का भी विच्छेद हो गया अतः उसी समय किंचित् न्यूनता हुई है, ऐसा जानना चाहिए।

अथवा वे सिद्ध पुरुषाकार होते हैं—निश्चयनय की दृष्टि से इन्द्रियागोचर, अमूर्तिक, परमचैतन्य से भरे हुए शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा आकार रहित हैं फिर भी व्यवहार से भूतपूर्व नय की अपेक्षा अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होने से मोमरहित मूस के बीच के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के समान हैं, ऐसा जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि मति श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेष से सिद्धान्त ग्रंथों का अभ्यास करके, स्वसंवेदनज्ञान के बल से निज शुद्धात्मा का ध्यान करके अनिन्द्रिय केवलज्ञान को उत्पन्न करके हमें भी पूर्ण ज्ञान किरणों के द्वारा लोकालोक को जानना चाहिए और जब तक ऐसी अवस्था प्राप्त नहीं होती है तब तक अभीक्षण ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

श्लोकार्थ—जिन्होंने अपने कर्मों के क्षय से परमशांति को प्राप्त करके जगत् में शान्ति को प्रदान किया है उन श्रीशांतिनाथ भगवान को मानसिक क्लेश की शांति हेतु मेरा नमस्कार है।

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. १४, टीकायां। २. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५१, टीकायां। ३. शांतिवीरनगर महावीर जी में विराजमान शांतिनाथ भगवान को नमस्कार किया है।

एवं तृतीयस्थले अतीन्द्रियाणां कथनत्वेन एकं सूत्रं गतं।

इत्थं द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियसहितसंसारिजीवानां अनिन्द्रियाणां सिद्धानां च स्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन द्वितीयाधिकारे षट्सूत्राणि गतानि।

इति षट्खण्डागम-प्रथमखंडे गणिनीज्ञानमतीकृत-
सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां इन्द्रियमार्गणानाम-
द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः।

इस प्रकार तृतीयस्थल में अतीन्द्रिय जीवों के कथनरूप से एक सूत्र पूर्ण हुआ। इस तरह द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय सहित संसारी जीवों के एवं अनिन्द्रिय सिद्धों के स्वरूप के प्रतिपादन की मुख्यता से द्वितीय अधिकार में छह सूत्र पूर्ण हुए।

इस प्रकार षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड में गणिनी श्री ज्ञानमती-
कृत सिद्धान्तचिंतामणिटीका में इन्द्रियमार्गणा नाम का
द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ।



अथ कायमार्गणाधिकारः

अथ स्थलद्वयेन अष्टसूत्रैः कायमार्गणानाम तृतीयोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र प्रथमस्थले त्रसस्थावरकायानां प्रतिपादनत्वेन “कायाणुवादेण” इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। तदनु द्वितीयस्थले स्थावरत्रसेषु गुणस्थानप्रतिपादनत्वेन “पुढवि” इत्यादिसूत्रचतुष्टयं इति समुदायपातनिका।

संप्रति कायमार्गणाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीपुष्पदंतभट्टारकेण—

कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि॥३९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — कायाणुवादेण — कायानामनुवादः कायानुवादः तेन कायानुवादेन। अत्थि पुढविकाइया-पृथिवी एव कायः पृथिवीकायः, स एषामस्तीति पृथिवीकायिकाः।

कश्चिदाह — कर्मणशरीरमात्रस्थितजीवानां पृथिवीकायत्वाभावः स्यात् ?

तस्य समाधानं उच्यते — नैतत्, भाविनि भूतवदुपचारतस्तेषामपि तदव्यपदेशोपपत्तेः। अथवा पृथिवी-कायिकनामकर्मोदयवशीकृताः पृथिवीकायिकाः जीवाः इति। एवमप्यिकादीनामपि वाच्यम्। पृथिवीकायिकादि-

अथ कायमार्गणाधिकार

अब दो स्थल से आठ सूत्रों के द्वारा कायमार्गणा नामका तृतीय अधिकार प्रारंभ होता है। उनमें से प्रथम स्थल में त्रस-स्थावरकायिक जीवों के प्रतिपादन की मुख्यता से “कायाणुवादेण” इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके पश्चात् द्वितीय स्थल में स्थावर एवं त्रस जीवों में गुणस्थान प्रतिपादन की मुख्यता से “पुढवि” इत्यादि चार सूत्र हैं, ऐसी यह समुदायपातनिका हुई।

अब कार्यमार्गणा का प्रतिपादन करने हेतु श्री पुष्पदन्त भट्टारक सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ —

कायानुवाद की अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और कायरहित जीव हैं॥३९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — कार्यों के अनुवाद को कायानुवाद कहते हैं, उस कायानुवाद की अपेक्षा पृथिवी ही है काया जिनकी वे पृथिवीकायिक जीव होते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

मात्र कर्मण शरीर में स्थित उन एकेन्द्रिय जीवों में पृथिवीकायपना नहीं बन सकता है ?

इसका समाधान करते हैं कि —

ऐसा नहीं है क्योंकि भावी — भविष्य में होने वाले कार्य में भी भूत के समान उपचार किया जाता है अर्थात् जो कार्य अभी नहीं हुआ है उसमें यह हो चुका ऐसा उपचार कर लिया जाता है। उसी प्रकार कर्मणकाययोग में स्थित पृथिवीकायिक जीवों के भी पृथिवीकायिक यह संज्ञा बन जाती है। अथवा जो पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय के वशवर्ती हैं उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं। इसी प्रकार जलकायिक आदि शब्दों की भी निरुक्ति कर लेनी चाहिए। पृथिवीकायिक आदि जीवों के कार्यों को देखकर उनके अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। ये पाँचों ही स्थावर कहलाते हैं क्योंकि स्थावर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई विशेषता

जीवानां कार्यदर्शनात्तेषां अस्तित्वसिद्धेः। एते पञ्चापि स्थावराः, स्थावरनामकर्मोदयजनितविशेषत्वात्।

कश्चिदाह — स्थानशीलाः स्थावराः भवन्तीति चेत् ?

तस्य समाधानं — नैतत् वक्तव्यं, वायुतेजोऽम्भसां देशान्तरप्राप्तिदर्शनाद् अस्थावरत्वप्रसंगात्। अतः स्थानशीलाः स्थावरा इति व्युत्पत्तिमात्रमेव, नार्थः प्राधान्येनाश्रीयते गोशब्दस्य इव।

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः, द्वीन्द्रियादयो जीवाः।

त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति चेत् ?

न, गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तेषु तदभावात् अत्रसत्वप्रसंगात्। ततो न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वं। आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः, इत्यनेनैदं व्याख्यानं विरुद्ध्यते इति चेत् ? न, जीवविपाकित्रसपृथिवी-कायिकादिकर्मोदयसहकार्यौदारिकशरीरोदयजनितशरीरस्यापि उपचारतस्तत्कायत्वव्यपदेशार्हत्वाविरोधात्।

अकायिकाः के इति चेत् ?

उच्यते, अकाइया — सिद्धाः।

उक्तं च —

जह कंचणामग्निगयं मुंचइ किट्टेण कालियाए य।

तह कायबंधमुक्का अकाइया ज्झाणजोएण।^१

के कारण ये एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं।

शंका — स्थानशील अर्थात् ठहरना ही जिनका स्वभाव हो उन्हें स्थावर कहते हैं ऐसी व्याख्या के अनुसार स्थावरों का स्वरूप क्यों नहीं कहा ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वायुकायिक, अग्निकायिक और जलकायिक जीवों की एक देश से दूसरे देश में गति देखी जाने से उनमें अस्थावरपने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा।

अतः स्थानशील जीव स्थावर होते हैं यह निरुक्ति व्युत्पत्तिमात्र ही है, इसमें गो शब्द की व्युत्पत्ति के समान प्रधानता से अर्थ का ग्रहण नहीं है।

त्रस नामकर्म के उदय से जिन्होंने त्रसपर्याय प्राप्त कर ली है वे द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं।

शंका — 'त्रसि उद्वेगे' इस धातु से त्रस शब्द की सिद्धि हुई है जिसका अर्थ होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं वे त्रस हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि गर्भ में स्थित, अण्डे में बंद, मूर्च्छित और सोते हुए जीवों में उक्त लक्षण घटित नहीं होने से उन्हें त्रसरहितपने का प्रसंग आ जाएगा। इसलिए चलने और ठहरने की अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नहीं समझना चाहिए।

शंका — आत्मप्रवृत्ति अर्थात् योग से संचित हुए पुद्गलपिण्ड को काय कहते हैं इस व्याख्यान से पूर्वोक्त व्याख्यान विरोध को प्राप्त होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि जिसमें जीवविपाकी त्रसनामकर्म और पृथिवीकायिक आदि नामकर्म के उदय की सहकारिता है ऐसे औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए शरीर को उपचार से कायपना बन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

अकायिक जीव कौन से हैं ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि —

सिद्ध जीव अकायिक होते हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — जैसे अग्नि को प्राप्त हुआ सोना किट्ट-कालिमा से रहित हो जाता है, वैसे ही ध्यान के योग

यथा मलिनं कांचनं अग्निगतं-प्रज्वलज्ज्वलनदग्धं, अंतरंगसूतादिभावनासंस्कृतं तत् किट्टेन-बहिर्मलेन वैवर्ण्यरूपान्तरंगमलेन च मुच्यते, जाज्वलत्षोडशवर्णलक्षणस्वरूपोपलब्धिं प्राप्य सर्वजनैः श्लाघ्यते। तथा ध्यानयोगेन-धर्म्यशुक्लध्यानभावनया संस्कृतबहिरंगतपोऽग्निविशेषेण आसन्नभव्यजीवा अपि औदारिकतैजसकायाभ्यां कर्मणशरीरसंश्लेषरूपबंधेन च मुक्ता भूत्वा अकायिकाः अशरीराः सिद्धपरमेष्ठिनः अनंतज्ञानादिस्वरूपोपलब्धिं प्राप्य लोकाग्रे सर्वलोकेन स्तुतिप्रणामार्चनादिभिः श्लाघ्यन्ते^१ इति।

संप्रति पृथिवीकायिकादीनां भेदप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

पुढविकाइया दुविहा—बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। आउकाइया दुविहा—बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। तेउकाइया दुविहा—बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। वाउकाइया दुविहा—बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि॥४०॥

से यह जीव काय और कर्मबन्ध से मुक्त होकर अकायिक—कायरहित हो जाता है।

जिस प्रकार खान से निकला हुआ मलिन सोना अग्नि की ज्वाला में तपकर तथा अंतरंग में पारा आदि भावना से संस्कारित होने पर बाह्यमल और कालिमारूप अंतरंग मल से रहित हो जाता है और चमकते हुए सोलहतावरूप स्वरूप को प्राप्त करके सर्वजनों से प्रशंसित होता है। उसी प्रकार ध्यान योगरूप धर्म और शुक्ल भावना के द्वारा संस्कृत बहिरंग तप रूप अग्निविशेष से निकट भव्यजीव भी औदारिक और तैजस तथा कर्मण शरीर के साथ संश्लेषरूप बंध से मुक्त होकर अशरीर सिद्धपरमेष्ठी अनंतज्ञानादि स्वरूप को प्राप्त करके लोक के अग्रभाग में स्थित होकर सब लोगों के द्वारा स्तुति, प्रमाण, पूजा आदि से प्रशंसित होते हैं।

अब पृथिवीकायिक आदि जीवों के भेदों का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

पृथिवीकायिक जीव दो प्रकार के हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर पृथिवीकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। जलकायिक जीव दो प्रकार के हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर जलकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म जलकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अग्निकायिक जीव दो प्रकार के हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर अग्निकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। वायुकायिक जीव दो प्रकार के हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर वायुकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म वायुकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त॥४०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एतत्सूत्रं सुगमं वर्तते। बादरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः बादराः, सूक्ष्मनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः सूक्ष्माः।

अनयोः को विशेषश्चेत् ?

सप्रतिघाताप्रतिघातरूपः। तथा च पर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः पर्याप्ताः। अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः अपर्याप्ताः। पृथिवीजलाग्निवायुकायिकजीवानां बादरसूक्ष्मा-पेक्षया द्वैविध्यात् इमे अष्टौ भवन्ति, पुनश्च तेषां पर्याप्तापर्याप्तभेदैः षोडशविधा भवन्तीति ज्ञातव्यम्।

के ते पृथिकाकायादयः इति चेत् ?

उच्यते —

पुढवी य सक्करा बालुअ उवले सिलादि छत्तीसा।
पुढवीमया हु जीवा णिहिट्ठा जिणवरिंदेहि।।
ओसो हिमो य धूमरि हरदणु सुद्धोदवो घणोदो य।
एदे दु आउकाया जीवा जिणसासणुहिट्ठा।।
इंगालजालअच्ची मुम्मुर-सुद्धागणी तहा अगणी।
अण्णे वि एवमाई तेउक्काया समुहिट्ठा।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इस सूत्र का अर्थ सुगम है। जिनमें बादर नामकर्म के उदय से विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें बादर कहते हैं तथा जिनमें सूक्ष्म नामकर्म के उदय से विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें सूक्ष्म कहते हैं।

शंका — बादर और सूक्ष्म इन दोनों में क्या विशेषता है ?

समाधान — बादर जीव प्रतिघात सहित होते हैं और सूक्ष्म जीव प्रतिघात रहित होते हैं। यही इन दोनों में अंतर है। पर्याप्त नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिन जीवों की अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों के पूर्ण करने रूप अवस्था विशेष प्रगट हो गई है उन्हें पर्याप्त कहते हैं तथा अपर्याप्त नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिन जीवों की शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करके मरनेरूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है उन्हें अपर्याप्त कहते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायुकायिक जीवों के बादर-सूक्ष्म की अपेक्षा दो भेद होते हैं इस प्रकार ये आठ हो जाते हैं और उनके पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से सोलह भेद जानना चाहिए।

वे पृथिवीकायिक आदि जीव कौन से हैं ? सो कहते हैं —

गाथार्थ — जिनेन्द्र भगवान् ने पृथिवी, शर्करा, बालुका, उपल और शिला आदि के भेद से पृथिवीरूप छत्तीस प्रकार के जीव कहे हैं।

ओस, बर्फ, कुहरा, स्थूलबिन्दुरूप जल, सूक्ष्मबिन्दुरूपजल, चंद्रकांत मणि से उत्पन्न हुआ शुद्ध जल, झरना आदि से उत्पन्न हुआ जल, समुद्र, तालाब और घनवात आदि से उत्पन्न हुआ घनोदक अथवा हरदणु अर्थात् तालाब और समुद्र आदि से उत्पन्न हुआ जल तथा घनोदक अर्थात् मेघ आदि से उत्पन्न हुआ जल ये सब जिनशासन में जलकायिक जीव कहे गये हैं।

अंगार, ज्वाला, अर्चि, मुर्मुर्, शुद्धाग्नि तथा सामान्य अग्नि ये सब अग्निकायिक जीव कहे गये हैं।

वाउब्भामो उक्कलि-मंडलि-गुंजा महा घणो य तणू।

एदे दु वाउकाया जीवा जिण-इंद-णिहिट्टा।^१

पृथिवी-मृदूपा, शर्करा-परुषरूपा, बालुका-रुक्षागंगाद्युद्भवा, उपलानि, शिला-बृहत्पाषाणरूपा इत्यादयः षट्त्रिंशद् भेदाः पृथिवीमया जीवाः जिनवरेन्द्रैः निर्दिष्टाः भवन्ति। इत्थं षट्त्रिंशद् भेदेषु पृथिवीविकारेषु पृथिव्यष्टकमेरु-कुलपर्वत-द्वीप-वेदिका-विमान-भवन-प्रतिमा-तोरण-स्तूप-चैत्यवृक्ष-जम्बू-शाल्मली-द्रुमेष्वाकार-मानुषोत्तर-विजयार्थ-कांचनगिरि-दधिमुखाञ्जन-रतिकर-वृषभगिरि-सामान्यपर्वत-स्वयंभूतन-वरेन्द्रवक्षार-रुचक-कुंडलवर-दंष्ट्रापर्वत-रत्नाकरादयोऽन्तर्भवन्तीति।^२

ओसो-अवश्यायजलं रात्रिपश्चिमप्रहरे निरभ्रावकाशात् पतितसूक्ष्मोदकं, हिमो-हिमं प्रालेयं जलबंधकारणं, धूमरि-महिका धूमाकारजलं कुहडरूपं, हरदणु-हरत् स्थूलविंदुजलं अणुरूपं सूक्ष्मविंदुजलं, सुद्धोदवो-शुद्धजलं चन्द्रकांतजलं, उदकं सामान्यजलं निर्झराद्युद्भवं, घणोदवो-घनोदकं समुद्रहृदघनवाताद्युद्भवं घनाकारं अथवा महासमुद्राद्युद्भवं, मेघाद्युद्भवं घनाकारं एवमाद्यष्टकायिका जीवाः जिनशासनोद्दिष्टाः सन्ति। तथा च सरित्सागर-हृद-कूप-निर्झर-घनोद्भवाकाशज-हिरण्य-धूमरूप-भूमिउद्भव-चंद्रकांतज-घनवाताद्यष्टकायिकाः सर्वे अत्रैवान्तर्भवन्तीति।

इंगाल-अंगाराणि ज्वलितनिर्धूमकाष्ठादीनि, जाल-ज्वाला, अच्ची-अर्चिः प्रदीपज्वालाद्यग्रं, मुम्मुर-

सामान्य वायु, उद्भ्राम वायु (चक्रवात), उत्कलि वायु, मण्डलि वायु, गुंजावायु, महावायु, घनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं।

मिट्टीरूप पृथिवी, कठोर या तीक्ष्णरूप शर्करा, गंगादि नदियों में उत्पन्न होने वाली रुक्षबालुका, पत्थर, वृहत्पाषाणरूप शिला आदि छत्तीस भेदरूप पृथिवीकायिक जीव जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं। इन छत्तीस भेद वाले पृथिवी विकारों में पृथिवीअष्टक (सात नरक पृथिवी एवं एक ईषत्प्राग्भार), मेरु, कुलपर्वत, द्वीप, वेदिका, विमान, भवन, प्रतिमा, तोरण, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बू-शाल्मलि वृक्ष, इष्वाकारपर्वत, मानुषोत्तर, विजयार्थ, कांचनगिरि, दधिमुख, अञ्जन, रतिकर, वृषभगिरि, सामान्यपर्वत, स्वयंभूरमण पर्वत, वक्षार, रुचक, कुंडलवर, दंष्ट्रापर्वत (गजदंत) और रत्नाकर आदि अंतर्गर्भित हो जाते हैं।

रात्रि में पश्चिम प्रहर में मेघ रहित आकाश से जो सूक्ष्म जलकण गिरते हैं उसे ओस कहते हैं। जो पानी घन होकर नीचे ओले के रूप में हो जाता है वह हिम है, इसे ही बर्फ कहते हैं। धूमाकार जल जो कि कुहरा कहलाता है इसे ही महिका कहते हैं। स्थूल-बिन्दुरूप जल हरत् नामवाला है। सूक्ष्म बिन्दुरूप जल अणुसंज्ञक है। चंद्रकांत से उत्पन्न हुआ जल शुद्धजल है। झरना आदि से उत्पन्न हुआ सामान्यजल उदक कहलाता है। समुद्र, सरोवर, घनवात आदि से उत्पन्न हुआ जल जो कि घनाकार है वह घनोदक कहलाता है अथवा महासरोवर, समुद्र आदि से उत्पन्न हुआ जल हरदणु है और मेघ आदि से उत्पन्न हुआ घनाकार जल घनोदक है इत्यादि प्रकार के जलकायिक जीव जिनशासन में कहे गये हैं।

तथा नदी, सागर, सरोवर, कूप झरना, मेघ से बरसने वाला, आकाश से उत्पन्न हुआ हिम — बर्फरूप, कुहरारूप, भूमि से उत्पन्न, चंद्रकांतमणि से उत्पन्न, घनवात आदि का जल इत्यादि सभी प्रकार के जलकायिक जीवों का उपर्युक्त भेदों में ही अंतर्भाव हो जाता है।

जलते हुए धुएँ रहित काठ आदि अर्थात् धधकते कोयले अंगारे कहलाते हैं। अग्नि की लपटें ज्वाला

मुर्मुं कारीषाग्निः, सुद्धागणी-शुद्धाग्निः वज्राग्निर्विद्युत्सूर्यकांताद्युद्भवः, तथा अगणी-तथा सामान्याग्नि-धूमादिसहितः। वाडवाग्नि-नंदीश्वरधूमकुंडिका-मुकुटानलादयोऽत्रैवान्तर्भवन्तीति।

वाउब्भामो-वातः सामान्यरूपः उद्भ्रमो भ्रमन्नूर्ध्वं गच्छति, उत्कलि-उत्कलिरूपः, मंडलि-पृथिवीं लग्नो भ्रमन् गच्छति, गुंजा-गुंजन् गच्छति, महा-महावातो वृक्षादिभंगहेतुः, घणो य तणू-घनोदधिः घननिलयस्तनुवातः, व्यजनादिकृतो वा तनुवातो लोकप्रच्छादकः। उदरस्थपंचवात-विमानाधार-भवन-स्थानादिवाता अत्रैवान्तर्भवन्तीति।^१

स्थावरकर्मणः किं कार्यमिति चेत् ?

एकस्थानावस्थापकत्वं।

तेजोवायव्कायिकानां चलनात्मकानां तथा सति अस्थावरत्वं स्यादिति चेत् ? न, स्थास्नूनां प्रयोगतश्चलच्छिन्नपर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणाव्यतिरिक्तशरीरत्वतस्तेषां गमनाविरोधात्।^२

एतान् सर्वान् पृथिवीजलाग्निवायुकायिकजीवान् ज्ञात्वा अहिंसामहाव्रतपालनेच्छया भवद्भिः रक्षा कर्तव्या इति तात्पर्यमेतत्।

कहलाती हैं। दीपक का और ज्वाला का अग्रभाग (लौ) अर्चि है। कण्डे की अग्नि का नाम मुर्मु है। वज्र से उत्पन्न हुई अग्नि, बिजली की अग्नि, सूर्यकांत से उत्पन्न हुई अग्नि ये शुद्ध (प्राकृतिक) अग्नि हैं। धुएँ आदि सहित सामान्य अग्नि को अग्नि कहा है। बडवा अग्नि, नंदीश्वर के मंदिरों में रखे हुए धूपघटों की अग्नि, अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि आदि सभी अग्नि के भेदों का उपर्युक्त भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

वात शब्द से सामान्य वायु को कहा है। जो वायु घूमती हुई ऊपर को उठती है वह उद्भ्रम वायु है। जो लहरों के समान होती है वह उत्कलिरूप वायु है। पृथ्वी में लगकर घूमती हुई वायु मण्डलिवायु है। गुँजती हुई वायु गुंजावायु है। वृक्षादि को गिरा देने वाली वायु महावायु है। घनोदधिवातवलय, तनुवातवलय की वायु घनाकार है और पंखे आदि से की गई वायु अथवा लोक को वेष्टित करने वाली वायु तनुवात है। उदर में स्थित पाँच प्रकार की वायु होती है। अर्थात् हृदय में स्थित वायु प्राणवायु है, गुदा में अपानवायु हैं, नाभिमण्डल में समानवायु है, कण्ठ प्रदेश में उदानवायु है और सम्पूर्ण शरीर में रहने वाली वायु व्यानवायु है। ये शरीर सम्बन्धी पाँच वायु हैं। इसी प्रकार से ज्योतिष्क आदि स्वर्गों के विमान के लिए आधारभूत वायु, भवनवासियों के स्थान के लिए आधारभूत वायु इत्यादि वायु के भेद इन्हीं उपर्युक्त भेदों में अंतर्भूत हो जाते हैं।

शंका — स्थावरकर्म का क्या कार्य है ?

समाधान — एक स्थान पर अवस्थित रखना स्थावरकर्म का कार्य है।

शंका — ऐसा मानने पर गमन करने रूप स्वभाववाले अग्निकायिक, वायुकायिक और जलकायिक जीवों को अस्थावरपना प्राप्त हो जाएगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष में लगे हुए पत्ते वायु के प्रयोग से हिला करते हैं और टूटने पर इधर-उधर उड़ जाते हैं उसी प्रकार अग्निकायिक और जलकायिक के गमन होने में कोई विरोध नहीं आता है। तथा वायु के गतिपर्याय से परिणत शरीर को छोड़कर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है। इसलिए उनके गमन करने में भी कोई विरोध नहीं आता है।

इन सभी पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों को जानकर आप लोगों को अहिंसामहाव्रत पालन करने की इच्छा से उनकी रक्षा करना चाहिए ऐसा तात्पर्य हुआ।

अधुना वनस्पतिकायिकभेदप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

वणप्फदिकाइया दुविहा—पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तेयसरीरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा—बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि।।४१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—वणप्फदिकाइया दुविहा-पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा-वनस्पतिकायिकाः जीवाः द्विविधा भवन्ति-प्रत्येकशरीराः साधारणशरीराश्च। प्रत्येकं पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः खदिरादयो वनस्पतयः सन्ति। प्रत्येकशरीरजीवाः बादरा एव भवन्ति, सूक्ष्माः न भवन्तीति सूत्रादेवावगम्यते। किंच-प्रत्येकवनस्पतित्रसेषु उभयविशेषणानुपादनात् न तेषु सूक्ष्मत्वं इति आर्षादेवावबुध्यते।

साधारणं सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः।

भिन्नभिन्नजीवानां कथं एकं शरीरं निष्पाद्यते इति चेत् ?

नैतद् वक्तव्यं, पुद्गलानां एकदेशावस्थितानां एकदेशावस्थितमिथः समवेतजीवसमवेतानां तत्स्थाशेष-प्राणिसंबन्धेकशरीरनिष्पादनं न विरुद्धम् साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात्। कारणानुरूपं कार्यमिति न निषेद्धुं पार्यते, सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात्।^१

अब वनस्पतिकायिक जीवों के भेद प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर। प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। साधारण शरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।।४१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर। जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक्-पृथक् शरीर होता है उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं। जैसे—खैर आदि वनस्पति। प्रत्येकशरीर जीव बादर ही होते हैं सूक्ष्म नहीं होते हैं यह बात सूत्र से ही ज्ञात हो जाती है क्योंकि प्रत्येक वनस्पति और त्रसों में बादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते हैं इसलिए उनसे सूक्ष्मत्व नहीं हो सकता है ऐसा आर्षग्रंथ से ही जाना जाता है।

साधारण-सामान्य शरीर जिनके होते हैं वे साधारणशरीर जीव कहलाते हैं।

शंका—भिन्न-भिन्न जीवों के एक शरीर कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जो एक देश में अवस्थित हैं और जो एक देश में अवस्थित तथा परस्पर सम्बद्ध जीवों के साथ समवेत एकमेक हैं, ऐसे पुद्गल वहाँ पर स्थित सम्पूर्ण जीवसम्बन्धी एक शरीर को उत्पन्न करते हैं इसमें कोई विरोध नहीं आता है क्योंकि साधारण कारण से उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण ही होता है। कारण के अनुरूप ही कार्य होता है इसका निषेध भी तो नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह बात सम्पूर्ण नैयायिक लोगों में प्रसिद्ध है।

उक्तं च—

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
 साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं॥१९२॥
 जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
 वक्कमदि जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं॥१९३॥
 एयणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
 सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥१९६॥
 अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
 भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति॥१९७॥^१

यत्साधारणनामकर्मोदयवशवर्त्यनन्तजीवानां उत्पन्नप्रथमसमये आहारपर्याप्तिस्तत्कार्यं च आहारवर्गणा-
 यातपुद्गलस्कंधानां खलरसभागपरिणमनं साधारणं सदृशं समकालं च भवति। तथा शरीरपर्याप्तिः
 तत्कार्यं च आहारवर्गणायातपुद्गलस्कंधानां शरीराकारपरिणमनं तथा इन्द्रियपर्याप्तिः तत्कार्यं च
 स्पर्शनेन्द्रियाकारपरिणमनं तथा आनपानपर्याप्तिः तत्कार्यं च उच्छ्वासनिश्वासग्रहणं साधारणं सदृशं समकालं
 च भवति। तथा प्रथमसमयोत्पन्नानामिव तत्रैव शरीरे द्वितीयादिसमयोत्पन्नानामपि अनंतानंतजीवानां
 पूर्वपूर्वसमयोत्पन्नानंतानंतजीवैः सह आहारपर्याप्त्यादिकं सर्वं सदृशं समकालं भवति। तदिदं साधारणलक्षणं

कहा भी है—

गाथार्थ—साधारण जीवों का साधारण ही शरीर होता है और साधारण ही श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। इस प्रकार परमागम में साधारण जीवों का साधारण लक्षण कहा है॥१९२॥

साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनंत जीवों का मरण होता है और जहाँ एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ पर अनंत जीवों का उत्पाद होता है॥१९३॥

द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा सिद्धराशि से अनंतगुणे और सम्पूर्ण अतीत काल से अनंतगुणे जीव एक निगोद शरीर में देखे गये हैं॥१९६॥

नित्य निगोद में ऐसे अनंतानंत जीव हैं जिन्होंने अभी तक त्रस जीवों की पर्याय नहीं पाई है और जो भाव अर्थात् निगोद पर्याय के योग्य कषाय के उदय से उत्पन्न हुए दुर्लेश्यारूप परिणामों से अत्यंत अभिभूत रहते हैं इसलिए निगोदवास को कभी नहीं छोड़ते॥१९७॥

साधारण नामकर्म के उदय के वशीभूत अनंत जीवों का उत्पन्न होने के प्रथम समय में आहारपर्याप्ति और उसका कार्य आहारवर्गणा में आये हुए पुद्गल स्कन्धों का खल और रसभागरूप में परिणमन साधारण अर्थात् एक समान तथा एक ही काल में होता है। तथा शरीर पर्याप्ति और उसका कार्य आहारवर्गणा के आए पुद्गलस्कन्धों का शरीर के आकाररूप से परिणमन साधारण होता है। इन्द्रियपर्याप्ति और उसका कार्य स्पर्शन इन्द्रिय के आकाररूप से परिणमन तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और उसका कार्य उच्छ्वास-निश्वास का ग्रहण समान और एक काल में होता है। तथा प्रथम समय में उत्पन्न होने वालों की ही तरह उसी शरीर में द्वितीय-तृतीय आदि समयों में उत्पन्न अनंतानंत जीवों का पूर्व-पूर्व समयों में उत्पन्न अनंतानंत जीवों के साथ

पूर्वसूरिभिर्भणितं ज्ञातव्यं। अत्र गाथायां च शब्देन शरीरेन्द्रियपर्याप्तिद्वयं समुच्चयीकृतं।

यन्निगोदशरीरे यदा एको जीवः स्वस्थितिक्षयवशेन म्रियते तदा तन्निगोदशरीरे समस्थितिकाः अनंतानंताः जीवाः सहैव म्रियन्ते। यन्निगोदशरीरे यदा एकः जीवः प्रक्रामति-उत्पद्यते तदा तन्निगोदशरीरे समस्थितिकाः अनंतानंताः जीवाः सहैव प्रक्रामन्ति। एवमुत्पत्तिमरणयोः समकालत्वमपि साधारणलक्षणं प्रदर्शितं।

एकस्मिन् निगोदशरीरे वर्तमाना जीवाः द्रव्यप्रमाणतः द्रव्याश्रयप्रमाणसंख्यया अनंतानंताः सर्वजीवराश्य-नन्तभागमात्रसंसारिजीवराश्यसंख्येयभागप्रमिताः सर्वदा विद्यमानाः ते अक्षयानंता इति परमागमे भण्यन्ते। ते च सर्वजीवराश्यनंतैकभागमात्रेभ्योऽनादिकालसिद्धजीवेभ्योऽनन्तगुणाः। तथैव सर्वातीतकालतोऽप्यनन्तगुणाः।

अनेन कालमाश्रित्यैकशरीरनिगोदजीवसंख्या कथिता। क्षेत्रभावावाश्रित्य तत्संख्या आगमानुसारेण योज्यते। सर्वाकाशप्रदेशेभ्यः केवलज्ञानविभागप्रतिच्छेदेभ्यश्चानन्तगुणहीनाः, तथा लोकाकाशप्रदेशेभ्यः सर्वावधिज्ञानविषयभावेभ्यश्चानन्तगुणिताः सन्ति। तत्संख्यायाः परमागमे जिनदृष्टत्वप्रसिद्धेर्विरोधो नास्ति।

ननु अष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु कर्मक्षयं कृत्वा सिद्धेषु सत्सु सिद्धरा-शेर्वृद्धिदर्शनात् संसारिजीवराशेश्च हानिदर्शनात् कथं सर्वदा सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वं एकशरीरनिगोदजीवानां सर्वजीवराश्यनन्तगुणकालसमयसमूहस्य तद्योग्यानन्तभागे गते सति संसारिजीवराशिक्षयस्य सिद्धराशिबहुत्वस्य च सुघटत्वात् ?

आहारपर्याप्ति वगैरह सब समान और एक काल में होती है। यह साधारण जीवों का लक्षण पूर्वाचार्यों ने कहा है। यहाँ 'च' शब्द से शरीरपर्याप्ति और इंद्रियपर्याप्ति का ग्रहण किया है।

जिस निगोदशरीर में जब एक जीव अपनी आयु के क्षय होने से मरता है तभी उस निगोदशरीर में समान आयु वाले अनंतानंत जीव एक साथ ही मरते हैं। जिस निगोद शरीर में जब एक जीव उत्पन्न होता है तब उस निगोद शरीर में समान आयु वाले अनंतानंत जीव एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति और मरण का समकाल में होना भी साधारण का लक्षण कहा है।

एक निगोद शरीर में वर्तमान जीव द्रव्यप्रमाण से अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा संख्या से अनंतानंत हैं। अर्थात् सर्वजीवराशि के अनंत बहुभाग मात्र संसारी जीवों की राशि है। उसके असंख्यातवें भाग प्रमाण जीव एक निगोद शरीर में सदा विद्यमान रहते हैं, वे अक्षय अनंत हैं ऐसा परमागम में कहा है। तथा वे सर्वजीवराशि के अनंतवें भागमात्र जो अनादिकाल से हुए सिद्ध जीव हैं उनसे अनंतगुणे हैं। तथा समस्त अतीतकाल के समयों से भी अनंतगुणे हैं।

इस कथन के द्वारा काल की अपेक्षा एक शरीर में निगोद जीवों की संख्या कही। क्षेत्र और भाव की अपेक्षा उनकी संख्या आगम के अनुसार कहते हैं। समस्त आकाश के प्रदेशों से और केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों से अनंतगुणा हीन हैं। तथा लोकाकाश के प्रदेशों से और सर्वावधिज्ञान के विषयभूत भावों से अनंत गुणित हैं। परमागम में उनकी संख्या को जिन भगवान् के द्वारा—दृष्ट देखी गई है ऐसा कहा है इसलिए कोई विरोध नहीं है।

शंका—आठ समय और छह मास में छह सौ आठ जीवों के द्वारा कर्मों का क्षय करके सिद्ध होने पर सिद्ध राशि की वृद्धि देखी जाती है और संसारी जीवराशि की हानि देखी जाती है। तब कैसे सर्वदा एक शरीर में रहने वाले निगोद जीव सिद्धों से अनंतगुणे हो सकते हैं ? तथा काल के समयों का समूह सर्व जीवराशि से अनंतगुणा है। अतः अपने योग्य अनंत भाग काल बीतने पर संसारी जीवराशि का क्षय और सिद्धराशि की वृद्धि सुघटित है।

इति चेत्तन्न, केवलज्ञानदृष्ट्या केवलिभिः, श्रुतज्ञानदृष्ट्या श्रुतकेवलिभिश्च सदा दृष्टस्य भव्यसंसारि-जीवराश्यक्षयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तर्कविषयत्वाभावात्। प्रत्यक्षागमबाधितस्य च तर्कस्याप्रमाणत्वात्। अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् यद्यद्द्रव्यं तत्तदनुष्णं यथा जलम्। प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वात् यो यः पुरुषाश्रितः स सोऽसुखप्रदो यथाऽधर्मः इत्यादितर्कवत्।

तर्हि तर्कबाधितस्य आगमस्य कथं प्रामाण्यं ?

इति चेत्तन्न प्रत्यक्षप्रमाणतर्कान्तरसंभावितस्यागमस्याविसंवादित्वेन प्रामाण्यसुनिश्चयात्। तद्द्वय-विरोधिनस्तव तर्कस्याप्रमाणत्वाच्च।

तर्हि किमिदं तर्कान्तरमिति चेत् ? उच्यते, सर्वो भव्यसंसारिराशिरनन्तेनापि कालेन न क्षीयते अक्षयानन्तत्वात् यो योऽक्षयानन्तः स सोऽनन्तेनापि कालेन न क्षीयते यथा इयत्तया परिच्छिन्नः कालसमयौघः, सर्वद्रव्याणां पर्यायोऽविभागप्रतिच्छेदसमूहो वा इत्यनुमानाङ्गस्य तर्कस्य प्रामाण्यसुनिश्चयात्।

तर्हि हेतोः साध्यसमत्वमिति चेत् ? न भव्यराश्यक्षयानन्तत्वस्याप्तागमसिद्धस्य साध्यसमत्वाभावात्। किं बहुना सर्वतत्त्वानां प्रवक्तुरि पुरुषे आप्ते सिद्धे सति तद्वाक्यस्यागमस्य सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु प्रामाण्यसुप्रसिद्धेः। तदागमपदार्थेषु निश्शंकं मम चित्तं किन्तु वावदूकतया। आप्तसिद्धिस्तु विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः इत्यादिवेदवाक्येन। प्रणम्य शम्भुमित्यादिनैयायिकवाक्येन। बुद्धो भवेयमित्यादिबौद्धवाक्येन।

समाधान — उक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि केवलज्ञानरूप दृष्टि से केवलियों के द्वारा और श्रुतज्ञानरूप दृष्टि से श्रुतकेवलियों के द्वारा सदा देखा गया भव्य संसारी जीव राशि का अक्षयपना अतिसूक्ष्म होने से तर्क का विषय नहीं है तथा जो तर्क प्रत्यक्ष और आगम से बाधित है वह प्रमाण नहीं है जैसे अग्नि शीतल होती है क्योंकि द्रव्य है। जो-जो द्रव्य होता है वह शीतल होता है जैसे जल। धर्म मरने पर दुःख देता है पुरुष के आश्रित होने से। जो-जो पुरुष के आश्रित होता है वह-वह दुःखदायी होता है, जैसे अधर्म। ये तर्क प्रत्यक्ष और आगम से बाधित हैं।

शंका — तब तर्क से बाधित आगम को कैसे प्रमाण माना जा सकता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण और अन्य तर्कों से सम्भावित आगम के अविसंवादि होने से उसका प्रामाण्य सुनिश्चित है तथा आपका तर्क प्रत्यक्ष और आगम का विरोधी होने से अप्रमाण है।

शंका — तब वह तर्क कौन सा है, जिससे आगम का प्रामाण्य निश्चित है ?

समाधान — समस्त भव्य संसारी जीवराशि अनंतकाल बीतने पर भी क्षय को प्राप्त नहीं होती क्योंकि वह अक्षय अनंत प्रमाण है। जो-जो अक्षयानन्त होता है वह-वह अनंतकाल में भी क्षय को प्राप्त नहीं होता है। जैसे “इतने हैं” इस रूप से परिमित होने पर भी तीन काल के समय कभी समाप्त नहीं होते। या सब द्रव्यों की पर्याय अथवा अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह कभी समाप्त नहीं होता। इस प्रकार अनुमान का अंग जो तर्क है उसका प्रामाण्य सुनिश्चित है।

शंका — तब आपका हेतु भी साध्य के समान हुआ क्योंकि साध्य भी अक्षयानन्त है, और हेतु भी वही है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि भव्यराशि का अक्षयानन्तपना आप्तप्रणीत आगम से सिद्ध है अतः साध्यसम नहीं है। अधिक कहने से क्या, सब तत्त्वों के प्रवक्ता पुरुष के आप्तसिद्ध होने पर उसके वचनरूप आगम का प्रमाण सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में सुप्रसिद्ध है। इसलिए उनके द्वारा उपदिष्ट आगम में कहे हुए पदार्थों के संबंध में मेरा चित्त शंका रहित है। वृथा बकवाद करने से क्या लाभ है ? आप्त की सिद्धि तो

मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यार्हतवाक्येन अपरैस्तत्तद्दर्शनदेवतास्तवनरूपवाक्यैश्च सामान्यतोऽङ्गीकृता। विशेषेण सर्वज्ञवीतरागस्याद्वाद्याप्तस्यैव युक्त्यापि साधनात्। विस्तरतः स्याद्वादतर्कशास्त्रेषु तत्सिद्धिज्ञातव्या इत्येवं सुनिश्चितासंभव-द्वाधकप्रमाणत्वात् आप्तस्य तदागमस्य च सिद्धत्वात् तत्प्रणीतं मोक्षतत्त्वं बंधतत्त्वं वावश्यमभ्युपगमनीयमिति सिद्धं सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वमेकशरीरनिगोदजीवानाम्।

नित्यनिगोदलक्षणमनेन ज्ञातव्यम्। तत्कथम् ? यैर्निगोदजीवैः त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां परिणामः-पर्यायः कदाचिदपि-प्रायेण न प्राप्तः ते जीवा अनन्तानन्त-अनादिसंसारे निगोदभवमेवानुभवन्तो नित्यनिगोदसंज्ञाः सर्वदा सन्ति। किं विशिष्टाः ? भावकलंकसुप्रचुराः-भावस्य-निगोदपर्यायस्य कलंकेन तद्योग्यकषायोदया-विर्भावितदुर्लेश्यालक्षणसंकलेशेन प्रचुराः-अत्यन्तं संघटिताः। एवंविधनित्यनिगोदजीवाः निगोदवासं निगोदभवस्थितिं कदाचिदपि न मुञ्चन्ति। तेन कारणेन निगोदभवस्य आद्यन्तरहितत्वादनन्तानन्तजीवानां नित्यनिगोदत्वं समर्थितं जातम्। नित्यविशेषणेन पुनरनित्यनिगोदाः चतुर्गतिनिगोदरूपसादिसान्तनिगोदभवयुता केचन जीवाः सन्तीति सूचितं ज्ञातव्यम्। णिच्चचतुर्गतिनिगोदेत्यादौ परमागमे निगोदजीवानां द्वैविध्यस्य सुप्रसिद्धत्वात्। एकदेशाभावविशिष्टसकलार्थवाचिना प्रचुरशब्देन कदाचिदष्टसमयाधिकषणमासाभ्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेषु अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु मुक्तिंगतेषु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभवं त्यक्त्वा चतुर्गतिभवं प्राप्नुवन्तीत्ययमर्थः प्रतिपादितो बोद्धव्यः।^१

“विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः” इत्यादि वेदवाक्य से “प्रणम्य शम्भुं” इत्यादि नैयायिकों के वाक्य से “बुद्धो भवेयम्” इत्यादि बौद्धवाक्य से और “मोक्षमार्गस्य नेतारम्” इत्यादि जैन वाक्य से तथा दूसरे वादियों के अपने-अपने मत के देवता के स्तवनरूप वाक्यों से सामान्य से स्वीकृत ही है। विशेष रूप से सर्वज्ञ वीतराग स्याद्वादी आप्त को ही युक्ति से भी सिद्ध किया है। विस्तर से उसकी सिद्धि स्याद्वाद के तर्कशास्त्रों से जाननी चाहिए। इस प्रकार बाधक प्रमाण के सुनिश्चितरूप से असम्भव होने से आप्त और उसके द्वारा उपदिष्ट आगम सिद्ध है। अतः उसमें कहे मोक्ष तत्त्व और बन्ध तत्त्व को स्वीकार करना चाहिए। इस एक-एक शरीर में निगोद जीव सिद्धों से अनंतगुणे होते हैं यह सिद्ध है।

जिन निगोद जीवों ने दोऽन्द्रिय आदि त्रसों के परिणाम अर्थात् पर्याय को कभी भी प्रायः करके प्राप्त नहीं किया वे अनंतानंत जीव अनादिकाल से निगोद भव को ही भोगते हुए सर्वदा नित्यनिगोद संज्ञा वाले होते हैं। वे भाव अर्थात् निगोद पर्याय के कलंक अर्थात् उसके योग्य कषाय के योग से प्रकट हुई अशुभ लेश्यारूप संकलेश से प्रचुर अर्थात् अत्यंत सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार के नित्यनिगोद जीव निगोदवास अर्थात् निगोद की भवस्थिति को कभी भी नहीं छोड़ते। इस कारण से निगोद भव के आदि और अंत से रहित होने से अनंतानंत जीवों के नित्यनिगोदपने का समर्थन होता है। नित्य विशेषण से यह सूचित होता है कि चतुर्गति निगोद रूप सादि सान्त निगोद भव वाले कुछ लोग अनित्यनिगोद होते हैं। “णिच्चचदुग्गतिणिगोद” इत्यादि परमागम में निगोद जीवों के दो प्रकार सुप्रसिद्ध हैं। एकदेश के अभाव से विशिष्ट सकल अर्थ के वाचक प्रचुर शब्द से यह अर्थ प्रतिपादित हुआ जानना कि कदाचित् छह महीना आठ समय के भीतर चतुर्गति राशि से निकलकर छह सौ आठ जीवों के मुक्ति जाने पर उतने ही जीव नित्यनिगोद भव को छोड़कर चतुर्गति भव में आते हैं।

कश्चिदाह—

ते साधारणशरीरजीवाः तादृक्षाः, पूर्वोक्तलक्षणाः सन्तीति कथमवगम्यते इति चेत् ? न, “आगमस्यातर्क-
गोचरत्वात्। न हि प्रमाणप्रकाशितार्थावगतिः प्रमाणान्तरप्रकाशमपेक्षते, स्वरूपविलोपप्रसंगात्।”

बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयन्ते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् ?

प्रत्येकशरीरवनस्पतिष्विति ब्रूमः। के ते ? स्नुगार्द्रकमूलकादयः।^{१९}

अत्र प्रत्येकशरीरजीवस्य द्वौ भेदौ स्तः सप्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितभेदात्।

उक्तं च—

उदये तु वणष्फदिकम्मस्स य जीवा वणष्फदी होति।

पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरंति पत्तेयं॥१८५॥

तत्र प्रत्येकशरीराः प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितभेदात् द्विविधाः। बादरनिगोदैराश्रिताः प्रतिष्ठिताः, तैरनाश्रिताः
अप्रतिष्ठिताः इति।

उक्तं च—

मूलगगपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।

सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य॥१८६॥

यहाँ कोई शंका करता है—

वे साधारण शरीर धारण करने वाले जीव उसी प्रकार के पूर्वोक्त लक्षण वाले हैं ऐसा कैसे जाना जाता है ?
इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि—

ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आगम में ऐसा ही कहा है और आगम तर्क का गोचर नहीं है। एक
प्रमाण से प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाण के प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है अन्यथा प्रमाण के स्वरूप का
अभाव प्राप्त हो जायेगा।

शंका—बादर निगोदों से प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति दूसरे आगमों से सुनी जाती हैं उसका अंतर्भाव
वनस्पति के किस भेद में होगा ?

समाधान—प्रत्येक शरीर वनस्पति में उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं।

शंका—बादर निगोद से प्रतिष्ठित वे कौन सी वनस्पतियाँ हैं ?

समाधान—थूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोद से प्रतिष्ठित हैं।

यहाँ प्रत्येक शरीरधारी जीव के सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार हैं।

कहा भी है—

गाथार्थ—वनस्पति स्थावर नामकर्म के उदय से जीव वनस्पतिकायिक होते हैं। वे दो प्रकार के
हैं—प्रत्येक और सामान्य। उनमें से प्रत्येक शरीर प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार के हैं।

उनमें से सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से प्रत्येक शरीर के दो भेद हैं। जो प्रत्येकशरीर वनस्पति
बादर निगोद जीवों के द्वारा आश्रयरूप से स्वीकार किये गये हैं वे सप्रतिष्ठित हैं और जो उनसे आश्रित नहीं हैं
वे अप्रतिष्ठित हैं ऐसा जानना चाहिए। कहा भी है—

गाथार्थ—जिन वनस्पतियों का बीज उनका मूल होता है वे मूलबीज हैं, जिनका बीज पर्व होता है वे
पर्वबीज हैं, जिनका बीज उनका अग्रभाग होता है वे अग्रबीज हैं, जिनका बीज कन्द होता है वे कन्दबीज हैं,

मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः-आर्द्रकहरिद्रादयः। अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः-आर्यकोदीच्यादयः। पर्वबीजं येषां ते पर्वबीजाः-इक्षुवेत्रादयः। कंदो बीजं येषां ते कंदबीजाः-पिंडालुसूरणादयः। स्कंधो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः-सल्लकीकण्टकीपलाशादयः। बीजात् रोहंति इति बीजरूहाः-शालिगोधूमादयः। सम्मूर्च्छे समंतात् प्रसृतपुद्गलस्कंधे भवाः सम्मूर्च्छिमाः-मूलादिनियतबीजनिरपेक्षाः ते च ये प्रत्येकशरीराः जीवाः परमागमे भणितास्ते अनंतकायाः अनंतानां निगोदजीवानां कायाः शरीराणि एष्विति अनंतकायाः प्रतिष्ठितप्रत्येकाः इत्यर्थः।

प्रतिष्ठितं-साधारणशरीरैराश्रितं प्रत्येकशरीरं येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः तैरनाश्रितशरीरा अप्रतिष्ठित-प्रत्येकशरीराः स्युः। एते मूलबीजादिसम्मूर्च्छिमपर्यन्ताः प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरजीवास्तेऽपि सम्मूर्च्छिमाः एव भवन्ति।

तथा च प्रोक्तं—

गूढसिरसंधिपक्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।

साधारणं सरीरं तत्त्विवरीयं च पत्तेयं॥१८७॥

अत्र प्रतिष्ठितशरीरमेव साधारणमित्युपचर्यते, साधारणजीवाश्रितत्वेन। तद्विपरीतं तालनालिकेरति-न्तिणीकादिशरीरं अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरमिति विभागं सूचयति च शब्दोऽत्र। तथा च येऽपि मूलकादयः प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरत्वेन प्रसिद्धाः तेऽपि खलु स्वोत्पन्नप्रथमसमये अंतर्मुहूर्तकालं साधारणजीवैरप्रतिष्ठिता एव भवन्ति।

जिनका बीज स्कन्ध होता है वे स्कन्धबीज हैं। बीज से पैदा होने वाले बीजरूह और सम्मूर्छिम वनस्पति ये सभी प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीव अनंतकाय होते हैं।

उनमें अदरख, हल्दी आदि मूलबीज हैं, आर्यक, उदीचि आदि अग्रबीज हैं, ईख, बेंत आदि पर्वबीज हैं, पिंडालु, सूरण वगैरह कन्दबीज हैं, पलास, सल्लकी आदि स्कंधबीज हैं, धान, गेहूँ आदि बीजरूह हैं, सम्मूर्छि अर्थात् चारों ओर से आये पुद्गलस्कंधों से होने वाली वनस्पति सम्मूर्छिम है। उनके लिए मूल आदि नियत बीज की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार परमागम में जो ये प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक जेष्ठ कहे हैं वे अनंतकाय होते हैं। जिसमें अनंतानंत निगोद जीवों के शरीर रहते हैं उन्हें अनंतकाय अर्थात् प्रतिष्ठितप्रत्येक कहते हैं ऐसा अर्थ है।

जिनका प्रत्येक शरीर प्रतिष्ठित अर्थात् साधारण शरीरों से आश्रित होता है वे प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं और जिनका प्रत्येक शरीर साधारण शरीरों से आश्रित नहीं होता वे अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर होते हैं। ये मूलबीज से लेकर सम्मूर्छिम पर्यन्त जो प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर और अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर जीव कहे हैं वे भी सम्मूर्छिम जन्म वाले ही होते हैं।

और भी कहा है—

गाथार्थ —शिरा, सन्धि, पर्व, समभंग, अहीरुक तथा छिन्नरुक ये सब साधारण शरीर वनस्पति हैं और इससे विपरीत प्रत्येक शरीर वनस्पति कही गई है॥१८७॥

यहाँ सप्रतिष्ठित शरीर को ही उपचार से साधारण कहा गया है। क्योंकि साधारण जीवों के द्वारा वह आश्रित होते हैं। जो इससे विपरीत तालफल, नारियल, इमली आदि वनस्पति के शरीर हैं वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं, गाथा में आया हुआ “च” शब्द इस भेद को सूचित करता है।

तथा जो भी मूलक आदि प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीररूप से प्रतिबद्ध हैं वे भी अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय में अंतर्मुहूर्त काल तक साधारण जीवों से अप्रतिष्ठित ही होते हैं।

पुनश्च साधारणनामकर्मोदयेन जीवा निगोदशरीराः भवन्ति। नि-नियतां, गां-भूमिं क्षेत्रं अनंतानंतजीवानां ददाति इति निगोदं। निगोदं शरीरं येषां ते निगोदशरीराः। त एव सामान्याः-साधारणशरीराः जीवाः, बादरा सूक्ष्माश्चेति द्विधा विज्ञेयाः।

इमे पृथिवीकायिकादयः बादराः आधारेणैव तिष्ठन्ति, सूक्ष्माश्च निराधाराः सन्ति।

उक्तं च—

आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा।।१८४।।

आधारे आश्रये वर्तमानशरीरविशिष्टाः ये जीवाः ते बादराः। सव्वत्थ-सर्वत्र सर्वलोके जले स्थले आकाशे वा निरंतराः-आधारानपेक्षितशरीराः जीवाः सूक्ष्माः भवन्तीत्यर्थः।^१

पुनः साधारण नामकर्म के उदय से जीव निगोदशरीर वाले होते हैं। जो 'नि' अर्थात् नियत, 'गां' अर्थात् भूमि, क्षेत्र या निवास अनंतानंत जीवों को 'द' अर्थात् देता है वह निगोद है। निगोद शरीर जिनका है वे निगोद शरीरी हैं। वही सामान्य अर्थात् साधारण शरीर वाले होते हैं। उनके दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म।

ये पृथिवीकायिक आदि बादर जीव आधारपूर्वक ही रहते हैं और सूक्ष्म जीव निराधार रहते हैं।

कहा भी है—

स्थूल शरीर आधार की अपेक्षा रखता है किन्तु सूक्ष्म शरीर बिना अंतर—व्यवधान के ही सब जगह अनंतानंत ही भरे हुए हैं, उनको आधार की अपेक्षा नहीं रहा करती है।

वर्तमान शरीर से विशिष्ट जो जीव आधार अर्थात् आश्रय से रहते हैं वे सब बादर होते हैं। सम्पूर्ण लोक में, जल में, स्थल में अथवा आकाश में जो जीव बिना किसी आधार की अपेक्षा से ही रहते हैं वे सूक्ष्म जीव कहलाते हैं ऐसा अर्थ है।

यहाँ तक संक्षेपरूप से स्थावरकायिक जीवों के भेद और लक्षण का प्रतिपादन किया गया है। इनके भेद-प्रभेदों को जानकर स्थावरकाय के जीवों की रक्षा करना चाहिए क्योंकि पुनः मेरा स्थावर योनियों में भ्रमण नहीं होने पावे, ऐसा यहाँ तात्पर्य जानना चाहिए।

विशेषार्थ—इन पाँचों स्थावरों के चार-चार भेद जैनाचार्यों ने बताए हैं। जैसा कि तत्त्वार्थवृत्ति ग्रंथ के टीकाकार कहते हैं कि—

“ते तु प्रत्येकं चतुर्विधाः—पृथिवी, पृथिवीकायः, पृथिवीकायिकः, पृथिवीजीवः। आपः, अप्कायः, अप्कायिकः अप्जीवः। तेजः, तेजःकायः, तेजःकायिकः, तेजोजीवः। वायुः, वायुकायः, वायुकायिकः, वायुजीवः। वनस्पतिः, वनस्पतिकायः, वनस्पतिकायिकः, वनस्पतिजीवः इति।

तत्र अध्वादिस्थिता धूलिः पृथिवी। इष्टकादिः पृथिवीकायः। पृथिवीकायिकजीवपरिहृतत्वात् इष्टकादिः, पृथिवीकायः कथ्यते मृतमनुष्यादिकायवत्। तत्र स्थावरकायनामकर्मोदयो नास्ति, तेन तद्विराधनायामपि दोषो न भवति पृथिवीकायो विद्यते यस्य स पृथिवीकायिकः। इन् विषये इको वाच्यः। तद्विराधनायां दोष उत्पद्यते। विग्रहगतौ प्रवृत्तौ यो जीवोऽद्यापि पृथिवीमध्ये नोत्पन्नः समयेन समयद्वयेन समयत्रयेण वा यावदनाहारकः पृथिवीं कायत्वेन यो गृहीष्यति प्राप्तपृथिवीनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थः स पृथिवीजीवः कथ्यते।”

अर्थात् इनमें प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। उनमें से मार्ग में पड़ी हुई धूलि आदि पृथिवी है। ईट आदि पृथिवीकाय हैं। जैसे—मृतक मनुष्य आदि का शरीर। पृथिवी और पृथिवीकाय के स्थावर नामकर्म का

उदय न होने से वे निर्जीव हैं अतः इनकी विराधना में दोष—हिंसा नहीं है। जिस जीव के पृथिवीरूप काय विद्यमान है उसे पृथिवीकायिक कहते हैं अर्थात् यह जीव पृथिवीरूप शरीर के संबंध से युक्त है। इन् विषय में 'इक्' प्रत्यय वाच्य है अतः जीव सहित होने से इनकी विराधना में दोष—हिंसा उत्पन्न होती है। विग्रहगति में स्थित जीव जब तक पृथिवी के मध्य में उत्पन्न नहीं हुआ है अर्थात् जब तक इस जीव ने पृथिवी को कायरूप से ग्रहण नहीं किया है तब तक एक, दो, तीन समय तक अनाहारक है, दो तीन समय के बाद जो पृथिवी को कायरूप से ग्रहण करेगा जिसके पृथिवी नामकर्म का उदय है और जो कार्मणकाययोग में स्थित है वह जीव पृथिवीजीव कहलाता है।

अष्टसहस्री के रचनाकार आचार्य श्रीविद्यानन्दि स्वामी ने भी इस विषय को चतुर्थकारिका की टीका में न्याय की भाषा में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि—

“न च लोष्टादौ दोषावरणयोः प्रध्वंसाभावः संभवति, तस्य भूत्वा भवनलक्षणत्वात् तयोस्तत्रात्यन्तमभावात्”

इसका हिन्दी अनुवाद करते हुए “स्याद्वादचिन्तामणि” टीका में पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने लिखा है—

“मिट्टी के ढेले आदि में दोष-आवरण का प्रध्वंसाभाव ही नहीं है। प्रध्वंसाभाव तो “भूत्वा भवनलक्षणत्वात्” घट होकर कपाल होनेरूप है। उस मिट्टी के ढेले आदि में दोष आवरण का अत्यन्त ही अभाव है।

इस विषय को एक शंका-समाधान द्वारा व्यक्त करते हैं—

“पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभिः शरीरत्वेन गृहीते स्वायुषः क्षयात्यक्ते चेतनादिगुणस्य व्यावृत्तेः.....। प्रसिद्धश्च पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः, अनुपलम्भान्यथानुपपत्तेः।

शंका—पृथिवी आदि में सम्पूर्णरूप से चेतना गुणों का प्रध्वंसाभावरूप अभाव नहीं होता है अतः बुद्धि की हानि के साथ यह “अतिशायन” हेतु व्यभिचारी है। अर्थात् बुद्धि की हानि में “अतिशायन” हेतु पाया जाता है फिर भी सम्पूर्णतया पृथिवी आदि में चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव नहीं है अतः यह हेतु अनैकांतिक है।

समाधान—यह कथन भी अज्ञान के विलासरूप ही है, पृथिवी आदिरूप से परिणत हुई पुद्गलवर्गणाओं को पृथिवीकायिक आदि नामकर्म के उदय सहित जीवों ने अपने शरीररूप से ग्रहण किया पुनः अपने-अपने आयु कर्म के क्षय हो जाने पर उन पुद्गलमय पृथ्वी आदि को छोड़ दिया। उन पृथिवी आदिकों में चेतनादि गुणों का सम्पूर्णतया प्रध्वंसाभावरूप से अभाव हो जाता है यह बात हम स्याद्वादियों के यहाँ स्वीकार की गई है क्योंकि “इस जगत में ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है कि जिसको जीवों ने अनेकों बार भोग कर न छोड़ा हो” इस प्रकार वचन पाए जाते हैं। इसलिए पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुणों का अभाव प्रसिद्ध ही है क्योंकि अनुपलब्धि की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् मिट्टी के ढेले आदि में चेतना गुण का सद्भाव नहीं पाया जाता है।

किसी व्यक्ति ने इस पर शंका प्रगट की कि जो पदार्थ दिखते नहीं हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इस बात पर जैनाचार्य श्री अकलंकदेव का कहना है कि अदृश्य का भी अभाव आबाल-गोपाल मानते हैं अन्यथा दूसरे के शरीर से चैतन्य आत्मा के निकल जाने पर भी शंका बनी ही रहेगी। पुनः उसके संस्कार करने वालों को हिंसक कहने का प्रसंग आवेगा।

आचार्यश्री विद्यानन्दि महोदय भस्म, लोष्ट आदि पृथ्वी को निर्जीव सिद्ध करते हुए कहते हैं कि मीमांसकों ने जो यह माना है कि “सम्यक् प्रकार से वैद्यक शास्त्र एवं भूत-तंत्रादि शास्त्र के अतिशयरूप—विशेषरूप अभ्यास से चैतन्य विशेष या रोगादि विशेषरूप कार्यो का विद्वान् लोग निर्णय कर लेते हैं।”

तो इसी प्रकार से पृथ्वी आदि में भी चैतन्य आदि गुणों की सम्पूर्णरूप से व्यावृत्ति मानना समान ही है।
तथाहि —

इस भस्मादि या पृथ्वी आदि में पृथ्वीकायिक आदि चैतन्य गुण नहीं हैं। “ततः कार्यविशेषानुपलब्धेः सर्वात्मना.....पृथिव्यादेः सिद्ध्यत्येव, मृतशरीरादेः परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत्।

अर्थात् कार्य विशेष की उपलब्धि न होने से पृथ्वी आदि में सम्पूर्णरूप से चेतनादि गुणों का अभाव सिद्ध ही है। जैसे कि मृतक शरीर एवं नीरोगी आदि में चैतन्य या रोगादि का अभाव पाया जाता है।

यदि कोई कहे कि दो इंद्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यच, मनुष्य आदि के शरीर से आत्मा निकल गई है इस बात का निर्णय करना तो सहज है किन्तु एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल आदि में से आत्मा निकल गई है इसका निर्णय करना असंभव है क्योंकि पृथ्वी आदि में चेतना आदि के रहते हुए भी हलन, चलन आदि चेष्टाएँ, श्वासोच्छ्वास, वचनप्रयोग आदि बाह्य व्यापार असंभव है अतः इनमें से चेतना निकल चुकी है यह कहना अशक्य है। इस पर भी आचार्य कहते हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर में भी चैतन्य के विद्यमान रहने से पृथ्वीकायिक आदि में वृद्धि व वनस्पतिकायिक के हरे-भरे रहने से जीवितपने का अनुमान किया जाता है एवं शुष्क आदि हो जाने पर निर्जीव का अनुमान स्पष्ट है तथा च आगम के द्वारा भी हम इन स्थावरकायिक जीवों के शरीर को अचेतन समझ सकते हैं।

पूर्व में पृथिवीकायिक जीव के चार भेदों में से पृथ्वी एवं पृथ्वीकाय ये दो भेद तो निर्जीव हैं एवं पृथिवीकायिक तथा पृथ्वीजीव ये दो भेद सजीव हैं। इन दोनों में भी विग्रहगति के जीव की विराधना का तो प्रसंग ही नहीं आता है केवल पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा का प्रसंग आता है। हाँ! विग्रहगति के जीवों की भावहिंसा का प्रसंग आ सकता है। पृथ्वी आदि से चैतन्य आदि गुणों का अभाव भी सिद्ध है अतः पत्थर आदि में भी बुद्धि आदि का भी सर्वथा अभाव हो जाने से हमारा “अतिशायन” हेतु व्यभिचारी नहीं है।

न्याय की इन परिभाषाओं से यह सिद्ध हो जाता है कि पृथ्वी से खोदी गई मिट्टी निर्जीव है इसलिए महाव्रती साधुगण उस मिट्टी को हाथ-पैर आदि की शुद्धि हेतु प्रयोग में लेते हैं इसमें कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और वनस्पति का वर्णन करते हुए तत्त्वार्थवृत्तिकार कहते हैं—

“एवं विलोडितं यत्र तत्र विक्षिप्तं वस्त्रादिगालितं जलमाप उच्यते।.....। इतस्ततो विक्षिप्तं जलादिसिक्तं वा प्रचुरभस्मप्राप्तं वा मनाक्तेजोमात्रं तेजः.....। वायुकायिकजीवसन्मूर्च्छनोचितो वायुर्वायुमात्रं वायुः.....। सार्द्रः छिन्नो भिन्नो मर्दितो वा लतादिर्वनस्पतिरुच्यते.....।”

इन पंक्तियों की हिन्दी टीका निम्न प्रकार है —

“बिलोड़ा गया, इधर उधर फैलाया गया और वस्त्र से गालित (छाना हुआ) पानी ‘जल’ कहा जाता है। जलकायिक जीवों से छोड़ा गया पानी व उष्ण पानी जलकाय कहा जाता है। जिसमें जलजीव रहता है उसे जलकायिक कहते हैं। जो आगे जलकायिक होगा अर्थात् जल पर्याय को ग्रहण करेगा, ऐसा विग्रह गति में रहने वाला जीव जलजीव कहलाता है।

इधर उधर फैली हुई या जिस पर जल सींच दिया गया है या जिसका बहुभाग भस्म बन चुका है ऐसी अग्नि को अग्नि कहते हैं। अग्निजीव के द्वारा छोड़ गयी भस्म आदि अग्निकाय कहलाते हैं। इनकी विराधना में दोष नहीं होता क्योंकि ये जीव रहित हैं। जिसमें अग्निजीव विद्यमान है, उसे अग्निकायिक कहते हैं। विग्रहगति को प्राप्त वह जीव अग्निजीव कहलाता है जिसके अग्नि नामकर्म का उदय है और जो आगे

अत्रपर्यंतं संक्षेपेण स्थावरकायजीवानां भेदाः लक्षणानि च प्रतिपादितानि। एषां भेदप्रभेदान् ज्ञात्वा स्थावरकायजीवरक्षणं कर्तव्यम् यतो पुनः स्थावरयोनिषु भ्रमणं मा भवेदिति तात्पर्यं अवबोद्धव्यम्।

संप्रति त्रसकायानां भेदप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीपुष्पदंताचार्येण—

तसकाइया दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता।।४२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—गतार्थत्वान्नास्यार्थः उच्यते—

किं त्रसाः सूक्ष्माः उत बादराः इति चेत् ?

बादराः एव न सूक्ष्माः।

कुतः ?

तत्सौक्ष्म्यविधायकार्षाभावात्।

बादरत्वविधायकार्षाभावे कथं तदवगम्यते इति चेत् ?

अग्निशरीर को ग्रहण करेगा।

जिसमें वायुकायिक जीव आ सकता है ऐसी वायु को अर्थात् केवल वायु को वायु कहते हैं। वायुकायिक जीव के द्वारा छोड़ी गई, बीजना (पंखा) आदि से चलाई गई हवा वायुकाय कहलाती है। वायुकाय जिसमें मौजूद है, ऐसी वायु वायुकायिक कही जाती है। विग्रहगति को प्राप्त वायु को शरीररूप से ग्रहण करने वाला जीव वायुजीव है।

छेदी गई, भेदी गई या मर्दित की गई गीली लता आदि वनस्पति है। सूखी वनस्पति जिसमें वनस्पतिजीव नहीं है वह वनस्पतिकाय है। सजीववृक्ष आदि वनस्पतिकायिक हैं। विग्रहगतिवर्ती वह जीव वनस्पतिजीव कहलाता है जिसके वनस्पतिनामकर्म का उदय है तथा आगे जो वनस्पति को शरीररूप से ग्रहण करेगा।

इन परिभाषाओं से यह निर्णय हो जाता है कि वृक्ष से टूटी हुई वनस्पति—सब्जी, फल, फूल आदि सभी निर्जीव हैं। इन्हें छिन्न-भिन्न करके, गरम करके, सूखा करके तथा विविध प्रयत्नों से उन्हें प्रासुक करके लोक में प्रयोग किया जाता है जिसमें किसी प्रकार के दोष का प्रसंग नहीं आता है।

इन पाँचों स्थावर जीवों की हिंसा के पूर्ण त्यागी महाव्रती मुनिजन होते हैं तथा गृहस्थ श्रावक इनकी हिंसा से विरत नहीं हो सकते हैं। हाँ, व्यर्थ में उनका मर्दन आदि न करने पर वे भी किंचित् रूप से इस हिंसा के दोष से बच सकते हैं।

अब त्रसकायों के भेद बतलाने हेतु श्रीपुष्पदंत आचार्य सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

त्रसकायिक जीव दो प्रकार के होते हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।।४२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—गतार्थ—पहले कथन किया गया होने से इस सूत्र का अर्थ नहीं कहते हैं।

शंका—त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते हैं अथवा बादर ?

समाधान—त्रस जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते।

कैसे ? क्योंकि त्रसजीवों में सूक्ष्मता को बताने वाला कोई आगमप्रमाण नहीं पाया जाता है।

शंका—त्रस जीवों के बादरपने का प्रतिपादन करने वाले आगम प्रमाण का अभाव होने पर यह कैसे जाना जाता है कि वे बादर ही होते हैं ?

न, उत्तरसूत्रतस्तेषां बादरत्वसिद्धेः।

के ते त्रसाः ? कथ्यन्ते —

बिहि तीहि चउहि पंचहि सहिया जे इंदिएहि लोयम्मि।

ते तसकाया जीवा णेया वीरोवएसेण॥^१

स्पर्शनरसनाभ्यां द्वाभ्यां, ताभ्यां घ्राणेन चेति त्रिभिः, तैश्चक्षुषा चेति चतुर्भिः, तैः श्रोत्रेण चेति पंचभिश्चेन्द्रियैः सहिता ये जीवा लोके सन्ति ते जीवास्त्रसकायाः इति वीरवर्धमानतीर्थकरपरमदेवस्य उपदेशेन अविच्छिन्नगुरुपर्वक्रमगतसंप्रदायेन श्रुतगृहीतधारितार्थेन प्रतिपादिताः ज्ञेयाः।

इमे त्रसजीवाः त्रसनालिमध्ये एव निवसन्ति न च त्रसनालिबाह्ये। कदाचित् तेषां त्रसनालिबाह्येऽपि अस्तित्वं सूचितं, तदेव कथयति —

उपवादमारणंतियपरिणततसमुज्झिऊण सेसतसा।

तसनालिबाहिरम्मि य णत्थित्ति जिणेहि णिद्धिं॥१९९॥^२

विवक्षितभवप्रथमसमयपर्यायप्राप्तिः उपपादः। मरणं-प्राणत्यागः अन्तः अवसानं यस्य स मरणान्तः कालः वर्तमानभवस्थितिचरमान्तमुहूर्तः। मरणान्ते भवःमारणान्तिकः समुद्घातः उत्तरभवोत्पत्तिस्थान-पर्यन्तजीवप्रदेशप्रसर्पणलक्षणः। उपपादपरिणतं मारणान्तिकसमुद्घातपरिणतं च शब्दात् केवलिसमुद्घातम-परिणतं च त्रसं उज्झित्वा — वर्जित्वा शेषाः स्वस्थानादिपदपरिणताः सर्वे त्रसजीवाः त्रसनाडिबाह्ये लोकक्षेत्रे न सन्तीति जिनैरर्हदादिभिर्निर्दिष्टं-कथितम्। ततः कारणात् त्रसानां नालिरिव नालिस्रसनालिः। सा च

समाधान — नहीं, क्योंकि आगे आने वाले सूत्र से त्रस जीवों का बादरपना सिद्ध हो जाता है।

वे त्रसजीव कौन से हैं ? सो कहते हैं —

गाथार्थ — लोक में जो जीव दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पाँच इंद्रियों से युक्त हैं उन्हें वीर भगवान् के उपदेश से त्रसकायिक जीव जानना चाहिए॥

स्पर्शन, रसना इन दो इंद्रियों से, घ्राण के साथ तीन इंद्रियों से, चक्षु के साथ चार इंद्रियों से और श्रोत्र के साथ पाँच इंद्रियों से सहित जो जीव लोक में हैं वे जीव त्रसकाय हैं ऐसा श्रीवीरवर्धमानतीर्थकर परमदेव के उपदेश से अविच्छिन्न गुरुपरंपराक्रम से आए हुए सम्प्रदाय के द्वारा श्रुत के ग्रहण और धारणरूप अर्थ से प्रतिपादित समझना चाहिए।

ये त्रसजीव त्रसनाली के मध्य में ही निवास करते हैं, त्रसनाली के बाहर नहीं रहते। कदाचित् त्रसनाली के बाहर भी उनका अस्तित्व सूचित है उसे कहते हैं —

गाथार्थ — उपपाद जन्मवाले और मारणान्तिक समुद्घात वाले त्रस जीवों को छोड़कर बाकी के त्रसजीव त्रसनाली के बाहर नहीं रहते यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥१९९॥

विवक्षित भव से प्रथम समय में पर्याय की प्राप्ति को उपपाद कहते हैं। मरण अर्थात् प्राणत्याग और अंत अर्थात् अवसान जिसके हों वह मरणान्त काल वर्तमान भव की स्थिति का अंतिम मुहूर्त है। मरणान्त में हुआ मारणान्तिक समुद्घात है। उत्तर भव की उत्पत्ति स्थान पर्यंत जीव के प्रदेशों के विस्तार को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। उपपाद से परिणत, मारणान्तिक समुद्घात से परिणत और 'च' शब्द से केवलिसमुद्घात से परिणत त्रस को छोड़कर शेष स्वस्थान आदि पद से परिणत सब त्रसजीव त्रसनाली से बाहर के

एकरज्जुविष्कम्भायामा चतुर्दशरज्जुत्सेधा लोकमध्यस्थिता अन्वर्थसंज्ञया कथिता। कश्चिज्जीवः त्रसनालिबाह्ये वातवलये स्थितः त्रसे बद्धायुष्कः प्राप्तं वायुकायिकभवं त्यक्त्वा उत्तरं त्रसकायं प्राप्य अग्रतनविग्रह-गतिप्रथमसमये त्रसनामकर्मोदयेन त्रसो जातः इत्युपपादपरिणतत्रसस्य त्रसनालिबाह्येऽस्तित्वम्। कश्चित् त्रसजीवः त्रसनालिमध्ये स्थितः तनुवातवलयस्य वायुकायिके बद्धायुष्कः स्वायुरवसानान्तर्मुहूर्तकाले तनुवातवलयपर्यन्तं त्रसनालिबाह्ये क्षेत्रे आत्मप्रदेशप्रसर्पणलक्षणमारणान्तिकसमुद्घातं करोतीति तस्य त्रसस्य त्रसनालिबाह्यक्षेत्रेऽप्यस्तित्वम्। केवलीकवाटाद्याकारेण त्रसनालिबाह्ये आत्मप्रदेशप्रसर्पणलक्षणसमुद्घातं करोतीति तस्य केवलिनोपि त्रसनालिबाह्येऽप्यस्तित्वं सिद्धमिति शास्त्रकारस्य तात्पर्यम्।^१

एवं प्रथमस्थले स्थावरत्रसजीवानां प्रतिपादनत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम्।

संप्रतं पृथिवीकायादिषु गुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

**पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया
एक्कम्मि चेय मिच्छाइड्डिहाणे।।४३।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया चेय-पृथिवीकायिकाः अप्कायिकाः तेजष्कायिकाः वायुकायिकाः वनस्पतिकायिकाश्चैव इमे पंच स्थावराः एक्कम्मि मिच्छाइड्डिहाणे—एकस्मिन् मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तिष्ठन्ति।

लोकक्षेत्र में नहीं रहते ऐसा अर्हन्त आदि ने कहा है। इसी कारण से त्रसों की नालि के समान नालि त्रसनालि यह सार्थक नाम है, यह त्रसनालि लोक के मध्य में स्थित है और एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी और चौदह राजू ऊँची है। कोई जीव त्रसनालि के बाहर वातवलय में स्थित है, उसने त्रस की आयु बाँधी है, अपने वर्तमान वायुकायिक भव को त्यागकर उत्तर त्रसकाय को प्राप्त करके आगे की विग्रहगति के प्रथम समय में त्रसनामकर्म का उदय होने से त्रस हुआ। इस प्रकार उपपाद परिणत त्रस का त्रसनालि के बाहर अस्तित्व हुआ। कोई त्रसजीव त्रसनालि के मध्य में स्थित है, उसके तनुवातवलय के वायुकायिक की स्थिति का बंध हुआ वह जीव अपनी आयु के अंतिम अंतर्मुहूर्त काल में तनुवातवलय पर्यन्त त्रसनालि के बाहर के क्षेत्र में आत्मा के प्रदेशों के विस्ताररूप मारणान्तिक समुद्घात को करता है। उस त्रस जीव का त्रसनालि के बाह्य क्षेत्र में भी अस्तित्व हुआ। जो केवली कपाट आदि के आकार रूप से त्रसनालि के बाहर आत्मा के प्रदेशों के फैलावरूप समुद्घात को करते हैं उन केवलियों का भी त्रसनाली के बाह्य क्षेत्र में अस्तित्व सिद्ध है। यह ग्रंथकार का तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रथम स्थल में स्थावर और त्रस जीवों के प्रतिपादन की मुख्यता से चार सूत्र पूर्ण हुए।

अब पृथिवीकायादि में गुणस्थान का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

**पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक
जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं।।४३।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँचों स्थावर जीव एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहते हैं अर्थात् इनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है, शेष गुणस्थान इनमें संभव नहीं होते हैं।

अत्र कश्चिदाह — आप्तागमविषयश्रद्धारहिता मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते। श्रद्धाभावश्चाश्रद्धेयवस्तु-परिज्ञानपूर्वकः। तथा च पृथिवीकायादीनामाप्तागमविषयपरिज्ञानोज्झितानां कथं मिथ्यादृष्टित्वमिति ?

तस्य समाधानं क्रियते — नैष दोषः, परिज्ञाननिरपेक्षमूलमिथ्यात्वसत्त्वस्य तत्राविरोधात्। अथवा ऐकान्तिकसांशयिकमूढव्युद्ग्राहितवैनयिकस्वाभाविकविपरीतमिथ्यात्वानां सप्तानामपि तत्र संभवः समस्ति। अत्रतनजीवानां सप्तविधमिथ्यात्वकलङ्काङ्कितहृदयानामविनष्टमिथ्यात्वपर्यायेण सह स्थावरत्वमुपगतानां तत्सत्त्वाविरोधात्।

इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च सर्वे मिथ्यादृष्टय इत्यभाणि, ततस्तेनैव गतार्थत्वान्नारंभणीयमिदं सूत्रमिति ?

नैष दोषः, पृथिवीकायिकादीनामियन्तीन्द्रियाणि भवन्ति न भवन्तीति अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नवशादस्य सूत्रस्यावतारात्।

तात्पर्यमेतत् — मिथ्यात्वनिमित्तेन एकेन्द्रियादिषु जन्म भवति, तत्रापि अनंतकालपर्यंतं मिथ्यात्वमेव। अतो मिथ्यात्वपरिणामं त्यक्त्वा सम्यक्त्वमाश्रयणीयं भवद्भिः भव्योत्तमैरिति।

अधुना त्रसजीवेषु गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

यहाँ कोई शंका करता है कि —

आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा से रहित जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं और श्रद्धान करने योग्य वस्तु में विपरीत ज्ञानपूर्वक ही अश्रद्धा अर्थात् मिथ्याभिनिवेश हो सकता है। ऐसी अवस्था में आप्त, आगम और पदार्थ के परिज्ञान से रहित पृथिवीकायिक आदि जीवों के मिथ्यादृष्टिपना कैसे संभव है ?

इसका समाधान करते हैं कि —

यह कोई दोष नहीं है क्योंकि पृथिवीकायिक आदि जीवों में परिज्ञान की अपेक्षारहित मूल मिथ्यात्व का सद्भाव होने में कोई विरोध नहीं आता है। अथवा ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, व्युद्ग्राहित, वैनयिक, स्वाभाविक और विपरीत इन सातों प्रकार के मिथ्यात्वों का भी उन पृथिवीकायिक आदि जीवों में सद्भाव संभव है क्योंकि जिनका हृदय सात प्रकार के मिथ्यात्वरूपी कलंक से अंकित है ऐसे मनुष्यादि गतिसम्बन्धी जीव पहले ग्रहण की हुई मिथ्यात्वपर्याय को न छोड़कर जब स्थावर पर्याय को प्राप्त हो जाते हैं तो उनके सातों ही प्रकार का मिथ्यात्व पाया जाता है, इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका — इन्द्रियानुवाद से एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय ये सब जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, ऐसा कह आए हैं इसलिए उसी से यह ज्ञान हो जाता है कि पृथिवीकायिक आदि जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं। अतः इस सूत्र को पृथक् रूप से बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि पृथिवीकायिक आदि जीवों के इतनी इन्द्रियाँ होती हैं अथवा इतनी इन्द्रियाँ नहीं होती हैं इस प्रकार जिस शिष्य को ज्ञान नहीं है अथवा जो भूल गया है उस शिष्य के अनुरोध से इस सूत्र का अवतार हुआ है।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व के निमित्त से एकेन्द्रिय आदि में जन्म होता है वहाँ भी अनंतकाल पर्यन्त मिथ्यात्व ही रहता है। अतः मिथ्यात्वपरिणाम का त्याग करके आप भव्यप्राणियों को सम्यक्त्व का आश्रय लेना चाहिए।

अब त्रस जीवों में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति॥४४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तसकाइया — त्रसकायिका: इमे बीइंदियप्पहुडि जाव-द्वीन्द्रियप्रभृति यावत् द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिपर्यन्ताः भवन्ति। सयोग्ययोगिगुणस्थानवर्तिनः अर्हत्परमेष्ठिनोऽपि त्रसा एव उच्यन्ते, त्रसनामकर्मोदयवशवर्तित्वात् इति।

संप्रति बादरजीवेषु गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणाय सूत्रावतारो भवति—

बादरकाइया बादरेइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति॥४५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — बादरेइंदियप्पहुडि जाव-अजोगिकेवलि त्ति-बादरेकेन्द्रियप्रभृति यावत् अयोगिकेवलिनः इति, बादरकाइया-बादरकायिकाः भवन्ति। बादरपृथिवी-बादरजल-बादराग्नि-बादर-वायु-बादरसाधारणवनस्पतयः-बादरप्रत्येकशरीरवनस्पतयः द्वीन्द्रियात्पंचेन्द्रियपर्यन्तत्रसाः, अयोगिकेवलिपर्यन्त-मनुष्याश्च सर्वे इमे बादरा एव। पृथ्वीजलाग्निवायुसाधारणवनस्पतिषु एव सूक्ष्माः जीवाः भवन्ति नान्यत्र इति तात्पर्यम् ज्ञातव्यम्।

कायमार्गणायां षट्कायिकाः जीवा त्रसस्थावरभेदात् द्विधा सन्ति। पंच स्थावराः एकः त्रसः, अथवा सूक्ष्मबादरभेदाद् द्विविधाः कायधारिणः संसारिणः सन्ति।

उक्तं च—

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेण्हयूण कावलियं।

एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावलियं॥२०२॥

सूत्रार्थ—

द्वीन्द्रिय को आदि लेकर अयोगिकेवली तक त्रसकायिक जीव होते हैं॥४४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ये त्रसकायिक जीव दो इंद्रिय से प्रारंभ होकर अयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं। सयोगी और अयोगी गुणस्थानवर्ती अर्हन्तपरमेष्ठी भी त्रस ही कहलाते हैं क्योंकि उनके त्रस नामकर्म का उदय पाया जाता है।

अब बादरजीवों में गुणस्थानव्यवस्था का निरूपण करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

बादर एकेन्द्रिय जीवों से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त जीव बादरकायिक होते हैं॥४५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — बादर एकेन्द्रिय जीवों को आदि में करके अयोगिकेवली पर्यन्त सभी जीव बादरकायिक होते हैं। बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक, बादर अग्निकायिक, बादर वायुकायिक, बादर साधारण वनस्पति, बादर प्रत्येकशरीरवनस्पति, दो इंद्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीव और अयोगिकेवली पर्यन्त मनुष्य ये सभी जीव बादर ही होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारण वनस्पतियों में ही सूक्ष्म जीव होते हैं, अन्यत्र नहीं होते हैं ऐसा तात्पर्य हुआ।

कायमार्गणा में षट्कायिक जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। पाँच स्थावर और एक त्रस ये छह काय हैं अथवा काय को धारण करने वाले संसारी जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के हैं। कहा भी है—

गाथार्थ— जिस प्रकार कोई भारवाही पुरुष कावड़ के भार को वहन करता है उसी प्रकार यह जीव

लोके यथा भारवाहकः पुरुषः कावटिकः कावटिभृतं भारं गृहीत्वा विवक्षितस्थानं वहति नयति प्रापयति तथा संसारिजीवः औदारिकादिनोकर्मशरीरक्षिप्तज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभारं गृहीत्वा नानायोनिस्थानानि वहति। पुनरपि स एव विप्रमुक्तकावटिकभारः एकत्र तदिष्टस्थाने तद्भाराक्रान्तिजनितदुःखविगमेन सुखी भूत्वा तिष्ठति। तथा कश्चिद्भव्यजीवोऽपि लब्धिभिः स्वीकृतसम्यग्दर्शनादिसामग्रीसंपन्नः तत्त्वज्ञानी शरीरकावटिकभृतकर्मभारं विप्रमुच्य तद्भाराक्रान्तिजनितनानाविधदुःखवेदनाविगमेन इष्टे लोकाग्रनिवासे सुखी भूत्वा तिष्ठति इति भव्यजनहितोपदेशोऽयमाचार्यस्याभिप्रायगतो लक्ष्यः।^१

अधुना द्विविधकायातीतजीवानां लक्षणप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

तेण परमकाइया चेदि।।४६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—तेण परं—तेन द्विविधकायात्मकजीवराशेः परं, अकाइया चेदि—बादर-सूक्ष्मशरीरनिबन्धनकर्मातीतत्वतः अकायिकाः अशरीराः सिद्धाः भवन्ति च इति।

अत्र कश्चिदाह—जीवप्रदेशप्रचयात्मकत्वात् सिद्धा अपि सकाया इति चेत् ?

आचार्यः प्राह—नैतत्, तेषां सिद्धानां अनादिकालीनस्वाभाविकबन्धनबद्धजीवप्रदेशात्मत्वात्।

कायरूप कावड़ के द्वारा कर्मभार को वहन करता है।

लोक में जैसे बोझा ढोने वाला पुरुष—कावड़िया कावड़ में रखे भार को लेकर विवक्षित स्थान को ले जाता है। वैसे ही संसारी जीव औदारिक आदि नोकर्म शरीर में रखे ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों के भार को लेकर नाना योनिस्थानों में जाता है। पुनः वही मनुष्य—कावड़िया कावड़ के भार से मुक्त होकर अपने इष्ट स्थान में उस भार से होने वाले दुःख के चले जाने से सुखी होकर बैठता है।

उसी प्रकार कोई भव्य जीव भी पाँच लब्धियों के द्वारा सम्यग्दर्शन आदि सामग्री से सम्पन्न हो, तत्त्वज्ञानी बन शरीररूपी कावड़ में भरे कर्मों के भार से मुक्त होकर उस भार से होने वाली नाना प्रकार के दुःखों की वेदना के चले जाने से इष्ट—लोक के अग्रभाग में सुखी होकर रहता है। इस प्रकार आचार्य के अभिप्राय में भव्यजीवों के लिए जो यह हितोपदेश है, उस पर दृष्टि देना चाहिए।

अब दोनों प्रकार के काय से रहित जीवों का लक्षण प्रतिपादित करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

स्थावर और त्रसकाय से परे कायरहित अकायिक जीव होते हैं।।४६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—जो उस त्रस और स्थावररूप दो प्रकार की कायरशि से परे हैं वे सिद्ध जीव बादर और सूक्ष्म शरीर के कारणभूत कर्म से रहित होने के कारण अशरीरी होते हैं अतएव अकायिक कहलाते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि—

जीवप्रदेशों के प्रचयरूप होने के कारण सिद्ध जीव भी सकाय हैं फिर उन्हें अकाय क्यों कहा ?

इस शंका का समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं—

ऐसा नहीं है क्योंकि सिद्धजीव अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धन से बद्ध जीवप्रदेशस्वरूप हैं इसलिए उसकी अपेक्षा यहाँ कायपना नहीं लिया गया है।

अनादिकालीनात्मप्रदेशानां प्रचयोऽपि कायः किन्न स्यात् इति चेत् ?

नैतत्, मूर्तानां पुद्गलानां कर्मनोऽकर्मपर्यायपरिणतानां सादिसान्तप्रचयस्य कायत्वाभ्युपगमात्। अत्र सूत्रे 'च' शब्दः कायमार्गणपरिसमाप्तिप्रतिपादनं सूचयति।

एवं द्वितीयस्थले कायमार्गणायां त्रसस्थावरजीवानां अकायिकसिद्धानां च गुणस्थानगुणस्थानातीत-प्रतिपादनपरत्वेन चत्वारि सूत्राणि गतानि।

इति षट्खण्डागमप्रथमखंडे गणिनीज्ञानमतीकृत
सिद्धान्तचिन्तामणिटीकायां कायमार्गणानाम-
तृतीयोऽधिकारः समाप्तः।

शंका — अनादिकालीन आत्म-प्रदेशों के प्रचय को काय क्यों नहीं कहा ?

समाधान — ऐसा नहीं है क्योंकि यहाँ पर कर्म और नोकर्मरूप पर्याय से परिणत मूर्त पुद्गलों के सादि और सान्त प्रदेश प्रचय को ही कायरूप से स्वीकार किया है। यहाँ सूत्र में 'च' शब्द कायमार्गणा की परिसमाप्ति का कथन सूचित करता है।

इस प्रकार द्वितीय स्थल के कायमार्गणा में त्रस-स्थावर जीवों के और अकायिक सिद्धों के गुणस्थान और गुणस्थानातीत व्यवस्था के प्रतिपादन की मुख्यता से चार सूत्र पूर्ण हुए।

इस प्रकार षट्खंडागम के प्रथमखंड में गणिनी ज्ञानमती कृत
सिद्धान्तचिन्तामणिटीका में कायमार्गणा नामक
तृतीय अधिकार समाप्त हुआ।



अथ योगमार्गणाधिकारः

अथ द्वादशस्थलैः चतुःपञ्चाशत्सूत्रैः योगमार्गणानाम् चतुर्थोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र तावत् प्रथमस्थले सामान्ययोगानां कथनत्वेन “जोगाणुवादेण” इत्यादिसूत्रद्वयं। ततः परं द्वितीयस्थले मनोयोगिनां निरूपणत्वेन “मणजोगो” इत्यादिसूत्रत्रयं। तदनु तृतीयस्थले वचनयोगिकथनत्वेन “वचिजोगो” इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। तदनंतरं चतुर्थस्थले काययोगिनिरूपणत्वेन “कायजोगो” इत्यादिनवसूत्राणि। तत्पश्चात् पंचमस्थले गुणस्थान-इंद्रियापेक्षया “मणजोगो” इत्यादिसूत्रत्रयं। ततः परं षष्ठस्थले योगेषु पर्याप्तापर्याप्तापेक्षया “मणजोगो” इत्यादिसूत्रत्रयं। तदनंतरं सप्तमस्थले इंद्रियपर्याप्ति-अपेक्षया “सण्णि” इत्यादिसूत्रपंचकं। पुनः योगेषु पर्याप्त्यपेक्षया अष्टमस्थले “ओरालिय” इत्यादिसूत्रत्रयं। ततश्च नवमस्थले नारकाणां पर्याप्तिगुणस्थानादिना “णेरइया” इत्यादिपंचकं सूत्रं। तदनु दशमस्थले तिरश्चां गुणस्थानपर्याप्त्यादिकथनत्वेन “तिरिक्खा” इत्यादिना पंचसूत्राणि। तत्पश्चात् एकादशमस्थले मनुष्येषु गुणस्थानपर्याप्त्यादिप्रतिपादनत्वेन “मणुस्सा” इत्यादिपंचसूत्राणि। ततः परं द्वादशमस्थले देवेषु गुणस्थानपर्याप्त्यादिप्रतिपादनपरत्वेन “देवा” इत्यादिना सप्त सूत्राणि इति समुदायपातनिका।

संप्रति योगद्वारेण जीवद्रव्यप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीपुष्पदन्ताचार्येण—

जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि।।४७।।

अथ योगमार्गणा अधिकार

अब बारह स्थलों से चौब्वन सूत्रों के द्वारा योगमार्गणा नामका चतुर्थ अधिकार प्रारंभ होता है। उनमें से प्रथम स्थल में सामान्य योगों के कथनरूप से “जोगाणुवादेण” इत्यादि दो सूत्र हैं, उसके आगे द्वितीय स्थल में मनोयोगी जीवों के निरूपण करने वाले “मणजोगो” इत्यादि दो सूत्र हैं। पुनः तृतीय स्थल में वचनयोगियों के कथन की मुख्यता से “वचिजोगो” इत्यादि पाँच सूत्र हैं। तदनंतर चतुर्थ स्थल में काययोगी जीवों का निरूपण करने हेतु “कायजोगो” इत्यादि नव सूत्र हैं। तत्पश्चात् पंचम स्थल में गुणस्थान और इंद्रिय की अपेक्षा से “मणजोगो” इत्यादि तीन सूत्र हैं। इसके बाद छठे स्थल में योगों में पर्याप्त-अपर्याप्त की अपेक्षा से “मणजोगो” इत्यादि तीन सूत्र हैं। तदनन्तर सप्तम स्थल में इंद्रिय पर्याप्ति की अपेक्षा से “सण्णि” इत्यादि पाँच सूत्र हैं। पुनः योगों में पर्याप्ति की अपेक्षा से अष्टम स्थल में “ओरालिय” इत्यादि तीन सूत्र हैं। उसके बाद नवमें स्थल में नारकी जीवों की पर्याप्ति एवं गुणस्थान आदि का वर्णन करने वाले “णेरइया” इत्यादि पाँच सूत्र हैं। तत्पश्चात् दशवें स्थल में तिर्यचों के गुणस्थान, पर्याप्ति आदि कथन की मुख्यता से “तिरिक्खा” इत्यादि पाँच सूत्र हैं। पुनः ग्यारहवें स्थल में मनुष्यों में गुणस्थान, पर्याप्ति आदि के प्रतिपादन की मुख्यता से “मणुस्सा” इत्यादि पाँच सूत्र हैं। उसके पश्चात् बारहवें स्थल में देवों में गुणस्थान, पर्याप्ति आदि का प्रतिपादन करने वाले “देवा” इत्यादि सात सूत्र हैं इस प्रकार समुदायपातनिका हुई।

अब योगमार्गणा के द्वारा जीव द्रव्य का प्रतिपादन करने के लिए श्रीपुष्पदन्त आचार्य सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

योगमार्गणा के अनुवाद की अपेक्षा मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव हैं।।४७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — योगाणुवादेण — योगस्यानुवादेन, मणजोगी वचिजोगी कायजोगी — भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः मनोयोगः। वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः। कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः। तदस्यास्ति अस्मिन्निति इति सति सिद्धं मनोयोगी वाग्योगी काययोगी इति।

अस्मिन् सूत्रे 'इति' शब्दः सूत्रसमाप्तिप्रतिपादनफलः। 'च' शब्दश्च त्रय एव योगाः सन्ति नान्ये इति योगसंख्यानियमप्रतिपादनफलः समुच्चयार्थो वा।

त्रयाणां योगानां प्रवृत्तिक्रमेण उत क्रमेण ?

न अक्रमेण, त्रिषु योगेषु अक्रमेण एकस्यात्मनो प्रवृत्तिर्नास्ति योगविरोधात्।

मनोवाक्कायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचित् दृश्यन्ते इति चेद् ?

भवतु तासां तथा प्रवृत्तिः, दृष्टत्वात्, न तत्प्रयत्नानां अक्रमेण वृत्तिः तथोपदेशाभावात्।

अथ स्यात् प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः, बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका, तथा च सिद्धो मनोयोगः शेषयोगाविनाभावीति ?

नैतत्, कार्यकारणयोः एककाले समुत्पत्तिविरोधात्।^१

अस्मिन् संसारे मनोयोगिनः वाग्योगिनः काययोगिनश्च जीवाः सन्ति इति।

संप्रति योगविरहितजीवानां स्वरूपप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — योगमार्गणा के अनुवाद — कथन से भावमन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न है वह मनोयोग है। वचन को उत्पन्न करने का प्रयत्न वचनयोग है और काय की क्रिया को उत्पन्न करने का प्रयत्न काययोग है। वह योग जिसमें होता है वे जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी कहलाते हैं ऐसा कथन सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र में जो "इति" शब्द आया है उसका फल सूत्र की समाप्ति का प्रतिपादन करना है। तथा जो "च" शब्द आया है उसका मतलब है कि योग तीन ही होते हैं अधिक नहीं, इस प्रकार योग की संख्या के नियम का प्रतिपादन होता है। अथवा 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थ का प्रतिपादन करने वाला समझना चाहिए।

शंका — तीनों योगों की प्रवृत्ति अक्रम से होती है या क्रम से ?

समाधान — अक्रम से — युगपत् नहीं होती है क्योंकि तीनों योगों में अक्रमपूर्वक एक आत्मा की प्रवृत्ति मानने में योगों में विरोध आता है।

शंका — कहीं-कहीं मन, वचन, काय की प्रवृत्ति अक्रम से — युगपत् भी देखी जाती है ?

समाधान — यदि देखी जाती है तो उनकी युगपत् वृत्ति होती रहे, परन्तु इससे मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के लिए जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है क्योंकि आगम में इस प्रकार का उपदेश नहीं मिलता है।

शंका — प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है। ऐसी परिस्थिति में मनोयोग शेष योगों का अविनाभावी है यह बात सिद्ध हो जाना चाहिए ? अर्थात् प्रयत्न एक साथ होते हैं यह बात सिद्ध हो जाएगी ?

समाधान — ऐसा नहीं है क्योंकि कार्य और कारण इन दोनों की एक काल में उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

इस संसार में मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव हैं ऐसा अभिप्राय है।

अब योग रहित जीवों के प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

अजोगी चेदि॥४८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — न योगी अयोगी। एतेषां पंचदशापि योगा न सन्ति त एवायोगिनश्चतुर्दशम-
गुणस्थानवर्तिन इति।

उक्तं च —

जेसिं ण सन्ति जोगा सुहासुहा पुण्ण-पावसंजणया।

ते होंति अजोगिजिणा अणोवमाणंत-बलकलिया॥^१

येषामात्मनां पुण्यपापसंजनकाः, प्रशस्ताप्रशस्तकर्मबंधहेतवः कायवाङ्मनःकर्मलक्षणाः शुभा-
शुभयोगाः न सन्ति ते आत्मानः अयोगिजिनाः चरमगुणस्थानवर्त्ययोगिकेवलिनः तदनंतरगुणस्थानातीतसिद्ध-
पर्यायपरिणताश्च भवन्ति। अनुपमानन्तबलकलिताः-अनुपमं अस्मदाद्युपमातिक्रान्तं, अनन्तं अक्षयानन्ताविभाग-
प्रतिच्छेदसमग्रं बलं-कालत्रयगोचरलोकालोकवर्तिसकलद्रव्यगुणपर्याययुगपद्ग्रहणसामर्थ्यं तेन कलिता
व्याप्ताः तत्त्वभावपरिणताः सन्ति। परमात्मनो बलं केवलज्ञानादिवदात्मस्वभावत्वेन अप्रतिनियतविषयमित्य-
नन्तबलकलिता भवन्ति अयोगिजिना इति ज्ञातव्याः।^२

एवं प्रथमस्थले सामान्ययोगिनां कथनपरत्वेन द्वे सूत्रे गते।

संप्रति मनोयोगस्य भेदप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीमदाचार्यदेवेन—

सूत्रार्थ—

अयोगी जीव हैं॥४८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — जिनके योग नहीं पाया जाता है वे अयोगी कहलाते हैं।

कहा भी है—

गाथार्थ—जिन जीवों के पुण्य और पाप के उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते हैं वे
अनुपम और अनंत बल से सहित अयोगीजिन कहलाते हैं।

जिन आत्माओं के पुण्य-पापरूप प्रशस्त और अप्रशस्त कर्मबन्ध के कारण मन-वचन-काय की
क्रियारूप शुभ और अशुभ योग नहीं हैं वे आत्मा चरम गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली और उसके अनंतर
गुणस्थानों से रहित सिद्धपर्यायरूप परिणत मुक्त जीव होते हैं।

“अनुपमानन्तबलकलिताः” अनुपम अर्थात् हम जैसे लोगों की उपमा को अतिक्रान्त करने
वाले, अनंत अर्थात् अक्षयानन्त प्रतिच्छेदों से परिपूर्ण, बल अर्थात् त्रिकाल के लोक अलोकवर्ती
समस्त द्रव्य गुणपर्याय को एक साथ ग्रहण करने की सामर्थ्य उससे कलित अर्थात् तत्त्वभावपरिणत
अयोगी होते हैं। परमात्मा का बल केवलज्ञान की तरह आत्मा का स्वभाव होने से अप्रतिनियत
विषय वाला होता है। इसी अपेक्षा से अयोगकेवली जिन अनंतबलकलिताः विशेषण से सार्थक नाम
वाले होते हैं।

इस प्रकार प्रथमस्थल में सामान्य योगियों के कथन की मुख्यता से दो सूत्र पूर्ण हुए।

अब मनोयोग के भेदों का प्रतिपादन करने के लिए श्रीआचार्यदेव सूत्र का अवतार करते हैं—

मणजोगो चउव्विहो-सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो असच्चमोसमणजोगो ॥४९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मणजोगो चउव्विहो — मनोयोगः चतुर्विधः — सच्चमणजोगो-सत्यं अवितथं अमोघं इत्यनर्थान्तरं। सत्ये मनः सत्यमनः, तेन योगः सत्यमनोयोगः। मोसमणजोगो — तद्विपरीतो मोषमनोयोगः। सच्चमोसमणजोगो — तदुभययोगात्सत्यमोषमनोयोगः। असच्चमोसमणजोगो — ताभ्यां सत्यमोषाभ्यां व्यतिरिक्तोऽसत्यमोषमनोयोगः।

समनस्केषु मनःपूर्विका वचसः प्रवृत्तिः अन्यथानुपलंभात्। तत्र सत्यवचननिमित्तकमनसा योगः सत्यमनोयोगः। तथा मोषवचननिमित्तकमनसा योगो-मोषमनोयोगः। उभयात्मकवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमोषमनोयोगः। त्रिविधवचनव्यतिरिक्तामंत्रणादिवचननिबन्धनमनसा योगोऽसत्यमोषमनोयोगः। नायमर्थो मुख्यः सकलमनसामव्यापकत्वात्।

कः पुनः निरवद्योऽर्थश्चेत् ?

यथावद् वस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमनः। विपरीतं असत्यमनः। द्वयात्मकमुभयमनः। संशयानध्यव-

सूत्रार्थ —

मनोयोग चार प्रकार का है — सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, सत्यमृषामनोयोग और असत्यमृषामनोयोग ॥४९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनोयोग चार प्रकार का है।

१. सत्यमनोयोग — सत्य, अवितथ और अमोघ ये एकार्थवाची शब्द हैं। सत्य के विषय में होने वाले मन को सत्यमन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं।

२. मृषामनोयोग — सत्य से विपरीत योग को मृषामनोयोग कहते हैं।

३. सत्यमृषामनोयोग — जो योग सत्य और मृषा इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है उसे सत्यमृषामनोयोग कहते हैं।

४. असत्यमृषामनोयोग — सत्यमनोयोग और मृषामनोयोग से व्यतिरिक्त योग को असत्यमृषामनोयोग कहते हैं।

समनस्क जीवों में वचनवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है क्योंकि मन के बिना उनमें वचनप्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। इसलिए उन चारों में से सत्यवचननिमित्तक मन के निमित्त से होने वाले योग को सत्यमनोयोग कहते हैं तथा असत्यवचननिमित्तक मन से होने वाले योग को असत्य मनोयोग कहते हैं। सत्य और मृषा इन दोनों रूप वचननिमित्तक मन से होने वाले योग को उभय मनोयोग कहते हैं। उक्त तीनों प्रकार के वचनों से भिन्न आमंत्रण आदि अनुभयरूप वचननिमित्तक मन से होने वाले योग को अनुभयमनोयोग कहते हैं। फिर भी उक्त प्रकार का कथन मुख्य नहीं है क्योंकि इसकी सम्पूर्ण मन के साथ व्याप्ति नहीं पाई जाती है। अर्थात् उक्त कथन उपचरित है क्योंकि वचन की सत्यादिकता से मन में सत्य आदि का उपचार किया गया है।

शंका — तो फिर यहाँ निर्दोष अर्थ कौन सा लेना चाहिए ?

समाधान — जहाँ जिस प्रकार की वस्तु विद्यमान हो वहाँ उसी प्रकार से प्रवृत्ति करने वाले मन को सत्यमन कहते हैं। इससे विपरीत मन को असत्य मन कहते हैं।

सायज्ञाननिबन्धनं असत्यमोषमनः इति। अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरंतनोऽप्यर्थः समीचीन एव।

मनसां गुणस्थानेषु अस्तित्वप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णमिच्छाइट्ठिप्पहुडि

जाव सजोगिकेवलि त्ति।।५०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सण्णमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति — संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति संज्ञिमिथ्यादृष्टेः आरभ्य सयोगिकेवलीपर्यन्तेषु, मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो — मनोयोगः सत्यमनोयोगः असत्यमोषमनोयोगश्च भवन्ति।

अयं पंचमो मनोयोग क्व लब्धश्चेत् ?

नैष दोषः, चतसृणां मनोव्यक्तीनां सामान्यस्य पंचमत्वोपपत्तेः।

भवतु केवलिनो भगवतः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वं, तत्र वस्तुयाथात्म्यज्ञानसद्भावात्। नासत्यमोष-मनोयोगस्य सत्त्वं, तत्र केवलिनि संशयानध्यवसाययोरभावात् ?

नैतत् वक्तव्यं, संशयानध्यवसायनिमित्तकवचनहेतुमनसोऽपि असत्यमोषमनस्त्वमस्ति अतः तत्र केवलिनि तस्य योगस्य सत्त्वाविरोधात्।

किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत् ?

सत्य और असत्य इन दोनोंरूप मन को उभयमन कहते हैं तथा जो संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञान का कारण है उसे अनुभयमन कहते हैं। अथवा मन में सत्य, असत्य आदि वचनों को उत्पन्न करनेरूप योग्यता है उसकी अपेक्षा से चिरन्तन अर्थ भी समीचीन है।

अब गुणस्थानों में मन के अस्तित्व का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

सामान्य से मनोयोग और विशेषरूप से सत्यमनोयोग तथा असत्यमृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवलीपर्यन्त होते हैं।।५०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवों से आरंभ करके सयोगिकेवली पर्यन्त जीवों में सामान्य मनोयोग, सत्य मनोयोग और असत्यमृषामनोयोग होते हैं।

शंका — यह पाँचवाँ मनोयोग कहाँ से आया ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि भेदरूप चार प्रकार के मनोयोगों में रहने वाले सामान्य योग से पाँचवीं संख्या बन ही जाती है।

शंका — केवलीजिन के सत्यमनोयोग का सद्भाव रहा आवे क्योंकि वहाँ पर वस्तु के यथार्थ ज्ञान का सद्भाव पाया जाता है परन्तु उनके असत्यमृषामनोयोग का सद्भाव नहीं है क्योंकि वहाँ पर संशय और अनध्यवसाय ज्ञान का अभाव है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि संशय और अनध्यवसाय के कारणरूप वचन का कारण मन होने से उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है। अतः सयोगीजिन में अनुभय मनोयोग का सद्भाव स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं होता है।

शंका — केवली के वचन संशय और अनध्यवसाय को पैदा करते हैं इसका क्या कारण है ?

न, केवलिनो ज्ञानविषयभूतपदार्थस्यानन्त्यात् श्रोतुरावरणक्षयोपशमातिशयाभावाच्च।
 तीर्थकरवचनमनक्षरत्वात् ध्वनिरूपं, तत एव तदेकं, एकत्वात् न तस्य द्वैविध्यं घटते इति चेत् ?
 न, तत्र केवलिनि भगवति 'स्यात्' इत्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वतस्तस्य ध्वनेः अनक्षरत्वासिद्धेः।
 तथा च साक्षरत्वेऽपि केवलिनो वचनमशेषभाषारूपं। क्रमविशिष्टवर्णात्मक भूयः पंक्तिदम्बकस्य
 प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरोधात्।^१

अतीन्द्रियज्ञानत्वात् न केवलिनो मनः इति चेत् ?

न, केवलिनो द्रव्यमनसः सत्त्वात्।

केवलिनि क्षायोपशमिकमनसोऽभावात्, कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिः इति चेत् ? न, उपचारतो मनसा
 तयोरुभयवचनयोः समुत्पत्तिविधानात्। किंच केवलिनि मानसिकज्ञानसहकारिकारणक्षयोपशमाभावात्।
 अस्ति उपचारत एव वचनद्वितयसमुत्पत्तिरस्तीति।

संज्ञिमिथ्यादृष्टेर्जीवादारभ्य सयोगिकेवलपर्यन्तेषु सत्यमनोयोग-अनुभयमनोयोगौ स्तः इति
 तात्पर्यमवबोद्धव्यम्।

संप्रति शेषमनसोर्गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति—

समाधान — नहीं, क्योंकि केवली के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ अनंत होने से और श्रोता के आवरण
 कर्म का क्षयोपशम अतिशयरहित होने से केवली के वचनों के निमित्त से संशय और अनध्यवसाय की
 उत्पत्ति हो सकती है।

शंका — तीर्थकर के वचन अनक्षररूप होने के कारण ध्वनिरूप हैं और इसलिए वे एकरूप हैं और
 एकरूप होने के कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो तरह के नहीं हो सकते हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि केवली भगवान् के वचन में “स्यात्” इत्यादि रूप से अनुभयरूप वचन
 का सद्भाव पाया जाता है, इसलिए केवली जिनेन्द्र की ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है तथा केवली
 की ध्वनि को साक्षर मान लेने पर भी उनके वचन अशेष भाषारूप होते हैं क्योंकि क्रमविशिष्ट, वर्णात्मक
 अनेक पंक्तियों के समुच्चयरूप और अलग-अलग प्रत्येक श्रोता में प्रवृत्त होने वाली ऐसी केवली की ध्वनि
 संपूर्ण भाषारूप होती है ऐसा मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका — केवली के अतीन्द्रिय ज्ञान होता है इसलिए उनके मन नहीं पाया जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि उनके द्रव्यमन का सद्भाव पाया जाता है।

शंका — केवली में क्षायोपशमिक मन नहीं पाया जाता है तो उनके सत्य और अनुभय इन दो प्रकार
 के वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि उपचार से मन के द्वारा उन दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान
 किया गया है। दूसरी बात केवली के मानसिक ज्ञान के सहकारी कारणरूप क्षयोपशम का अभाव है इसलिए
 उपचार से ही दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति मानी जाती है।

संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवों से आरंभ होकर सयोगिकेवली गुणस्थान पर्यन्त जीवों में सत्यमनोयोग और
 अनुभयमनोयोग होते हैं ऐसा तात्पर्य जानना चाहिए।

अब शेष दो मनोयोगों के गुणस्थानों के प्रतिपादन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं —

मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसायवीयराय-छदुमत्था त्ति॥५१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति — संज्ञिमिथ्यादृष्टेः प्रभृति यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थमहामुनिपर्यंतेषु, मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो — मोषमनोयोगः सत्यमोषमनोयोगः स्तः।

भवतु नाम क्षपकोपशमकानां श्रेण्यारोहकमहामुनीनां सत्यस्य असत्यमोषस्य च सत्त्वं, नेतरयोः, अप्रमादस्य प्रमादविरोधित्वात् ?

न, रजोजुषां-आवरणसहितानां विपर्ययानध्यवसायज्ञानकारणमनसः सत्त्वाविरोधात्। न च तद्योगात् प्रमादिनः ते मुनयः, प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात्। अतो ज्ञायते शुक्लध्यानिनां विशिष्टधर्मध्यानिनां वा श्रेण्यारोहकमहामुनीनां अपि आवरणकर्मनिमित्तेन मृषामनोयोग-सत्यमृषामनोयोगयोरस्तित्वं अस्ति। तदपि सत्त्वापेक्षया न च कार्यापेक्षया इति।

एवं द्वितीयस्थले मनोयोगिनां कथनपरत्वेन सूत्रत्रयं गतं।

अधुना वाग्योगस्य भेदप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

वचिजोगो चउव्विहो-सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोसवचि- जोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि॥५२॥

सूत्रार्थ —

असत्य मनोयोग और उभय मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं॥५१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ महामुनि पर्यन्त जीवों में मृषामनोयोग और सत्यमृषामनोयोग ये दो मनोयोग होते हैं।

शंका — क्षपक और उपशामक जीवों की श्रेणी पर आरोहण करने वाले महामुनियों के सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोग का सद्भाव होता रहे परन्तु शेष दो मनोयोगों का सद्भाव उनके नहीं हो सकता है क्योंकि इन दोनों में रहने वाला अप्रमाद असत्य और उभय मन के कारणभूत प्रमाद का विरोधी है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि आवरणकर्म से युक्त जीवों के विपर्यय ज्ञान और अनध्यवसाय ज्ञान के कारणभूत मन का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। परन्तु इसके संबंध से क्षपक या उपशामक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते हैं क्योंकि प्रमाद मोह की पर्याय है।

इससे यह ज्ञात होता है कि शुक्लध्यानी महामुनिराजों के अथवा विशिष्टधर्मध्यानी श्रेणी पर आरोहण करने वाले महामुनियों के भी आवरण कर्म के निमित्त से मृषामनोयोग और सत्यमृषामनोयोग का अस्तित्व होता है। ये मनोयोग सत्ता की अपेक्षा से होते हैं, कार्य की अपेक्षा से नहीं ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार द्वितीय स्थल में मनोयोगी जीवों के कथन की मुख्यता से तीन सूत्र पूर्ण हुए।

अब वचनयोग के भेदों का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

वचनयोग चार प्रकार का है — सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, सत्यमृषावचनयोग और असत्यमृषावचनयोग॥५२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—वचिजोगो चउव्विहो—वचोयोगः चतुर्विधः-चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तत्तद्व्यपदेशं प्रतिलभन्ते तथा प्रतीयते च।

उक्तं च—

दसविह-सच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो।

तव्विवरीदो मोसो जाणुभयं सच्चमोसं ति।।

जो णेव सच्चमोसो तं जाण असच्चमोसवचिजोगं।

अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणीयादी।।^१

जनपदादिदशविधसत्यार्थविषयवागव्यापारजननसमर्थः, स्वरनामकर्मोदयापादितभाषापर्याप्ति-जनितभाषावर्गणावलम्बनात्मप्रदेश शक्तिरूपो यो भाववचनजनितो योगः प्रयत्नविशेषः स सत्यवचोयोगो भवति। तद्विपरीतो मृषा असत्यार्थविषयवागव्यापारप्रयत्नः असत्यवचोयोगः। कमंडलुनि घट इत्यादिसत्य-मृषार्थवागव्यापारप्रयत्नतः स उभयवागयोग इति। यः सत्यमृषार्थविषयो नैव भवति स असत्यमृषार्थविषय-वागव्यापारप्रयत्नविशेषः अनुभयवचनयोगः, अमनसां द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यंतजीवानां या अनक्षरात्मिका भाषाः संज्ञिनां च आमंत्रण्याद्यक्षरात्मिकाभाषाः ताः सर्वाः अनुभयवचनयोग इत्युच्यते।^२

संप्रति भेदमभिधाय गुणस्थानेषु तत्सत्त्वप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो विधीयते—

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—वचनयोग चार प्रकार का है। चार प्रकार के मन से उत्पन्न हुए चार प्रकार के वचन भी उस-उस संज्ञा को प्राप्त होते हैं और ऐसी प्रतीति भी होती है। कहा भी है—

गाथार्थ—दश प्रकार के सत्य वचन में वचनवर्गणा के निमित्त से जो योग होता है उसे सत्यवचनयोग कहते हैं उससे विपरीत योग को मृषावचनयोग कहते हैं। सत्यमृषारूप वचनयोग को उभयवचनयोग कहते हैं।।

जो न तो सत्यरूप है न मृषारूप ही है वह असत्यमृषावचनयोग है। असंज्ञी जीवों की भाषा और संज्ञी जीवों की आमंत्रणी आदि भाषाएँ इसके उदाहरण हैं।।

वह जनपद आदि दस प्रकार के सत्य अर्थ को विषय करने वाले वचन व्यापार को उत्पन्न करने में समर्थ है। स्वर नाम कर्म के उदय से प्राप्त भाषा पर्याप्ति से उत्पन्न भाषा-वर्गणा के आलम्बन से आत्मप्रदेशों में शक्तिरूप जो भाववचन से उत्पन्न योग अर्थात् प्रयत्नविशेष है वह सत्यवचनयोग है। उससे विपरीत असत्य है अर्थात् असत्य अर्थ को विषय करने वाला वचन व्यापाररूप प्रयत्न असत्यवचनयोग है। कमण्डलु में घटव्यवहार की तरह सत्य और असत्य अर्थविषयक वचनव्यापाररूप प्रयत्न उभयवचनयोग है।

जो सत्य और असत्य अर्थ को विषय नहीं करता वह असत्यमृषा अर्थ को विषय करने वाला वचन व्यापाररूप प्रयत्नविशेष अनुभयवचनयोग है।

अमनस् अर्थात् दो इंद्रिय से लेकर असंज्ञि पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों की जो अनक्षरात्मक भाषा है तथा संज्ञि पंचेन्द्रियों की जो आमंत्रण आदि रूप अक्षरात्मक भाषा है वह सब अनुभयवचन योग कही जाती है।

इस प्रकार वचनयोग के भेद कहने के पश्चात् अब गुणस्थानों में उसके सत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार किया जाता है—

वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति॥५३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — वचिजोगो — सामान्यवचोयोगः, असच्चमोसवचिजोगो — असत्यमोषवचोयोगः, बीइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति — द्वीन्द्रियादारभ्य यावत् सयोगिकेवलिनः इति।

विकलेन्द्रियाणां मनसा विना ज्ञानस्योत्पत्तिर्न संभवति ?

नैतत् एकांतेन संभवति, सप्रयत्नात्मसहकारिभ्यः इंद्रियेभ्यः अनुभयवचोयोगस्योत्पत्त्युपलंभात्।

समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेत् ?

न, केवलज्ञानेन व्यभिचारात्। किंतु समनस्कानां यत्क्षायोपशमिकज्ञानं तन्मनोयोगादुत्पद्यते, अत्र नास्ति दोषः।

तथैव विकलेन्द्रियाणां वचसोऽसत्यमोषत्वं भवति, अनध्यवसायहेतुत्वात्। अयं अनुभयवचनयोगस्त्र-योदशगुणस्थानपर्यन्तेषु वर्तते इति तात्पर्यमत्र।

संप्रति सत्यवचसः गुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति॥५४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सच्चवचिजोगो-दशविधा अपि सत्यवचोयोगाः, सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि

सूत्रार्थ —

सामान्य से वचनयोग और विशेषरूप से अनुभयवचनयोग द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है॥५३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सामान्यवचनयोग, असत्यमृषावचनयोग दो इंद्रिय जीवों से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त जीवों के होता है।

शंका — विकलेन्द्रिय जीवों के मन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ?

समाधान — नहीं, ऐसा एकान्त से संभव नहीं है क्योंकि प्रयत्न सहित आत्मा के सहकार की अपेक्षा रखने वाली इंद्रियों से अनुभयवचनयोग की उत्पत्ति पाई जाती है।

शंका — मन सहित समनस्क जीवों में मनोयोग से ही ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर केवलज्ञान से व्यभिचार आता है। किन्तु समनस्क जीवों के जो क्षायोपशमिक ज्ञान उत्पन्न होता है वह मनोयोग से होता है इसमें कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार से विकलेन्द्रिय जीवों के वचनों को अनुभयपना प्राप्त होता है क्योंकि विकलेन्द्रियों के वचन अनध्यवसायरूप ज्ञान के कारण हैं। यह अनुभयवचनयोग तेरह गुणस्थानों तक होता है ऐसा यहाँ तात्पर्य है।

अब सत्यवचनयोग का गुणस्थानों में निरूपण करने के लिए आगे सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

सत्यवचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है॥५४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — दशों प्रकार का वचनयोग संज्ञीमिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक होता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से प्रारंभ होकर सयोगिकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान तक के समस्त

जाव सजोगिकेवलि त्ति — संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत् सयोगिकेवलिन इति संज्ञिजीवेषु मिथ्यादृष्टेर्गुण-
स्थानादारभ्य आ सयोगिकेवलिनः दश अपि सत्यवचनानि संभवन्तीति ज्ञातव्यं।

शेषवचसोः गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

**मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव
खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति।।५५।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो — मोषवचोयोगः सत्यमोषवचोयोगः,
एतौ द्वौ अपि, सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति — संज्ञिजीवेषु मिथ्यादृष्टेर्गुण-
स्थानादारभ्य यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः महामुनयो निर्ग्रन्थसंज्ञकाः इति।

क्षीणकषायवीतरागनिर्ग्रन्थमुनीनां वचनं कथमसत्यमिति चेत् ?

न, असत्यनिमित्तकाज्ञानस्य सत्त्वापेक्षया तत्र निर्ग्रन्थेष्वपि तदसत्यवचनस्य सत्त्वप्रतिपादनात्। तत
एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्धः इति।

वाच्यमस्य क्षीणकषायस्य कथं वाग्योगश्चेत् ?

न, तत्राप्यन्तर्जल्पस्य सत्त्वाविरोधात्। निर्विकल्पध्यानस्थस्य शुक्लध्यानिनो यतेः बाह्यवचनप्रवृत्तिर्नास्ति
तथापि अन्तर्जल्पस्य तत्रापि संभवात्। अतः सत्त्वापेक्षया एव निर्विकल्पध्यानिनां मुनीनां इमौ योगौ स्तः
इति ज्ञातव्यम्।

एवं वचनयोगिप्रतिपादनत्वेन तृतीयस्थले चतुःसूत्राणि गतानि।

संज्ञी जीवों में दशों प्रकार के वचनयोग संभव होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

शेष वचनयोगों की गुणस्थान व्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

**मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञीमिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतराग-
छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं।।५५।।**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — मृषा वचनयोग एवं सत्यमृषावचनयोग ये दोनों ही वचनयोग मिथ्यादृष्टि
गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक के निर्ग्रन्थ संज्ञाधारी महामुनियों के होते हैं।

शंका — जिनकी कषायें क्षीण हो गई हैं ऐसे वीतराग निर्ग्रन्थ मुनियों के वचन असत्य कैसे हो सकते हैं ?

समाधान — ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि असत्य वचन का निमित्त जो अज्ञान है उसका सत्त्व
बारहवें गुणस्थान के उन निर्ग्रन्थ मुनियों में भी पाया जाता है। इस अपेक्षा से वहाँ पर असत्यवचन के सद्भाव
का प्रतिपादन किया है। इसीलिए उभयसंयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है इस कथन
में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका — वचनगुप्ति का पूरी तरह से पालन करने वाले कषायरहित जीवों के वचनयोग कैसे संभव है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि कषायरहित जीवों में भी अन्तर्जल्प के पाये जाने में कोई विरोध नहीं आता
है। निर्विकल्प ध्यान में स्थित शुक्लध्यानी मुनि के यद्यपि बाह्य वचनों की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है फिर भी
अन्तर्जल्प तो उनके भी संभव है अतः सत्त्व की अपेक्षा से ही निर्विकल्पध्यानी मुनियों के ये दोनों योग होते
हैं ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार वचनयोगी जीवों के प्रतिपादन की मुख्यता से तृतीयस्थल में पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अधुना काययोगसंख्याप्रतिपादनार्थं उत्तरसूत्रावतारः क्रियते—

कायजोगो सत्तविहो — ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो वेगुव्वियकायजोगो वेगुव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो आहारमिस्स-कायजोगो कम्मइयकायजोगो त्ति।।५६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — कायजोगो सत्तविहो — काययोगः सप्तविधः, ओरालियकायजोगो — औदारिककाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियिककाययोगः, वैक्रियिकमिश्रकाययोगः, आहारकाययोगः, आहारमिश्रकाययोगः, कर्मणकाययोगः इति।

औदारिकशरीरजनितवीर्याज्जीवप्रदेशपरिस्पंदनिबन्धनप्रयत्नः औदारिककाययोगः। कर्मणौदारिकस्कन्धानां जनितवीर्यात्तत्परिस्पंदनार्थः प्रयत्नः औदारिकमिश्रकाययोगः। उदारः पुरुः महान् इत्यर्थः, तत्र भवं शरीरमौदारिकं।

कश्चिदाशङ्कते — अथ स्यान्न महत्त्वमौदारिकस्य शरीरस्य ? किंच वर्गणासूत्रे कथितं वर्तते —

“सर्व्वथोवा ओरालियसरीरद्वव्वगणापदेसा, वेउव्वियसरीरद्वव्वगणापदेसा असंखेज्जगुणा, आहारसरीरद्वव्वगणापदेसा असंखेज्जगुणा, तेयासरीरद्वव्वगणापदेसा अणंतगुणा” इत्यादि ?

तस्य समाधानं क्रियते — नैतद्वक्तव्यं, अत्र अवगाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः। यथा “सर्व्वथोवा कम्मइयसरीरद्वव्वगणाए ओगाहणा, मणद्वव्वगणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा,

अब काययोग की संख्या के प्रतिपादन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं —

सूत्रार्थ —

काययोग सात प्रकार का है — औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्र-काययोग और कर्मणकाययोग।।५६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उक्त प्रकार से काययोग के सात भेद माने गये हैं। औदारिक शरीर द्वारा (औदारिक वर्गणाओं से) उत्पन्न हुई शक्ति से जीव के प्रदेशों में परिस्पन्द का कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं। कर्मण और औदारिक वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न हुए वीर्य से जीव के प्रदेशों में परिस्पन्द के लिए जो प्रयत्न होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं। उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं, उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिकशरीर कहते हैं।

शङ्का — औदारिक शरीर महान् है ऐसा तो बनता नहीं है ? क्योंकि वर्गणासूत्र से भी कथन आता है कि —

औदारिक शरीर द्रव्य संबंधी वर्गणा के प्रदेश सबसे थोड़े हैं। उससे असंख्यातगुणे वैक्रियिकशरीरद्रव्यसंबंधी वर्गणा के प्रदेश हैं। उससे असंख्यात गुणे आहारक शरीरद्रव्यसम्बन्धी वर्गणा के प्रदेश हैं और उससे अनंतगुणे तैजसशरीरद्रव्यसम्बन्धी वर्गणा के प्रदेश हैं।

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अवगाहना की अपेक्षा यहाँ औदारिक शरीर की स्थूलता बन जाती है। जैसा कहा भी है —

“कर्मण शरीर सम्बन्धी द्रव्य वर्गणा की अवगाहना सबसे सूक्ष्म है, मनोद्रव्य वर्गणा की अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है, भाषाद्रव्यवर्गणा की अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है, तैजसशरीरसम्बन्धी

भासादव्ववग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, तेयासरीरदव्ववग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहारसरीरदव्ववग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, वेउव्वियसरीरदव्ववग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरदव्ववग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा ति। ”

अतः एतज्जायते, यत् इदं औदारिकशरीरं अवगाहनापेक्षयैव स्थूलं वर्तते न च पौद्गलिकव्यवर्गणापेक्षया इति। अणिमादिविक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते। तत्र भवं शरीरं वैक्रियिकम्। तदवलंबनात् समुत्पन्नपरिस्पंदेन योगः वैक्रियिककाययोगः। कार्मणवैक्रियिकस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः वैक्रियिक-मिश्रकाययोगः इति।

आहारति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः, तेन आहारकायेन योगः आहारकाययोगः। इदं आहारशरीरं हस्तमात्रं, शंखवद्धवलं, शुभसंस्थानं भवति। एतच्छरीरं गच्छत्यर्वतादिना न प्रतिहन्यते, न शस्त्रैश्छिद्यते, नाग्निना दह्यते वा सूक्ष्मत्वात् वैक्रियिकशरीरवत्। आहारकार्मणस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः आहारमिश्रकाययोगः।

द्रव्यवर्गणा की अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है, आहारकशरीरसम्बन्धी द्रव्यवर्गणा की अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है, वैक्रियिकशरीरसम्बन्धी द्रव्यवर्गणा की अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है, औदारिक शरीर सम्बन्धी द्रव्यवर्गणा की अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है ऐसा माना गया है।

अतः ऐसा जाना जाता है कि यह औदारिक शरीर अवगाहना की अपेक्षा ही स्थूल होता है न कि पौद्गलिक द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा।

भावार्थ — गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी आचार्य श्रीनेमीचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा है —

पुरुमहदुदारुलं, एयद्वो तं विजाण तम्हि भवं। ओरालियं ति वुत्तं, ओरालियकायजोगो सो।।

ओरालियमुत्तत्थं विजाण मिसं च अपरिपुण्णं ति। जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सको जोगो।।

अर्थात् पुरु, महत्, उदार और उराल ये शब्द एकार्थवाचक हैं। उदार में जो होता है उसे औदारिक कहते हैं और उसके निमित्त से होने वाले योग को औदारिककाययोग कहते हैं।

औदारिक का जो अर्थ ऊपर कहा है, वही शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है तब तक मिश्र कहलाता है और उसके द्वारा होने वाले सम्प्रयोग को औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार चारों गतियों में मनुष्य एवं तिर्यच इन दो गति के प्राणियों में औदारिककाययोग तथा औदारिकमिश्रकाययोग होते हैं शेष दो गतियों में नहीं होते हैं।

अणिमा-महिमा आदि ऋद्धियों को विक्रिया कहते हैं। उन ऋद्धियों के सम्पर्क से पुद्गल भी “विक्रिया” इस नाम से कहे जाते हैं। उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। उस शरीर के अवलम्बन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द द्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियिक काययोग कहते हैं। कार्मण और वैक्रियक वर्गणाओं के निमित्त से उत्पन्न हुई शक्ति से जो परिस्पन्द के लिए प्रयत्न होता है उसे वैक्रियकमिश्रकाययोग कहते हैं।

जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थों को ग्रहण करता है अर्थात् आत्मसात् करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं और उस आहारक शरीर से जो योग होता है उसे आहारककाययोग कहते हैं। यह आहारक शरीर एक हाथ प्रमाण आकार वाला होता है, शंख के समान धवल — श्वेत वर्ण का होता है और शुभ संस्थान अर्थात् समचतुरस्र संस्थान से सहित होता है। यह शरीर गमन करते समय पर्वतादि से बाधित नहीं होता है, न शस्त्रों से उसका छेदन होता है और न अग्नि से वह जलाया जा सकता है क्योंकि वह वैक्रियक शरीर के

उक्तं च —

आहारदि अणेण मुणी सुहुमे अट्टे सयस्स संदेहे।

गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारको जोगो।।^१

यतः कारणात् आहारकर्धियुक्तः प्रमत्तमुनीश्वरः स्वस्य प्रवचनपदार्थेषु संशये जाते तद्व्यवच्छेदार्थं अनेनाहारकशरीरेण केवलिश्रीपादपार्श्वं गत्वा सूक्ष्मार्थान् आहरति गृह्णाति इत्याहारः, आहार एव आहारकं शरीरं। इदं शरीरं कदा उद्भवति इति चेत् ?

कथ्यते —

आहारस्सुदयेण य पमत्तविरदस्स होदि आहारो।

असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च।।२३५।।

णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुडि कल्लाणे।

परखेत्ते संवित्ते जिण - जिणघरवंदणट्ठं च।।२३६।।

उत्तम अंगम्मि हवे धादुविहीणं सुहं असंघडणं।

सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं।।२३७।।

समान सूक्ष्म होता है। आहारक और कर्मण की वर्गणाओं से उत्पन्न हुए वीर्य के द्वारा जो योग होता है वह आहारकमिश्रकाययोग है।

कहा भी है —

गाथार्थ — छट्टे प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि को संदेह होने पर जिस शरीर के द्वारा केवली के पास जाकर सूक्ष्म पदार्थों का आहरण — ग्रहण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं इसलिए उसके द्वारा होने वाले योग को आहारककाययोग कहते हैं।

जिस कारण से आहारकऋद्धि से युक्त प्रमत्त मुनीश्वर आगमिक पदार्थों में संशय होने पर उसको दूर करने के लिए इस आहारक शरीर के द्वारा केवली के चरणों के समीप जाकर सूक्ष्म अर्थों को ग्रहण करता है इसलिए आहार कहते हैं। आहार ही आहारक शरीर है।

यह शरीर कब उत्पन्न होता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं —

गाथार्थ — असंयम का परिहार करने के लिए तथा संदेह को दूर करने के लिए आहारक ऋद्धि के धारक छट्टे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से आहारक शरीर होता है।

अपने क्षेत्र में केवली तथा श्रुतकेवली का अभाव होने पर किन्तु दूसरे क्षेत्र में जहाँ पर कि औदारिक शरीर से उस समय पहुँचा नहीं जा सकता वहाँ केवली या श्रुतकेवली के विद्यमान रहने पर अथवा तीर्थकरों के दीक्षाकल्याणक आदि तीन कल्याणकों में से किसी के होने पर तथा जिनचैत्य एवं चैत्यालयों की वंदना के लिए भी आहारक ऋद्धि वाले छट्टे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि के आहारकशरीर नामकर्म के उदय से यह शरीर उत्पन्न हुआ करता है।

वह आहारकशरीर सप्त धातुओं से रहित, शुभ संहनन से रहित, शुभ संस्थान वाला, धवल, हस्तप्रमाण, प्रशस्तप्रकृतियों के उदय से युक्त होकर उत्तमांग — मस्तक से प्रगट होता है।

अव्याघादी अंतोमुहुत्तकालट्टिदी जहण्णिदरे।

पज्जत्ती संपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवइ।।२३८।।^१

प्रमत्तविरतस्य आहारशरीरनामकर्मोदयेन आहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां आहारकशरीररूपपरिणम-
नेनाहारकशरीरं भवति तत् किमर्थं ? सार्धद्वीपद्वयवर्तितीर्थयात्रादिविहारे असंयमपरिहरणार्थं ऋद्धिप्राप्तस्यापि
प्रमत्तसंयतस्य श्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशममाद्ये सति यदा धर्म्यध्यानविरोधी श्रुतार्थसन्देहः स्यात्तदा
तत्सन्देहविनाशार्थं च आहारकशरीरमुत्तिष्ठतीत्यर्थः।

निजक्षेत्रे स्ववृत्त्याधारदेशे केवलयुगरहिते — केवलिश्रुतकेवलिद्वयाभावे, परक्षेत्रे औदारिकशरीरगमनागोचरे
दूरक्षेत्रे केवलिश्रुतकेवलिद्वये तीर्थकरपरिनिष्क्रमणादिकल्याणत्रये च संवृत्ते वर्तमाने सति असंयमपरिहरणार्थं
सन्देहविनाशनार्थं जिनजिनगृहवन्दनार्थं च गन्तुं समुद्युक्तस्य प्रमत्तसंयतस्य आहारकशरीरं भवति।

तदाहारकशरीरं धातुविहीनं रसादिसप्तधातुरहितं, शुभं शुभनामकर्मोदयापादितप्रशस्तावयवविशिष्टं,
असंहननं अस्थिबन्धनरहितं, शुभ संस्थानं-प्रशस्तसमचतुरस्त्रसंस्थानांगोपाङ्गविन्यासयुतं, धवलं चन्द्रकान्त-
निर्मितमिवातिविशदं, हस्तप्रमाणं चतुर्विंशतिव्यवहाराङ्गुलप्रमितं प्रशस्तोदयं अध्रुवोदयप्रकृतिषु आहारक-
शरीर-तद्बन्धनसंघाताङ्गोपाङ्गादिप्रशस्तप्रकृत्युदययुतं, एवंविधं आहारकशरीरं उत्तमांगे भवेत् जायते।

तदाहारकशरीरं परेण स्वस्य स्वेन परस्य वा व्याघातरहितं बाधावर्जितं ततः कारणादेव वैक्रियिकशरीरवत्

वह आहारक शरीर अव्याघाती होता है, उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त है तथा
आहारकशरीरपर्याप्ति पूर्ण होने पर कदाचित् उसका मरण भी हो जाता है।

प्रमत्तविरत के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से आहारवर्गणा के आये हुए पुद्गलस्कन्धों को
आहारकशरीररूप परिणमन करने से आहारक शरीर होता है। उसका प्रयोजन कहते हैं — अढ़ाई द्वीप के
तीर्थों की यात्रा आदि के लिए विहार करना हो तो असंयम से बचने के लिए ऋद्धिप्राप्त प्रमत्तसंयत मुनि के
आहारक शरीर होता है। अथवा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की मन्दता होने पर जब
धर्मध्यान के विरोधी ऐसे शास्त्र के अर्थ में संदेह होता है तब उस संदेह को दूर करने के लिए ऋद्धिप्राप्त
प्रमत्तसंयत के आहारकशरीर प्रकट होता है।

निजक्षेत्र अर्थात् मुनि के अपने रहने के देश में केवली और श्रुतकेवली दोनों का ही अभाव होने पर तथा
परक्षेत्र अर्थात् औदारिक शरीर से जाना जहाँ संभव नहीं है ऐसे दूरवर्ती क्षेत्र में केवली, श्रुतकेवली के होने पर
या तीर्थकर के तप आदि तीन कल्याणक होने पर असंयम के परिहार के लिए, संदेह को नष्ट करने के लिए
तथा जिनदेव और जिनालयों की वंदना के लिए जाने को उद्यत प्रमत्तसंयत के आहारकशरीर होता है।

वह आहारकशरीर रस आदि सात धातुओं से रहित होता है, शुभ अर्थात् शुभनामकर्म के उदय से प्राप्त
प्रशस्त अवयवों से विशिष्ट होता है, अस्थिबंधन से रहित होता है, प्रशस्त समचतुरस्त्र संस्थान सहित
आंगोपांग की रचना से युक्त होता है, धवल अर्थात् चंद्रकांतमणि से निर्मित की तरह अत्यन्त स्वच्छ होता है,
हस्त प्रमाण अर्थात् चौबीस व्यवहारांगुल परिमाण वाला होता है। प्रशस्तोदय अर्थात् अध्रुवोदयी प्रकृतियों में
आहारकशरीर, आहारकबन्धन, आहारकसंघात, आहारक आंगोपांग आदि प्रशस्त प्रकृतियों के उदय से सहित
होता है। इस प्रकार का आहारक शरीर उत्तमांग — मस्तक से प्रकट होता है।

वह आहारक शरीर पर से अपनी और अपने से पर की बाधा से रहित होता है इसी कारण से वैक्रियिक

वज्रशिलादिनिर्भेदनसमर्थं जघन्योत्कृष्टेनान्तर्मुहूर्तकालस्थितियुतं, तच्छरीरपर्याप्तिपरिपूर्णायां सत्यां कदाचिच्छरीरार्थियुक्तस्य प्रमत्तसंयतस्य आहारककाययोगकाले स्वायुःक्षयवशेन मरणमपि संभवति। इत्थं आहारशरीरस्य माहात्म्यं जिनप्रतिमादर्शनमाहात्म्यं च ज्ञातव्यं भवद्भिः।

कार्मणशरीरलक्षणमुच्यते —

कर्मैवं कार्मणं शरीरं, अष्टकर्मस्कन्धः इति यावत्। अथवा कर्मणि भवं कार्माणं शरीरं, नामकर्मावयवस्य कर्मणो ग्रहणम्। तेन योगः कार्मणकाययोगः। केवलेन कर्मणा जनितवीर्येण सह योगः इति यावत्। अयं योगः एकसमयपर्यंतं द्विसमयपर्यंतं त्रिसमयपर्यंतं वा भवति नाधिकं इति।

अयं औदारिककाययोगः केषु भवतीतिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्खमणुस्साणं।।५७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो — औदारिककाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगश्च इमौ द्वौ अपि, तिरिक्खमणुस्साणं — तिर्यग्मनुष्याणां इति। न च औदारिककाययोगस्य एव नियमः तिर्यक्षु मनुष्येषु च, तत्र कार्मणकाययोगादीनामपि सद्भावात्। अतः औदारिककाययोग-स्तिर्यङ्मनुष्याणामेव इति ज्ञातव्यम्।

शरीर की तरह वज्रशिला आदि में से निकलने में समर्थ है। उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण होती है। आहारक शरीर पर्याप्ति परिपूर्ण होने पर कदाचित् आहारक शरीर ऋद्धि से युक्त प्रमत्तसंयत की आहारक काययोग के काल में अपनी आयु का क्षय हो जाने से मरण भी हो जाता है।

इस प्रकार आहारकशरीर का माहात्म्य और जिनप्रतिमा के दर्शन का माहात्म्य जानना चाहिए।

अब कार्मणशरीर का लक्षण कहा जाता है —

कर्म ही कार्मणशरीर है अर्थात् आठ प्रकार के कर्मस्कन्धों को कार्मणशरीर कहते हैं। अथवा कर्म से जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कार्मण शरीर कहते हैं। इससे नामकर्म के अवयवरूप कार्मणशरीर का ग्रहण होता है। उस शरीर के निमित्त से जो योग होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिक आदि शरीर वर्गणाओं के बिना केवल एक कर्म से उत्पन्न हुय वीर्य के निमित्त से आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। यह योग एक समय, दो समय अथवा तीन समय तक होता है, इससे अधिक नहीं होता है।

यह औदारिककाययोग किन जीवों के होता है इस बात का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

तिर्यच और मनुष्यों के औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग होता है।।५७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग ये दोनों योग तिर्यच और मनुष्यों के होते हैं। तिर्यच और मनुष्यों के औदारिककाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है क्योंकि उनके तो कार्मणकाययोग आदि का भी सद्भाव पाया जाता है। अतः निष्कर्ष ऐसा निकालना चाहिए कि औदारिककाययोग तिर्यच और मनुष्यों के ही होता है। अर्थात् अन्य देव और नारकियों के औदारिककाययोग होता ही नहीं है।

वैक्रियककाययोगः केषु भवतीतिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेइयाणं॥५८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—देवणेइयाणं वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो—देवनारकाणां वैक्रियककाययोगो वैक्रियकमिश्रकाययोगश्चेति। तिर्यङ्मनुष्यगतिकर्मोदयेन सह वैक्रियकोदयस्य विरोधात् स्वभावाद्वा न तयोः तिर्यङ्मनुष्ययोः वैक्रियकयोगः।

तिर्यङ्मो मनुष्याश्च वैक्रियकशरीराः श्रूयन्ते तत्कथं घटते इति चेत् ?

न, औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति। तयोर्यद् विक्रियात्मकं औदारिकशरीरं तद्वैक्रियकं मनुष्येषु तिर्यक्षु च प्रोक्तं, तदत्र न परिगृह्यते, विविधगुणर्द्धयभावात्। अत्र तु विविधगुणर्द्ध्यात्मकं वैक्रियकशरीरं गृह्यते, तच्च देवनारकाणामेव।

अधुना आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजदाणमिड्डिपत्ताणं॥५९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—इड्डिपत्ताणं संजदाणं आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो—ऋद्धिप्राप्तानां संयतानां आहारकाययोगः आहारमिश्रकाययोगः कथ्यते।

कश्चिदाह—आहारर्द्धिप्राप्तेः किमु संयताः ऋद्धिप्राप्ताः अत्र गृह्यन्ते उत वैक्रियकर्द्धिप्राप्तेस्ते संयताः ऋद्धिप्राप्ताः गृह्यन्ते इति चेत् ?

वैक्रियककाययोग किन जीवों के होता है, इसके प्रतिपादन हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

देव और नारकियों के वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग होता है॥५८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग ये दोनों योग देव तथा नारकी जीवों के होते हैं। तिर्यचगति और मनुष्यगति कर्मोदय के साथ वैक्रियक नामकर्म के उदय का विरोध आता है। अथवा तिर्यच और मनुष्यगति में वैक्रियक नामकर्म का उदय नहीं होता है यह स्वभाव ही है।

शंका—तिर्यच और मनुष्य भी वैक्रियक शरीर वाले सुने जाते हैं, इसलिए उपर्युक्त बात कैसे घटित होगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि औदारिक शरीर दो प्रकार का है—विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक। उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है वह मनुष्य और तिर्यचों के वैक्रियक रूप से कहा गया है, उसका यहाँ पर ग्रहण नहीं किया है क्योंकि उसमें नाना गुण और ऋद्धियों का अभाव है। यहाँ पर नाना गुण और ऋद्धियुक्त वैक्रियक शरीर का ही ग्रहण किया है और वह देव और नारकियों के ही होता है।

अब आहारकशरीर के स्वामी का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग ऋद्धिप्राप्त छठेगुणस्थानवर्ती संयतों के ही होते हैं॥५९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—ऋद्धिप्राप्त संयत महामुनियों के आहारककाययोग और आहारक-मिश्रकाययोग होते हैं ऐसा आगम का कथन है।

यहाँ पर कोई शंका करता है कि—

आचार्यदेवः समाधत्ते — ऋद्धिः अनुत्पत्तौ अपि ऋद्धिहेतुसंयमः ऋद्धिः उच्यते, कारणे कार्योपचारात्। ततश्च ऋद्धिहेतुसंयमप्राप्ताः यतयः ऋद्धिप्राप्ताः कथ्यन्ते, तेषामाहारर्द्धिरिति सिद्धे सति न प्राक्कथितदोषः संभवति। अथवा संयमविशेषजनिताहारशरीरोत्पादनशक्तिराहारर्द्धिरिति।

न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽपि, किंच एकर्द्ध्या सह अनेकर्द्धयः संभवन्ति, गणभृत्सु सप्तानामपि ऋद्धीनामक्रमेण सत्त्वोपलंभात्।

आहारकर्द्ध्या सह मनःपर्ययज्ञानस्य विरोधात्, सर्वाभिः ऋद्धिभिः सह विरोधो वक्तुं न पार्यते इति।^१ किन्तु विशेषेण—“युगपदनेकक्रियावृत्तिप्रसंगे सति प्रमत्तविरते वैक्रियिकाहारकशरीरक्रिययोः युगपत्प्रवृत्तिप्रतिषेधः आचार्येण प्ररूपितः।”^२

अतो ज्ञायते वर्धमानसंयमधारिणां मुनीनामेव आहारकर्द्धिरुत्पद्यते न हीयमानसंयमिनामिति।

संप्रति कर्मणशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

**कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-
गदाणं।।६०।।**

यहाँ पर क्या आहारकऋद्धि की प्राप्ति से संयतों को ऋद्धिप्राप्त शब्द से ग्रहण किया गया है अथवा वैक्रियकऋद्धि की प्राप्ति से भी उन्हें ऋद्धिप्राप्त संयत ग्रहण किया जा सकता है ?

आचार्यदेव इस शंका का समाधान करते हैं—

दूसरी ऋद्धियों के उत्पन्न नहीं होने पर भी ऋद्धि के कारणभूत संयम को ही ऋद्धि कहा गया है क्योंकि कारण में कार्य का उपचार हो जाता है। इसलिए ऋद्धि के कारणभूत संयम को प्राप्त हुए मुनियों को ऋद्धिप्राप्तसंयत कहते हैं और उनके आहारकऋद्धि होती है यह बात सिद्ध हो जाती है अतः पूर्वकथित दोष की संभावना नहीं रहती है। अथवा संयमविशेष से उत्पन्न हुई आहारकशरीर के उत्पादनरूप शक्ति को आहारकऋद्धि कहते हैं।

इसी प्रकार द्वितीय विकल्प में दिया गया दोष भी नहीं आता है क्योंकि एक ऋद्धि के साथ दूसरी अनेक ऋद्धियाँ भी हो सकती हैं क्योंकि गणधरों के एक साथ सातों ही ऋद्धियों का सद्भाव पाया जाता है।

आहारकऋद्धि के साथ मनःपर्ययज्ञान का विरोध है अर्थात् मनःपर्ययज्ञान और आहारकऋद्धि एक साथ नहीं हो सकते हैं किन्तु आहारकऋद्धि का दूसरी संपूर्ण ऋद्धियों के साथ विरोध नहीं कहा जा सकता है। वैक्रियक और आहारकशरीर की क्रियाओं के एक साथ होने का निषेध आचार्य ने किया है। अर्थात् ये दोनों क्रिया प्रमत्तविरत के संस्कारवश भी एक साथ नहीं होती है।

इससे यह ज्ञात होता है कि वर्धमान—वृद्धिगत चारित्र (संयम) धारी मुनियों के ही आहारकऋद्धि उत्पन्न होती है, हीयमान—घटते हुए चारित्ररूप जघन्य संयमी मुनियों के आहारकऋद्धि नहीं होती है।

अब कर्मणशरीर के स्वामी का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

विग्रहगति को प्राप्त चारों गतियों के जीवों के तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त केवलीजिन के कर्मणकाययोग होता है।।६०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — विग्रहगइसमावण्णाणं — विग्रहगतिसमापन्नानां जीवानां समुग्धादगदानं केवलीणं वा-प्रतरलोकपूरणसमुद्घातगतानां केवलिनां वा, कम्मइयकायजोगो — कार्मणकाययोगो भवति।

विग्रहो देहः, तदर्थं गतिः विग्रहगतिः। औदारिकादिशरीरनामोदयात् स्वनिर्वर्तनसमर्थान् विविधान् पुद्गलान् ग्रहणाति विग्रह्यतेऽसौ संसारिणा इति वा विग्रहो देहः। विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहः व्याघातः पुद्गलादाननिरोधः इत्यर्थः, विग्रहेण पुद्गलादाननिरोधेन गतिः विग्रहगतिः। अथवा विग्रहेण कौटिल्येन गतिः विग्रहगतिः। तां सम्यगापन्नाः प्राप्ताः विग्रहगतिसमापन्नाः।

शरीराणि यतः प्ररोहन्ति तद्वीजभूतं कार्मणशरीरं कार्मणकाय इति भण्यते। वाङ्मनःकायवर्णानिमित्तः आत्मप्रदेशपरिस्पंदो योगो भवति। कार्मणकायकृतो योगः कार्मणकाययोगः, स विग्रहगतौ वक्रगतौ वर्तमानजीवानां भवति।

एतदुक्तं — गतेर्गत्यन्तरं व्रजतां प्राणिनां चतस्रो गतयो भवन्ति — इषुगतिः पाणिमुक्ता लांगलिका गोमूत्रिका चेति। तत्र अविग्रहाः इषुगतिः प्राथमिकी, शेषाः विग्रहवत्यः। ऋज्वी गतिरिषुगतिरेकसमयिकी, यथा पाणिना तिर्यक् प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरैकविग्रहा गतिः तथा संसारिणां एकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी। यथा लांगलं द्विवक्रं तथा द्विविग्रहा गतिर्लांगलिका त्रैसमयिकी। यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — विग्रहगति को प्राप्त जीवों के तथा प्रतर एवं लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवली भगवन्तों के कार्मणकाययोग होता है।

देह को विग्रह कहते हैं, उस देह — विग्रह के लिए जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से अपने-अपने शरीर की रचना करने में समर्थ नाना प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है अथवा संसारी जीव के द्वारा शरीर का ग्रहण किया जाता है इसलिए देह को विग्रह कहते हैं। ऐसे विग्रह अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। अथवा 'वि' शब्द का अर्थ विरुद्ध और 'ग्रह' शब्द का अर्थ ग्रहण होने से विग्रह शब्द का अर्थ व्याघात है जिसका अर्थ पुद्गलों के ग्रहण करने का निरोध होता है। इसलिए विग्रह अर्थात् पुद्गलों के ग्रहण करने के निरोध के साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। अथवा विग्रह, व्याघात और कौटिल्य ये पर्यायवाची नाम हैं इसलिए विग्रह से अर्थात् कुटिलता (मोड़ों) के साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। उसको — विग्रहगति को भली प्रकार से प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न कहलाते हैं। उन सभी विग्रहगतिसमापन्न जीवों के कार्मणकाययोग होता है।

जिससे सम्पूर्ण शरीर उत्पन्न होते हैं उस बीजभूत कार्मणशरीर को कार्मणकाय कहते हैं। वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों को परिस्पन्दन होता है उसे योग कहते हैं। कार्मणकाय से जो योग उत्पन्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। वह विग्रहगति अर्थात् वक्रगति (मोड़ेवाली गति) में विद्यमान जीवों के होता है।

आगम में ऐसा कहा है कि एक गति से दूसरी गति में गमन करने वाले जीवों के चार गतियाँ होती हैं — इषुगति, पाणिमुक्तागति, लांगलिकागति और गोमूत्रिका गति। उनमें सबसे पहली जो इषुगति है वह विग्रहरहित होती है और शेष गतियाँ विग्रहसहित होती हैं। ऋजु अर्थात् सरल — धनुष से छूटे हुए बाण के समान मोड़ा रहित गति को इषुगति कहते हैं। इस गति में एक समय लगता है। जैसे हाथ से तिरछे फेंके गये द्रव्य की एक मोड़े वाली गति होती है उसी प्रकार संसारी जीवों के एक मोड़े वाली गति को पाणिमुक्ता गति कहते हैं, यह दो समयवाली होती है।

जैसे हल में दो मोड़े होते हैं उसी प्रकार दो मोड़े वाली गति को लांगलिका गति कहते हैं, यह तीन समय

तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी। तत्र कार्मणकाययोगः स्यादिति।

स्वस्थितप्रदेशादारभ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पंक्तिः श्रेणिरित्युच्यते। तथैव जीवानां गमनं नोच्छ्रेणिरूपेण। ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति।

घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाशः इति यावत्। उपरि घातः उद्घातः, समीचीन उद्घातः समुद्घातः। समुद्घातं गताः समुद्घातगताः, तेषां समुद्घातगतानां केवलानां कार्मणकाययोगः भवेत्। वा शब्दः समुच्चयप्रतिपादकः।

यतिवृषभोपदेशात्सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात्सर्वेऽपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निर्वृतिमुपढौकन्ते-निर्वाणं गच्छन्ति। येषामाचार्याणां लोकव्यापिकेवलितु विंशतिसंख्यानियमस्तेषां मतेन केचित् समुद्घातयन्ति, केचित् समुद्घातयन्ति।

के न समुद्घातयन्ति ?

येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना ते न समुद्घातयन्ति, शेषाः समुद्घातयन्ति।

अनिवृत्त्यादिपरिणामेषु समानेषु सत्सु किमिति स्थित्योर्वेषम्यम् ?

न, व्यक्तिस्थितिघातहेतुषु अनिवृत्तिपरिणामेषु समानेषु सत्सु संसृतेस्तत्समानत्वविरोधात्।

वाली होती है। जैसे गाय का चलते समय मूत्र करना अनेक मोड़ों वाला होता है उसी प्रकार तीन मोड़े वाली गति को गोमूत्रिका गति कहते हैं, यह गति चार समय वाली होती है। इन तीनों विग्रहगतियों में प्रत्येक गति के अंतिम समय को छोड़कर कार्मणकाययोग होता है।

जो प्रदेश जहाँ स्थित हैं वहाँ से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रम से विद्यमान आकाशप्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणी के द्वारा ही जीवों का गमन होता है, श्रेणी को उलंघन करके नहीं होता है। इसलिए विग्रहगति वाले जीव के तीन मोड़े वाली गति विरोध को प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ पर पहुँचने के लिए चार मोड़े लग सकें।

घातने रूप धर्म को घात कहते हैं जिसका प्रकृत में अर्थ है कर्मों की स्थिति और अनुभाग का विनाश होना। उत्तरोत्तर होने वाले घात को उद्घात कहते हैं और समीचीन उद्घात को समुद्घात कहते हैं। उन समुद्घातगत केवलियों के कार्मणकाययोग होता है। यहाँ सूत्र में आया हुआ 'वा' शब्द समुच्चयरूप अर्थ का प्रतिपादक है।

श्रीयतिवृषभाचार्य के उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं होने से सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की बीस संख्या का नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नहीं करते हैं।

शंका — कौन से केवली समुद्घात नहीं करते हैं ?

समाधान — जिनके संसार में रहने का काल वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति के समान है वे समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्घात करते हैं।

शंका — अनिवृत्ति आदि परिणामों के समान रहने पर संसारव्यक्तिस्थिति — संसार में रहने का काल और शेष तीन कर्मों की स्थिति में विषमता क्यों रहती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि व्यक्तिस्थिति के घात के कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामों के समान रहने

संसारविच्छिन्नेः किं कारणम् ?

“द्वादशाङ्गावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च।”^१ न च एते सर्वेषु संभवन्ति, श्रेण्यारोहणदर्शनात्-दशपूर्व-नवपूर्वधारिणां अपि क्षपकश्रेण्यारोहणदर्शनात्।

न तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्घातेन विना स्थितिकाण्डकानि अंतर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पल्योपमस्यासंख्येयभागायतानि संख्येयावलीकायतानि च निपातयन्तः आयुःसमानि कर्माणि कुर्वन्ति। अपरे समुद्घातेन समानयन्ति। न चैषः संसारघातः केवलिनः प्राक् संभवति, स्थितिकाण्डघातवत्समानपरिणामत्वात्।

परिणामातिशयाभावे पश्चादपि मा भूत्तद्घातः इति चेत् ?

न, वीतरागपरिणामेषु समानेषु सत्सु अंतर्मुहूर्तायुरपेक्ष्य आत्मनः समुत्पन्नेभ्यः तद्घातोपपत्तेः।

अन्यैराचार्यैर्व्याख्यानमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्रप्रत्यनीकाः ?

न, वर्षपृथक्त्वान्तरसूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधात्।

अस्मिन् विषये द्वे गाथे लभ्येते —

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।

ससमुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए।।

पर संसार को उसके अर्थात् तीन कर्मों की स्थिति के समान मान लेने में विरोध आता है।

शंका — संसार के विच्छेद का क्या कारण है ?

समाधान — द्वादशांग का ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसार के विच्छेद के कारण हैं। परन्तु ये सब कारण समस्त जीवों में संभव नहीं हैं, क्योंकि दशपूर्व और नौ पूर्वधारी जीवों का भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ना देखा जाता है।

वहाँ पर संसार के समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है। इस प्रकार अंतर्मुहूर्त में नियम से निपतन स्वभाव वाले ऐसे पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण या संख्यात आवलीप्रमाण स्थितिकाण्डकों का निपतन करते हुए कितने ही जीव समुद्घात के बिना ही आयु के समान शेष कर्मों को कर लेते हैं। तथा कितने ही जीव समुद्घात के द्वारा शेष कर्मों को आयुर्कर्म के समान करते हैं परन्तु यह संसार का घात केवली में संभव नहीं है क्योंकि पहले स्थितिकाण्डक के घात के समान सभी जीवों के समान परिणाम पाये जाते हैं।

शंका — जब परिणामों में कोई अतिशय नहीं पाया जाता है अर्थात् समस्त केवलियों के परिणाम एक जैसे होते हैं तो पीछे भी संसार का घात नहीं होना चाहिए ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वीतरागरूप परिणामों के समान रहने पर भी अंतर्मुहूर्तप्रमाण आयुर्कर्म की अपेक्षा से आत्मा के उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामों से संसार का घात बन जाता है।

शंका — अन्य आचार्यों के द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थ का इस प्रकार व्याख्यान करने वाले आचार्य सूत्र के विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वर्षपृथक्त्व के अन्तराल का प्रतिपादन करने वाले सूत्र के वशवर्ती आचार्यों का ही पूर्वोक्त कथन से विरोध आता है।

इस विषयक दो गाथासूत्र देख जाते हैं।

गाथार्थ — छह माह प्रमाण आयुर्कर्म के शेष रहने पर जिस जीव को केवलज्ञान उत्पन्न होता है वह

पुनश्च—

जेसिं आउसमाइं णामा गोदाणि वेयणीयं च।

ते अकयसमुग्घाया वच्चंतिथरे समुग्घाए।।

कश्चिदाह— नागमस्तर्कगोचरः इति चेत् ?

न, एतयोर्गाथयोरगमत्वेन निर्णयाभावात्। भावे वास्तु गाथयोरेवोपादानम्।^१

तात्पर्यमेतत्— विग्रहगतिसमापन्नानां केवलानां समुद्घातगतानां च कर्मणकाययोगो भवतीति ज्ञातव्यम्।

अधुना काययोगेषु गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदियप्पहुडि

जाव सजोगिकेवलि त्ति।।६१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— कायजोगो— सामान्यकाययोगः, ओरालियकायजोगो— औदारिककाययोगः, ओरालियमिस्सकायजोगो— औदारिकमिश्रकाययोगः, एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति— एकेन्द्रियप्रभृति यावत् सयोगिकेवलिनः इति।

तर्हि देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि औदारिकमिश्रकाययोगः प्राप्नोति इति चेत् ?

समुद्घात करके ही मुक्त होता है। शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं।

पुनः—

गाथार्थ— जिन जीवों के नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयुर्कर्म के समान होती है वे समुद्घात नहीं करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं तथा इनसे अतिरिक्त दूसरे जीव समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि—

आगम तो तर्क का विषय नहीं है, इसलिए तर्क के बल से पूर्वोक्त गाथाओं के अभिप्राय का खण्डन करना उचित नहीं है ?

इसका समाधान करते हैं कि—

ऐसा नहीं है क्योंकि इन दोनों गाथाओं का आगमरूप से निर्णय नहीं हुआ है। अथवा इन दोनों गाथाओं का आगमरूप से निर्णय हो जाने पर इनका ही ग्रहण किया जावे तो भी कोई बाधा नहीं है।

तात्पर्य यह है कि विग्रहगति को प्राप्त जीवों के तथा समुद्घात अवस्था वाले केवलियों के कर्मणकाययोग होता है ऐसा समझना चाहिए।

अब काययोग में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

सामान्य से काययोग और विशेष की अपेक्षा औदारिककाययोग व औदारिकमिश्र-काययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं।।६१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— सामान्य काययोग, औदारिककाययोग व औदारिकमिश्रकाययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं।

शंका— तब तो देशविरत आदि क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानों में भी औदारिकमिश्रकाययोग का सद्भाव प्राप्त हो जायेगा ?

न, अत्र प्रभृतिशब्दः प्रकारे परिगृह्यते, ततो न तेषां ग्रहणं। व्यवस्थावाचिनोऽपि ग्रहणे न दोषः, “ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं” इति बाधकसूत्रसंभवाद्वा। न देशविरतादिक्षीणकषायपर्यन्तानां औदारिकमिश्रकाययोगः इति निश्चीयते।

अधुना वैक्रियिककाययोगाधिपतिसूचनार्थं उत्तरसूत्रावतारः क्रियते —

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति।।६२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति — संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत् असंयतसम्यग्दृष्टिः इति, वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो — वैक्रियिककाययोगः वैक्रियिक-मिश्रकाययोगः स्तः। अत्रापि सम्यग्मिथ्यादृष्टेः वैक्रियिकमिश्रकाययोगो नास्तीति ज्ञातव्यं। ‘सम्माभिच्छाइट्ठिद्वाणे णियमा पज्जत्ता’, ‘वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं’ इत्याभ्यां सूत्राभ्यां वा अवसीयते।

अधुना आहारकाययोगस्वामिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीआचार्यदेवेन —

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कमिह चेव पमत्तसंजदट्ठाणे।।६३।।

समाधान — नहीं, क्योंकि यह “प्रभृति” शब्द व्यवस्था और प्रकाररूप अर्थ में रहता है उनमें से यहाँ पर प्रकार अर्थ में प्रभृति शब्द ग्रहण किया गया है। इसलिए औदारिकमिश्रयोग में देशविरत आदि क्षीणकषाय तक के गुणस्थानों का ग्रहण नहीं होता है। अथवा व्यवस्थावाची भी प्रभृति शब्द के ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं आता है। अथवा “ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं” अर्थात् औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के होता है इस बाधक सूत्र के संभव होने के कारण भी पूर्वोक्त दोष नहीं आता है। देशविरत आदि से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यन्त औदारिकमिश्रकाययोग नहीं होता है ऐसा निर्णय हो जाता है।

अब वैक्रियिककाययोग के स्वामी को बतलाने हेतु उत्तर सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिकमिश्रकाययोग संज्ञिमिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक होते हैं।।६२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त जितने जीव हैं उन सबके वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिकमिश्रकाययोग होते हैं। यहाँ पर भी सम्यग्मिथ्यादृष्टि नाम के तृतीय गुणस्थान वाले जीवों के वैक्रियिकमिश्रकाययोग नहीं होता है ऐसा जानना चाहिए। “सम्माभिच्छाइट्ठिद्वाणे णियमा पज्जत्ता” “वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं” अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में जीव नियम से पर्याप्तक ही होते हैं और वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के ही होता है। इन दोनों सूत्रों से भी जाना जाता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि के वैक्रियिकमिश्रकाययोग नहीं पाया जाता है।

अब आहारकाययोग के स्वामी का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

आहारकाययोग और आहारकमिश्रकाययोग एक प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही होते हैं।।६३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कमिह चेव पमत्तसंजदट्ठाणे —
आहारकाययोगः आहारमिश्रकाययोगः एकस्मिन् चैव प्रमत्तसंयतनामषष्ठगुणस्थाने भवतः।

अप्रमत्तसंयतानां आहारकाययोगः किं न भवति ?

न भवति, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात्। प्रमत्तसंयतमुनेः आज्ञाकनिष्ठतायाः-आप्तवचनेषु संदेहजनितशिथिलतायाः समुत्पन्नप्रमादः असंयमबहुलोत्पन्नप्रमादश्च आहारकाययोगोत्थापने निमित्तकारणं। किंच प्रमादनिमित्तकं यत्कार्यं तदप्रमादिनि कथं संभवति अतिप्रसंगात्। अथवा स्वभावोऽयं यदाहारकाययोगः प्रमादिनामेवोपजायते नाप्रमादिनामिति।

कर्मणकाययोगाधारजीवप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

कम्मइयकायजोगो एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।।६४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — कम्मइयकायजोगो एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति — कर्मणकाययोगः एकेन्द्रियादिसयोगिकेवलिपर्यंतं भवति। देशविरतादिक्षीणकषायान्तानां कर्मणकाययोगो नास्ति। समुद्घातादृते पर्याप्तानां न चैष योगः विग्रहगतेरभावात्।

देवविद्याधरादीनां पर्याप्तानामपि वक्रा गतिरुपलभ्यते इति चेत् ?

न, पूर्वशरीरं परित्यज्य उत्तरशरीरमादातुं व्रजतो वक्रगतेर्विवक्षितत्वात्।

एवं चतुर्थस्थले काययोगिनां भेदप्रभेदकथनपराणि नवसूत्राणि गतानि।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रमत्तसंयत नामक एक ही गुणस्थान में आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग ये दोनों योग होते हैं।

शंका — अप्रमत्तसंयत जीवों के आहारककाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान — अप्रमत्तसंयत जीवों के आहारककाययोग उत्पन्न करने में निमित्तकारण का अभाव है। प्रमत्तसंयत मुनि के आज्ञाकनिष्ठता अर्थात् आप्तवचनों में संदेहजनित शिथिलता के होने से उत्पन्न हुआ प्रमाद और असंयम की बहुलता से उत्पन्न प्रमाद आहारककाय की उत्पत्ति का निमित्त कारण है। जो कार्य प्रमाद के निमित्त से उत्पन्न होता है वह अप्रमादी जीवों में भला कैसे संभव हो सकता है ? क्योंकि इससे अतिप्रसंग दोष आ जाता है। अथवा यह स्वभाव ही है कि आहारककाययोग प्रमत्तगुणस्थान वालों के ही होता है, प्रमादरहित जीवों के नहीं होता है।

अब कर्मणकाययोग के आधारभूत जीवों का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

कर्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सयोगिकेवली तक होता है।।६४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एक इंद्रिय जीव से लेकर सयोगिकेवली तक जीवों के कर्मणकाययोग होता है। देशविरत आदि क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थान वाले जीवों के कर्मण-काययोग नहीं होता है। समुद्घात को छोड़कर पर्याप्तक जीवों के कर्मणकाययोग नहीं पाया जाता है। क्योंकि वहाँ विग्रहगति का अभाव है।

शंका — देव, विद्याधर आदि पर्याप्तक जीवों के भी क्या वक्रगति पाई जाती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि पूर्व शरीर को छोड़कर आगे के शरीर को ग्रहण करने के लिए जाते हुए जीव के जो एक, दो या तीन मोड़े वाली गति होती है वही गति यहाँ पर वक्रगतिरूप से विवक्षित है।

इस प्रकार चतुर्थस्थल में काययोगियों के भेद-प्रभेद के कथन की मुख्यता से नौ सूत्र पूर्ण हुए।

योगत्रयस्य स्वामिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।।६५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—मणजोगो—चतुर्णां मनसां सामान्यं मनः, तज्जनितवीर्येण परिस्पंदलक्षणेन योगो मनोयोगः। वचिजोगो—तथैव चतुर्णां वचसां सामान्यं वचोयोगः। कायजोगो—सप्तानां कायानां सामान्यं काययोगः। एते त्रयोऽपि योगाः क्षयोपशमापेक्षया त्र्यात्मकैकरूपमापन्नाः संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्य आ सयोगिकेवलिनः इति क्रमेण संभवापेक्षया वा स्वामित्वमुक्तं।

संप्रति द्विसंयोगयोगप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

वचिजोगो कायजोगो बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति।।६६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—वचिजोगो कायजोगो—सामान्यवाक्काययोगौ, बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति—द्वीन्द्रियादिसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यंतमिति। अत्र विशेषे एतज्ज्ञातव्यं यत् तुरीयस्यैव वचसः सत्त्वं। उपरिष्ठात् वाक्काययोगौ विद्येते ततो नासंज्ञिनः पर्यवसानं इति चेत् ? न, उपरि त्रयाणामपि सत्त्वात्। अतोऽत्र द्विसंयोगियोगस्यैव विवक्षितत्वात्।

अब तीनों योगों के स्वामी का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं।।६५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—चार प्रकार का मन सामान्य मन कहलाता है, उस मन से उत्पन्न हुए परिस्पन्दन लक्षण वाले वीर्य के द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं। उसी प्रकार चारों प्रकार के वचनों में जो योग होता है उसे सामान्य वचनयोग कहते हैं। सात प्रकार के कार्यों में जो अन्वयरूप से रहता है उसे सामान्य काययोग कहते हैं।

ये योग तीन होते हुए भी क्षयोपशम की अपेक्षा त्रयात्मक एकरूपता को प्राप्त होकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं। अथवा क्रम से संभव होने की अपेक्षा स्वामित्व का प्रतिपादन किया है।

अब द्विसंयोगी योगों का प्रतिपादन करने के लिए अगले सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी जीवों तक होते हैं।।६६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—दो इंद्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों के वचनयोग और काययोग ये दोनों ही योग होते हैं। यहाँ विशेष रूप से ऐसा जानना चाहिए कि वचनयोग का चौथा भेद—अनुभयवचनयोग का ही वहाँ सत्त्व रहता है।

शंका—इन जीवों से आगे के जीवों के भी वचन और काययोग पाये जाते हैं। इसलिए असंज्ञी तक ये योग होते हैं यह बात नहीं बनती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि आगे के जीवों के तीनों योगों का सत्त्व पाया जाता है। अतः यहाँ द्विसंयोगी योग की ही विवक्षा है।

अधुना एकसंयोगयोगस्य निरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

कायजोगो एइंदियाणं॥६७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एकेन्द्रियाणां जीवानां एकः काययोगः एव भवति। द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यंतानां वाक्काययोगौ, शेषास्त्रियोगाः इति।

एवं पंचमस्थले योगिनां गुणस्थानापेक्षया त्रीणि सूत्राणि गतानि।

प्राक् सामान्येन योगस्य सत्त्वं निरूप्याधुना कालापेक्षया योगप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि॥६८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पर्याप्तजीवानां मनोवाग्योगौ स्तः, न अपर्याप्तानां, इति ज्ञातव्यं।

काययोगसामान्यस्य सत्त्वप्रदेशप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि॥६९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — काययोगः पर्याप्तानामपि अस्ति अपर्याप्तकानामपि अस्ति। अत्र सूत्रे 'अपि' शब्द समुच्चयार्थं द्रष्टव्यः। विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्, द्विबारं 'अस्ति' शब्दप्रयोगो ज्ञातव्य इति।

कास्ताः पर्याप्तय इत्याशंकायां सूत्रावतारः क्रियते —

अब एक संयोगी योग के प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

काययोग एक इन्द्रिय जीवों के होता है॥६७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एकेन्द्रिय जीवों के एक काययोग ही होता है। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी तक जीवों के वचन और काय ये दो योग होते हैं तथा शेष जीवों के तीनों ही योग होते हैं।

इस प्रकार पंचमस्थल में योगधारी जीवों के गुणस्थान की अपेक्षा तीन सूत्र पूर्ण हुए।

पहले सामान्य से योग का सत्त्व निरूपण करके अब काल की अपेक्षा योग का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकों के ही होते हैं, अपर्याप्तकों के नहीं होते हैं॥६८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पर्याप्तक जीवों के मन और वचन ये दो योग होते हैं, अपर्याप्तकों के नहीं होते ऐसा जानना चाहिए।

अब सामान्यकाययोग के सत्त्वप्रदेशों का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

काययोग पर्याप्तकों के भी होता है और अपर्याप्तकों के भी होता है॥६९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के जीवों में काययोग होता है। यहाँ सूत्र में जो 'अपि' शब्द है वह समुच्चयार्थक जानना चाहिए। विस्तार से समझने की रुचि रखने वाले शिष्यों के अनुग्रह के लिए सूत्र में दो बार 'अस्ति' पद का ग्रहण किया गया है।

वे पर्याप्तियों कौन-कौन-सी हैं ? ऐसी शंका होने पर सूत्र का अवतार किया जाता है —

छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ॥७०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — षट् पर्याप्तयः षट् अपर्याप्तयो भवन्तीति। आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वास-भाषामनसां निष्पत्तिः पर्याप्तिः। एतासामेवानिष्पत्तिरपर्याप्तिः। इमाः षट् षट् भवन्ति। आसां लक्षणं प्रागुक्तं अतोऽत्र नोच्यते।

एवं षष्ठस्थले योगिनां पर्याप्त्यपर्याप्त्यपेक्षया त्रीणि सूत्राणि गतानि।

इदानीं तासामाधारप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति॥७१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इमाः षडपि पर्याप्तयः संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्य असंयतसम्यग्दृष्टिपर्यन्ताः भवन्ति। तृतीयगुणस्थाने अपर्याप्तकालाभावात् षट् अपर्याप्तयः तत्र न सन्ति। देशविरतादिउपरितनगुणस्थानानां षट्पर्याप्तयोऽपि न सन्ति। किंच पर्याप्तिर्नाम षण्णां पर्याप्तीनां समाप्तिः, न सा उपरितनगुणस्थानेष्वस्ति अपर्याप्तिचरमावस्थायां ऐक्यसमयिक्या उपरि सत्त्वविरोधात्।

पंचापि पर्याप्तयो भवन्तीति प्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

पंच पज्जत्तीओ पंच अपज्जत्तीओ॥७२॥

सूत्रार्थ—

छह पर्याप्तियाँ और छह अपर्याप्तियाँ होती हैं॥७०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — छह प्रकार की पर्याप्ति और छह प्रकार की अपर्याप्ति होती हैं। आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छहों की निष्पत्ति पर्याप्ति कहलाती है। इन छहों की अनिष्पत्ति—अपूर्णता को अपर्याप्ति कहा जाता है। इन दोनों के छह-छह भेद होते हैं। इनके लक्षण पहले कह चुके हैं अतः अब पुनः नहीं कहे जा रहे हैं।

अब इन पर्याप्तियों के आधार का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

ये सभी पर्याप्तियाँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होती हैं॥७१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टिपर्यन्त ये छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। तृतीय गुणस्थान में अपर्याप्तकाल का अभाव होने के कारण वहाँ छहों अपर्याप्तियाँ नहीं होती हैं। देशविरत आदि ऊपर के गुणस्थानों में छहों पर्याप्तियाँ भी नहीं होती हैं क्योंकि छह पर्याप्तियों की समाप्ति का नाम ही पर्याप्ति है और यह समाप्ति चौथे गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में नहीं पाई जाती है क्योंकि अपर्याप्ति की अंतिम अवस्थावर्ती एक समय में पूर्ण हो जाने वाली पर्याप्ति की आगे के गुणस्थानों में सत्त्व होने में विरोध आता है।

पाँच पर्याप्तियाँ भी होती हैं इस बात का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

पाँच पर्याप्तियाँ और पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं॥७२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनोवर्जाः शेषाः पञ्च पर्याप्तयो भवन्ति क्वचिद्जीवविशेषे, पञ्च अपर्याप्तयश्चेति।
ताः केषां भवन्तीति आरेकायां सूत्रावतारः क्रियते —

बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति॥७३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — द्वीन्द्रियादारभ्य असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्ताः पञ्चैव पर्याप्तयः सन्ति। अपर्याप्तिनाम-
कर्मोदयेन जीवानां एषामेव अपर्याप्तयो भवन्तीति।

विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभावः कथमवसीयते इति चेत् ?

आर्षात् विज्ञायते।

कथमार्षस्य प्रामाण्यं ?

स्वाभाव्यात् प्रत्यक्षस्येव आर्षः प्रमाणं।

पुनरपि पर्याप्तिसंख्यासत्त्वभेदप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ॥७४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — केषुचित्प्राणिषु चतस्र एव पर्याप्तयोऽपर्याप्तयो वा भवन्ति। ताः आहार-
शरीरेन्द्रियानापानपर्याप्तयः इति।

चतुर्णां पर्याप्तिनामधिपतिजीवप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मन को छोड़कर शेष पाँच पर्याप्तियाँ किन्हीं जीवविशेष में होती हैं और
पाँच अपर्याप्तियाँ भी होती हैं।

वे पाँच पर्याप्तियाँ किनके होती हैं ? ऐसी शंका होने पर सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

वे पाँच पर्याप्तियाँ द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त होती हैं॥७३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — दो इंद्रिय जीवों से प्रारंभ करके असंज्ञीपंचेन्द्रिय तक सभी
जीवों के पाँच पर्याप्तियाँ ही होती हैं। अपर्याप्ति नामकर्म के उदय से इन्हीं जीवों के अपर्याप्तियाँ
होती हैं।

शंका — विकलेन्द्रिय जीवों में मन का अभाव कैसे जाना जाता है ?

समाधान — आर्ष — आगम ग्रंथों से जाना जाता है कि विकलेन्द्रियों में मन नहीं होता है।

शंका — आर्ष को प्रमाण कैसे माना जाय ?

समाधान — जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसी प्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है।

फिर भी पर्याप्तियों की संख्या के अस्तित्व में भेद बताने के लिए आगे का सूत्र अवतरित किया
जाता है —

सूत्रार्थ —

चार पर्याप्तियाँ और चार अपर्याप्तियाँ होती हैं॥७४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — किन्हीं जीवों में चार पर्याप्तियाँ अथवा किन्हीं में चार अपर्याप्तियाँ होती
हैं। आहार, शरीर, इंद्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ हैं।

चारों पर्याप्तियों के अधिकारी जीवों के प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है —

एइंदियाणं ।।७५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इमाः चतस्रोऽपि पर्याप्तय एकेन्द्रियाणामेव, नान्येषां। अपर्याप्तयश्च तेषामेव। एकेन्द्रियाणां नोच्छ्वासमुपलभ्यते ?

नैतत्, आर्षात्तदुपलम्भात्।

प्रत्यक्षेणागमो बाध्यते ?

न चेन्द्रियजं प्रत्यक्षं समस्तवस्तुविषयं येन यदविषयीकृतस्य वस्तुनोऽभावो विधीयते।

इत्थं पर्याप्तापर्याप्तजीवानां कथनं संक्षेपेण कृतं।

एवं सप्तमस्थले योगिनां इंद्रियापेक्षया कथनत्वेन पंच सूत्राणि गतानि।

सांप्रतं अमुष्मिन्नयं योगो भवति अमुष्मिन् च न, इति प्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं ।।७६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पज्जत्ताणं-षड्भिः पंचभिः चतसृभिर्वा पर्याप्तिभिर्निष्पन्नाः परिनिष्ठिताः तिर्यञ्चो मनुष्याश्च पर्याप्ताः। तेषां औदारिककाययोगो भवति। तेषामेव तिर्यञ्जानां मनुष्याणां च अपर्याप्तावस्थायां औदारिकमिश्रकाययोगः।

सूत्रार्थ —

उक्त चारों पर्याप्तियाँ एक इंद्रिय जीवों के होती हैं ।।७५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — वे चारों पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवों के ही होती हैं, दूसरों के नहीं। और उन्हीं के चारों अपर्याप्तियाँ भी होती हैं।

शंका — एकेन्द्रिय जीवों के उच्छ्वास तो नहीं पाया जाता है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रियों के श्वासोच्छ्वास होता है यह बात आगम प्रमाण से जानी जाती है।

शंका — प्रत्यक्ष से यह आगम बाधित है ?

समाधान — इंद्रियप्रत्यक्ष तो सम्पूर्ण पदार्थों को विषय ही नहीं करता है जिससे कि इंद्रियप्रत्यक्ष की विषयता को नहीं प्राप्त होने वाले पदार्थों का अभाव किया जाए।

इस प्रकार पर्याप्त-अपर्याप्त जीवों का कथन संक्षेप से किया गया। इस तरह से सप्तम स्थल में योगियों के इंद्रियों की अपेक्षा से कथन करने वाले पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब इस जीव में यह योग होता है और इस जीव में यह योग नहीं होता है, इसका प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

औदारिककाययोग पर्याप्तकों के और औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के होता है ।।७६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — छह, पाँच अथवा चार पर्याप्तियों से पूर्णता को प्राप्त हुए तिर्यच और मनुष्य पर्याप्तक कहलाते हैं। उनके औदारिककाययोग होता है। उन्हीं तिर्यचों और मनुष्यों के अपर्याप्त अवस्था में औदारिकमिश्रकाययोग होता है।

किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्तः उत साकल्येन निष्पन्न इति ?

शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नो जीवः पर्याप्त इति भण्यते।

तत्र निष्पन्नशरीरावलंबनबलेन उत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पंदेन योगः औदारिककाययोगः। कर्मणौदारिक-
स्कंधनिमित्तकजीवप्रदेशपरिस्पंदेन योगः औदारिकमिश्रकाययोगः।

यदि परिस्पंदो बंधहेतुस्तर्हि संचरदभ्राणामपि कर्मबंधः प्रसज्यते चेत् ?

न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पंदस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। न चाभ्रपरिस्पंदः कर्मजनितो, येन
तद् हेतुतामास्कंदेत्।^१

अधुना वैक्रियिककाययोगस्य व्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।।७७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—पर्याप्तानां देवनारकाणां वैक्रियिककाययोगः भवति अपर्याप्तानां चैषामेव
वैक्रियिकमिश्रकाययोगो भवति।

अधुना आहारकाययोगसत्त्वप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।।७८।।

शंका—तो क्या उनमें से किसी एक पर्याप्ति से पूर्णता को प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है। या
सम्पूर्ण पर्याप्तियों से पूर्णता को प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है ?

समाधान—शरीरपर्याप्ति के निष्पन्न होने पर सभी जीव पर्याप्तक कहे जाते हैं। उनमें से पहले
निष्पन्न शरीर के आलंबन द्वारा उत्पन्न हुए जीवप्रदेश-परिस्पन्द से जो योग होता है वह औदारिककाययोग
होता है। कर्मण और औदारिक शरीर स्कंधों के निमित्त से जीव के प्रदेशों में उत्पन्न हुए परिस्पन्द से जो योग
होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं।

शंका—यदि परिस्पन्द बंध का हेतु है तो संचरण करते हुए मेघों के भी कर्मबंध हो जाएगा क्योंकि
उनके भी परिस्पन्द पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कर्मजनित चैतन्यपरिस्पन्द ही आस्रव का कारण है, यह अर्थ यहाँ प्र विवक्षित है।
मेघों का परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं जिससे वह कर्मबन्ध के आस्रव का हेतु हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है।

अब वैक्रियिककाययोग की व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

**वैक्रियिककाययोग पर्याप्तकों के और वैक्रियकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के
होता है।।७७।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—देव और नारकी जीवों के पर्याप्त अवस्था में वैक्रियिककाययोग होता है
और अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियकमिश्रकाययोग होता है।

अब आहारकाययोग की सत्ता का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

**आहारकाययोग पर्याप्तकों के और आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकों के
होता है।।७८।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आहारशरीरोत्थापकपर्याप्तानां संयतानां आहारकाययोगः, अपर्याप्तानां आहारमिश्रकाययोगः इति।

संयतस्य कथं अपर्याप्तता भवेत् ?

न, अनवगतसूत्राभिप्रायात्। औदारिकशरीरगतषट्पर्याप्त्यपेक्षया संयतः पर्याप्तकः, किन्तु आहारशरीर-गतपर्याप्तिनिष्पत्ति अभावापेक्षया अपर्याप्तकोऽसौ भवति।

एवं पर्याप्तिषु अपर्याप्तिषु च योगानां सत्त्वमसत्त्वं च निगदितं।

इत्थं अष्टमस्थले योगानां मध्ये पर्याप्त्यपर्याप्त्यपेक्षया त्रीणि सूत्राणि गतानि।

अधुना गत्यपेक्षया जीवानां गुणस्थानेषु पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति—

णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया

अपज्जत्ता।।७९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नारका जीवः मिथ्यादृष्ट्योऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यश्च पर्याप्ताश्च अपर्याप्ताश्च भवन्तीति।

शेषगुणस्थानयोः का व्यवस्था ? इति प्रश्ने सति सूत्रावतारो भवति—

सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।।८०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आहारकशरीर को उत्पन्न करने वाले पर्याप्तक संयतों-साधुओं के आहारककाययोग होता है और अपर्याप्तकों के आहारकमिश्रकाययोग होता है।

शंका — संयतों के अपर्याप्तपना कैसे होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि ऐसा कहने वाले ने सूत्र का अभिप्राय ही नहीं समझा है। औदारिक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तपने की अपेक्षा संयत जीव पर्याप्तक होते हैं किन्तु आहारशरीरसम्बन्धी पर्याप्तियाँ जब तक पूर्ण नहीं होती हैं उस अपेक्षा से वे संयत अपर्याप्तक होते हैं।

इस प्रकार पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों में योगों के सत्त्व-असत्त्व का वर्णन हुआ। इस प्रकार आठवें स्थल में योगों के मध्य पर्याप्ति-अपर्याप्ति की अपेक्षा तीन सूत्र पूर्ण हुए।

अब गति की अपेक्षा जीवों के गुणस्थानों में पर्याप्त-अपर्याप्त व्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ —

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं।।७९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नारकी जीव चाहे मिथ्यादृष्टि हों अथवा असंयतसम्यग्दृष्टि हों, दोनों ही पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं।

शेष गुणस्थानों में क्या व्यवस्था है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ —

नारकी जीव सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होते हैं।।८०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नारकाणां अपर्याप्तावस्थायां सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने न स्तः अतस्ते नियमेन पर्याप्तावस्थायां इमे द्वे गुणस्थाने भवतः। तेषां नारकाणां अपमृत्युरपि नास्ति। भस्मसाद्भावमुपगतदेहानां अपि तेषां मरणं नास्ति, देहविकारस्यायुर्विच्छिन्ननिमित्तत्वात्। अत्र सामान्यतया नारकेषु गुणस्थानव्यवस्था प्रतिपादिता भवति।

संप्रति प्रथमपृथिवीगतनारकव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति—

एवं पढमाए पुढवीए णेरइया।।८१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषां व्यवस्था ज्ञातव्या भवति।

अधुना शेषपृथ्वीगतनारकाणां गुणस्थानेषु पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारः—

विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।।८२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—द्वितीयादिसप्तमपृथिवीपर्यन्तेषु नारकाः जीवाः मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने स्यात् पर्याप्ताः स्यात् अपर्याप्ताः भवन्ति। अधस्तनीषु षट्सु पृथिवीषु मिथ्यादृष्टीनामेवोत्पत्तिर्भवति। बद्धायुष्क एव सम्यग्दृष्टिः प्रथमायां पृथिव्यां जायते इति।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—नारकियों के अपर्याप्त अवस्था में सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि ये दो गुणस्थान नहीं होते हैं अतः उनके पर्याप्त अवस्था में नियम से ये दोनों गुणस्थान होते हैं। उन नारकी जीवों का अकालमरण भी नहीं होता है। भस्मीभाव को प्राप्त होने पर भी उनका मरण नहीं होता है क्योंकि देह का विकार आयुर्कर्म के विनाश का वहाँ निमित्त नहीं है। यहाँ सामान्यरूप से नारकी जीवों की गुणस्थानव्यवस्था का प्रतिपादन किया है।

अब पहली पृथ्वी को प्राप्त नारकियों की व्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

इसी प्रकार प्रथम पृथिवी में नारकी होते हैं।।८१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—जैसी नारकियों की व्यवस्था पूर्व में निरूपित की गई है उसी प्रकार प्रथम पृथ्वी में जो नारकी उत्पन्न होते हैं उनकी व्यवस्था जाननी चाहिए।

अब शेष पृथ्वी को प्राप्त नारकियों के गुणस्थानों में पर्याप्त-अपर्याप्त व्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

दूसरी पृथिवी से लेकर सातवीं तक रहने वाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।।८२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—द्वितीय से लेकर सातवीं पृथिवी पर्यन्त नारकी जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं। नीचे की छह पृथिवियों में मिथ्यादृष्टि जीवों की ही उत्पत्ति होती है। बद्धायुष्क ही सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवी में उत्पन्न होते हैं।

द्वितीयादिपृथिवीषु शेषगुणस्थानानां का व्यवस्था ? इति प्रश्ने सति सूत्रावतारो भवति—

सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि णियमा पज्जत्ता।।८३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—द्वितीयादिपृथिवीषु षट्सु सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्तिनो नियमात् पर्याप्ताः भवन्ति। सासादनजीवस्तत्र नोत्पद्यते, तस्य नरकायुषो बंधाभावात्।

विशेषार्थ—रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने सम्यग्दर्शन के प्रथम अधिकार में कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा, नारकतिर्यङ्मनुष्यसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन से सहित मनुष्य अव्रती भी हैं तो भी वे नारकी, तिर्यच, नपुंसक, स्त्री पर्याय में जन्म नहीं धारण करते हैं तथा नीच कुल, विकृत अंग, अल्पायु और दरिद्री भी नहीं होते हैं।

किन्तु सैद्धान्तिक नियमानुसार यदि किसी मनुष्य ने पहले नरक आयु का बंध कर लिया पुनः उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है तो वह बद्धायुष्क कहलाता है, ऐसा बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर प्रथम नरक में ही उत्पन्न हो सकता है शेष नरकों में वह नहीं जा सकता है। जैसे—राजा श्रेणिक ने “यशोधर” मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डालते समय सप्तम नरक की आयु का बंध कर लिया था किन्तु उसके पश्चात् भगवान महावीर के समवसरण में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया अतः उन्हें प्रथम नरक में जन्म लेना पड़ा।

यदि नरकायु बंध के पश्चात् क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो जाता है तो मृत्यु के समय सम्यक्त्व छूट जाता है और वह द्वितीय आदि नरकों में भी चला जाता है किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व वाला प्रथम नरक के नीचे नहीं जा सकता है।

सम्यग्दर्शन के साथ जो उपर्युक्त बातों का आचार्यश्री ने निषेध किया है कि सम्यग्दृष्टि जीव इन-इन स्थानों में जन्म नहीं लेता है उस सम्बन्ध में निष्कर्ष यह ग्रहण करना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि जीव का जन्म वहाँ नहीं होता है किन्तु मिथ्यात्व सहित उन पर्यायों में जन्म लेने के पश्चात् सभी जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य कर सकते हैं। जैसे—तीर्थंकर की माता भी मिथ्यात्व के प्रभाव से स्त्रीपर्याय में जन्म लेती है किन्तु अपने जन्म से आठ वर्ष बाद उन्हें नियम से सम्यग्दर्शन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य स्त्रियाँ, आर्थिका माताएँ आदि भी सम्यग्दर्शन की अधिकारिणी होती हैं और तिर्यच, नारकी, नपुंसक आदि प्राणी भी बाह्य और अंतरंग निमित्तों के बल पर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं। यह सम्यग्दर्शन का प्रकरण करणानुयोग ग्रंथों से विशेष ज्ञातव्य है। यहाँ बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि के प्रकरण में यही जानना चाहिए कि वे प्रथम नरक में जन्म ले सकते हैं इससे आगे नहीं।

द्वितीय आदि पृथिवियों में शेष गुणस्थानों की क्या व्यवस्था है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

दूसरी पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवी तक रहने वाले नारकी सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होते हैं।।८३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—द्वितीय आदि छह पृथिवियों में सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि

नापि बद्धनरकायुष्कः सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते, तस्य तस्मिन् गुणस्थाने मरणाभावात्। असंयतसम्यग्दृष्टयोऽपि न तत्र उत्पद्यन्ते, तत्रोत्पत्तिनिमित्ताभावात्।

नरकगतिकर्मणः सत्त्वं तत्र तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं भवेत् ?

तत्सत्त्वं प्रति अविशेषतः सकलपंचेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्तिप्रसंगात्। नित्यनिगोदानामपि विद्यमानत्रसकर्मणां त्रसेषूत्पत्तिप्रसंगात्।

नरकायुषः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं भवेत् ?

न भवितुमर्हति, किंच, सम्यग्दर्शनासिना छिन्नषट्पृथिव्यायुष्कत्वात्। न च तच्छेदोऽसिद्धः, आर्षात्तत्सिद्धयुपलंभात्। ततः स्थितमेतत् न सम्यग्दृष्टिः षट्सु पृथिवीषु उत्पद्यते इति।^१

एवं नवमस्थले नारकाणां पर्याप्त्यपर्याप्तिकथनत्वेन पंच सूत्राणि गतानि।

संप्रति तिर्यग्गतौ गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

तिरिक्खा मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-ट्ठाणे सिया

पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।।८४।।

और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीव नियम से पर्याप्त होते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि जीव वहाँ उत्पन्न नहीं होते हैं क्योंकि उनके नरकायु के बंध का अभाव है। नरकायु का बंध कर लेने वाले बद्धनरकायुष्क जीव सासादन को प्राप्त करके भी वहाँ उत्पन्न नहीं होते हैं क्योंकि उनके उस गुणस्थान में मरण का अभाव है। असंयतसम्यग्दृष्टि जीव भी वहाँ उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि वहाँ उनकी उत्पत्तिरूप निमित्त का अभाव है।

शंका—नरकगति नामकर्म का सत्त्व तो वहाँ होता है अतः वह सत्त्व ही उनकी नरकगति में उत्पत्ति का कारण बन जावे इसमें क्या बाधा है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर नरकगति के सत्त्व के प्रति कोई विशेषता न होने से सभी पंचेन्द्रिय जीवों को नरकगति की प्राप्ति का प्रसंग आ जाएगा। तथा नित्यनिगोदिया जीवों के भी त्रसकर्म की सत्ता विद्यमान रहती है इसलिए उनकी भी त्रसों में उत्पत्ति होने लगेगी।

शंका—नरकायु का सत्त्व उनकी उत्पत्ति में कारण बन जावे तो क्या बाधा है ?

समाधान—ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन रूपी असि—खड्ग से नीचे की छह पृथिवी सम्बन्धी आयु काट दी जाती है और नीचे की छह पृथिवी सम्बन्धी आयु का कटना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि आगम से इसकी पुष्टि होती है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि नीचे की छह पृथिवियों में सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं।

इस प्रकार नवमें स्थल में नारकियों के पर्याप्त-अपर्याप्त कथन की मुख्यता से पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब तिर्यचगति में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

तिर्यच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।।८४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—तिरिक्खा—तिर्यञ्चो जीवाः मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टिगुण-स्थानेषु त्रिष्वपि स्यात् पर्याप्ताः स्यात् अपर्याप्ताः अपि भवन्ति।

सम्यग्दृष्टिः तिर्यक्षु कथं उत्पद्यते ?

सम्यग्दर्शनोपादानात् प्राङ्मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां बद्धतिर्यङ्-नरकायुष्कत्वात् तत्र सम्यग्दृष्टिजीवाः उत्पद्यन्ते।

क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सेविततीर्थकरः क्षपितसप्तप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःखभूयस्सूतपद्यते ?

न, तिरश्चां नारकेभ्यो दुःखाधिक्याभावात्।

सम्यग्दर्शनप्रभावेन तत् बद्धायुः किमिति न छिद्यते ?

तत् बद्धायुः छिद्यते किन्तु तस्य निर्मूलच्छेदो न भवति।

तदपि कुतः ?

स्वाभाव्यात्। बद्धायुषो निर्मूलनाशो न भवति, इति स्वभावोऽस्ति। ततश्च स्वभावोऽतर्कगोचरः इति ज्ञातव्यं।

तत्र तिर्यग्गतौ पर्याप्तेषु गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति—

सम्पामिच्छादृष्टि-संजदासंजद-दृष्टि गण्यमा पज्जन्ता।।८५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—तिर्यच जीव मिथ्यात्व, सासादन एवं असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीनों गुणस्थानों में पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के होते हैं।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यचों में क्यों उत्पन्न हो जाते हैं ?

समाधान—जिन्होंने सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने के पहले मिथ्यादृष्टि अवस्था में तिर्यचायु और नरकायु का बंध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शन के साथ वहाँ पर उत्पत्ति होने में कोई आपत्ति नहीं आती है।

शंका—जिसने तीर्थकर की सेवा की है और जिसने मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दुःखबहुल तिर्यचों में कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तिर्यचों में नारकियों से अधिक दुःख नहीं पाये जाते हैं।

शंका—सम्यग्दर्शन के प्रभाव से उस बद्धायु—पूर्व में बँधी हुई आयु का छेद क्यों नहीं हो जाता है ?

समाधान—वह बद्ध आयु छिदती तो है किन्तु उसका समूल नाश नहीं होता है।

शंका—समूल नाश क्यों नहीं होता ?

समाधान—ऐसा स्वभाव ही है। बद्धायुष्क जीव के सम्यग्दर्शन होने से पूर्व बँधी हुई आयु का समूल नाश नहीं होना स्वाभाविक प्रक्रिया है और स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता है ऐसा जानना चाहिए।

अर्थात् आयु का बंध होने के बाद कभी भी उसका पूर्णरूप से नाश नहीं होता है ऐसा आयुकर्म का स्वभाव ही है। यदि ऐसा नहीं होता तो राजा श्रेणिक को क्षायिक सम्यग्दर्शन एवं तीर्थकर प्रकृति का बंध होने के पश्चात् नरक आयु का पूर्ण छेद हो जाता किन्तु उनके सम्यक्त्व के प्रभाव से आयु का अपकर्षण तो हुआ जिससे सातवें नरक की तैंतीस सागर की आयु घटकर प्रथम नरक की मध्यम आयु ८४ हजार वर्ष हो गई लेकिन नरक गति में जाकर नरकायु तो बिताना ही पड़ा। इसी प्रकार से समस्त आयुकर्म के विषय में जानना चाहिए।

उन पर्याप्त तिर्यचों में गुणस्थान व्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

तिर्यच सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होते हैं।।८५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तिर्यञ्चः सम्यग्दृष्ट्यादृष्टिगुणस्थाने संयतासंयतगुणस्थाने नियमात् पर्याप्ताः एव भवन्ति। देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसंबद्धायुषोपलक्षितानां अणुव्रतोपादानबुद्ध्यनुत्पत्तेः।^१

उक्तं च—

चत्तारि वि छेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं।

अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।।

तिर्यक्षु उत्पन्नाः अपि क्षायिकसम्यग्दृष्ट्योऽणुव्रतानि नाददते, भोगभूमौ उत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्तेः।

यैर्दानं न कृतं, ते कथं भोगभूमिषु उत्पद्यन्ते ?

नैतत्, सम्यग्दर्शनस्य तत्रोत्पत्तिकारणस्य सत्त्वात्। न च पात्रदानेऽननुमोदिनः सम्यग्दृष्ट्यो भवन्ति।

एवं सामान्यतिरश्चां पर्याप्तापर्याप्तेषु गुणस्थानव्यवस्था प्रतिपादिता। तिर्यक्पंचभेदेषु सामान्यतिरश्चां कथनं कृतं इति ज्ञातव्यं।

संप्रति तिरश्चां भेदव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

एवं पंचिंदियतिरिक्खा पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्ता।।८६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एवं पंचेन्द्रियतिर्यचः पंचेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्ताश्च भवन्ति। तिरश्चां पंचेन्द्रियतिर्यञ्चः

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तृतीय और पंचम इन दो गुणस्थानों में रहने वाले तिर्यच जीव नियम से पर्याप्तक होते हैं। देवगति को छोड़कर शेष तीन गति सम्बन्धी आयुबंध से युक्त जीवों के अणुव्रत को ग्रहण करने की बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है। कहा भी है—

गाथार्थ — चारों गति सम्बन्धी आयु कर्म के बंध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है, परन्तु देवायु के बंध को छोड़ कर शेष तीन आयुकर्म के बंध होने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रत को ग्रहण नहीं करता है।

तिर्यचों में उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतों को नहीं ग्रहण करते हैं क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यचों में उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमि में ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमि में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रतों का ग्रहण करना बन नहीं सकता है।

शंका — जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोगभूमि में कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि भोगभूमि में उत्पत्ति का कारण सम्यग्दर्शन है और वे अनुमोदना से रहित जीव सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकते हैं क्योंकि उनमें पात्रदान की अनुमोदना का अभाव नहीं बन सकता है।

इस प्रकार सामान्य तिर्यचों के पर्याप्त-अपर्याप्त अवस्था में गुणस्थानों की व्यवस्था का प्रतिपादन किया। तिर्यच के पाँच भेदों में सामान्य तिर्यचों का कथन किया है ऐसा जानना चाहिए।

अब तिर्यचों की भेद व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ —

तिर्यच सम्बन्धी सामान्यप्ररूपणा के समान पंचेन्द्रिय तिर्यच और पर्याप्त-पंचेन्द्रियतिर्यच भी होते हैं।।८६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इस प्रकार से पंचेन्द्रियतिर्यच और पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यच होते हैं। तिर्यचों

पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्च भवन्ति इति ज्ञातव्यं।

संप्रति स्त्रीवेदविशिष्टतिरश्चां विशेषप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीपुष्पदन्तभट्टारकेण —

पंचिन्द्रियतिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ॥८७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिमतीषु मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने स्यात् पर्याप्तिकाः स्यात् अपर्याप्तिकाः भवन्ति। स्त्रीवेदयुक्तानां तिरश्चीनां अपर्याप्तावस्थायां मिथ्यात्वगुणस्थानं सासादनगुणस्थानं च भवति इति ज्ञातव्यं।

तत्र शेषगुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति —

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा पज्ज-त्तियाओ॥८८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयतगुणस्थानेषु नियमात् पर्याप्तिकाः एव तिरश्च्यो भवन्तीति।

यथा बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः नारकेषु नपुंसकवेदे उत्पद्यते तथा अत्र तिर्यक्षु स्त्रीवेदे किञ्च उत्पद्यते ?

नैतत्, तत्र नारकेषु तस्यैकस्यैव नपुंसकवेदस्य सद्भावात्। यत्र क्वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र

के ये दो भेद होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

अब स्त्रीवेद से विशिष्ट तिर्यचिनियों का विशेष प्रतिपादन करने हेतु श्री पुष्पदन्तभट्टारक सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

पंचेन्द्रिय तिर्यच योनिनी जीव मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं॥८७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पंचेन्द्रिय योनिमती तिर्यचों में प्रथम और द्वितीय दोनों गुणस्थानों में पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक होते हैं। अर्थात् ऐसा जानना चाहिए कि स्त्रीवेदी तिर्यचिनियों के अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व-सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं।

उन तिर्यचिनियों में शेष गुणस्थानों का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

पंचेन्द्रिय तिर्यच योनिनी जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होते हैं॥८८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम गुणस्थानों में स्त्रीवेदी तिर्यचिनी नियम से पर्याप्तक होती हैं।

शंका — जैसे बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नपुंसकवेदी नारकियों में उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार स्त्रीवेदी तिर्यचों में क्यों नहीं उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि नरक में एक नपुंसक वेद का ही सद्भाव है। जिस किसी गति

विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यते इति गृह्यताम्।

तिर्यक्षु तिर्यगपर्याप्तो नाम पंचमो भेदः अत्र किन्न निरूपितः ?

नैतत्, तत्र प्रतिपक्षाभावतो गतार्थत्वात्। अस्यायं अर्थः—तत्रापर्याप्ततिर्यक्षु-लब्ध्यपर्याप्तेषु एकं मिथ्यात्वमेव गुणस्थानं ज्ञातव्यमिति।

एवं तिरश्चां पर्याप्त्यपर्याप्त्यादिनिरूपणत्वेन पंच सूत्राणि गतानि।

अधुना मनुष्यगतिषु पर्याप्तापर्याप्तेषु गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया

पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।।८९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—मणुस्सा—मनुष्याः मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेषु स्यात् पर्याप्ताः स्यात् अपर्याप्ताः भवन्तीति।

तात्पर्यमेतत्—एतेषु त्रिषु गुणस्थानेष्वेव मनुष्याणां अपर्याप्तावस्था संभवति नान्यत्रेति।

पुनः शेषगुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।।९०।।

में उत्पन्न होने वाला सम्यग्दृष्टि जीव उस गतिसंबंधी विशिष्ट वेदादिक में ही उत्पन्न होता है यह अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

शंका—तिर्यचों में अपर्याप्त तिर्यच नामका पंचम भेद है उसका यहाँ निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अपर्याप्त तिर्यचों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़कर प्रतिपक्षरूप और कोई दूसरा गुणस्थान नहीं पाया जाता है अतः बिना कथन किये ही इसका ज्ञान हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ अपर्याप्त तिर्यचों में अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त तिर्यचों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही जानना चाहिए।

इस प्रकार तिर्यच जीवों के पर्याप्त-अपर्याप्त निरूपण की मुख्यता से पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब मनुष्यगति में पर्याप्त-अपर्याप्त जीवों की गुणस्थान व्यवस्था का निरूपण करने हेतु श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य के द्वारा सूत्र का अवतार किया जा रहा है—

सूत्रार्थ—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।।८९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ इन तीन गुणस्थानों में रहने वाले मनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों प्रकार के होते हैं।

यहाँ तात्पर्य यह है कि इन तीन गुणस्थानों में ही मनुष्यों की अपर्याप्त अवस्था संभव है अन्यत्र नहीं।

पुनः शेष गुणस्थानों की व्यवस्था बतलाने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

मनुष्य सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होते हैं।।९०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनुष्याः सम्प्राप्तिच्छादित्वा इत्यादि-सम्यग्दृष्टिसंयतासंयत-संयतगुणस्थानेषु नियमात् पर्याप्ताः एव भवन्ति।

भवतु नाम सर्वेषामेतेषां पर्याप्तत्वं, नाहारशरीरमुत्थापयतां प्रमत्तानामनिष्पन्नाहारषट्पर्याप्तीनाम् ? नैतत्, अत्र तु पर्याप्तकर्मोदयापेक्षया पर्याप्तोपदेशः।

तर्हि असंयतसम्यग्दृष्टौ अपि पर्याप्तकर्मोदयो वर्तते, किं च निर्वृत्यपर्याप्तावस्थायामेव तस्य सम्यग्दर्शनं अस्ति ?

नैष दोषः, अवलंबितद्रव्यार्थिकनयत्वात्।

सोऽन्यत्र किमिति नावलम्ब्यते इति चेत् ?

न, तत्र निमित्ताभावात्।

किमर्थमत्रावलंब्यते इति चेत् ?

पर्याप्तैरस्य साम्यदर्शनं तदवलम्बनकारणं।

केन साम्यमिति चेत् ?

दुःखाभावेन। उपपादगर्भसमूच्छज-शरीराण्याददानानामिव आहारशरीरमाददानानां न दुःखमस्तीति पर्याप्तत्वं प्रमत्तस्योपचर्यत इति यावत्। पूर्वाभ्यस्तवस्तुविस्मरणमंतरेण शरीरोपादानाद्वा दुःखमंतरेण

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तृतीय, पंचम एवं छठे गुणस्थानवर्ती मनुष्य नियम से पर्याप्त होते हैं।

शंका — सूत्र में बताए गए इन सभी गुणस्थान वालों को पर्याप्तपना प्राप्त भले ही होता रहे परन्तु जिनकी आहारक शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे आहारक शरीर को उत्पन्न करने वाले प्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीवों के पर्याप्तपना नहीं बन सकता है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि पर्याप्त नामकर्म के उदय की अपेक्षा प्रमत्तसंयत को पर्याप्तक कहा है।

शंका — फिर तो असंयतसम्यग्दृष्टियों के भी पर्याप्त नामकर्म का उदय मानना पड़ेगा क्योंकि उनके निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में ही सम्यग्दर्शन होता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय के अवलम्बन की अपेक्षा प्रमत्तसंयतों को आहारकशरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियों के पूर्ण होने पर भी पर्याप्त कहा है।

शंका — उस द्रव्यार्थिक नय का अन्यत्र (विग्रहगति संबंधी गुणस्थानों में) आलम्बन क्यों नहीं लिया जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वहाँ पर द्रव्यार्थिक नय के अवलम्बन के निमित्त नहीं पाये जाते हैं।

शंका — तो फिर यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन क्यों लिया जा रहा है ?

समाधान — आहारक संबंधी अपर्याप्त अवस्था को प्राप्त हुए प्रमत्तसंयत की पर्याप्तकों के साथ समानता का दिखाना ही यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय के अवलम्बन का कारण है।

शंका — इसकी दूसरे पर्याप्तकों के साथ किस बात से समानता है ?

समाधान — दुःख के अभाव की अपेक्षा इसकी दूसरे पर्याप्तकों के साथ समानता है। जिस प्रकार उपपादजन्म, गर्भजन्म या सम्मूर्च्छनजन्म से उत्पन्न हुए शरीरों को धारण करने वालों के दुःख होता है उस प्रकार आहारकशरीर को धारण करने वाले मुनियों के दुःख नहीं होता है इसलिए उस अवस्था में प्रमत्तसंयत पर्याप्तक हैं इस प्रकार उपचार किया जाता है। अथवा पहले अभ्यास की हुई वस्तु के विस्मरण के बिना ही

पूर्वशरीरपरित्यागाद्वा प्रमत्तस्तदवस्थायां पर्याप्त इत्युपचर्यते। निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तः। एवं समुद्घातगतकेवलिनामपि वक्तव्यम्^१।

अधुना मनुष्याणां भेदप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

एवं मणुस्स-पज्जत्ता॥९१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एवं मनुष्यपर्याप्ताः भवन्ति। अत्र निर्वृत्यपर्याप्तावस्थायामपि पर्याप्तव्यवहारो न विरुद्ध्यते। पर्याप्तनामकर्मोदयापेक्षया वा पर्याप्तता। एवं तिर्यक्ष्वपि वक्तव्यमस्ति।

संप्रति स्त्रीवेदविशिष्टमानुषीषु पर्याप्तिकापर्याप्तिकासु गुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ॥९२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मानुषीषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानयोः स्यात् पर्याप्तिकाः स्यात् अपर्याप्तिकाः भवन्तीति। अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः। अथवा स्यादित्ययं निपातः कथंचिदित्येतस्मिन्नर्थे वर्तते, तेन स्यात्पर्याप्ताः पर्याप्तनामकर्मोदयात् शरीरनिष्पत्त्यपेक्षया वा। स्यादपर्याप्ताः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम्।

आहारक शरीर का ग्रहण होता है या दुःख के बिना ही पूर्व शरीर (औदारिक) का परित्याग होता है अतएव प्रमत्तसंयत अपर्याप्त अवस्था में भी पर्याप्त हैं इस प्रकार का उपचार किया जाता है। निश्चयनय का आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्त ही है। इसी प्रकार समुद्घातगत केवली के संबंध में भी कथन करना चाहिए कि वे भी पर्याप्तनामकर्म की अपेक्षा से पर्याप्तक हैं और निश्चयनय की अपेक्षा अपर्याप्तक हैं।

अब मनुष्य के भेदों का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

इसी प्रकार मनुष्य पर्याप्त होते हैं॥९१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनुष्य पर्याप्त होते हैं। यहाँ निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में भी पर्याप्तपने का व्यवहार विरोध को प्राप्त नहीं होता है। अथवा पर्याप्त नामकर्म के उदय की अपेक्षा उनके पर्याप्तपना समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार तिर्यचों में भी कथन करना चाहिए।

अब पर्याप्त-अपर्याप्त अवस्था को प्राप्त स्त्रीवेदी मनुष्यिनियों के गुणस्थान का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

मनुष्यिनियाँ मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होती हैं और अपर्याप्तक भी होती हैं॥९२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय गुणस्थानवर्ती मनुष्य स्त्रियाँ पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों तरह की होती हैं। यहाँ पर भी पूर्व के समान अपर्याप्तकों — निर्वृत्यपर्याप्तकों में पर्याप्तपने का व्यवहार कर लेना चाहिए। अथवा 'स्यात्' यह निपात कथंचित् अर्थ में रहता है इसके अनुसार कथंचित् पर्याप्त होते हैं क्योंकि पर्याप्त नामकर्म के उदय की अपेक्षा अथवा शरीर पर्याप्ति की पूर्णता की अपेक्षा

पुनः मानुषीषु शेषगुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीपुष्पदन्तभट्टारकेण—
सम्पामिच्छाद्वि-असंजदसम्पामिच्छाद्वि-संजदासंजद-संजद-द्वि-णिगमा
पज्जत्तियाओ।।९३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — स्त्रीवेदविशिष्टमानुष्यः सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-
 संयतगुणस्थानेषु नियमात् पर्याप्तिकाः एव भवन्ति।

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत् ?

नोत्पद्यन्ते।

कुतोऽवसीयते ?

अस्मादेवार्षात्।

अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येदिति चेत् ?

न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।

भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत् ?

न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाववस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।

पर्याप्तक होते हैं और कथंचित् अपर्याप्त होते हैं इसका यह तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्ति की अपूर्णता की अपेक्षा अपर्याप्त होते हैं।

पुनः मनुष्यिनियों में शेष गुणस्थानों की व्यवस्था का निरूपण करने हेतु श्रीपुष्पदन्तभट्टारक के द्वारा सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

मनुष्यिनियाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।।९३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — स्त्रीवेदी मनुष्यिनियाँ तृतीय, चतुर्थ, पंचम और छठे आदि गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।

शंका — हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान — उनमें सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते हैं।

शंका — यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान — इसी आर्षवचन से जाना जाता है।

शंका — तो इसी आर्षवचन से द्रव्य स्त्रियों का मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जाएगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वस्त्र सहित होने से उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका — वस्त्र सहित होते हुए भी उन द्रव्य स्त्रियों के भाव संयम के होने में कोई विरोध नहीं होना चाहिए ?

समाधान — उनके भावसंयम नहीं है क्योंकि अन्यथा अर्थात् भावसंयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेत् ?

न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।

भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां संभव इति चेत् ?

न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना, न साराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि संभवन्तीति चेत् ?

न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। मनुष्यापर्याप्तेष्व-पर्याप्तिप्रतिपक्षाभावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति।^१ एवं श्रीवीरसेनाचार्येण धवलाटीकायां स्पष्टतया कथितं नात्र संदेहः कर्तव्यः।

अत्रायमर्थः — द्रव्यपुरुषवेदी कश्चिद् जीवः भावस्त्रीवेदेन चतुर्दशगुणस्थानानि लभते।

श्रीकुन्दकुन्ददेवेनापि सिद्धभक्तौ प्रोक्तं —

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमरूढा।

सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य तेहु सिङ्गंति।।^२

शंका — तो फिर स्त्रियों में चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बनेगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेदयुक्त मनुष्यगति में चौदहों गुणस्थानों के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका — बादरकषाय गुणस्थान के ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है इसलिए भाववेद में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि यहाँ पर अर्थात् गतिमार्गणा में वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती है।

शंका — यद्यपि मनुष्यगति में चौदह गुणस्थान हो सकते हैं फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं हो सकते हैं ऐसा क्यों ?

समाधान — नहीं, क्योंकि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषण युक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव होने में कोई विरोध नहीं आता है। मनुष्य अपर्याप्तकों में अपर्याप्ति का कोई प्रतिपक्षी नहीं होने से और उनका कथन सुगम होने से इस विषय में कुछ अधिक कहने योग्य नहीं है। इसलिए इस संबंध में स्वतन्त्ररूप से नहीं कहा गया है। ऐसा श्रीवीरसेनाचार्य ने धवला टीका में स्पष्टरूप से कह दिया है अतः इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए।

यहाँ अभिप्राय यह है कि द्रव्य पुरुषवेदी कोई कर्मभूमियाँ मनुष्य भाव से स्त्रीवेद के द्वारा भी चौदहों गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं।

श्रीकुन्दकुन्ददेव ने भी सिद्धभक्ति में कहा है —

गाथार्थ — जो पुरुष द्रव्य से पुरुषवेद के द्वारा क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हैं, वे ही द्रव्यपुरुषवेदी भाव से स्त्री या नपुंसकवेदी होते हुए भी शुक्लध्यान के द्वारा सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

इसी भाव को पूज्य माताजी ने उपर्युक्त सिद्धभक्ति के पद्यानुवाद में लिखा है —

जो भाव पुरुषवेदी मुनिवर वर क्षपकश्रेणि चढ़ सिद्ध हुए।

जो भाव नपुंसकवेदी भी थे पुरुषध्यान धर सिद्ध हुए।।

एषा वेदविषमता तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ चैव न देवनारकाणामिति, न च भोगभूमिषु। एतदेव प्रोक्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिना —

पुरुसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिस्थिसंढवो भावे।

णामोदयेण द्रव्ये पाएण समा कर्हिं विसमा॥२७१॥

पुरुषस्त्रीषण्ढाख्यत्रिवेदानां चारित्रमोहभेदनोकषायप्रकृतीनामुदयेन भावे-चित्परिणामे यथासंख्यं पुरुषः स्त्री षण्ढश्च जीवो भवति। निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मविशेषोदयेन, द्रव्ये पुद्गलद्रव्यपर्यायविशेषे पुरुषः स्त्री षण्ढश्च भवति। तद्यथा — पुंवेदोदयेन स्त्रियां अभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावपुरुषो भवति। स्त्रीवेदोदयेन पुरुषाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावस्त्री भवति। नपुंसकवेदोदयेन उभयाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावनपुंसकं भवति। पुंवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदय-युक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयवशेन श्मश्रुकूर्चशिशनादिलिङ्गाङ्कितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यपुरुषो भवति। स्त्रीवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयेन निर्लोममुखस्तनयोन्त्यादिलिङ्गलक्षितशरीरयुक्तो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यस्त्री भवति। नपुंसकवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयेन उभयलिङ्गव्यतिरिक्तदेहाङ्कितो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यनपुंसकं जीवो भवति। एते द्रव्यभाववेदाः प्रायेण-

जो भाववेद स्त्री होकर भी द्रव्यपुरुष अतएव उन्हें।

हो शुक्लध्यान सिद्धि जिससे सब कर्म नाश कर सिद्ध बनें।।

यह वेद की विषमता तिर्यग्गति और मनुष्यगति में ही है, देव और नारकियों में नहीं है और भोगभूमि में भी नहीं है। श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी यही बात कही है —

गाथार्थ — पुरुष, स्त्री और नपुंसकवेद कर्म के उदय से भावपुरुष, भावस्त्री, भावनपुंसक होता है और नामकर्म के उदय से द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री, द्रव्यनपुंसक होता है। सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायः करके समान होता है परन्तु कहीं-कहीं विषम भी होता है॥२७१॥

चारित्रमोहनीय का भेद नोकषाय की पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामक प्रकृतियों का उदय होने पर जीवभाव अर्थात् चित्परिणाम में पुरुष, स्त्री या नपुंसक होता है। निर्माण नामकर्म के उदय से युक्त आंगोपांगनामकर्म विशेष के उदय से द्रव्य अर्थात् पुद्गलद्रव्य की पर्यायविशेष में पुरुष, स्त्री और नपुंसक होता है। वह इस प्रकार जानना कि पुरुषवेद के उदय से स्त्री में अभिलाषा रूप मैथुन संज्ञा से आक्रान्त जीव भावपुरुष होता है। स्त्रीवेद के उदय से पुरुष की अभिलाषारूप मैथुन संज्ञा से आक्रान्त जीव भावस्त्री होता है। नपुंसकवेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा रूप मैथुन से आक्रान्त जीव भावनपुंसक होता है। पुरुषवेद के उदय से तथा निर्माणनामकर्म के उदय से युक्त आंगोपांग नामकर्म के उदयवश दाढ़ी, मूँछ, शिश्न आदि चिन्हों से अंकित शरीर से विशिष्ट जीव भव के प्रथम समय से लेकर उस भव के अंतिम समय पर्यन्त द्रव्यपुरुष होता है। स्त्रीवेद के उदय से तथा निर्माण नामकर्म के उदय से युक्त आंगोपांग नामकर्म के उदय से रोमरहित मुख, स्तन, योनि आदि चिन्हों से युक्त शरीर वाला जीव भव के प्रथम समय से लेकर उस भव के अंतिम समय पर्यन्त द्रव्यस्त्री होता है। नपुंसकवेद के उदय से तथा निर्माण नामकर्म के उदय से युक्त आंगोपांग नामकर्म के उदय से दोनों लिंगों से भिन्न शरीर वाला जीव भव के प्रथम समय से लेकर उस भव के अंतिम समय पर्यन्त द्रव्यनपुंसक होता है। ये द्रव्यवेद और भाववेद प्रायः देव, नारकियों और भोगभूमि के

प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु भोगभूमिसर्वतिर्यग्मनुष्येषु च समाः द्रव्यभावाभ्यां समवेदोदयाङ्किता भवन्ति। क्वचित् कर्मभूमिमनुष्यतिर्यग्गतिद्वये विषमाः — विसदृशा अपि भवन्ति। तद्यथा — द्रव्यतः पुरुषे भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं इति विषमत्वं द्रव्यभावयोरनियमः कथितः। कुतः ? द्रव्यपुरुषस्य क्षपकश्रेण्यारूढानिवृत्ति-करणसवेदभागपर्यन्तं वेदत्रयस्य परमागमे “सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति।” इति प्रतिपादितत्वेन संभवात्।।

अस्यायमर्थः — मनुष्याः कर्मभूमिजाः द्रव्येण पुरुषाः अपि यदि भावेन स्त्रीवेदिनः नपुंसकवेदिनो वा तर्हि अपि मोक्षं प्राप्नुवन्ति।

एवं मनुष्याणां पर्याप्त्यपर्याप्त्यादिवर्णनकरणत्वेन पंचसूत्राणि गतानि।

संप्रति देवगतौ पर्याप्तापर्याप्तेषु गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

देवा मिच्छादृष्टि-सासणसम्मादृष्टि-असंजदसम्मादृष्टि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।।९४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — देवाः मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेषु स्यात् पर्याप्ताः स्यात् अपर्याप्ताः भवन्ति।

विग्रहगतौ कार्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात् न चापर्याप्तास्ते, ततस्तृतीयमपि अवस्थान्तरं वक्तव्यम् ?

सब तिर्यचों तथा मनुष्यों में सम होते हैं किन्तु क्वचित् तिर्यचगति और मनुष्यगति में विषम होते हैं। जैसे — द्रव्य से पुरुष भाव से पुरुष, स्त्री या नपुंसक होता है। द्रव्य से स्त्री भाव से पुरुष, स्त्री या नपुंसक होता है। द्रव्य से नपुंसक भाव से पुरुष, स्त्री या नपुंसक होता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव का अनियम विषम शब्द से कहा है क्योंकि क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ जीव के अनिवृत्तिकरण से सवेद भागपर्यन्त तीनों वेदों का अस्तित्व परमागम में कहा है। शेष वेदों के उदय से भी ध्यान में मग्न जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं।

इसका अर्थ यह है कि कर्मभूमिज मनुष्य आदि द्रव्य से पुरुषवेदी होते हुए भी भाव से स्त्रीवेदी अथवा नपुंसकवेदी भी हैं तो भी मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार मनुष्यों की पर्याप्ति-अपर्याप्ति आदि के वर्णन की मुख्यता से पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब देवगति में पर्याप्तक-अपर्याप्तक जीवों में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।।९४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — देव मिथ्यात्व, सासादन और अविस्तसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों में होते हैं और वहाँ पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों प्रकार की अवस्थाएँ रहती हैं।

शंका — विग्रहगति में कार्मण शरीरधारी जीवों के पर्याप्ति नहीं होती है तो छहों पर्याप्तियों की निष्पत्ति का वहाँ अभाव रहता है और विग्रह गति में जीव अपर्याप्तक भी नहीं रहते हैं, इसलिए वहाँ इन दोनों अवस्थाओं से रहित एक तृतीय भिन्न अवस्था ही मानना चाहिए ?

न वक्तव्यं, तेषां विग्रहगतिस्थितजीवानां अपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम्।^१

तत्रैव शेषगुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

सम्पामिच्छाइट्टि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता।।९५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सम्यग्मिथ्यादृष्टिनाम तृतीयगुणस्थाने देवा नियमात् पर्याप्ताः एव। तेन गुणस्थानेन सह मरणाभावात्।

अत्र नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसज्यतीति चेत् ?

न, अनेकांतगर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात्।^२

संप्रति मार्गणायां देवगतौ गुणस्थानेषु पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

**भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ सोधम्मीसाण-
कप्पवासियदेवीओ च मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता
सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।।९६।।**

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उन विग्रहगति में स्थित जीवों का अपर्याप्त अवस्था में ही अंतर्भाव हो जाता है अर्थात् उन्हें अपर्याप्तक ही मानना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण संसारी जीवों में पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो अवस्थाएँ ही होती हैं इनके अतिरिक्त कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है।

भावार्थ — कर्मण शरीर में स्थित जीवों की अपर्याप्तकों के साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान और गति तथा आयुसंबंधी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समय में होने वाली अवस्था के द्वारा जितनी समीपता पाई जाती है, उतनी शेष प्राणियों की नहीं पाई जाती है इसलिए कर्मण काययोग में स्थित जीवों का अपर्याप्तकों में ही अन्तर्भाव किया जाता है। अतः सारांश यह समझना चाहिए कि सम्पूर्ण संसारी प्राणियों की केवल दो ही अवस्थाएँ होती हैं इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है।

इसी देवगति में शेष गुणस्थानों का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ —

देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होते हैं।।९५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामके तृतीय गुणस्थान में देव नियम से पर्याप्त अवस्था में ही रहते हैं क्योंकि उस गुणस्थान के साथ मरण का अभाव पाया जाता है।

शंका — तृतीय गुणस्थान में उपर्युक्त नियम के मान लेने पर तो एकान्तवाद का प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि अनेकान्तगर्भित एकान्तवाद के सद्भाव होने में कोई विरोध नहीं आता है।

अब मार्गणा में देवगति में गुणस्थानों के अनुसार पर्याप्त-अपर्याप्त व्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ —

भवनवासी, वानव्यन्तर एवं ज्योतिषी देव और उनकी देवियाँ तथा सौधर्मईशान स्वर्ग की कल्पवासिनी देवियाँ ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।।९६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — भवनवासि-वानव्यंतर-ज्योतिष्कदेवाः देव्यः सौधर्मैशानकल्पवासिदेव्यश्च मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानयोः स्यात्पर्याप्ताः स्यादपर्याप्ताः, स्यात् पर्याप्तिकाः स्यादपर्याप्तिकाः भवन्तीति। उभयगुणस्थानसहितजीवानां तत्र—देवगतौ उत्पत्तेरुभयत्रापि पर्याप्तापर्याप्तदेवानां देवीनाञ्चास्तित्वं सिद्ध्यति। उपर्युक्तदेवदेवीनां अनुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

सम्पामिच्छादृष्टि-असंजदसम्पामिच्छादृष्टि-दृष्टिणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ।।९७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एतत्सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानयोः ते उपर्युक्तदेवाः नियमात् पर्याप्ताः, देव्यश्च नियमात् पर्याप्तिकाः एव भवन्ति। इमे भवनत्रिकदेवाः, चतुर्णिकायदेव्यश्च जघन्याः कथ्यन्ते। एतेषु एतासु च सम्यग्दृष्टयो नोत्पद्यन्ते।

नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषु उत्पद्यमानास्तत्र तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यन्ते सम्यग्दृष्टयः इति चेत् ? नैतत्, मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बद्धायुष्काणां पश्चादातसम्यग्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिबन्धनं प्रति सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात्।

तद्वद्वेषु अपि किन्न स्यात् ?

न स्यात्, सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषां प्राणिनां तत्तद्गति-आयुःसामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गतिविशेषोत्पत्ति-

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानों में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देव और उनकी देवियाँ कथंचित् पर्याप्त और कथंचित् अपर्याप्त भी होते हैं।

इन दोनों गुणस्थानों से सहित जीवों के उस देवगति में उत्पत्ति होने से दोनों ही जगह पर्याप्त-अपर्याप्त देव और देवियों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

उपर्युक्त देव-देवियों में जो गुणस्थान नहीं पाए जाते हैं उनका प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पूर्वोक्त देव नियम से पर्याप्त होते हैं और पूर्वोक्त देवियाँ भी नियम से पर्याप्त होती हैं।।९७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इन सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि नामक दोनों गुणस्थानों में उपर्युक्त देव नियम से पर्याप्तक होते हैं और देवियाँ भी नियम से पर्याप्तक ही होती हैं। ये भवनत्रिक और चतुर्निकायों की देवियाँ जघन्य कही जाती हैं, इन सब पर्यायों में सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न — इन जघन्य अवस्था को प्राप्त नारकियों में और तिर्यचों में उत्पन्न होने वाला सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त भवनवासी देव और देवियों में तथा कल्पवासिनी देवियों में क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

उत्तर — ऐसा नहीं है क्योंकि जो आयुर्कर्म का बंध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने उसके पश्चात् सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया है ऐसे जीवों की नरकादि गति में उत्पत्ति के रोकने की सामर्थ्य सम्यग्दर्शन में नहीं है।

प्रश्न — नरकगति के समान ही सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति देवों में क्यों नहीं होती है ?

उत्तर — नहीं होती है, क्योंकि जिन्होंने पहले आयुर्कर्म का बंध कर लिया है ऐसे जीवों के सम्यग्दर्शन

विरोधित्वोपलंभात्। तथा च भवनवासिर्व्यंतरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकपृथ्वीषट्कस्त्रीनपुंसक-
विकलैकेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकर्मभूमिजतिर्यक्षु चोत्पत्त्या विरोधोऽसंयतसम्यग्दृष्टेः सिद्धयेत्^१ इति तत्र ते
नोत्पद्यन्ते।

शेषदेवेषु गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतार्यते—

**सौधर्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्जं ति विमाणवासिय-
देवेसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता
सिया अपज्जत्ता।।९८।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सौधर्मैशानप्रभृति यावत् उपरिमोपरिमग्रैवेयकं इति विमानवासिदेवेषु
मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेषु स्यात् पर्याप्ताः स्यादपर्याप्ताः भवन्ति।

एतस्मात् सूत्रादेतज्जायते यत् सनत्कुमारादुपरि न स्त्रियः समुत्पद्यन्ते, सौधर्मादौ इव तदुत्पत्त्यप्रतिपादनात्।

पुनः तत्र स्त्रीणामभावे तेषां अनुपशान्तान्तस्तापानां देवानां कथं सुखमिति चेत् ?

न, तासां सनत्कुमारादिस्त्रीणां सौधर्मकल्पोपपत्तेः।

तर्हि सनत्कुमारादिस्वर्गेषु देवीनामस्तिव्यमभिधातव्यम् ?

का उस-उस गतिसंबंधी आयुसामान्य के साथ विरोध न होते हुए भी उस-उस गति संबंधी विशेष में उत्पत्ति
के साथ विरोध पाया जाता है। ऐसी अवस्था में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और
किल्बिषिक देवों में, नीचे के छह नरकों में, सब प्रकार की स्त्रियों में, प्रथम नरक के बिना सब प्रकार के
नपुंसकों में, विकलत्रयों में, एकेन्द्रियों में, लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में और कर्मभूमिज तिर्यचों में असंयतसम्यग्दृष्टि
का उत्पत्ति के साथ विरोध सिद्ध हो जाता है। इसलिए इतने स्थानों में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं।

शेष देवों में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ —

**सौधर्म और ऐशान स्वर्ग से लेकर उपरिम ग्रैवेयक के उपरिम भागपर्यन्त विमानवासी
देवों संबंधी मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि में जीव पर्याप्त भी
होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।।९८।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सौधर्म-ऐशान स्वर्ग से लेकर उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक तक समस्त
विमानवासी देवों में मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्तक भी होते हैं
और कथंचित् अपर्याप्तक भी होते हैं।

इस सूत्र से ऐसा ज्ञात होता है कि सनत्कुमार स्वर्ग से लेकर ऊपर स्त्रियाँ—देवियाँ उत्पन्न नहीं होती
हैं क्योंकि सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में देवांगनाओं के उत्पन्न होने का जिस प्रकार कथन किया गया है, उस
प्रकार आगे के स्वर्गों में उनकी उत्पत्ति का कथन नहीं किया गया है।

शंका — पुनः वहाँ स्त्रियों का अभाव रहने पर जिनका स्त्रीसंबंधी अन्तस्ताप शांत नहीं हुआ है ऐसे
देवों को उन देवियों के बिना सुख कैसे हो सकता है ?

नैतत्, अन्यत्रोत्पन्नानामन्यलेश्यायुर्बलानां स्त्रीणां तत्र सत्त्वविरोधात्।

तत्र देवेषु स्त्रीसुखस्य का व्यवस्था ?

तत्र भवनवासिनो व्यन्तरज्योतिष्काः सौधर्मैशानदेवाश्च मनुष्या इव कायप्रवीचाराः। प्रवीचारो मैथुनसेवनं, काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः स्पर्शप्रवीचाराः, तत्रतनदेवा देवाङ्गनास्पर्शनमात्रादेव परां प्रीतिमुपलभन्ते इति यावत्। तथा देव्योऽपि। यतो ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवाः दिव्याङ्गनाशृंगाराकार-विलासचतुरमनोज्ञवेषरूपालोकमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति ततस्ते रूपप्रवीचाराः। यतः शुक्रमहाशुक्रशतार-सहस्रारेषु देवाः देवाङ्गनानां मधुरसंगीतमृदुहसितललित — कथितभूषणरवश्रवणमात्रादेव परां प्रीतिमास्कंदन्ति ततस्ते शब्दप्रवीचाराः। आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवाः यतः स्वाङ्गनामनःसंकल्पमात्रादेव परं सुखं अवाप्नुवन्ति ततस्ते मनःप्रवीचाराः। प्रवीचारो वेदनाप्रतीकारः। वेदनाभावात् शेषाः देवाः अप्रवीचाराः अनवरतसुखा इति यावत्।^१

अधुना तृतीयगुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनाय सूत्रमभिधत्ते—

समाधान — नहीं, क्योंकि सनत्कुमार आदि कल्पसंबंधी स्त्रियों की सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में ही उत्पत्ति होती है। अर्थात् आगे के स्वर्ग वाले देव आकर इन दो स्वर्गों में उत्पन्न हुई अपनी नियोगिनी देवियों को अपने स्वर्गों में ले आते हैं।

शंका — तब तो सनत्कुमार आदि कल्पों में भी स्त्रियों के अस्तित्व का कथन कर देना चाहिए ?

समाधान — नहीं, क्योंकि जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई हैं तथा जिनकी लेश्या, आयु और बल सनत्कुमार आदि कल्पों में उत्पन्न हुए देवों से भिन्न प्रकार के हैं ऐसी स्त्रियों का सनत्कुमार आदि कल्पों में उत्पत्ति की अपेक्षा अस्तित्व होने में विरोध आता है।

शंका — फिर उन स्वर्ग के देवों में स्त्रीसुख की क्या व्यवस्था रहती है ?

समाधान — उन देवों में भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासी देव मनुष्यों के समान शरीर से प्रवीचार करते हैं। मैथुनसेवन को प्रवीचार कहते हैं। जिनका काय में प्रवीचार होता है उन्हें काय से प्रवीचार करने वाले कहते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में देव स्पर्श से प्रवीचार करते हैं। अर्थात् इन दोनों कल्पों में रहने वाले देव देवांगनाओं के स्पर्शमात्र से ही अत्यन्त प्रीति को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार वहाँ की देवियाँ भी देवों के स्पर्शमात्र से ही अत्यन्त प्रीति को प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पों में रहने वाले देव अपनी देवांगनाओं के शृंगार, आकार, विलास, प्रशस्त तथा मनोज्ञवेष तथा रूप के अवलोकन मात्र से ही परम सुख को प्राप्त होते हैं इसलिए वे रूप से प्रवीचार करने वाले हैं। जिस कारण, शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पों में रहने वाले देव, देवांगनाओं में मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणों के शब्द सुनने मात्र से ही परम प्रीति को प्राप्त होते हैं इसलिए वे शब्द से प्रवीचार करने वाले हैं। जिस कारण आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पों में रहने वाले देव अपनी स्त्री का मन में संकल्प करने मात्र से ही परम सुख को प्राप्त होते हैं इसलिए वे मन से प्रवीचार करने वाले हैं। वेदना के प्रतीकार को प्रवीचार कहते हैं। उस वेदना का अभाव होने से नव ग्रैवेयक से लेकर ऊपर के सभी देव प्रवीचार रहित हैं अर्थात् निरन्तर सुखी हैं।

अब तृतीय गुणस्थान की व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का कथन किया जाता है —

सम्मामिच्छाद्विद्वाने णियमा पज्जत्ता।।९९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने नियमात् पर्याप्ताः एव भवन्तीति।

शेषदेवेषु गुणस्थानव्यवस्थानिश्चयाय सूत्रावतारो भवति—

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वैजयन्त-जयन्तावराजित-सर्ववृत्तसिद्धि- विमाणवासियदेवा असंजदसम्मामिच्छाद्विद्वाने सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।।१००।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नव अनुदिशविमानेषु देवा पञ्चानुत्तरविमानेषु-विजयवैजयन्तजयन्तावराजित-सर्वार्थसिद्धिनामधेयेषु ये देवाश्च ते असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने पर्याप्ताः अपर्याप्ताश्च भवन्ति।

एवं योगनिरूपणावसरे एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तापर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामस्तित्वं कथितम्।

शेषमार्गणासु किमिति नाभिधीयते ?

नोच्यते, तथापि अनेनैव गतार्थत्वात्, किंच गतिचतुष्टयव्यतिरिक्तमार्गणाभावात्।

एवं योगमार्गणायां सामान्ययोगसहितानां अयोगिनां च निरूपणपरत्वेन द्वे सूत्रे, मनोयोगसामान्यलक्षणं गुणस्थानव्यवस्थां च प्रतिपादनत्वेन द्वे सूत्रे। सामान्यवचनयोगलक्षणं तत्र गुणस्थानव्यवस्थां च कथनपरत्वेन

सूत्रार्थ —

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में देव नियम से पर्याप्तक होते हैं।।९९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इस गुणस्थान में सभी देव, नियम से पर्याप्तक ही होते हैं कोई अपर्याप्तक नहीं होते हैं।

अब शेष देवों में गुणस्थान व्यवस्था का निश्चय करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

नव अनुदिशों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में रहने वाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।।१००।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नव अनुदिश विमानों के देव तथा पंच अनुत्तर — विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि विमानों में रहने वाले देव चतुर्थ गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।

इस प्रकार योग निरूपण के अवसर पर ही चारों गतियों में पर्याप्त-अपर्याप्त काल की विशिष्टता से सहित समस्त गुणस्थानों के अस्तित्व का कथन किया गया है।

प्रश्न-शेष मार्गणाओं में यह विषय क्यों नहीं कहा गया ?

उत्तर-नहीं कहा है, क्योंकि इसी कथन से शेष मार्गणाओं में इस विषय का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि चारों गतियों को छोड़कर अन्य मार्गणाएँ नहीं पाई जाती हैं। अर्थात् चार गतियों में ही शेष मार्गणाएँ अन्तर्भूत हो जाती हैं क्योंकि इन्द्रिय, काय, योग आदि सब कुछ चार गति के जीवों में ही पाये जाते हैं।

इस प्रकार योग मार्गणा में सामान्य योग से सहित सयोगी एवं अयोगी जीवों का निरूपण करने की मुख्यता से दो सूत्र हुए। पुनः मनोयोगसामान्य का लक्षण और गुणस्थान व्यवस्था के प्रतिपादनरूप दो सूत्र

पंच सूत्राणि, तेन परं काययोगसामान्यलक्षणसंख्यागुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनपरत्वेन नव सूत्राणि गतानि, ततश्च त्रियोगसहितानां गुणस्थानव्यवस्थां द्वियोगिनां एकयोगधराणां च जीवानां च कथनपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि, तत्पश्चात् योगधारिणां जीवानां पर्याप्तापर्याप्तकथनपरत्वेन पर्याप्त्यपर्याप्तिलक्षणकथनमुख्यत्वेन चाष्टौ सूत्राणि निगदितानि, तदनु औदारिकौदारिकमिश्र-वैक्रियिकवैक्रियिकमिश्र-आहारकाहारकमिश्रयोगिनां पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्थाकथनमुख्यत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि। पुनः गतिमार्गणापेक्षया योगसहितानां जीवानां नरकेषु पर्याप्तापर्याप्तेषु गुणस्थाननिरूपणमुख्यत्वेन पंच सूत्राणि गतानि, ततश्च तिर्यग्गतौ योगसहितानां प्राणिनां पर्याप्तापर्याप्तकेषु गुणस्थानकथनपरत्वेन पंच सूत्राणि गतानि, तत्पश्चात् मनुष्यगत्यपेक्षया योगमार्गणायां पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्थाकथनमुख्यत्वेन गुणस्थानव्यवस्थाकथनपरत्वेन च त्रीणि सूत्राणि, अस्मिन्नेव प्रकरणे योनिमतीमानुष्ठीनां-भाववेदधारीपुरुषाणां चतुर्दशगुणस्थाननिरूपणमुख्यत्वेन द्वे सूत्रे गते, तदनु योगमार्गणायामेव देवगत्यपेक्षया पर्याप्तापर्याप्तेषु गुणस्थानकथनपरत्वेन सप्त सूत्राणि गतानि। एवंविध योगमार्गणासु चतुर्थोधिकारे चतुःपञ्चाशत् सूत्राणि गतानि इति ज्ञातव्यं भवद्भिः।

इति षट्खण्डागमप्रथमखण्डे गणिनीज्ञानमतीकृत-
सिद्धान्तचिन्तामणिटीकायां योगमार्गणानाम
चतुर्थोऽधिकारः समाप्तः।

हुए। सामान्य वचनयोग का लक्षण तथा वहाँ गुणस्थान व्यवस्था के कथन रूप पाँच सूत्र हुए, उसके पश्चात् काययोगसामान्य का लक्षण, संख्या और गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले नौ सूत्र कहे हैं। पुनः तीनों योगों से सहित जीवों की गुणस्थान व्यवस्था, दो योग तथा एक योग के धारी जीवों का कथन करने वाले तीन सूत्र हुए। तत्पश्चात् योग धारण करने वाले — सयोगी जीवों की पर्याप्त-अपर्याप्त अवस्था के प्रतिपादन की मुख्यता से तथा पर्याप्ति-अपर्याप्ति के लक्षण कथन की मुख्यता से आठ सूत्र कहे हैं। तदनन्तर औदारिक-औदारिकमिश्र, वैक्रियिक-वैक्रियिकमिश्र, आहारक-आहारकमिश्र योग वाले जीवों के पर्याप्त-अपर्याप्तक अवस्था का कथन करने वाले तीन सूत्र हुए। पुनः गति मार्गणा की अपेक्षा योग सहित जीवों के नरकगति के पर्याप्त-अपर्याप्त जीवों में गुणस्थान व्यवस्था के निरूपण की मुख्यता से पाँच सूत्र कहे गये, तत्पश्चात् तिर्यग्गति के योगसहित प्राणियों की पर्याप्त-अपर्याप्त अवस्था में गुणस्थान व्यवस्था का निरूपण करने वाले पाँच सूत्र हुए, इसके बाद मनुष्यगति की अपेक्षा योग मार्गणा में पर्याप्त-अपर्याप्त व्यवस्था के कथन की मुख्यता से एवं उनके गुणस्थान व्यवस्था का कथन करने वाले तीन सूत्र हुए। इसी प्रकरण में योनिमती मनुष्यिनी — स्त्री भाववेदधारी पुरुषों के चौदह गुणस्थान के निरूपण की मुख्यता से दो सूत्र हुए। इसके पश्चात् योगमार्गणा में ही देवगति की अपेक्षा पर्याप्तक-अपर्याप्तक जीवों में गुणस्थान कथन की मुख्यता से सात सूत्र हुए। इस प्रकार मार्गणाओं का कथन करने वाले चतुर्थ अधिकार में चौवन (५४) सूत्र कहे गये हैं ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार षट्खंडागम सूत्र ग्रंथ के प्रथमखंड में गणिनी ज्ञानमती कृत
सिद्धान्तचिन्तामणि नाम की टीका में योगमार्गणा नामका
चतुर्थ अधिकार समाप्त हुआ।

अथ वेदमार्गणाधिकारः

श्री मुनिसुव्रतनाथ जिनेन्द्राय नमः

मंगलाचरण

महाव्रतधरो धीरः, सुव्रतो मुनिसुव्रतः।

नमस्तुभ्यं तनुतान्मे, रत्नत्रयस्य पूर्णताम्॥१॥

अद्य केशवरायपाटन नाम अतिशयक्षेत्रे अत्रस्थातिशायि-मुनिसुव्रतनाथस्य प्रतिमाया गर्भगृहस्य विस्तारीकरणस्य निर्णयो जातः। मत्प्रेरणया संघसानिध्ये च लघुपंचशैलस्य वीरप्रभुदिव्यध्वनिस्तंभस्य च निर्माणार्थं यंत्रस्थापनापि संजाता। अत्र भाविकाले स्थापयिष्यमाणाः जिनप्रतिमा मह्यं सर्वेभ्यश्च सर्वाभीप्सितं प्रयच्छन्तु।^१

अथ स्थलत्रयेण दशसूत्रैः वेदमार्गणानाम् पंचमोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र प्रथमस्थले सामान्यवेदानां त्रिविधवेदेषु गुणस्थानप्रतिपादनत्वेन च त्रीणि सूत्राणि सन्ति, ततः परं द्वितीयस्थले अपगतवेदानां कथनत्वेन एकं सूत्रं। तदनु तृतीयस्थले नरकादिगतिषु वेदव्यवस्थागुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनत्वेन षट् सूत्राणि, इति समुदायपातनिका।

संप्रति वेदमार्गणानिरूपणार्थं सूत्रमवतरति—

अथ वेदमार्गणाधिकार

अब वेद मार्गणा अधिकार प्रारम्भ होता है।

“श्रीमुनिसुव्रत जिनेन्द्र को मेरा नमस्कार होवे” —

मंगलाचरण (श्लोकार्थ) — जो महाव्रतों को धारण करने वाले धीर हैं, जिनका सुव्रत अथवा मुनिसुव्रत नाम है ऐसे हे मुनिसुव्रत भगवान्! आप मुझमें रत्नत्रय की पूर्णता करें इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो।

आज यहाँ (केशवरायपाटन अतिशय क्षेत्र में) विराजमान अतिशयकारी भगवान् मुनिसुव्रत की प्रतिमा के गर्भगृह के विस्तारीकरण का निर्णय हुआ। यहाँ मेरी प्रेरणा से तथा मेरे संघ सानिध्य में लघुपंचपहाड़ी (राजगृही) की पंचपहाड़ी का एवं महावीर स्वामी के दिव्यध्वनिस्तम्भ के निर्माण हेतु यंत्रस्थापना भी की गई। भविष्य में यहाँ स्थापित होने वाली प्रतिमाएँ मेरे एवं सभी के लिए इच्छित फल की प्राप्ति में निमित्त बनें यही मेरी कामना है।

अब तीन स्थलों के द्वारा दश सूत्रों में कहा जाने वाला वेदमार्गणा नामक पंचम अधिकार प्रारंभ किया जाता है। उसमें प्रथमस्थल में सामान्य वेद वाले जीवों के तीन प्रकार के वेदों में गुणस्थानव्यवस्था के प्रतिपादन की मुख्यता से तीन सूत्र हैं। पुनः द्वितीय स्थल में अपगतवेदियों के वर्णन की मुख्यता से एक सूत्र है। उसके पश्चात् तृतीयस्थल में नरकादि गतियों में वेदव्यवस्था और गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले छह सूत्र हैं, ऐसी समुदाय पातनिका — सामूहिक सूत्र संख्या यहाँ प्रस्तुत की गई है।

अब वेदमार्गणा का निरूपण करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

वेदानुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि।।१०१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — वेदानुवादेण — वेदानुवादेन स्त्रीवेदाः पुरुषवेदाः नपुंसकवेदाः जीवा अपगतवेदाश्च संति इति। दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयति इति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः, स एषामस्तीति स्त्रीवेदाः। अथवा पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषाकाङ्क्षा इत्यर्थः। स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः। अथवा वेदनं वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः।

उक्तं च —

छादेदि सयं दोसेण^१ यदो छादइ परं हि दोसेण।

छादणसीला जम्हा, तम्हा सा वणिणया इत्थी।।^२

स्वयमात्मानं दोषैः—मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमक्रोधमानमायालोभैः छादयति संवृणोति, मृदुभाषितस्निग्ध-विलोकनानुकूलवर्तनादिकुशलव्यापारैः परमपि अन्यपुरुषमपि स्ववशं कृत्वा दोषेण — हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहादिपातकेन छादयति आवृणोति तस्मात्कारणात् छादनशीला द्रव्यभावाभ्यां सा अंगना स्त्रीति वर्णिता-परमागमे प्रतिपादिता। यद्यपि तीर्थकरजनन्यादीनां कासांचित् सम्यग्दृष्टीनां एतदुक्तदोषाभावः, तथापि

सूत्रार्थ —

वेदमार्गणा के अनुवाद से स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेद वाले जीव होते हैं।।१०१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — वेदानुवाद की अपेक्षा स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी और अपगतवेदी (वेद रहित सिद्ध जीव) जीव होते हैं।

जो दोषों से स्वयं अपने को और दूसरे को आच्छादित करती है उसे 'स्त्री' कहते हैं और स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं, वह स्त्रीवेद जिनके पाया जाता है वे स्त्रीवेदी कहलाते हैं।

अथवा जो पुरुष की आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ है — पुरुष के साथ रमण करने की चाह। जो अपने को स्त्रीरूप अनुभव करता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा वेदन करने को वेद कहते हैं और स्त्री के वेद को स्त्रीवेद कहते हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित करती है और मधुर संभाषण, कटाक्ष-विक्षेप आदि के द्वारा जो दूसरे पुरुषों को भी अब्रह्म आदि दोषों से आच्छादित करती है, उसको आच्छादनशील होने के कारण स्त्री कहा है।

जो स्वयं अपने को मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, क्रोध, मान, माया, लोभरूप दोषों से आच्छादित करती है तथा अन्य पुरुषों को भी कोमल वचन, कटाक्ष सहित अवलोकन, अनुकूल प्रवर्तन आदि कुशल व्यापारों से अपने वश में करके हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह आदि पापों से आच्छादित करती है इसलिए द्रव्य और भाव से छादनशील होने से उन्हें परमागम में स्त्री कहा है। यद्यपि तीर्थकर की माता आदि किन्हीं

तासां दुर्लभत्वेन सर्वत्र सुलभप्राचुर्यव्यवहारापेक्षया स्त्रीलक्षणं स्तृणाति स्वयमन्यं च दोषैः इति स्त्री निरुक्तिपूर्वकमाचार्येणोक्तम्।^१

सर्वासां स्त्रीणां नैतन्निरुक्तिलक्षणं घटते एतदेव श्रीशुभचन्द्राचार्येणापि प्रोक्तं ज्ञानार्णवे ग्रन्थे —

यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः।

तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाघसंभवः॥५६॥

ननु सन्ति जीवलोके, काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः।

निजवंशतिलकभूताः, श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः॥५७॥

सतीत्वेन महत्त्वेन, वृत्तेन विनयेन च।

विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम्॥५८॥^२

तात्पर्यमेतत् — जिनजननीमरुदेव्यादयो ब्राह्मीसुन्दरीचंदनाद्यार्थिकादयः सतीसीताञ्जनादयश्च द्रव्यवेदिस्त्रियोऽपि नैतद्दोषैर्दूष्यन्ते प्रत्युत् देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिभिरपि पूज्यन्ते। अत्र तु वेदमार्गणायां भाववेदप्राधान्येन भाववेदस्त्रियः शुक्लध्यानान्नाग्निना कर्माणि दग्ध्वा मोक्षमपि लभन्ते इति ज्ञातव्यम्।

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुषः। सुषुप्तपुरुषवदनवगतगुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः अंगनाभिलाषः इति यावत्।

सम्यग्दृष्टि स्त्रियों में इन दोषों का अभाव रहता है तथापि उनके दुर्लभ होने से तथा सर्वत्र उक्त दोषों से युक्त स्त्रियों के सुलभ होने से आधिक्य व्यवहार की अपेक्षा स्त्री का उक्त लक्षण निरुक्तिपूर्वक आचार्यों ने कहा है।

समस्त स्त्रियों में यह निरुक्ति लक्षण घटित नहीं होता है यही बात श्रीशुभचंद्राचार्य ने “ज्ञानार्णव” ग्रंथ में कही है —

श्लोकार्थ — यद्यपि संसार से विरक्त हुए संयमी मुनियों ने स्त्रियों को दूषित ही बताया है अर्थात् उनके दोषों का ही वर्णन किया है तथापि उनमें एकान्तता से पापों की ही संभावना नहीं है किन्तु उनमें से किसी-किसी स्त्री में गुण भी होते हैं॥५६॥

उन गुणों को कहते हैं —

श्लोकार्थ — अहो! इस जगत् में अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जो शमभाव (मन्दकषायरूप परिणाम) और शील संयम से भूषित हैं तथा अपने वंश में तिलकभूत हैं अर्थात् अपने वंश को शोभायमान करती हैं और श्रुत के स्वाध्याय में लीन एवं सत्य गुण से समन्वित रहती हैं॥५७॥

अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जो अपने पातिव्रत्य धर्म से, महानता से, स्वकीय दृढ़ चारित्र से (सदाचरण से), विनय से और विवेक से इस पृथ्वीतल को सुशोभित करती हैं॥५८॥

तात्पर्य यह है कि भगवान् ऋषभदेव जिनेन्द्र की माता मरुदेवी आदि अन्य तीर्थकरों की माताएँ, ब्राह्मी-सुन्दरी-चंदना आदि आर्यिकाएँ तथा सीता, अंजना आदि सतियाँ द्रव्य स्त्रीवेदी होते हुए भी उपर्युक्त अनेक दोषों से दूषित नहीं थीं, प्रत्युत् ऐसी स्त्रियों की देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि भी पूजा करते हैं।

यहाँ वेदमार्गणा में भाववेद की प्रधानता से वर्णन है अतः ऐसा अभिप्राय समझना चाहिए कि भावस्त्रीवेदी पुरुष शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मों को नष्ट करके मोक्षधाम को भी प्राप्त कर लेते हैं।

जो उत्कृष्ट गुणों में और उत्कृष्ट भोगों में शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं। अथवा जिस कर्म के उदय

उक्तं च —

पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोगहि पुरुगुणं कम्मं।

पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वणिणदो पुरिसो।।^१

यो जीवः पुरुगुणे — सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे शेते — स्वामित्वेन प्रवर्तते, पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्र-देवेन्द्राद्यधिकभोगचये भोक्तृत्वे प्रवर्तते, पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठानं शेते-करोति च। पुरुत्तमे परमेष्ठिपदे शेते-तिष्ठति पुरुत्तमः सन् तिष्ठति। तस्मात् कारणात् स द्रव्यभावद्वयसम्पन्नः जीवः पुरुष इति वर्णितः। धातूनामनेकार्थवाचकत्वसंभवेन 'शीङ् स्वप्ने' इत्येतस्य धातोः प्रवृत्तिकरण-स्थानलक्षणार्थविशेषाः आचार्येणोक्ताः न विरुद्ध्यन्ते।^२

कथं स्त्र्याभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यात् ?

न, तथाभूतसामर्थ्यानुविद्धजीवसहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तस्य कर्तृत्वाभिधानात्। अथवा निरुक्तिमात्रमेतल्लक्षणं न सर्वेषु विद्यते रावणकंसकौरवादिवत्।

न स्त्री न पुमान् नपुंसकः, उभयाभिलाष इति यावत्।

उक्तं च —

णेवित्थी णेव पुमं णवुंसओ उभयलिंगवदिरित्तो।

इट्ठावाग-समाणग-वेयण-गरुओ कलुसचित्तो।।^३

से जीव सोते हुए पुरुष के समान गुणों को नहीं जानता है और भोगों को प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं। अथवा स्त्री संबंधी अभिलाषा जिसके पाई जाती है उसे पुरुष कहते हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — जो उत्तम गुण और उत्तम भोगों में सोता है अर्थात् रहता है अथवा जो लोक में उत्तम गुणयुक्त कार्य करता है और जो उत्तम है उसे पुरुष कहते हैं।

जो जीव सम्यग्ज्ञान आदि अनेक सुंदर गुणसमूह में स्थायीरूप से वर्तन करता है अथवा जो नरेन्द्र, नागेन्द्र, देवेन्द्र आदि के प्रचुर भोगों को भोगता हुआ वर्तन करता है तथा जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष लक्षणरूप पुरुषार्थ के साधनरूप दिव्य अनुष्ठान को करता है एवं जो उत्तम परमेष्ठी पद को प्राप्त करता हुआ रहता है वह इन कारणों से द्रव्य-भाव दोनों गुणों से सम्पन्न जीव “पुरुष” इस संज्ञा से वर्णित है।

धातुओं में अनेक अर्थ वाचकपना संभव होने से “शीङ् स्वप्ने” इस धातु का आचार्य ने जो प्रवृत्ति करना, ठहरना आदि अर्थ कहा है उसमें कोई विरोध नहीं आता है।

प्रश्न — जिसके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है वह उत्तम गुण युक्त कर्म कैसे कर सकता है ?

उत्तर — नहीं, क्योंकि उत्तम गुणयुक्त कर्म को करनेरूप सामर्थ्य से युक्त जीव के सहचरितपने की अपेक्षा वह उत्तम कर्म को करता है ऐसा कथन उपचार से किया है। अथवा निरुक्ति मात्र का कथन करने वाला यह लक्षण सभी जीवों में घटित नहीं होता है रावण, कंस, कौरव आदि के समान।

अर्थात् रावण, कंस, कौरव आदि नरकगामी एवं बदनाम पुरुषों में “पुरुष” शब्द का उपर्युक्त निरुक्तिलक्षण घटित नहीं होता है फिर भी उन्हें पुरुष कहा जाता है अतः मात्र निरुक्तिलक्षण को ही सर्वव्यापक नहीं समझना चाहिए।

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष विषयक दोनों प्रकार की अभिलाषा पाई जाती है उसे नपुंसक कहते हैं। कहा भी है —

१. षट्खण्डागम (धवला टीका), पुस्तक १, पृ. ३४३।

२. गोम्पटसार जीवतत्त्वप्रदीपिका। ३. षट्खण्डागम (धवला टीका), पुस्तक १, पृ. ३४४।

यः नैव स्त्री नैव पुमान्, उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः श्मश्रुस्तनादिपुंस्त्रीद्रव्यलिङ्गरहितः, इष्टिकापाकाग्नि-समानतीव्रकामवेदनागुरुकः कलुषचित्तः स जीवो नपुंसकमिति कथितः। अत्रापि भावनपुंसकवेदी कश्चिद् द्रव्यपुरुषवेदी शुक्लध्यानाग्निना कर्माणि विनाश्य मोक्षमपि गच्छतीति ज्ञातव्यम्।

अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापाः येषां तेऽपगतवेदाः। प्रक्षीणान्तर्दाहाः इति यावत्।

उक्तं च —

कारिस-तणिट्टवागग्नि-सरिस-परिणाम-वेयणुम्मुक्का।

अवगय-वेदा जीवा सग-संभव-णंतवर-सोकखा।।^१

कारीषाग्नि-तृणाग्नि-इष्टिकापाकाग्निसद्गुण-स्त्रीपुरुषनपुंसकपरिणामवेदनाभिः उन्मुक्ताः अनिवृत्ति-करणादपगतवेदभागादारभ्यायोगिचरमसमयपर्यन्तः, भावेन गुणस्थानातीतसिद्धपरमेष्ठिनश्च जीवा अपगतवेदाः सन्ति। ते च स्वकसंभवानन्तरसौख्याः शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणात्मोत्थानन्तान्तमुख्यसुखसम्पन्नाः भवन्तीति।

संप्रति वेदवतां जीवानां गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

गाथार्थ — जो न स्त्री है और न पुरुष है किन्तु स्त्री-पुरुष सम्बन्धी दोनों प्रकार के लिंगों से रहित है, अवा की अग्नि के समान तीव्र वेदना से युक्त है और सर्वदा स्त्री-पुरुष विषयक मैथुन की अभिलाषा से उत्पन्न हुई वेदना से जिसका चित्त कलुषित है उसे नपुंसक कहते हैं।

जो जीव न स्त्री है और न पुरुष है तथा इन दोनों से भिन्न वेद वाला होता है, क्योंकि उसके दाढ़ी, मूँछ, स्तन आदि पुरुष और स्त्री के चिन्हों से रहित, ईंट पकाने वाली अवे की अग्नि से समान तीव्र कामवेदना से पीड़ित होने से कलुषितचित्त उस जीव को नपुंसक कहा गया है।

यहाँ पर भी भावनपुंसकवेदी कोई द्रव्यपुरुषवेदी शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मों को नष्ट करके मोक्ष भी प्राप्त करते हैं ऐसा जानना चाहिए।

जिनके तीनों प्रकार के वेदों से उत्पन्न होने वाला संताप (अंतरंग दाह) दूर हो गया है वे अपगतवेद जीव हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — जो कारीष (कंडे की) अग्नि, तृण की अग्नि और इष्टिकापाक अग्नि (अवे की अग्नि) के समान परिणामों से उत्पन्न हुई वेदना से रहित हैं और अपनी आत्मा से उत्पन्न हुए अनंत और उत्कृष्ट सुख के भोक्ता हैं उन्हें वेदरहित जीव कहते हैं।।

कण्डे की अग्नि, तृण की अग्नि और इष्टिकापाक — भट्टे की अग्नि के समान क्रमशः स्त्री, पुरुष और नपुंसक जीवों के परिणाम होते हैं। उनके परिणामों की वेदना से होने वाले संक्लेश से उन्मुक्त — रहित अनिवृत्तिकरण नवमें गुणस्थान के अवेद भाग से आरंभ करके अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समयपर्यन्त जीव तथा गुणस्थान रहित सिद्धपरमेष्ठी द्रव्य और भाववेद के उदय से होने वाली कामवेदना से उन्मुक्त होने से अपगत वेदी होते हैं और वे अपनी आत्मा में उत्पन्न अनंतसौख्य, शुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग लक्षणरूप आत्मिक अनंतानंत सुख से सम्पन्न हो जाते हैं।

अब वेदों से युक्त जीवों के गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति।।१०२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इत्थिवेदा — स्त्रीवेदाः पुरुषवेदाः असंज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत् अनिवृत्तिः इति। केचिद् द्रव्यपुरुषवेदाः एव भावस्त्रीवेदाः महामुनयः षष्ठगुणस्थानवर्तिनः कदाचित् उपशमश्रेणिमारुह्य क्षपकश्रेणिं वारुह्य अनिवृत्तिकरणगुणस्थानं प्राप्नुवन्ति इति।

संप्रति नपुंसकवेदानां गुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति —

णवुंसयवेदा-एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति।।१०३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नपुंसकवेदाः जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य यावत् अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति इति। अस्मिन् द्रव्यवेदे पंचगुणस्थानान्येव भाववेदे नव गुणस्थानानि भवन्तीति। एकेन्द्रियाद्य-संज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्ताः सर्वे जीवा नपुंसकवेदा एव ज्ञातव्याः।

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, पुनः कथं तस्यास्तित्वं तत्र भवेत् ?

सूत्रार्थ —

स्त्रीवेद और पुरुषवेद वाले जीव असंज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं।।१०२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक स्त्री और पुरुष वेद वाले जीव होते हैं। कोई छठे गुणस्थानवर्ती द्रव्यपुरुषवेदी महामुनि ही भाव से स्त्रीवेदीरूप में कदाचित् उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी में चढ़कर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त करते हैं ऐसा अभिप्राय हुआ।

चूँकि नवमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ही भाववेद होते हैं उसके आगे भावभेद न होकर मात्र द्रव्यवेद (पुरुषवेद) रहता है और चौदह गुणस्थानों से ऊपर गुणस्थानातीत सिद्ध परमेष्ठियों के द्रव्य और भाव दोनों में से कोई भी वेद नहीं होता इसलिए वे अपगतवेदी कहलाते हैं।

अब नपुंसकवेदी जीवों में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक नपुंसकवेद वाले जीव पाये जाते हैं।।१०३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नपुंसकवेदी जीव एकेन्द्रिय से प्रारंभ करके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती तक भी होते हैं। यहाँ द्रव्यवेद में पाँच गुणस्थान ही होते हैं और भाववेद में नव गुणस्थान होते हैं।

यहाँ सारांश यह है कि एकेन्द्रिय जीव से लेकर चार इंद्रिय तक सम्मूर्च्छन जन्म वाले तिर्यच जीव नपुंसक वेदी ही होते हैं उनके मिथ्यात्व गुणस्थान के अतिरिक्त कोई गुणस्थान नहीं पाया जाता है। तथा पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्य, तिर्यच, देव, नारकी सभी गर्भित होते हैं। इनमें से देव और नारकियों के तो प्रथम चार गुणस्थान होते हैं और तिर्यचों में प्रारंभ के पाँच गुणस्थान होते हैं तथा मनुष्यों में चौदहों गुणस्थान होते हैं किन्तु नवमें गुणस्थान तक वेद का जो कथन है वह भाववेद की अपेक्षा ही है, द्रव्यनपुंसकवेद तो पाँचवें गुणस्थान के अंत तक ही रहता है।

शंका — एकेन्द्रिय जीवों के द्रव्यवेद उपलब्ध नहीं हो रहा है इसलिए एकेन्द्रिय जीवों में नपुंसकवेद का अस्तित्व कैसे बतलाया ?

मा भूतत्र द्रव्यवेदः, तस्यात्र प्राधान्याभावात्। अथवा नानुपलब्ध्या तदभावः सिद्ध्येत् सकलप्रमेयव्याप्युपलम्भबलेन-केवलज्ञानेन तत्सिद्धिः। न तत्केवलज्ञानं छद्मस्थेष्वस्ति।

एकेन्द्रियजीवानां स्त्रीपुरुषभावानभिज्ञानां कथं स्त्रीपुरुषविषयाभिलाषा घटते ?

नैतत्, अनभिज्ञस्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्वृद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण अनैकान्तिकत्वात्। अतो ज्ञायते स्त्रीपुरुषसंबन्ध्याभिलाषाकारणं स्त्रीपुरुषविषयिज्ञानं नास्ति, किन्तु वेदकर्मोदयेन साभिलाषा उत्पद्यते, तत्कर्मोदयः एकेन्द्रियाणामपि अस्ति।

एवं प्रथमस्थले वेदेषु गुणस्थानप्रतिपादनपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

संप्रति वेदविरहितजीवानां प्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण—

तेण परमवगदवेदा चेदि॥१०४॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका—तेण परं—अनिवृत्तिकरणगुणस्थानस्य सवेदभागादुपरि अपगतवेदभागादारभ्य

समाधान—एकेन्द्रिय जीवों में द्रव्यभेद भले ही न होवे, क्योंकि उसकी वहाँ प्रधानता ही नहीं है। अथवा द्रव्यवेद की एकेन्द्रियों में उपलब्धि नहीं होती है इसलिए उसका अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि सम्पूर्ण प्रमेयों में व्याप्त होकर रहने वाले उपलम्भ प्रमाण रूप केवलज्ञान से उसकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु वह उपलम्भ केवलज्ञान छद्मस्थों में नहीं पाया जाता है।

शंका—जो स्त्रीभाव और पुरुषभाव दोनों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं ऐसे एकेन्द्रियों के स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो पुरुषवेदी जीव स्त्रीवेद से सर्वथा अनभिज्ञ है और भूगृह के भीतर वृद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष के साथ उक्त कथन का अनेकान्तिकरूप से सद्भाव देखा जाता है।

इससे यह ज्ञात होता है कि स्त्री-पुरुष से संबंधित अभिलाषा को उत्पन्न कराने वाला स्त्री-पुरुष विषयक ज्ञान नहीं है किन्तु वेदकर्म के उदय से वैसी अभिलाषा उत्पन्न होती है, उस वेदकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवों के भी रहता है ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ—यदि यह मान लिया जाय कि एकेन्द्रिय जीव स्त्री और पुरुषसंबन्धी भेद से सर्वथा अपरिचित होते हैं, इसलिए उनके स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो सकती है तो जो पुरुष जन्म से ही एकान्त में वृद्धि को प्राप्त हुआ है और जिसने स्त्री को कभी नहीं देखा है उसके भी युवा होने पर स्त्रीविषयक अभिलाषा नहीं उत्पन्न होना चाहिए। परन्तु उसके स्त्रीविषयक अभिलाषा देखी जाती है। इससे सिद्ध है कि स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषा का कारण स्त्री और पुरुषविषयक ज्ञान नहीं है किन्तु वेदकर्म के उदय से वह अभिलाषा उत्पन्न होती है। वह एकेन्द्रियों के भी पायी जाती है, अतएव उनके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषा के होने में कोई दोष नहीं आता है।

इस प्रकार प्रथम स्थल में वेदों में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले तीन सूत्र पूर्ण हुए।

अब वेदरहित जीवों का कथन करने हेतु श्रीमान् पुष्पदन्त आचार्य सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

नवमें गुणस्थान के सवेद भाग के आगे जीव अपगत वेद होते हैं॥१०४॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका—अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान के सवेद भाग से ऊपर और

शेषचतुर्दशगुणस्थानपर्यन्ताः सर्वेऽपि महामुनयोऽपगतवेदाः भवन्ति। न तत्र द्रव्यवेदस्याभावोऽस्ति। अस्मिन् प्रकरणे तस्याधिकारो नास्ति। अधिकृतोऽत्र भाववेदः, ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति।^१

एवं द्वितीयस्थले वेदविरहितानां कथनत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

अधुना गतिमार्गणायां नरकगतौ वेदापेक्षया गुणस्थानकथनाय सूत्रमवतरति—

णेरइया चदुसु द्वाणेषु सुद्धा णवुंसयवेदा।।१०५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नारकाः चतुर्षु गुणस्थानेषु शुद्धाः नपुंसकवेदाः सन्ति। “सुद्धा णवुंसयवेदा” इत्यार्षात् एतन्निश्चीयते। अनवरतदुःखेषु तेषु नारकेषु स्त्रीपुरुषवेदाभावादिति।

स्त्रीपुरुषवेदौ अपि दुःखमेव इति चेत् ?

न, इष्टकापाकाग्निसमानसंतापात् न्यूनतया तार्णकारीषाग्निसमानपुरुषस्त्रीवेदयोः सुखरूपत्वात्।^२

संप्रति तिर्यग्गतौ वेदनिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

तिरिक्खा सुद्धा णवुंसयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति।।१०६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तिरिक्खा सुद्धा — तिर्यञ्चः शुद्धाः नपुंसकवेदाः एकेन्द्रियप्रभृति यावत् चतुरिन्द्रियाः

अवेद भाग से प्रारंभ होकर शेष चौदह गुणस्थान (दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान) पर्यन्त सभी महामुनि अपगतवेदी होते हैं। वहाँ द्रव्यवेद का अभाव नहीं पाया जाता है। क्योंकि इस प्रकरण में द्रव्यवेद का अधिकार — कथन नहीं है। यहाँ भाववेद का ही अधिकार चल रहा है इसलिए उसके अभाव से ही अपगतवेदी जीव होते हैं, अन्यथा — द्रव्य वेद की यहाँ विवक्षा नहीं है।

इस प्रकार द्वितीय स्थल में वेदरहित जीवों के कथन करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब गतिमार्गणा में नरकगति में वेद की अपेक्षा से गुणस्थानों का कथन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

नारकी जीव चारों ही गुणस्थानों में शुद्ध (केवल) नपुंसक वेदी होते हैं।।१०५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आर्ष वचनों से ऐसा जाना जाता है कि नारकी शुद्धरूप से नपुंसक वेदी ही होते हैं। अनवरत — प्रतिक्षण दुःखी होने के कारण उन नारकियों में स्त्री-पुरुष वेद नहीं होते हैं।

शंका — स्त्री-पुरुष ये दोनों वेद भी तो दुःखरूप ही हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि अवा की अग्नि के समान संताप से न्यून होने के कारण तृण और कण्डे की अग्नि के समान पुरुषवेद और स्त्रीवेद सुखरूप हैं।

अब तिर्यचगति में वेद का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

तिर्यच एकेन्द्रिय जीवों से लेकर चतुरिन्द्रिय तक शुद्ध (केवल) नपुंसकवेदी होते हैं।।१०६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एक इंद्रिय से लेकर चार इंद्रिय तक के तिर्यच जीव नपुंसकवेदी होते

इति। एकेन्द्रियाः विकलेन्द्रियाः जीवाः नपुंसकवेदाः एव इति अर्थः भवति।

पिपीलिकानां त्रीन्द्रियजीवानां अण्डदर्शनात् न ते नपुंसकाः इति चेत् ?

नैतत्, अण्डानां गर्भे एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात्। विग्रहगतौ न वेदाभावः, तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात्।^१

शेषतिरश्चां कियन्तो वेदा ? इत्याशंकानिराकरणार्थं सूत्रमवतरति—

तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति।।१०७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव संजदासंजदा — असंज्ञिपंचेन्द्रियादारभ्य संयतासंयतगुणस्थानपर्यन्ताः तिर्यञ्चः त्रिवेदाः सन्तीति।

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण, पर्यायत्वात्। पर्यायत्वात् कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्।^२

मनुष्यगतौ वेदनिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति।।१०८।।

हैं। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि एक इंद्रिय और विकलेन्द्रिय जीव सभी नपुंसक ही होते हैं।

शंका — तीन इंद्रियों की धारक चींटियों के अण्डे देखे जाते हैं इसलिए वे नपुंसक वेदी नहीं हो सकते हैं ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि अण्डों की उत्पत्ति गर्भ में ही होने का कोई नियम नहीं है। विग्रहगति में भी वेद का अभाव नहीं है क्योंकि वहाँ पर भी अव्यक्तवेद पाया जाता है।

भावार्थ — माता-पिता के रजो-वीर्य से गर्भधारणा मानी गई है उसी गर्भधारणा में अण्डज जन्म भी एक भेद है। उन चींटियों के अण्डे इस प्रकार के गर्भधारणारूप नहीं होते हैं। अतः उनके अण्डों को सम्मूर्च्छन ही जानना चाहिए।

शेष तिर्यचों के कितने वेद होते हैं ? इस प्रकार की शंका का निराकरण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ —

तिर्यच असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक तीनों वेदों से युक्त होते हैं।।१०७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उपर्युक्त तीनों वेदों की प्रवृत्ति क्रम से ही होती है, अक्रम से नहीं होती है, क्योंकि वेद पर्याय है। पर्यायस्वरूप होने से जैसे विवक्षित कषाय केवल अंतर्मुहूर्त पर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अंतर्मुहूर्त तक ही नहीं रहते हैं, क्योंकि जन्म से लेकर मरण तक किसी एक वेद का उदय पाया जाता है।

अब मनुष्यगति में वेद का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ —

मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक तीनों वेद वाले होते हैं।।१०८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मिच्छाङ्घ्रिप्पहुडि — मिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत् अनिवृत्तिकरणगुणस्थानवर्तिनः
मनुष्याः त्रिवेदाः सन्ति।

संयतानां कथं त्रिवेदसत्त्वं इति चेत् ?

नैतत्, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तेः।

संप्रति वेदत्रयातीतजीवप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

तेण परमवगदवेदा चेदि।।१०९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तेण परं — नवमगुणस्थानस्य सवेदभागात्परं सर्वेऽपि संयताः अपगतवेदा भवन्ति। सर्वत्र सूत्रे च-शब्दः समुच्चये द्रष्टव्यः, एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति। इति-शब्दः समाप्तौ परिगृहीतव्यः।

अधुना देवेषु वेदप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति —

देवा चदुसु द्वाणेषु दुवेदा — इत्थिवेदा पुरिसवेदा।।११०।।

देवाः चतुर्षुगुणस्थानेषु द्विवेदाः — स्त्रीवेदाः पुरुषवेदाः भवन्तीति। सानत्कुमारमाहेन्द्रादारभ्य उपरिमेषु पुरुषवेदाः एव सन्ति।

आगमप्रमाणमन्तरेण कथं एतज्ज्ञायते ?

ज्ञायते, उपरितनसामीप्यवर्तिसूत्रे च शब्दो वर्तते, अत्रतनः च शब्दो यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च,

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण-नवमें गुणस्थान तक के मनुष्यों में तीनों वेद संभव हैं।

शंका — संयतों के तीनों वेदों का सत्त्व कैसे संभव है ?

समाधान — ऐसा नहीं है क्योंकि अव्यक्तरूप से वेदों के अस्तित्व की अपेक्षा वहाँ पर तीनों वेदों की सत्ता कही है।

अब तीनों वेदों से अतीत जीवों का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

नवमें गुणस्थान के सवेद भाग से आगे के सभी गुणस्थान वाले जीव अपगतवेदी हैं।।१०९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नवमें गुणस्थान के सवेद भाग से परे समस्त संयतमहामुनि अपगतवेदी होते हैं। सूत्र में सर्वत्र “च” शब्द समुच्चयरूप अर्थ में जानना चाहिए। अर्थात् वेदरहित और पूर्वोक्त — पहले कहे हुए वेद वाले जीव होते हैं। “इति” शब्द का अर्थ सर्वत्र समाप्ति अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

अब देवों में वेद का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

देव चार गुणस्थानों में स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेद वाले होते हैं।।११०।।

आदि के चार गुणस्थानों में देवों में स्त्री और पुरुष ये दो वेद होते हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग से लेकर आगे स्वर्गों में उन देवों में एक पुरुषवेद ही होता है।

प्रश्न — आगमप्रमाण के अतिरिक्त यह बात और कैसे जानी जाती है ?

उत्तर — जानी जाती है, ऊपर कहे गए समीपवर्ती सूत्र में ‘च’ शब्द का प्रयोग है और इस सूत्र में आया

तस्मात्सानत्कुमारादीनां पुंवेदत्वमवसीयते। तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ताः, सम्मूर्च्छिमपंचेन्द्रियाश्च नपुंसका एव। असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न नपुंसकवेदाः इत्यादयोऽनुक्तास्तत एवावसेयाः।

एवं तृतीयस्थले चतुर्गतिजीवानां वेदकथनत्वेन षट् सूत्राणि गतानि।

इत्थं वेदमार्गणायां सामान्यवेदलक्षणप्रतिपादनपरत्वेन एकं सूत्रं, भाववेदापेक्षया त्रिष्वपि वेदेषु नव गुणस्थानानि इति कथनमुख्यत्वेन द्वे सूत्रे, अपगतवेदानां महासाधूनां सिद्धानां च कथनपरत्वेन एकं सूत्रं, पुनश्चतुर्गतिजीवानां वेदापेक्षया गुणस्थानव्यवस्थायवस्थापनार्थं षट्सूत्राणि एवंविध पंचमेऽधिकारे दशसूत्राणि गतानि।

इति षट्खण्डागमप्रथमखण्डे गणिनीज्ञानमतीकृत-
सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां वेदमार्गणानाम
पंचमोऽधिकारः समाप्तः।

हुआ च शब्द अनुक्त अर्थ के समुच्चय के लिए है। इसलिए इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प से लेकर ऊपर के देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं।

उसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यच और मनुष्य तथा सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते हैं। असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यञ्च ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो वेद वाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं। इत्यादि अनुक्त — जो सूत्र में नहीं बताये गये हैं उनका अर्थ भी उसी च शब्द से जान लेना।

इस प्रकार तृतीयस्थल में चतुर्गति के जीवों के वेदकथन की मुख्यता से छह सूत्र पूर्ण हुए।

इस वेद मार्गणा में सामान्यवेद का लक्षण बताने वाला एक सूत्र हुआ, भाववेद की अपेक्षा से तीनों वेदों में नौ गुणस्थानों का कथन करने वाले दो सूत्र हुए, अपगतवेदी महासाधुओं एवं सिद्धों का वर्णन करने की मुख्यता से एक सूत्र हुआ, पुनः चारों गतियों के जीवों में वेद की अपेक्षा से गुणस्थान व्यवस्था बताने वाले छह सूत्र हुए, इस प्रकार पंचम अधिकार में दश सूत्र पूर्ण हुए।

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में गणिनी ज्ञानमतीकृत
सिद्धान्तचिंतामणिटीका में वेदमार्गणा नाम का
पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ।



अथ कषायमार्गणाधिकारः

अथ स्थलद्वयेन चतुर्भिः सूत्रैः कषायमार्गणानाम षष्ठोऽधिकारः प्रारभ्यते।

तत्र प्रथमस्थले चतुःकषायसहितानां सामान्यलक्षणगुणस्थानप्रतिपादनार्थं “कसाया” इत्यादिसूत्रत्रयं। तदनु द्वितीयस्थले कषायरहितानां व्यवस्थाप्रतिपादनत्वेन एकं सूत्रमिति समुदायपातनिका।

अधुना कषायमार्गणानिरूपणाय सूत्रमवतरति—

कसायाणुवादेण अत्थि क्रोधकसाई माणकसाई मायाकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि।।१११।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — कषायानुवादेन क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी लोभकषायी अकषायी न सन्तीति। अस्मिन् सूत्रे कषायिसामान्येन एकत्वाद् बहूनामपि एकवचनं घटते। अथवा न इदमेकवचनं ‘एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि’ एते शोभन्ते शिखी नृत्यन् गिरिवरस्य शिखरे इत्येवमादिबहुत्वेऽपि एवंविधरूपोपलंभात् अनेकान्तात्।

अथ स्यात्क्रोधकषायः मानकषायः इत्यादि वक्तव्यं, कषायेभ्यस्तद्वतां भेदात् इति ?

नैतत् वक्तव्यं, किंच जीवेभ्यः पृथक् क्रोधाद्यनुपलंभात्।

अथ कषायमार्गणा अधिकार

अब दो स्थलों में चार सूत्रों के द्वारा “कषायमार्गणा” नाम का छठा अधिकार प्रारंभ होता है। उसमें प्रथम स्थल में चारों कषाय सहित जीवों के सामान्य लक्षण तथा उनमें पाये जाने वाले गुणस्थानों के प्रतिपादन करने हेतु “कसाया” इत्यादि तीन सूत्र हैं, तत्पश्चात् द्वितीय स्थल में कषाय रहित जीवों की व्यवस्था का कथन करने वाला एक सूत्र है, यह समुदायपातनिका हुई।

अब कषायमार्गणा का निरूपण करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

कषायमार्गणा के अनुवाद से क्रोध कषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी जीव होते हैं।।१११।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — कषायानुवाद से चारों कषाय वाले तथा कषाय रहित जीव होते हैं। इस सूत्र में कषायी सामान्य की अपेक्षा एक होने के कारण बहुत का भी एकवचन के द्वारा कथन बन जाता है। अथवा “क्रोधकसाई” इत्यादि पद एकवचन नहीं है, क्योंकि “एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि” अर्थात् “गिरिवर के शिखर पर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा पा रहे हैं।” इत्यादि प्रयोगों में बहुत्व की विवक्षा रहने पर भी इस प्रकार के रूपों की उपलब्धि होती है। इसलिए इस प्रकार के प्रयोगों में अनेकान्त समझना चाहिए।

शंका—सूत्र में क्रोधकषायी आदि के स्थान पर क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय, लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिए, क्योंकि कषायों से कषाय वालों में भेद पाया जाता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जीवों से पृथक् क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती हैं।

यदि तयोर्भेदाभावः तर्हि कथं भिन्नस्तन्निर्देशो घटते इति चेत् ?

नैतत्, अनेकांते तदविरोधात्। शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषायः इति भवति, तस्य शब्दपृष्ठतोऽर्थ-प्रतिपत्तिप्रवणत्वात्। अर्थनयाश्रयणे क्रोधकषायीति स्यात्, शब्दतोऽर्थस्य भेदाभावात्। कषायिचातुर्विध्यात्कषायस्य चातुर्विध्यमवगम्यते इति वा।

प्रसिद्धस्यानुवदनमनुवादः। सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा इति न्यायादनुवादोऽनर्थकः, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावाद्वा इति ?

नैतत्, प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तारः इति ज्ञापनार्थत्वात्^१।

कः क्रोधकषायः ?

रोषः आमर्षः संरंभः।

को मानकषायः ?

रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्य अनवनतिः।

को मायाकषायः ?

निकृतिर्वञ्चना मायाकषायः।

को लोभकषायः ?

शंका — यदि कषाय और कषायी इन दोनों में भेद नहीं है तो भिन्नरूप से उनका निर्देश कैसे बन सकता है ?

समाधान — ऐसा नहीं है क्योंकि अनेकांत में भिन्न निर्देश के बन जाने में कोई विरोध नहीं आता है। शब्द नय का आश्रय करने पर “क्रोध कषायः” इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि शब्द नय शब्दानुसार अर्थज्ञान कराने में समर्थ है और अर्थनय का आश्रय करने पर “क्रोधकषायी” इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि इस नय की दृष्टि में शब्द से अर्थ का कोई भेद नहीं है। कषायवान् जीव चार प्रकार के होते हैं इससे कषाय भी चार प्रकार की हैं ऐसा ज्ञान हो जाता है।

शंका — प्रसिद्ध अर्थ के अनुकूल कथन करने को अनुवाद कहते हैं। कथामार्ग अर्थात् कथन परम्पराएँ प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनों के आश्रय से प्रवृत्त होती हैं। इस न्याय के अनुसार यहाँ पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थ का अनुकूल कथन करना निष्फल है इससे अनधिगत अर्थ का ज्ञान नहीं होता है ?

समाधान — ऐसा नहीं है क्योंकि यह कथन प्रवाहरूप से अपौरुषेय है। तीर्थकर आदि इसके केवल व्याख्यान करने वाले ही हैं, कर्ता नहीं हैं इस बात का ज्ञान कराने के लिए अनुवाद पद का कथन अनर्थक नहीं है।

शंका — क्रोध कषाय किसे कहते हैं ?

समाधान — रोष, आमर्ष और संरंभ इन सबको क्रोध कहते हैं।

शंका — मान कषाय किसे कहते हैं ?

समाधान — रोष से अथवा विद्या, तप और जाति आदि के मद से अन्य के प्रति नम्र न होने को मान कहते हैं।

शंका — माया कषाय किसे कहते हैं ?

समाधान — निकृति या वंचना को माया कषाय कहते हैं।

शंका — लोभ कषाय किसे कहते हैं ?

गर्हा काङ्क्षा लोभः।

उक्तं च —

सिल-पुढवि-भेद-धूली-जल-राई-समाणओ हवे कोहो।
 णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो।।
 सेलट्टि-कट्ट वेत्तं णियभेएणणुहरंतओ माणो।
 णारय-तिरिय-णरामर-गइ-विसयुप्पायओ कमसो।।
 वेलुवमूलोरब्भय - सिंगे गोमुत्तएण खोरप्पे।
 सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामरेसु जणइ जिअ।।
 किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिह-राएण सरिसओ लोहो।
 णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो।।^१

शिलाभेदसमानोत्कृष्टशक्तिविशिष्टक्रोधकषायः जीवं नरकगतावुत्पादयति। पृथ्वीभेदसमानानुत्कृष्ट-शक्तिविशिष्टः क्रोधः तिर्यग्गतौ जीवमुत्पादयति। धूलीरेखासमानाजघन्यशक्तियुक्तः क्रोधो जीवं मनुष्यगतावुत्पादयति। जलरेखासमानजघन्यशक्तियुक्तः क्रोधः जीवं देवगतावुत्पादयति। तत्तच्छक्तियुक्त-क्रोधकषायपरिणतो जीवः तत्तद्गत्युत्पत्तिकारणतत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादिप्रकृतीर्बध्नातीत्यर्थः। अत्र राजिशब्दो रेखार्थवाची न तु पंक्तिवाची। यथा शिलादिभेदानां चिरतरचिरशीघ्रशीघ्रतरकालैर्विना अनुसंधानं न घटते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणसंधानार्हो न स्यात्

समाधान — गृद्धि या आकांक्षा को लोभ कहते हैं।

कहा भी है —

गाथार्थ — क्रोधकषाय चार प्रकार का है — पत्थर की रेखा के समान, पृथिवी की रेखा के समान, धूलि रेखा के समान और जल रेखा के समान। ये चारों ही क्रोध क्रम से नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न कराने वाले होते हैं।

मान चार प्रकार का है — पत्थर के समान, हड्डी के समान, काठ के समान तथा बेंत के समान। ये चार प्रकार के मान क्रम से नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति के उत्पादक हैं।

माया चार प्रकार की है — बाँस की जड़ के समान, मेढ़े के सींग के समान, गोमूत्र के समान तथा खुरपा के समान। यह चार प्रकार की माया क्रम से जीव को नरक, तिर्यच्च, मनुष्य तथा देवगति में ले जाती है।

लोभ कषाय चार प्रकार का है — क्रिमिराग के समान, चक्रमल के समान, शरीर के मल के समान और हल्दी के रंग के समान। यह क्रम से नरक, तिर्यच, मनुष्य तथा देवगति का उत्पादक है।

शिलाभेद के समान उत्कृष्ट शक्ति से विशिष्ट क्रोध कषाय जीव को नरक गति में उत्पन्न कराती है। पृथ्वीभेद के समान अनुत्कृष्ट शक्ति से विशिष्ट क्रोध जीव को तिर्यचगति में उत्पन्न कराता है। धूल की रेखा के समान अजघन्य शक्ति से युक्त क्रोध जीव को मनुष्यगति में उत्पन्न कराता है। जल में रेखा के समान जघन्य शक्ति से युक्त क्रोध जीव को देवगति में उत्पन्न कराता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस-उस शक्ति से युक्त क्रोध कषायरूप से परिणत जीव उस-उस गति में उत्पत्ति में कारण, उस-उस आयु, गति, आनुपूर्वी आदि प्रकृतियों को बांधता है। यहाँ गाथा में आया 'राजि' शब्द का अर्थ रेखा लेना चाहिए, पंक्ति नहीं। जैसे शिला

इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं संभवतीति तात्पर्यार्थः।

शिलास्तम्भसमानोत्कृष्टशक्तियुक्तमानकषायो जीवं नारकगतावुत्पादयति। अस्थिसमानानुत्कृष्टशक्ति-युक्तमानकषायो जीवं तिर्यग्गतावुत्पादयति। काष्ठसमानजघन्यशक्तियुक्तमानकषायो मनुष्यगतौ जीवमुत्पादयति। वेत्रसमानजघन्यशक्तियुक्तमानकषायो जीवं देवगतावुत्पादयति। यथा हि चिरतरादिकालैर्विना शैलास्थिकाष्ठवेत्राः नामयितुं न शक्यन्ते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तमानपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना मानं परिहृत्य विनयरूपनमनं कर्तुं न शक्नोतीति सादृश्यसंभवोऽत्र ज्ञातव्यः। तत्तच्छक्तियुक्तमानकषायपरिणतो जीवः तत्तद्गत्युत्पत्तिहेतुतत्तदायुर्गत्यानुपूर्वीनामादिकर्म बध्नातीति तात्पर्यम्।

वेणुपमूलं वेणुमूलग्रन्थिः तेन समानोत्कृष्टशक्तियुक्तमायाकषायो जीवं नरकगतौ निक्षिपति। उरभ्रकः-मेघः, तच्छृङ्गसदृशानुत्कृष्टशक्तियुक्तमायाकषायः जीवं तिर्यग्गतौ निक्षिपति। गोमूत्रसमानजघन्यशक्तियुक्त-मायाकषायो जीवं मनुष्यगतौ निक्षिपति। क्षुरप्रसमानजघन्यशक्तियुक्तमायाकषायो जीवं देवगतौ निक्षिपति यथा वेणुपमूलादयः चिरतरादिकालं विना स्वस्ववक्रतां परिहृत्य ऋजुत्वं न प्राप्नुवन्ति तथा जीवोऽपि उत्कृष्टादिशक्तियुक्तमायाकषायपरिणतः तथाविधकालैर्विना स्वस्ववक्रतां परिहृत्य ऋजुपरिणामो न स्यात् इति सादृश्यं युक्तं। तत्तदुत्कृष्टादिशक्तियुक्तमायाकषायपरिणतजीवः तत्तद्गतिक्षेपकारणं तत्तदायुर्गत्यानु-पूर्व्यादिकर्म बध्नाति। इति तात्पर्यार्थः।

आदि में पड़ी दरार अतिचिरकाल, चिरकाल, शीघ्र और अतिशीघ्र कालों के बिना भरती नहीं है वैसे ही उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त क्रोधरूप से परिणत जीव भी उस प्रकार के काल के बिना क्षमा भाव धारण करने के योग्य नहीं होता है। इस प्रकार उपमान और उपमेय में समानता बनती है।

पत्थर के स्तम्भ के समान उत्कृष्ट शक्ति से युक्त मानकषाय जीव को नरक गति में उत्पन्न कराती है। अस्थि के समान अनुत्कृष्ट शक्ति से युक्त मानकषाय जीव को तिर्यचगति में उत्पन्न कराती है। काष्ठ के समान अजघन्य शक्ति से युक्त मानकषाय जीव को मनुष्यगति में उत्पन्न कराती है। बेंत के समान जघन्य शक्ति से युक्त मानकषाय जीव को देवगति में उत्पन्न कराती है। जैसे चिरतर आदि समय के बिना पत्थर, हड्डी, काठ और बेंत को नमाना (मोड़ना) शक्य नहीं है वैसे ही उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त मानकषायरूप से परिणत जीव भी उस प्रकार के कालों के बिना मान को त्यागकर विनयरूप नमन करने में समर्थ नहीं होता है इस प्रकार समानता जानना। इसका आशय यह है कि उस-उस शक्ति से युक्त मानकषायरूप परिणत जीव उस-उस गति में उत्पत्ति के कारण उस-उस गति, आयु और आनुपूर्वी नामकर्म का बंध करता है।

बाँस की जड़ के समान उत्कृष्ट शक्ति से युक्त माया कषाय जीव को नरकगति में उत्पन्न कराती है। मेढ़े के सींग के समान अनुत्कृष्ट शक्ति से युक्त माया कषाय जीव को तिर्यचगति में उत्पन्न कराती है। गोमूत्र के समान अजघन्य शक्ति से युक्त माया कषाय जीव को मनुष्यगति में उत्पन्न कराती है तथा खुरपे के समान जघन्य शक्ति से युक्त माया कषाय जीव को देवगति में उत्पन्न कराती है। जैसे बाँस की जड़ वगैरह चिरतर आदि कालों के बिना अपने-अपने टेढ़ेपने को छोड़कर सरलता से सीधेपने को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त माया कषायरूप परिणत जीव भी उस प्रकार के कालों के बिना अपनी वक्रता को छोड़कर सरल परिणामी नहीं होता। इस प्रकार समानता योग्य है। इसका आशय यह है कि उस-उस उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त माया कषायरूप परिणत जीव उस-उस गति में ले जाने में निमित्त, उस-उस आयु, गति और आनुपूर्वी आदि कर्मों को बांधता है।

क्रिमिरागेण कंबलादिरञ्जनेन समानोत्कृष्टशक्तियुक्तलोभकषायो जीवं नारकगतौ उत्पादयति। चक्रमलः-
रथाङ्गमलः, तेन समानानुत्कृष्टशक्तियुक्तलोभकषायः जीवं तिर्यग्गतौ उत्पादयति। तनुमलः शरीरमलः
बहिरगतः जल्लमल्लः तद्बन्धसदृशजघन्यशक्तियुक्तलोभकषायो जीवं मनुष्यगतावुत्पादयति। हरिद्रारागः
अङ्ग-वस्त्रादिरञ्जनद्रव्यारागः-तद्बन्धसदृशजघन्यशक्तियुक्तलोभकषायो जीवं मनुष्यगतावुत्पादयति। हरिद्रारागरू
अङ्ग-वस्त्रादिरञ्जनद्रव्यारागः-तद्बन्धसदृशजघन्यशक्तियुक्तलोभकषायः जीवं देवगतावुत्पादयति। क्रिमिरागादि-
सदृशतत्तदुत्कृष्टादिशक्तियुक्तलोभपरिणामेन परिणतो जीवः तन्नारकादिभवोत्पत्तिकारणतत्तदा-युर्गत्यानु-
पूर्व्यादिकर्म बध्नातीति भावार्थः।

नारकतिर्यग्गरसुरगत्युत्पन्नजीवस्य तद्भवप्रथमकाले-प्रथमसमये यथासंख्यं क्रोधमायामान-
लोभकषायाणामुदयः स्यादिति नियमवचनं कषायप्राभृतद्वितीयसिद्धान्तव्याख्यातुर्यतिवृषभाचार्यस्य
अभिप्रायमाश्रित्योक्तम्। वा-अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतप्रथमसिद्धान्तकर्तुः भूतबल्याचार्यस्य
अभिप्रायेणाऽनियमो ज्ञातव्यः। प्रागुक्तनियमं विना यथासंभवं कषायोदयोऽस्तीत्यर्थः। अपिशब्दः समुच्चयार्थः,
ततः कारणादुभयसंप्रदायोऽपि अस्माकं संशयादिरूढ एवास्ति एकतरावधारणे शक्तिरहितत्वात् अस्मिन्
भरतक्षेत्रे केवलद्वयाभावात् आरातीयाचार्याणामेतत् सिद्धान्तद्वयकर्तृभ्यो ज्ञानातिशयवत्त्वाभावात्। यद्यपि
विदेहे गत्वा तीर्थकरादिसन्निधौ कस्यचिदाचार्यस्य सकलश्रुतार्थेषु संशयविपर्ययासानध्यवसायव्यवच्छेदेन
वस्तुनिर्णयो भवेत् तदा सिद्धान्तद्वयकर्तृविप्रतिपत्तिस्तथैवास्तीति तत्प्रेक्षावान् कः शृद्दधीत ?^१

कृमिराग जिससे कम्बल आदि रंगे जाते हैं, उसके समान उत्कृष्ट शक्ति से युक्त लोभकषाय जीव को
नारकगति में उत्पन्न कराती है। चक्रमल अर्थात् रथ के पहिये की आँगन के समान अनुत्कृष्ट शक्ति से युक्त
लोभकषाय जीव को तिर्यग्गति में उत्पन्न कराती है। शरीर के बाह्य मूल के समान अजघन्य शक्ति से युक्त
लोभकषाय जीव को मनुष्यगति में उत्पन्न कराती है। हल्दी के रंग के समान जघन्य शक्ति से युक्त लोभकषाय
जीव को देवगति में उत्पन्न कराती है। इसका भावार्थ यह है कि कृमिराग आदि के समान उस-उस उत्कृष्ट
आदि शक्ति से युक्त लोभ परिणाम से परिणत जीव उस-उस नारक आदि भवों में उत्पत्ति के कारण उस-उस
आयु, गति, आनुपूर्वी आदि कर्मों का बंध करता है।

नारकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न हुए जीव के जन्म लेने के प्रथम समय में क्रम
से क्रोध, माया, मान और लोभ कषाय का उदय होता है, इस नियम का कथन कषायप्राभृत नामक द्वितीय
सिद्धान्त ग्रंथ के व्याख्याता आचार्य यतिवृषभ के अभिप्राय को लेकर किया है। अथवा महाकर्म प्रकृति प्राभृत
नामक प्रथम सिद्धान्त ग्रंथ के रचयिता आचार्य भूतबली के अभिप्राय से अनियम जानना। अर्थात् पूर्वोक्त
नियम के बिना यथायोग्य कषाय का उदय होता है। 'अपि' शब्द समुच्चय के लिए है। इसलिए दोनों ही
आचार्यों के अभिप्राय हमारे लिए सन्देहास्पद हैं, दोनों में से किसी एक को मान्य करने की शक्ति हमारे में
नहीं है क्योंकि इस भरत क्षेत्र में केवली, श्रुतकेवली का अभाव है तथा आरातीय आचार्यों में दोनों सिद्धान्तों
के रचयिताओं से अधिक ज्ञान नहीं है। यद्यपि विदेह में जाकर तीर्थकर आदि के निकट में कोई आचार्य
समस्त श्रुत के अर्थ के विषय में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को दूर करके वस्तु का निर्णय कर
सकते हैं तथापि सिद्धान्तद्वय के कर्त्ताओं में जो विवाद है उसके संबंध में "यही ठीक है" ऐसा कौन बुद्धिशील
श्रद्धान करेगा। अतः दोनों मतों का कथन किया है।

कषायशब्दस्य कोऽर्थः ?

सुहृदुःखसुबहुसस्यं, कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।

संसारदूरमेरं, तेण कसाओ न्ति णं वेत्ति।।^१

सुखदुःखसुबहुसस्यं-सुखदुःखानि इंद्रियविषयसंबंधसमुद्भव-हर्षशरीरमानस-परितापरूपाणि सुबहूनि बहुप्रकाराणि सस्यानि धान्यानि यस्मिन् भवन्ति तत्सुखदुःख-सुबहुसस्यं, कर्मक्षेत्रं-ज्ञानावरणादिमूलोत्तरोत्तर-प्रकृतिभेदभिन्नशुभाशुभकर्मरूपक्षेत्रं सस्याधिकरणं भूतलं कृषति विलिखते जीवस्य संसारिणः, तेन कारणेन इमं क्रोधादिजीवपरिणामं कषायः इति ब्रुवन्ति श्रीवर्धमानभट्टारकीया गौतमगणधरदेवादयः कथयन्ति। किंविशिष्टं एतत्कर्मक्षेत्रं ? संसारदूरमर्यादं-अनाद्यनिधन द्रव्यक्षेत्रकालभवभावानन्तपरिवर्तनरूपसीमानु-बद्धमित्यर्थः। अत्र कृषि विलेखने इत्यस्य धातोर्विलेखनार्थं गृहीत्वा निरुक्तिपूर्वकं कषायशब्दस्यार्थनिरूपणं आचार्येण कृतम्।

कषायानां कार्याणि भेदान् च प्ररूपयति—

सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खाद-चरणपरिणामे।

घादंति वा कसाया चउसोल असंखलोगमिदा।।^२

अनंतानुबंधिकषायाः आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामं कषन्ति अनंतसंसारकारणत्वात् अनंतं-मिथ्यात्वं, अनंतभवसंस्कारकालं वा अनुबध्नन्ति सुघटयन्ति इति अनंतानुबंधिनः। अप्रत्याख्यानावरणाः अणुव्रतपरिणामं कषन्ति। अप्रत्याख्यानं-ईषत्प्रत्याख्यानं अणुव्रतं आवृण्वन्ति घ्नन्ति इति। प्रत्याख्यानावरणाः सकलचारित्रं

कषाय शब्द का क्या अर्थ है ?

गाथार्थ—जीव के सुख-दुःख आदि रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है, ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है, इसलिए इसको कषाय कहते हैं।

इन्द्रिय विषयों के संबंधों से उत्पन्न जो सुख-दुःख अर्थात् शारीरिक और मानसिक प्रसन्नता अथवा शारीरिक-मानस परितापरूप बहुत प्रकार के धान्य जिसमें उत्पन्न होते हैं तथा ज्ञानावरणादि मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति के भेद से भिन्न शुभ-अशुभ कर्मरूप क्षेत्र को अर्थात् धान पैदा होने की भूमि को यह कृषति अर्थात् जोतती है इस कारण से इन क्रोधादिरूप जीव परिणाम को वर्धमान भट्टारक के गणधर देव श्री गौतम स्वामी आदि 'कषाय' कहते हैं।

ऐसा कर्मरूपी खेत किस प्रकार का होता है ?

वह कर्मरूपी खेत अनादि अनिधन पंचपरावर्तनरूप सीमा से अनुबद्ध है ऐसा अर्थ है। यहाँ "कृषि विलेखने" धातु का "जोतना" यह अर्थ लेकर आचार्य ने निरुक्तिपूर्वक "कषाय" शब्द का अर्थ कहा है।

कषायों के कार्य और भेदों का प्ररूपण करते हैं—

गाथार्थ—जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्ररूप आत्मा के विशुद्ध परिणामों को "कषति" अर्थात् घातते हैं उन्हें कषाय कहते हैं। इसके चार, सोलह अथवा असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं।

अनन्तानुबंधी कषायें आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम को घातती हैं क्योंकि अनन्त संसार का कारण होने से अनन्त—मिथ्यात्व या अनन्त भव के संस्कार काल को बांधती हैं इसलिए उसे अनन्तानुबंधी कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय अणुव्रत परिणामों को घातती है। अप्रत्याख्यान अर्थात् ईषत् प्रत्याख्यान

महाव्रतपरिणामं कषन्ति। प्रत्याख्यानं-सकलसंयमं आवृण्वन्ति इति। सं-समीचीनं, विशुद्धं संयमं यथाख्यातचारित्रनामधेयं ज्वलन्ति दहन्ति इति संज्वलनाः, ते कषायाः यथाख्यातचारित्रपरिणामं कषन्ति, इति एतदुदये सत्यपि सामायिकादीतरसंयमाविरोधः सिद्धः।

एवंविधः कषायः सामान्येन एकः, विशेषविवक्षायां तु अनन्तानुबंध्यादिभेदात् चत्वारः, पुनस्ते चत्वारोऽपि प्रत्येकं क्रोधमानमायालोभाः इति षोडश। पुनः सर्वेऽपि उदयस्थानविशेषापेक्षया असंख्यात-लोकप्रमिताः भवन्ति।

एवंविधकषायसहिताः जीवा सकषायाः भवन्ति।

सकलकषायाभावोऽकषायः। कषायरहिता जीवा सन्तीति।

उक्तं च—

अप्पपरोभय-बाधण-बंधासंजम-णिमित्तकोहादी।

जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा।^१

स्वस्मिन् परस्मिन् उभयस्मिन् इति स्थानत्रयेऽपि प्रत्येकं बाधनबंधनासंयमानां त्रयाणामपि निमित्तभूताः क्रोधादयः कषायाः, पुंवेदादयो नोकषायाश्च येषां जीवानां न सन्ति ते अकषायाः, अमला — द्रव्यभावनोकर्म-मलरहिताः सिद्धपरमेष्ठिनः सन्तीति ज्ञातव्यं।

कस्यचित् जीवस्य क्रोधादिकषायः स्वस्यैव बंधनहेतुः स्वशरोऽभिघातादिबाधाहेतुः हिंसाद्यसंयमहेतुश्च

यानी अणुव्रत को आवृण्वन्ति — घातती है ऐसा अर्थ हुआ।

प्रत्याख्यानावरण सकल चारित्र महाव्रतरूप परिणामों का घात करता है क्योंकि प्रत्याख्यान का अर्थ है — सकलसंयम को प्रगट न होने देना।

सं का अर्थ है — समीचीन अर्थात् विशुद्ध संयम यथाख्यातचारित्र को जो जलाती है वह संज्वलन है। वे संज्वलन कषायें यथाख्यात चारित्ररूप परिणाम का घात करती हैं, इसलिए उसके उदय रहने पर भी सामायिक आदि अन्य संयमों के होने में कोई विरोध नहीं आता है, यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार सामान्य से कषाय एक है, विशेष विवक्षा में अनन्तानुबंधी आदि से उसके चार भेद हो जाते हैं, पुनः वे चारों भी प्रत्येक के क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार-चार भेद होने से सोलह हो जाती हैं। पुनः वे सभी कषायें नाना प्राणियों में उदयस्थान की अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण हो जाती हैं।

इस प्रकार की कषायों से सहित जीव सकषायी कहलाते हैं।

सम्पूर्ण कषाय भावों से रहित जीव अकषायी होते हैं — कषायरहित होते हैं। कहा भी है —

गाथार्थ — जिनके स्वयं अपने को, दूसरे को तथा दोनों को बाधा देने, बंध करने और असंयम करने में निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मल से रहित हैं ऐसे जीवों को अकषायी कहते हैं।

अपने, दूसरे और दोनों के बंधन, बाधा तथा असंयम में निमित्तभूत क्रोधादि कषाय और पुरुषवेद आदि नोकषाय जिन जीवों के नहीं हैं वे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मल से रहित सिद्धपरमेष्ठी अकषाय — कषायरहित हैं ऐसा जानना चाहिए।

किसी जीव की क्रोधादि कषायें अपने ही बंधन का हेतु हैं, अपने मस्तक के अभिघात आदि बाधा में हेतु और

भवति। कस्यचित् जीवस्य क्रोधादिकषायः परस्यैव स्वशत्रु-आदेर्बाधनबन्धनासंयमहेतुर्भवति। कस्यचित् कामुकादिजीवस्य क्रोधादिकषायः स्वपरयोरपि यथासंभवं बाधनबन्धनासंयमहेतुर्भवति इति विभागः लोकानुसारेण आगमानुसारेण च द्रष्टव्यः।

अधुना कषायाणां गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति—

क्रोधकसाई माणकसाई मायाकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति॥११२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी इमे त्रिविधकषायसहिताः जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य यावत्—अनिवृत्तिकरणगुणस्थानपर्यन्ताः भवन्तीति।

यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेत् ?

न, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात्।

लोभकषायाणां गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा त्ति॥११३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—लोभकषायी-लोभकषायसहिता जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य यावत् सूक्ष्मसांपराय-शुद्धिसंयताः इति। शेषकषायोदयविनाशे लोभकषायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकषायस्य सूक्ष्मसांपरायोऽवधिः इति ज्ञातव्यं।

हिंसा आदि असंयम में हेतु होती हैं। किसी जीव की क्रोधादि कषाय दूसरे अपने शत्रु आदि के बंधन, बाधा तथा असंयम में हेतु होती हैं। किसी कामुक आदि जीव को क्रोधादि कषाय तथा यथासंभव अपने और दूसरों के बंधन, बाधन और असंयम में हेतु होती है। इस प्रकार का विभाग लोकानुसार और आगमानुसार जानना चाहिए।

अब कषायमार्गणा में गुणस्थान व्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक क्रोधकषायी, मानकषायी और माया कषायी जीव होते हैं॥११२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—क्रोध, मान, माया इन तीनों से सहित जीव एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान पर्यन्त होते हैं।

शंका—अपूर्वकरण आदि गुणस्थान वाले साधुओं के कषाय का अस्तित्व कैसे पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अव्यक्त कषाय की अपेक्षा वहाँ पर कषायों के अस्तित्व का उपदेश दिया है।

लोभकषाय वाले जीवों के गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

लोभकषाय से युक्त जीव एकेन्द्रियों से लेकर सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत गुणस्थान तक होते हैं॥११३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एकेन्द्रिय जीव से लेकर दसवें गुणस्थानवर्ती सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक के मुनि भी लोभकषाय से सहित माने गये हैं।

शेष कषायों के उदय के नाश हो जाने पर उसी समय लोभकषाय का विनाश नहीं बन सकता है इसलिए लोभकषाय की अंतिम मर्यादा सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान है ऐसा जानना चाहिए।

एवं प्रथमस्थले कषायसहितजीवानां गुणस्थानव्यवस्थापनत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

संप्रति अकषायजीवानां गुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति—

**अकसाई चदुसु टाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था
खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवली त्ति।।११४।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—अकषायिणो जीवाः चतुर्षु गुणस्थानेषु सन्ति उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थाः
क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः सयोगिकेवलिनः अयोगिकेवलिनः इति। उपशान्तकषायस्य साधोः कथं
अकषायत्वं ? द्रव्यकषायस्यानन्तस्य सत्त्वात् ?

नैतत् वक्तव्यं, कषायोदयाभावापेक्षया तस्योपशान्तकषायस्य अकषायत्वोपपत्तेः।

गत्यादिमार्गणायां कषायस्य कथनं किं न क्रियते ?

नैतत्, विशेषाभावतोऽनेनैव गतार्थत्वात् नात्र प्रतन्यते।

एवंविधेन कषायमार्गणायां सामान्यकषायभेदान् तेषु गुणस्थानव्यवस्थां द्वितीयस्थले अकषायाणां
च प्रतिपादनमुख्यत्वेन चत्वारि सूत्राणि गतानि।

इति षट्खण्डागमप्रथमखंडे गणिनीज्ञानमतीकृतसिद्धान्तचिंतामणि-

टीकायां कषायमार्गणानाम षष्ठोऽधिकारः समाप्तः।

इस प्रकार प्रथमस्थल में कषायसहित जीवों की गुणस्थानव्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले तीन सूत्र पूर्ण हुए।

अब अकषायी जीवों की गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

**कषायरहित जीव उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ,
सयोगकेवली और अयोगकेवली इन चार गुणस्थानों में होते हैं।।११४।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—उपर्युक्त चार वीतरागस्थिति वाले गुणस्थानों में अकषायी जीव होते हैं।

शंका—उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती साधु के अकषायपना कैसे रहेगा ? क्योंकि वहाँ तो अनन्त द्रव्यकषाय का सद्भाव होने से उसे कषायरहित नहीं कहा जा सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कषाय के उदय के अभाव की अपेक्षा उसमें कषाय से रहितपना बन जाता है।

शंका—गति आदि मार्गणाओं में कषाय का कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि कषायों के सामान्य कथन से उनका मार्गणाओं में कथन करने में कोई विशेषता नहीं है, इसी से उसका ज्ञान हो जाता है इसलिए यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है।

इस प्रकार कषायमार्गणा में सामान्य भेदरूप कषायों का उनमें गुणस्थान व्यवस्था के तथा द्वितीयस्थल में अकषायी जीवों के प्रतिपादन की मुख्यता से चार सूत्र पूर्ण हुए।

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में गणिनी ज्ञानमती माताजी

द्वारा लिखी गई सिद्धान्तचिंतामणि टीका में कषायमार्गणा

नाम का छठा अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ ज्ञानमार्गणाधिकारः

अथ स्थलद्वयेन अष्टसूत्रैः ज्ञानमार्गणानामसप्तमोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र प्रथमस्थले सामान्यज्ञानत्रि-विधाज्ञाननिरूपणत्वेन “णाणाणुवादेण” इत्यादि सूत्रपंचकं। तदनु द्वितीयस्थले पंचविधज्ञाननिरूपणत्वेन “आभिणि” इत्यादि सूत्रत्रयं इति समुदायपातनिका।

संप्रति ज्ञानमार्गणाद्वारेण जीवपदार्थनिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति—

**णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग-णाणी
आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी
चेदि।।११५।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—ज्ञानानुवादेन सन्ति मत्त्यज्ञानी श्रुताज्ञानी विभंगज्ञानी आभिनिबोधिकज्ञानी श्रुतज्ञानी अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी केवलज्ञानी चेति।

अत्रापि पूर्ववत्पर्यायपर्यायिणोः कथंचिदभेदात्पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति। ज्ञानिनां भेदाद् ज्ञानभेदोऽवगम्यते इति वा पर्यायिद्वारेण उपदेशः।

ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य संभवः इति चेत् ?

न, मिथ्यात्वसमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्रव्यपदेशवत्।

अथ ज्ञानमार्गणा अधिकार

अब दो स्थलों में आठ सूत्रों के द्वारा कहा जाने वाला ज्ञानमार्गणा नाम का सातवाँ अधिकार प्रारंभ किया जा रहा है। उसमें प्रथम स्थल में सामान्य ज्ञान एवं तीन अज्ञानों का निरूपण करने वाले “णाणाणुवादेण” इत्यादि पाँच सूत्र हैं। पुनः द्वितीय स्थल में पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञानों का निरूपण करने वाले “आभिणि” इत्यादि तीन सूत्र हैं। इस प्रकार समुदायपातनिका हुई।

अब ज्ञानमार्गणा के द्वारा जीव पदार्थ के निरूपण करने की मुख्यता से सूत्र का अवतार होता है—
सूत्रार्थ—

**ज्ञानमार्गणा के अनुवाद से मतिअज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिक
ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं।।११५।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—सामान्य से ज्ञानमार्गणा में आठों ज्ञान वाले जीव पाये जाते हैं। यहाँ पर भी पहले की तरह पर्याय और पर्यायी में कथंचित् अभेद होने से पर्यायी के ग्रहण करने पर भी पर्यायरूप ज्ञान का ही ग्रहण होता है। अथवा ज्ञानी कितने प्रकार के होते हैं इस बात को समझ लेने से ज्ञान के भेदों का ज्ञान हो जाता है। इसलिए पर्यायी के कथन द्वारा यहाँ पर उपदेश दिया है।

शंका—ज्ञानमार्गणा के अनुवाद से ज्ञान के प्रतिपक्षभूत अज्ञान का कथन ज्ञान मार्गणा में कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व सहित ज्ञान को ही ज्ञान का कार्य नहीं करने से अज्ञान कहा है। जैसे, पुत्रोचित कार्य को नहीं करने वाले पुत्र को ही अपुत्र कहा जाता है।

किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेत् ?

तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च ज्ञानकार्यमुच्यते। अथवा प्रधानपदमाश्रित्य अज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आम्रवनमिति यथा।

जानातीति ज्ञानं साकारोपयोगः। अथवा जानात्यज्ञासीज्ज्ञास्यत्यनेनेति वा ज्ञानं ज्ञानावरणीयकर्मणः एकदेशप्रक्षयात् समुत्पन्नात्मपरिणामः क्षायिको वा।

तदपि ज्ञानं द्विविधं — प्रत्यक्षं परोक्षमिति। परोक्षं द्विविधं — मतिः श्रुतमिति। तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानं। तदपि चतुर्विधं — अवग्रहः ईहा अवाय धारणा चेति। विषयविषयि-सन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङ्क्षणं ईहा। ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽवायः। कालान्तरेऽप्य-विस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा। अथवा चतुर्विंशतिविधं मतिज्ञानं। तद्यथा-चाक्षुषं चतुर्विधं — मतिज्ञानं अवग्रहः ईहावायो धारणा चेति। एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसश्च वाच्यं। अथवा अष्टाविंशतिविधं। तद्यथा-अवग्रहो द्विविधः — अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति।

अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। तत्र चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव, तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुपलंभात्। शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः।

शंका — वह ज्ञान का कार्य क्या है ?

समाधान — तत्त्वार्थ में रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्र का स्पर्श — धारण करना ज्ञान का कार्य है। अथवा प्रधान पद की अपेक्षा अज्ञान को भी ज्ञान कहा जाता है। जैसे — जिस वन में आम के वृक्षों की बहुलता होती है उसे आम्रवन कहा जाता है।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। अर्थात् साकार उपयोग को ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्म के एकदेश क्षय से अथवा सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणाम को ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान दो प्रकार का है — प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के दो भेद हैं — मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। उनमें पाँच इन्द्रियों और मन से जो पदार्थ का ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। वह मतिज्ञान चार प्रकार का है — अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयी के संबंध होने के अनन्तर समय में जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रह से ग्रहण किए गए पदार्थ के विशेष को जानने के लिए अभिलाषारूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं। ईहा के द्वारा जाने गये पदार्थ के निश्चयरूप ज्ञान को अवाय कहते हैं। कालान्तर में भी विस्मरण न होने रूप संस्कार के उत्पन्न करने वाले ज्ञान को धारणा कहते हैं।

अथवा मतिज्ञान चौबीस प्रकार का है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है — चक्षु इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान चार प्रकार का है — अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इसी प्रकार शेष चार इन्द्रियों से और मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार-चार प्रकार का है इस प्रकार कथन करना चाहिए। इस प्रकार ये सब मिलाकर चौबीस भेद हो जाते हैं। अथवा, मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकार का है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। अवग्रह दो प्रकार का है — अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह।

अप्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को अर्थावग्रह कहते हैं।

प्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करना अर्थावग्रह है तथा प्राप्त अर्थ का ग्रहण करना व्यञ्जनावग्रह है। उनमें से

शेषेन्द्रियेषु अप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यते इति चेत् ?

न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितिप्रदेशे एव प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तितः स्पर्शनस्या-
प्राप्तार्थग्रहणसिद्धेः।^१

शेषेन्द्रियाणामप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यते इति चेत् ?

माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्त्येव। शेषेन्द्रियाणि अप्राप्तार्थान् गृह्णन्ति, यद्यपि एतत् न वयं जानीमः
तर्हि अपि तद् निषेद्धं न पार्यते।

अतो “बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां”^२ चापेक्षया मतिज्ञानस्य षट्त्रिंशदुपरित्रिंशतभेदाः
भवन्तीति ज्ञातव्यं।

शब्दधूमादिभ्योऽर्थान्तरावगमः श्रुतज्ञानं। तत्र शब्दलिंगजं द्विविधमंगमंगबाह्यमिति। अंगश्रुतं द्वादशविधं।
अंगबाह्यं चतुर्दशविधं।

प्रत्यक्षं त्रिविधं — अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति। साक्षान्मूर्ताशेषपदार्थपरिच्छेदकं अवधिज्ञानं।
साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनः पर्ययज्ञानं। साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं

अर्थावग्रह चक्षु और मन से ही होता है क्योंकि उन दोनों के प्राप्त अर्थ के ग्रहण का अभाव पाया जाता है। शेष
इन्द्रिय वाले जीवों के दोनों अवग्रह होते हैं।

शंका — शेष इन्द्रियों में अप्राप्त अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय वृक्षों में उनके योग्य देश में स्थित निधियों के होने पर जिस प्रदेश
में निधि स्थित है उस प्रदेश में ही जड़ों का फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिए स्पर्शन इन्द्रिय के
अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है।

शंका — इस प्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रिय के अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करना बन जाता है तो बन जावे।
फिर भी शेष इन्द्रियों के अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करना नहीं पाया जाता है ?

समाधान — यदि हमारा ज्ञान त्रिकालगोचर समस्त पदार्थों को जानने वाला होता तो अनुपलब्ध का
अभाव सिद्ध हो जाता, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थों को जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिए
अनुपलब्ध नहीं रहता। किन्तु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानने वाला है नहीं, क्योंकि सर्व पदार्थों
को जानने वाले ज्ञान की हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि शेष इन्द्रियाँ
अप्राप्त पदार्थ को ग्रहण करती हैं इस बात को यदि हम न भी जान सकें, तो भी उसका निषेध नहीं किया जा
सकता है।

अतः “बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्” इस तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र की अपेक्षा मतिज्ञान के
तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

शब्द, धूम आदि से भिन्न अर्थ का ज्ञान प्राप्त होना श्रुतज्ञान है। शब्द और लिंग से उत्पन्न होने वाले उस
श्रुतज्ञान के दो भेद हैं — अंगश्रुत (अंगप्रविष्ट) और अंगबाह्य। उनमें से अंगश्रुत बारह भेद वाला है एवं
अंगबाह्य चौदह प्रकार का है।

प्रत्यक्षज्ञान के तीन भेद हैं — अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

समस्त मूर्तिक पदार्थों को साक्षात् रूप से जानने वाला अवधिज्ञान है। मन का आश्रय करके दूसरों के

केवलज्ञानं। मिथ्यात्वसमवेतमिन्द्रियजज्ञानं मत्यज्ञानं। तेनैव समवेतः शब्दः प्रत्ययः श्रुताज्ञानं। तत्समवेतमवधिज्ञानं विभंगज्ञानं।

उक्तं च—

विसर्जंतकूडपंजर, बंधादिसु विणुवदेसकरणेण।
जा खलु पवत्तइ मदी, मदि अण्णाणे त्ति णं वेत्ति।।
आभीयमासुरक्खा, भारहरामायणादि-उवएसा।
तुच्छा असाहणीया, सुद अण्णाणे त्ति तं वेत्ति।।^१
विवरीयमोहिणाणं, खड्डयुवसमियं च कम्मबीजं च।
वेभंगो त्ति पउच्चइ, समत्तणाणीहिं समयम्हि।।

विषयन्त्रकूटपञ्जरबन्धादिषु जीवमारणबन्धनहेतुषु या मतिः परोपदेशकरणेन विना प्रवर्तते तदिदं मत्यज्ञानमित्यर्हदादयो ब्रुवन्ति। तत्र परस्परसंयोगजनितमारणशक्तिविशिष्टं तैलकर्पूरादिद्रव्यं विषं, सिंहव्याघ्रादिकूरमृगधारणार्थमभ्यन्तरीकृतछागादिजीवं काष्ठादिरचितं तत्पादनिक्षेपमात्रकवाटसंपुटीकरणदक्षं सूत्रकीलितं यन्त्रं, मत्स्यकच्छपमूषकादिगृहणार्थमवष्टब्धं काष्ठादिमयं कूटं, तित्तिरलावकहरिणाधि-

मन में स्थित मूर्तिक पदार्थों का साक्षात् ज्ञान कराने वाला मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल के त्रैकालिक समस्त पदार्थों को साक्षात् रूप से ज्ञान कराने वाला केवलज्ञान होता है।

इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला जो मिथ्यात्व सहित ज्ञान है उसे मत्यज्ञान—कुमतिज्ञान कहते हैं। उस कुमतिज्ञान से समन्वित जो शाब्दिक प्रत्यय हैं उन्हें कुश्रुतज्ञान कहते हैं। तथा मिथ्यात्व के साथ जो अवधिज्ञान है वह विभंगावधिज्ञान कहलाता है। कहा भी है—

गाथार्थ—जीवों को मारने और बंधन में हेतु विष, यंत्र, कूट, पंजर, बंध आदि में बिना परोपदेश के जो मति प्रवर्तित होती है वह मतिअज्ञान है ऐसा अर्हन्त भगवान् आदि ने कहा है।।

सज्जनों के द्वारा अनादरणीय आभीत, आसुरक्ष, भारत, रामायण आदि के उपदेश, उनकी रचनाएँ, उनका सुनना तथा उनके सुनने से उत्पन्न हुए ज्ञान को आचार्य श्रुताज्ञान—कुश्रुतज्ञान कहते हैं।।

मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा को लिए हुए रूपीद्रव्य को विषय करने वाला, किन्तु देव, शास्त्र और पदार्थों को विपरीतरूप से ग्रहण करने वाला अवधिज्ञान केवलज्ञानियों के द्वारा प्रतिपादित आगम में विभंग ज्ञान कहा जाता है।।

जीवों को मारने और बंधन में हेतु विष, यंत्र, कूट, पंजर, बंध आदि में बिना परोपदेश के मति प्रवर्तित होती है वह मति अज्ञान है ऐसा अर्हन्त भगवान् आदि कहते हैं। परस्पर वस्तु के संयोग से उत्पन्न हुई मारने की शक्ति से युक्त तैल, रसकर्पूर आदि द्रव्य विष हैं। सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जीवों को पकड़ने के लिए अंदर में बकरा आदि रखकर लकड़ी आदि से बनाया गया, जिसमें पैर रखते ही द्वार बंद हो जाता हो ऐसा सूत्र से कीलित यंत्र होता है। मछली, कछुआ, चूहा आदि पकड़ने के लिए काष्ठ आदि से रचे गए को कूट कहते हैं। तीतर, लावक, हरिण आदि पकड़ने के लिए रस्सी में अमुक प्रकार की गाँठ देकर बनाये जाल को पंजर कहते हैं। हाथी, ऊँट आदि पकड़ने के लिए गड्ढा खोदकर और उसका मुख ढाँककर या रस्सी आदि का फन्दा

धारणार्थविरचितं ग्रन्थि विशेषकलितरज्जुमयं जालं पञ्जरः, गजोष्ठादिधारणार्थमवष्टब्धो गर्तमुखकीलित-
ग्रन्थिविशिष्टो वारीरज्जुरचनाविशेषो बन्धः। आदिशब्देन पक्षिपक्षलग्नार्थं दीर्घदण्डाग्रपक्षितपिप्पल-
निर्यासादिचिक्कणबन्धनगृहहरिणादिशृङ्गाग्रलग्नसूत्रग्रन्थिविशेषादिश्च गृह्यते। उपदेशपूर्वकत्वे
श्रुताज्ञानत्वप्रसंगात्। उपदेशक्रियां विना यदीदृशमूहापोहविकल्पात्मकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहकारणं
आर्तैरौद्रध्यानकारणं शल्यदण्डगारवसंज्ञाद्यप्रशस्तपरिणामकारणं च इन्द्रियमनोजनितविशेषग्रहरूपं मिथ्याज्ञानं
तन्मत्यज्ञानमिति निश्चेतव्यं।

तुच्छाः परमार्थशून्याः, असाधनीयाः अतएव सत्पुरुषाणामनादरणीयाः परमार्थशून्यत्वात् आभीतासुरक्ष-
भारतरामायणाद्युपदेशाः तत्प्रबन्धाः तेषां श्रवणादुत्पन्नं यज्ज्ञानं तदिदं श्रुताज्ञानमिति ब्रुवन्त्याचार्याः। आ
समन्ताद्भीताः आभीता चोराः तच्छास्त्रमप्याभीतं। असवः प्राणाः तेषां रक्षा येभ्यः ते असुरक्षाः तलवराः
तेषां शास्त्रमासुरक्षं। कौरवपाण्डवीयपञ्चभर्तृकैकभार्यावृत्तान्तयुद्धव्यतिकरादिचर्चाव्याकुलं भारतं,
सीताहरणरामरावणीयजातिवानरराक्षसयुद्धव्यतिकरादिस्वेच्छाकल्पनारचितं रामायणं। आदिशब्दाद्यद्यन्मिथ्या-
दर्शनदूषितसर्वथैकान्तवादिस्वेच्छाकल्पितकथाप्रबन्धभुवनकोशहिंसायागादिगृहस्थकर्मत्रिदण्ड-
जराधारणादितपःकर्मषोडशपदार्थं षट्पदार्थभावनाविधिनियोगभूतचतुष्टयपञ्चविंशतितत्त्वब्रह्माद्वैतचतुरार्यसत्य-
विज्ञानाद्वैतसर्वशून्यत्वादिप्रतिपादकागमाभासजनितं श्रुतज्ञानाभासं तत्तत्सर्वश्रुताज्ञानमिति निश्चेतव्यं, दृष्टेष्ट-
विरुद्धार्थविषयत्वात्।

लगाकर जो विशेष रचना की जाती है उसे बंध कहते हैं। आदि शब्द से पक्षियों के पंख चिपकाने के लिए
लम्बे बाँस आदि के अग्रभाग में फंदा आदि डालना आदि लिया जाता है। इस प्रकार के कार्यों में जो बिना
परोपदेश के स्वयं ही बुद्धि लगती है वह कुमतिज्ञान है। उपदेशपूर्वक होने पर उसे कुश्रुतज्ञान का प्रसंग आता
है अतः उपदेश के बिना जो इस प्रकार का ऊहापोह विकल्परूप, हिंसा, असत्य, चोरी, विषय सेवन और परिग्रह
का कारण, आर्त तथा रौद्र ध्यान का कारण शल्य, दण्ड, गारव, संज्ञा आदि अप्रशस्त परिणामों का कारण, जो
इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुआ विशेष ग्रहरूप मिथ्याज्ञान है वह कुमतिज्ञान है यह निश्चय करना चाहिए।

तुच्छ अर्थात् परमार्थ से शून्य और इसी कारण से सज्जनों के द्वारा अनादरणीय आभीत, आसुरक्ष,
भारत-रामायण आदि के उपदेश, उनकी रचनाएँ, उनका सुनना तथा उनके सुनने से उत्पन्न हुआ ज्ञान, उसे
आचार्य श्रुतअज्ञान कहते हैं। आभीत चोर को कहते हैं क्योंकि उसे सब ओर से भय सताता है। उनके शास्त्र
को भी आभीतशास्त्र कहते हैं। असु अर्थात् प्राणों की रक्षा जिनसे होती है वे असुरक्ष अर्थात् कोतवाल आदि
उनके शास्त्र को आसुरक्ष कहते हैं। कौरव-पाण्डवों के युद्ध, पंचभर्ता द्रौपदी का वृत्तान्त, युद्ध की कथा आदि
की चर्चा से भरा महाभारत ग्रंथ है। सीताहरण, राम की उत्पत्ति, रावण की जाति, वानरों और राक्षसों के युद्ध
की यथेच्छ कल्पना को लेकर रची गई रामायण है। आदि शब्द से जो-जो मिथ्यादर्शन से दूषित सर्वथा
एकान्तवादी यथेच्छ कथाप्रबंध, भुवनकोश, हिंसामय यज्ञादि गृहस्थधर्म, त्रिदण्ड तथा जटा धारण आदि
तपस्वियों का कर्म, नैयायिकों का षोडश पदार्थवाद, वैशेषिकों का षट्पदार्थवाद, मीमांसकों का भावनाविधिनियोग,
चार्वाक का भूतचतुष्टयवाद, सांख्यों के पच्चीस तत्त्व, बौद्धों के चार आर्यसत्य, विज्ञानाद्वैत, सर्वशून्यवाद
आदि के प्रतिपादक आगमाभासों से होने वाला जितना श्रुतज्ञानाभास है वह सब श्रुतअज्ञान जानना। क्योंकि
वह प्रत्यक्ष अनुमान से विरुद्ध अर्थ को विषय करता है।

मिथ्यादर्शनकलंकितस्य जीवस्य अवधिज्ञानावरणीयवीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितं द्रव्यक्षेत्रकाल-भावसीमाश्रितं रूपिद्रव्यविषयं आप्तागमपदार्थेषु विपरीतग्राहकं तिर्यग्मनुष्यगत्योः तीव्रकायक्लेश-द्रव्यसंयमरूपगुणप्रत्ययं, चशब्दाद्देवनारकगत्योर्भवप्रत्ययं च मिथ्यात्वादिकर्मबंधबीजं, चशब्दात् कदाचिन्नारकादिगतौ पूर्वभवदुराचारसंचितदुष्कर्मफलतीव्रदुःखवेदनाभिभवजनितसम्यग्दर्शनज्ञानरूपधर्मबीजं वा अवधिज्ञानं विभङ्ग इति समाप्तज्ञानिनां केवलज्ञानिनां समये स्याद्वादशास्त्रे प्रोच्यते कथ्यते। नारकाणां विभङ्गज्ञानेन वेदनाभिभवतत्कारणदर्शनस्मरणानुसंधानप्रत्ययबलात् सम्यग्दर्शनोत्पत्तिप्रतीतेः। विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भङ्गः—विपर्ययः विभङ्ग इति निरुक्तिसिद्ध्यर्थस्यैव अनेन प्ररूपितत्वात्।

एतानि त्रीण्यपि ज्ञानानि मिथ्याज्ञानानि उच्यन्ते। यथा कटुकालाबुपात्रे भृतं दुग्धं कटुकं जायते तथैव मिथ्यात्वपात्रनिमित्तेन एतानि त्रीणि कुज्ञानानि भवन्ति, इति ज्ञात्वा मिथ्यात्वं परिहृत्य सम्यक्त्वमेवाराधनीयं भवति।

उक्तं च श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्पि।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम्॥

अधुना ज्ञानानां कथनं क्रियते—

अभिमुहणियमिय-बोहण-माभिणिबोहिय-मणिंदि-इंदियजं।

बहु-ओगगहाइणा खलु कय-छत्तीस-ति-सय-भेयं॥^१

मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा को लिए हुए रूपिद्रव्य को विषय करने वाला, किन्तु देव, शास्त्र और पदार्थों को विपरीतरूप से ग्रहण करने वाला अवधिज्ञान केवलज्ञानियों के द्वारा प्रतिपादित आगम में विभंग कहा जाता है। यह विभंगज्ञान तिर्यग्गति और मनुष्यगति में तीव्र कायक्लेशरूप द्रव्य संयम से उत्पन्न होता है इसलिए गुणप्रत्यय है। 'च' शब्द से देवगति और नरकगति में भवप्रत्यय है तथा मिथ्यात्व आदि कर्मों के बंध का बीज है। 'च' शब्द से कदाचित् नरकगति में पूर्व जन्म में किये गये दुराचारों में से संचित छोटे कर्मों का फल तीव्र दुःख एवं वेदना के भोगने से होने वाले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप धर्म का बीज है। क्योंकि नारकियों के विभंगज्ञान के द्वारा वेदनाभिभव और उसके कारणों के दर्शन, स्मरण आदिरूप ज्ञान के बल से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। 'वि' अर्थात् विशिष्ट अवधिज्ञान का भंग अर्थात् विपर्यय विभंग होता है। इस निरुक्ति सिद्ध अर्थ को ही यहाँ कहा है।

ये तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं। जैसे कड़वी तूमड़ी में भरा गया दूध कड़वा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी पात्र के निमित्त से ये तीनों ज्ञान कुज्ञान हो जाते हैं ऐसा जानकर मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व की ही आराधना करना उचित मानना चाहिए।

श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है—

श्लोकार्थ—तीन लोक और तीन काल में प्राणियों के लिए सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी—दुःखकारी कोई वस्तु नहीं है।

अब ज्ञान का कथन करते हैं—

गाथार्थ—मन और इन्द्रिय की सहायता से उत्पन्न हुए अभिमुख और नियमित पदार्थ के ज्ञान को

स्थूलवर्तमानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थः अभिमुखः, अस्येन्द्रियस्य अयमेवार्थः इत्यवधारितो नियमितः। अभिमुखश्चासौनियमितश्च अभिमुखनियमितः। तस्यार्थस्य बोधनं ज्ञानं, आभिनिबोधिकं मतिज्ञानमित्यर्थः। आभिनिबोध एव आभिनिबोधकं, स्वार्थिके ठण् प्रत्ययेन सिद्धं भवति। तज्ज्ञानं-अनिन्द्रियेन्द्रियजं-अनिन्द्रियं मनः, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि तेभ्यो जातमुत्पन्नं। अनेन इन्द्रियमनसोर्मतिज्ञानोत्पत्तिकारणत्वं दर्शितं। एतज्ज्ञानं बहु-आदिद्वादशभेदैः अवग्रहादिभिश्च खलु षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदरूपं भवतीति।

अत्थादो अत्थंतर-उवलंभो तं भणंति सुदणानां।

आभिनिबोहिय-पुव्वं णियमेणिह सद्दं पमुहं।।^१

आभिनिबोधिकं-मतिज्ञानं, मतिज्ञानावरणक्षयोपशमेन मतिज्ञानमेव पूर्वं उत्पद्यते। पुनः तद्गृहीतार्थम-वलम्ब्य तद्बलादर्थान्तरविषयं श्रुतज्ञानमुत्पद्यते नान्यथाप्रकारेणेति नियमशब्देन मतिज्ञानप्रवृत्त्यभावे श्रुतज्ञानाभाव इत्यवधार्यते। इह-अस्मिन् श्रुतज्ञानप्रकरणे अक्षरानक्षरात्मकयोः शब्दजलिंगजयोः श्रुतज्ञानभेदयोः मध्ये शब्दजं वर्णपदवाक्यात्मकशब्दजनितं श्रुतज्ञानं प्रमुखं — प्रधानं दत्तग्रहणशास्त्राध्ययनादि सकलव्यवहाराणां तन्मूलत्वात्। अनक्षरात्मकं तु लिंगजं श्रुतज्ञानं एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु विद्यमानमपि व्यवहारानुपयोगित्वात् अप्रधानं भवतीति।^२

आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। उसके बहु आदिक बारह प्रकार के पदार्थ और अवग्रह आदि की अपेक्षा तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं।

स्थूल, वर्तमान और योग्यदेश में स्थित अर्थ को अभिमुख कहते हैं। इस इन्द्रिय का यही विषय है इस अवधारणा को नियमित कहते हैं। अभिमुख और नियमित को अभिमुख नियमित कहते हैं। उस अर्थ के बोधन अर्थात् ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। आभिनिबोध ही आभिनिबोधिक है इस प्रकार स्वार्थ में 'ठण्' प्रत्यय करने से इसकी सिद्धि होती है। वह मतिज्ञान अनिन्द्रिय — मन से और स्पर्शन आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। इससे इन्द्रिय और मन को मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण दिखलाया है। पुनः वह मतिज्ञान बहु आदि बारह भेदों से और अवग्रह आदि के द्वारा तीन सौ छत्तीस भेद वाला हो जाता है ऐसा जानना चाहिए।

गाथार्थ — मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से तत्संबंधी दूसरे पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस प्रकार दो भेद हैं। उनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है।।

जो आभिनिबोधिक — मतिज्ञान है वह मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से पहले मतिज्ञान ही उत्पन्न होता है पुनः उससे गृहीत अर्थ का अवलम्बन लेकर उसके बल से अन्य अर्थ को विषय करने वाला श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य प्रकार से नहीं। 'नियम' शब्द से यह अवधारण किया गया है कि मतिज्ञान की प्रवृत्ति के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं होता है। इस श्रुतज्ञान के प्रकरण में श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक या शब्दजन्य और लिंगजन्य भेदों में से वर्णपदवाक्यात्मक शब्द से होने वाला श्रुतज्ञान प्रमुख है — प्रधान है क्योंकि देना-लेना, शास्त्र का अध्ययन आदि समस्त व्यवहार का मूल वही है। अनक्षरात्मक अर्थात् लिंगजन्य श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों में विद्यमान रहते हुए भी व्यवहार में उपयोगी न होने से अप्रधान होता है।

अवधीयदि त्ति ओही सीमाणाणे त्ति वण्णिदं समए।

भवगुणपच्चय-विहियं तमोहिणाणे त्ति णं बेत्ति।।^१

अवधीयते — द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिमीयते इत्यवधिः, यत्तृतीयं सीमाविषयं ज्ञानं परमागमे वर्णितं। भवगुणप्रत्ययविहितं — भवः नरकादिपर्यायः, गुणः सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादिः, भवगुणौ प्रत्ययौ कारणे ताभ्यां विहितं उक्तं, भवप्रत्ययत्वेन गुणप्रत्ययत्वेन अवधिज्ञानं द्विविधं कथितमिति। तत्र भवप्रत्ययावधिज्ञानं सुराणां नारकाणां चरमभवतीर्थकराणां च संभवति, तेषां सर्वांगोत्थं भवति। गुणप्रत्ययं पर्याप्तमनुष्याणां संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चां च संभवति, तच्च तेषां शंखादिचिन्हभवं भवतीति। तच्च अवधिज्ञानं त्रिविधं — देशावधिपरमावधिसर्वावधिभेदात्।

भवप्रत्ययोऽवधिः देशावधिरेव भवति देवनारकयोगृहस्थतीर्थकरस्य च परमावधिसर्वावध्योरसंभवात्। परमावधिः सर्वावधिश्च द्वावपि नियमेन गुणप्रत्ययावेव भवतः संयमलक्षणगुणाभावे तयोरभावात्। देशावधिरपि गुणे दर्शनविशुद्ध्यादिलक्षणे सति भवति। एवं गुणप्रत्ययास्त्रयोऽप्यवधयः संभवन्ति। भवप्रत्ययस्तु

गाथार्थ — द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जिस ज्ञान के विषय की सीमा हो उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इसलिए परमागम में इसको सीमाज्ञान कहा है। इसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इस प्रकार दो भेद जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।

“अवधीयते” अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के द्वारा जिसका परिमाण किया जाता है वह अवधिज्ञान है। अर्थात् जैसे मति, श्रुत और केवलज्ञान का विषय द्रव्यादि की अपेक्षा अपरिमित है वैसा इसका नहीं है। परमागम में जो तीसरा सीमाविषयक ज्ञान कहा है उसे अर्हन्त आदि अवधिज्ञान कहते हैं। भव अर्थात् नरक आदि पर्याय और गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन की विशुद्धि आदि। भव और गुण जिनके कारण हैं वे भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय नामक अवधिज्ञान हैं। इस तरह अवधिज्ञान के दो भेद हैं।

उनमें से भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों, नारकियों और चरमशरीरी तीर्थकरों के होता है। तथा वह समस्त आत्मा के प्रदेशों में वर्तमान अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय नामक दो कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है इसलिए इसे सर्वांग से उत्पन्न कहा जाता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्यों के और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यचों के होता है। वह उनके शंख आदि चिन्हों से उत्पन्न होता है अर्थात् नाभि से ऊपर शंख, वज्र, पद्म, स्वस्तिक, मच्छ, कलश आदि शुभ चिन्हों से युक्त आत्मप्रदेशों में स्थित अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी सम्यग्दर्शन, विशुद्धि आदि गुण रहते हैं फिर भी उसकी उत्पत्ति में उन गुणों की अपेक्षा नहीं होती, मात्र भवधारण करने से ही अवधिज्ञान होता है इसीलिए उसे भवप्रत्यय कहते हैं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में यद्यपि मनुष्य और तिर्यच का भव रहता है फिर भी अवधिज्ञान की उत्पत्ति में उसकी अपेक्षा नहीं होती, केवल सम्यग्दर्शन आदि गुणों के कारण ही अवधिज्ञान प्रगट होता है इसलिए यह गुणप्रत्यय कहा जाता है।

वह भवप्रत्यय अवधि नियम से देशावधि ही होता है क्योंकि देव, नारकी और गृहस्थ अवस्था में तीर्थकर के परमावधि एवं सर्वावधि ज्ञान नहीं होते हैं। परमावधि और सर्वावधि नियम से गुणप्रत्यय ही होते हैं क्योंकि संयम गुण के अभाव में ये दोनों नहीं होते हैं। देशावधि भी दर्शनविशुद्धि आदि गुणों के होने पर

देशावधिरेवेति निश्चितं जातं। देशावधेर्ज्ञानस्य जघन्यं नरतिरश्चोरेव संयतासंयतयोः भवति, न देवनारकयोः। देशावधेः सर्वोत्कृष्टं तु नियमेन मनुष्यगतिसकलसंयते एव भवति नेतरगतित्रये, तत्र महाव्रताभावात्। परमावधिसर्वावधी द्वावपि जघन्येनोत्कृष्टेन च मनुष्यगतौ एव चरमांगस्य महाव्रतिनः एव संभवतः इति। तथा गुणप्रत्ययो देशावधिः षोढा न परमावधिसर्वावधी इति।^१ तदपि अनुगाम्यननुगाम्यवस्थितमनवस्थितं प्रवर्धमानं हीयमानं चेति षड्विधं ज्ञातव्यं।

होता है। इस प्रकार गुणप्रत्यय तो तीनों भी अवधिज्ञान होते हैं किन्तु भवप्रत्यय देशावधि ही है यह निश्चित हुआ।

देशावधि का जघन्य भेद संयमासंयमी मनुष्यों और तिर्यचों के ही होता है, देवों और नारकियों के नहीं होता है। किन्तु देशावधि का सर्वोत्कृष्ट भेद नियम से सकलसंयमी मनुष्य के ही होता है, शेष तीन गतियों में नहीं होता है क्योंकि वहाँ महाव्रत नहीं होते हैं। परमावधि सर्वावधि जघन्य भी और उत्कृष्ट भी मनुष्यगति में ही चरमशरीरी महाव्रती के ही होते हैं। तथा गुणप्रत्यय देशावधि छह प्रकार का है परमावधि सर्वावधि नहीं। वह गुणप्रत्यय देशावधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, प्रवर्धमान और हीयमान ऐसे छह प्रकार का है।

विशेषार्थ — गुणप्रत्यय देशावधिज्ञान के छह भेद हैं — अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान और हीयमान। उनमें से जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव का अनुगमन करता है वह अनुगामी है। वह तीन प्रकार का है — क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और उभयानुगामी।

जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्र से अन्य क्षेत्र में जाने वाले जीव के साथ जाता है किन्तु भवान्तर में साथ नहीं जाता वह क्षेत्रानुगामी है। जो उत्पत्ति क्षेत्र से स्वामी का मरण होने पर दूसरे भव में भी साथ जाता है वह भवानुगामी है। जो अपने उत्पत्तिक्षेत्र और भव से अन्यत्र भरत, ऐरावत, विदेह आदि क्षेत्र में देव, मनुष्य आदि के भव में जीव का अनुगमन करता है वह उभयानुगामी है।

जो अविधिज्ञान अपने स्वामी जीव का अनुगमन नहीं करता है वह अननुगामी है वह भी क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी, उभयानुगामी के भेद से तीन प्रकार का है।

जो हानिवृद्धि के बिना सूर्यमण्डल की तरह एकरूप ही रहता है वह अवस्थित है। जो कभी बढ़ता है, कभी घटता है, कभी उसरूप ही अवस्थित रहता है वह अनवस्थित है।

जो शुक्लपक्ष के चंद्रमण्डल की तरह अपने उत्कृष्ट पर्यन्त बढ़ता है वह वर्धमान है तथा जो कृष्णपक्ष के चंद्रमण्डल की तरह अपने क्षयपर्यन्त घटता है वह हीयमान है।

अवधिज्ञान के जघन्य भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त असंख्यात लोकप्रमाण भेद भी होते हैं। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की मर्यादा के अनुसार रूपीपुद्गलद्रव्य और उससे सम्बद्ध संसारी जीवों को प्रत्यक्षरूप से जानता है किन्तु सर्वावधिज्ञान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से रहित है, अवस्थित है, उसमें हानि-वृद्धि नहीं होती है। इसका अर्थ यह है कि वह परम उत्कर्ष को प्राप्त है क्योंकि अवधिज्ञानावरण का सर्वोत्कृष्ट क्षयोपशम वहीं होता है इससे यह निश्चित होता है कि देशावधि और परमावधि के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते हैं।

अवधिज्ञान का इससे अधिक विस्तृत वर्णन अन्य करणानुयोग ग्रंथों से जानना चाहिए।

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।

मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए॥^१

चिंतितं — चिंताविषयीकृतं, अचिंतितं — चिन्तयिष्यमाणं, अर्धचिंतितं — असंपूर्णचिंतितं वा इत्यनेकभेदगतं अर्थ परमनस्यवस्थितं यज्ज्ञानं जानाति तत्खलु मनःपर्यय इत्युच्यते। तस्योत्पत्तिप्रवृत्ती नरलोके मनुष्यक्षेत्रे एव न तद्वहिः नरलोके इति पंचचत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमाणं समचतुरस्रघनप्रतरं मनःपर्ययविषयोत्कृष्टक्षेत्रं समुद्दिष्टं, ततः कारणात् मानुषोत्तराद् बहिश्चतुष्कोणस्थिततिर्यगमराणां परचिंतितानां उत्कृष्टविपुलमतेः परिज्ञानमिति ज्ञातव्यम्।

परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थः मनः तत् पर्येति गच्छति जानातीति मनःपर्ययः। स सामान्येनैकोऽपि भेदविवक्षया ऋजुमतिमनःपर्ययः विपुलमतिमनःपर्ययश्चेति द्विविधो भवति।

इदं चतुर्थज्ञानमपि महासंयतस्यैव न तु सर्वेषामिति ज्ञातव्यं।

संपुण्णं तु समगं केवलमसवत्त-सव्व-भावविदं।

लोगालोग-वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं॥^२

जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां व्यक्तिगतत्वात्संपूर्णं। मोहनीयवीर्यान्तरायनिर-वशेषक्षयादप्रतिहतशक्तियुक्तत्वात् निश्चलत्वाच्च समग्रं। इन्द्रियसहायनिरपेक्षत्वात् केवलम्। घाति-चतुष्टयप्रक्षयात् क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन सकलपदार्थगतत्वात् असपत्नम्। लोकालोकयोर्विगततिमिरं तदिदं केवलज्ञानं मन्तव्यम्।

गाथार्थ — जिसका भूतकाल में चिन्तवन किया है अथवा जिसका भविष्यकाल में चिन्तवन होगा अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक प्रकार से दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जो जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्यों में ही होता है।

उपर्युक्त मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति नरलोक के मनुष्यक्षेत्र में ही होती है, उसके बाहर नहीं होती है। यहाँ नरलोक का अभिप्राय है कि पैतालिस लाख योजन प्रमाण समचतुरस्र घन प्रतर तक मनःपर्ययज्ञान का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र माना गया है। इस कारण मानुषोत्तर पर्वत से बाहर चारों कोनों में स्थित तिर्यच और देवों द्वारा चिंतित पदार्थों को उत्कृष्ट विपुलमतिज्ञान वाला ही जान सकता है ऐसा जानना चाहिए।

दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को अथवा मन और पर्यय — पदार्थ दोनों को जानने वाला मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। वह सामान्य से एक होते हुए भी भेदविवक्षा से दो प्रकार का होता है — ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान और विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान।

यह मनःपर्यय नामका चतुर्थ ज्ञान महामुनियों के ही होता है, सभी के नहीं होता ऐसा जानना चाहिए।

गाथार्थ — यह केवलज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत और लोकालोक में अंधकाररहित होता है।।

जीवद्रव्य के शक्तिरूप से जो सब ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद हैं उन सबकी प्रगटता हो जाने से केवलज्ञान सम्पूर्ण है। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सम्पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान की शक्ति बेरोक और निश्चल है इसलिए वह समग्र है। इंद्रियों की सहायता न लेने से केवल है। चार घातिया कर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाने से तथा क्रम और इंद्रियों के व्यवधान से रहित होने के कारण समस्त पदार्थों को जानने से असपत्न है। लोक और अलोक में अज्ञानरूपी अंधकार से रहित होकर प्रकाशित करने वाला ऐसा यह केवलज्ञान जानना चाहिए।

एतत्केवलज्ञानस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा तत्प्राप्त्यर्थमेव प्रयतितव्यं अस्माभिः।

यथा च पूर्वाचार्येणापि प्रार्थ्यते —

स्वात्माभिमुखसंवित्ति-लक्षणं श्रुतचक्षुषा।

पश्यन् पश्यामि देव! त्वां केवलज्ञानचक्षुषा॥^१

तात्पर्यमेतत् — श्रुतज्ञानेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिर्जायते न चान्यज्ञानेन अतोऽस्माभिर्नित्यमेव श्रुतदेवी उपासनीया। श्रुतज्ञानस्य माहात्म्यं आचार्यदेवैरपि गीयते।

तदेवोक्तं —

सुदकेवलं च णाणं, दोण्णिवि सरिसाणि होति बोहादो।

सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं॥३६९॥^२

श्रुतज्ञानं केवलज्ञानं चेति द्वे ज्ञाने बोधात् समस्तवस्तुद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानात् सदृशे भवतः। तु पुनः अयं विशेषः, परमोत्कर्षपर्यन्तं प्राप्तमपि श्रुतकेवलज्ञानं सकलपदार्थेषु परोक्षं अविशदं अस्पष्टं अमूर्तेषु अर्थपर्यायेषु अन्येषु सूक्ष्मांशेषु विशदत्वेण विशदत्वेन प्रवृत्त्यभावात्। मूर्तेष्वपि व्यञ्जनपर्यायेषु स्थूलांशेषु स्वविषयेषु अवधिज्ञानादिव साक्षात्करणाभावाच्च।

सकलावरणवीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयोत्पन्नं केवलज्ञानं प्रत्यक्षं समस्तत्वेन विशदं स्पष्टं भवति। तथापि श्रुतज्ञानेनापि परोक्षमेव त्रैलोक्यस्वरूपं अवबुध्यते, अतएव —

इस केवलज्ञान की महिमा को जानकर उसकी प्राप्ति का हम सभी को प्रयत्न करना चाहिए।

जैसा कि पूर्वाचार्य के द्वारा भी कहा गया है —

श्लोकार्थ — श्रुतरूपी चक्षु के द्वारा आत्मसंवेदन के अभिमुख हुए आत्मतत्त्व के लक्षण को देख कर हे देव! मैं तुम्हें केवलज्ञानरूपी चक्षु से देखना चाहता हूँ।

इसका हिन्दी पद्यानुवाद निम्न प्रकार है —

स्वात्मरूप के अभिमुख संवेदन को श्रुतदृग से लखकर।

भगवन्! तुमको केवलज्ञान चक्षु से देखूँ झट मनहर।।

तात्पर्य यह है कि श्रुतज्ञान से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है इसलिए हम सभी को नित्य ही श्रुतदेवी की उपासना करना चाहिए। श्रुतज्ञान का माहात्म्य अन्य आचार्यों ने भी कहा है —

उसी को कहते हैं —

गाथार्थ — ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही एक सदृश हैं। परन्तु दोनों में अंतर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है॥३६९॥

श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ये दोनों ज्ञान समस्त वस्तुओं के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने की अपेक्षा समान हैं किन्तु इतना विशेष है कि परम उत्कर्ष पर्यन्त को प्राप्त भी श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों में परोक्ष होता है, अस्पष्ट जानता है, अमूर्त अर्थ पर्यायों में तथा अन्य सूक्ष्म अंशों में स्पष्ट रूप से उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। मूर्त भी व्यञ्जन पर्यायों को अपने विषयों के स्थूल अंश को अवधिज्ञान की तरह साक्षात्कार करने में असमर्थ है किन्तु समस्त ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षय से उत्पन्न केवलज्ञान पूर्णरूप से स्पष्ट होता है। फिर भी श्रुतज्ञान के द्वारा भी परोक्षरूप से ही तीनों लोकों का स्वरूप जान लेता है। अतएव निम्न कथन भी दृष्टव्य है —

नमस्तस्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्तये।

विचित्रा लोकयात्रेयं यत्प्रसादात्प्रवर्तते॥

चांदखेडीति ख्यातेऽस्मिन्नादिनाथं जिनेश्वरम्।

नमामः सर्वबिम्बानि चात्मसौख्यस्य लब्धये॥१॥

अधुना गत्यादिमार्गणायां मतिश्रुताज्ञानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

**मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदिय-प्पहुडि जाव सासणसम्माइडि
त्ति॥११६॥**

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका — मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य यावत् सासादनसम्यग्दृष्टयः इति। अथ कश्चिदाह — मिथ्यात्वोदयस्याभावात् सासादनगुणस्थाने न द्वयोरज्ञानयोः सत्त्वं संभवति ?

नैतत्, मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते। समस्ति च सासादनस्यानंतानुबन्ध्युदयः इति।

कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानं श्रोत्राभावात् न शब्दार्थावगमः ?

नैष दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव श्रुतमिति। अपि तु अशब्दरूपादपि लिंगात् लिंगिज्ञानमपि श्रुतमिति।

श्लोकार्थ — विमलज्ञानस्वरूप उस सरस्वती माता के लिए नमस्कार है जिनकी कृपाप्रसाद से समस्त लोकालोक की विचित्र यात्रा हो जाती है।

श्लोकार्थ — “चाँदखेड़ी” नाम से प्रसिद्ध अतिशयक्षेत्र में विराजमान श्री आदिनाथ भगवान को एवं वहाँ के समस्त जिनबिम्बों को हम आत्मसुख की प्राप्ति के लिए नमस्कार करते हैं॥१॥

अब गति आदि मार्गणा में मति श्रुतअज्ञान की व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतुसूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ —

एकेन्द्रिय से लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीव होते हैं॥११६॥

सिद्धान्तचिन्तामणि टीका — कुमति और कुश्रुतज्ञानी जीव एकेन्द्रिय से आरंभ होकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त होते हैं।

शंका — सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय का तो अभाव पाया जाता है तब वहाँ कुमति, कुश्रुत इन दोनों अज्ञानों का सत्त्व कैसे रहेगा ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि विपरीत अभिनिवेश को मिथ्यात्व कहते हैं, और वह मिथ्यात्व तथा अनंतानुबन्धी इन दोनों के निमित्त से उत्पन्न होता है। सासादनगुणस्थान वाले जीवों के अनंतानुबन्धी का उदय तो पाया ही जाता है, इसलिए वहाँ पर भी दोनों अज्ञान होना संभव है।

शंका — एकेन्द्रिय जीवों के जब श्रोत्र इंद्रिय के अभाव में शब्द का ज्ञान नहीं होता है तब उनके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि यह कोई एकान्त नहीं है कि शब्द के निमित्त से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को ही श्रुतज्ञान कहते हैं। अपितु बिना शब्द के भी रूपादिक लिंग से जो लिंगी का ज्ञान होता है

अमनसां तदपि कथमिति चेत् ?

न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलंभतोऽनेकांतात्।^१

तात्पर्यमेतत् — एतन्मतिश्रुताज्ञाने एकेन्द्रियादारभ्य पंचेन्द्रियपर्यंतेषु मिथ्यात्वसासादनगुणस्थानयोः भवतः इति।

अधुना विभंगज्ञाने गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति —

विभंगणाणं सण्ण-मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा।।११७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — विभंगज्ञानं — कुअवधिज्ञानं संज्ञिमिथ्यादृष्टीनां वा सासादनसम्यग्दृष्टीनां वा भवति।

विकलेन्द्रियाणां कथं न भवेत् ?

न भवति, तत्र तन्निमित्तकक्षयोपशमाभावात्।

एतद्विभंगज्ञानं पर्याप्तेष्वेवेति प्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति —

पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि।।११८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एतद्विभंगज्ञानं पर्याप्तानां अस्ति, अपर्याप्तानां नास्ति। यद्यपि देवनारकाणां एतज्ज्ञानं भवप्रत्ययं वर्तते तथापि पर्याप्तावस्थायामेव इति निश्चेतव्यम्।

उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

शंका — वह श्रुतज्ञान मनरहित जीवों के भी कैसे संभव है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि मन के बिना वनस्पतिकायिक जीवों के हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति देखी जाती है, इसलिए मनसहित जीवों के ही श्रुतज्ञान मानने में उनसे अनेकांत दोष आता है।

तात्पर्य यह है कि इन मति-श्रुत अज्ञानों से सहित एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों में मिथ्यात्व, सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं।

अब विभंगज्ञान में गुणस्थानव्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

विभंगज्ञान संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवों के तथा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों के होता है।११७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञीमिथ्यादृष्टि अथवा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों के कुअवधिज्ञान होता है।

शंका — वह विभंगज्ञान — कुअवधिज्ञान विकलेन्द्रिय जीवों के क्यों नहीं पाया जाता है ?

समाधान — उनके कुअवधिज्ञान नहीं होता है क्योंकि वहाँ पर विभंगज्ञान का कारणभूत क्षयोपशम नहीं पाया जाता है।

पर्याप्तक जीवों में इस विभंगज्ञान के प्रतिपादन हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

विभंगज्ञान पर्याप्तकों के ही होता है, अपर्याप्तकों के नहीं होता है।।११८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यह विभंगज्ञान पर्याप्तक जीवों के ही होता है, अपर्याप्तक जीवों के नहीं होता है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि देव-नारकियों के यह विभंगज्ञान भवप्रत्यय होता है किन्तु उनके पर्याप्त अवस्था में ही होता है ऐसा निश्चय से जानना चाहिए।

इदानीं तृतीयगुणस्थाने ज्ञानव्यवस्थां व्यवस्थापयति—

**सम्मामिच्छादृष्टि-दृष्टाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि।
आभिणि-बोहियणाणं मदि-अण्णाणेण मिस्सयं सुदणाणं सुद-अण्णाणेण
मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं। तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण
मिस्साणि वा इदि।।११९।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने त्रीण्यपि ज्ञानानि मतिश्रुतावधिनामानि अज्ञानेन मिश्राणि भवन्ति। आभिनिबोधिकज्ञानं मत्यज्ञानेन मिश्रितं, श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानेन मिश्रितं, अवधिज्ञानं विभंगज्ञानेन मिश्रितं। त्रीण्यपि ज्ञानानि अज्ञानेन मिश्राणि वा इति।

यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्, अयथार्थश्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। एवं च सति ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्न-जीवाधिकरणयोर्न मिश्रणं घटते इति चेत् ?

सत्यमेतत्, इष्टत्वात्, किन्त्वत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टौ एवं मा ग्रहीः, यतः सम्यग्मिथ्यात्वकर्मप्रकृतिः न मिथ्यात्वरूपा न सम्यक्त्वरूपा किन्तु सा जात्यन्तरप्रकृतिरेव, ततो जात्यन्तरत्वात् एषा प्रकृतिः जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादिका। ततस्तदुदयजनितपरिणामसमन्वितबोधो न ज्ञानं यथार्थश्रद्धानुविद्धत्वात्।

अब तृतीय गुणस्थान में ज्ञान की व्यवस्था बताने हेतु सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—

**सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आदि के तीनों ही ज्ञान अज्ञान से मिश्रित होते हैं।
आभिनिबोधिकज्ञान मत्यज्ञान से मिश्रित होता है। श्रुतज्ञान श्रुतअज्ञान से मिश्रित होता
है। अवधिज्ञान विभंगज्ञान से मिश्रित होता है। अथवा तीनों ही ज्ञान अज्ञान से मिश्रित
होते हैं।।११९।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक तृतीय गुणस्थान में मति, श्रुत, अवधि ये तीनों ही ज्ञान अज्ञान से मिश्रित रहते हैं। आभिनिबोधिकज्ञान कुमतिज्ञान से मिश्रित होता है, श्रुतज्ञान कुश्रुतज्ञान से मिश्रित रहता है और अवधिज्ञान विभंगज्ञान से मिश्रित माना गया है। अथवा यूँ समझना चाहिए कि उपर्युक्त तीनों ही ज्ञान अज्ञान से मिश्रित होते हैं।

शंका—यथार्थ श्रद्धा से अनुविद्ध—सहित अवगम को ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धा से अनुविद्ध—सहित अवगम को अज्ञान कहते हैं। पुनः ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न जीवों के आधार से रहने वाले ज्ञान और अज्ञान का मिश्रण नहीं बन सकता है ?

समाधान—आपका यह कथन सत्य है क्योंकि हमें यही इष्ट है, किन्तु यहाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति न तो मिथ्यात्वरूप है और न ही वह सम्यक्त्वरूप है किन्तु वह तो एक जात्यन्तर—भिन्न जाति वाली प्रकृति ही हो जाती है, इसलिए जात्यन्तररूप प्रकृति होने के कारण जात्यन्तर—भिन्न जाति वाले मिश्र परिणामों को उत्पन्न करती है। अतः उसके उदय से उत्पन्न हुए परिणामों में युक्त ज्ञान “ज्ञान” इस संज्ञा को प्राप्त हो नहीं सकता है क्योंकि उस ज्ञान में यथार्थ श्रद्धा का अन्वय नहीं पाया जाता है और उस ज्ञान को अज्ञान भी नहीं कह सकते

नाप्यज्ञानमयथार्थश्रद्धयाऽसंगतत्वात्। ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामवज्जात्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते। तदेव मिश्रज्ञानमिति सिद्धान्तविदो व्याचक्षते।

एवं प्रथमस्थले सामान्येनाष्टविधज्ञानोपयोग-त्रिविधाज्ञानेषु गुणस्थाननिरूपणत्वेन सूत्रपंचकं गतं।

सांप्रतं ज्ञानेषु गुणस्थानव्यवस्थां व्यवस्थापयता सूत्रावतारः क्रियते आचार्यदेवेन—

**आभिनिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव
खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति॥१२०॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — आभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानं अवधिज्ञानं असंयतसम्यग्दृष्टि-प्रभृति यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः इति।

असंयतसम्यग्दृष्टितिर्यङ्मनुष्येषु नावधिज्ञानं संभवति, तस्योत्पत्तेः कारणस्य भवगुणप्रत्ययाभावात् ?

नैतत्, अवधिज्ञाननिबन्धनसम्यक्त्वगुणस्य तत्र सत्त्वात्। तत्रापि विशिष्टसम्यक्त्वमेवास्य ज्ञानस्योत्पत्तेः कारणं, अतः कतिपय-तिर्यङ्मनुष्याणामेवावधिज्ञानं न च सर्वेषां। अत्रापि देशावधिज्ञानं असंयतसम्यग्दृष्टेराभ्यक्षीणकषायपर्यंतमुनीनां, परमावधिः सर्वावधिस्तु संयतानामेव। तत्रापि न सर्वसंयमिनां किन्तु असंख्यातलोकमात्रसंयमपरिणामेषु केचिद् विशिष्टाः परिणामा एव तज्ज्ञानहेतवः इति ज्ञातव्यं भवद्भिः।

हैं क्योंकि वह अयथार्थ श्रद्धा के साथ सम्पर्क नहीं रखता है। इसलिए वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणाम की तरह जात्यन्तररूप अवस्था को प्राप्त है अतः एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है। सिद्धान्त के जानने वाले विद्वान् पुरुष उसे ही मिश्रज्ञान कहते हैं।

इस प्रकार प्रथमस्थल में सामान्य से आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग एवं तीन अज्ञानों में गुणस्थान व्यवस्था का निरूपण करने वाले पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब ज्ञानों (सम्यग्ज्ञानों) में गुणस्थानव्यवस्था को व्यवस्थापित करते हुए आचार्यदेव सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं॥१२०॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — असंयत गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीव मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों से सहित हो सकते हैं।

शंका— असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले तिर्यच और मनुष्यों में अवधिज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति के कारण वहाँ भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान— ऐसा नहीं है क्योंकि वहाँ तिर्यच और मनुष्यों में अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारणरूप सम्यग्दर्शन का सद्भाव पाया जाता है। वहाँ पर भी विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण बनता है, अतः कतिपय तिर्यच और मनुष्यों के ही अवधिज्ञान होता है, सभी के नहीं हो सकता है।

उन अवधिज्ञानों में भी देशावधिज्ञान असंयतसम्यग्दृष्टि श्रावक से लेकर क्षीणकषाय नामक गुणस्थान तक के मुनियों के होता है एवं परमावधि और सर्वावधि संयतों के ही होता है। संयमियों में भी सभी संयमियों के नहीं होता है किन्तु असंख्यातलोकप्रमाण संयमरूप परिणामों में कुछ विशिष्ट परिणाम ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारण बनते हैं ऐसा जानना चाहिए।

संप्रति मनःपर्ययज्ञानस्य स्वामिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

**मणपज्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-
छदुमत्था त्ति॥१२१॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनःपर्ययज्ञानी प्रमत्तसंयत-प्रभृति यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः इति। अस्मिन् सूत्रे पर्यायपर्यायिणोरभेदापेक्षया मनःपर्ययज्ञानस्यैव मनःपर्ययज्ञानिव्यपदेशः। देशविरताद्यधस्तन-गुणस्थानवर्तिनां एतज्ज्ञानं न भवति, संयमासंयमासंयमतः तस्योत्पत्तिविरोधात्। तत्रापि संयम एकः एव तदुत्पत्तेः कारणं नास्ति, अपि तु अन्येऽपि तद्धेतवः सन्ति। ते च विशिष्टद्रव्यक्षेत्रकालादयः, अतएव न सर्वसंयतानां एतच्चतुर्थज्ञानं प्रत्युत् केषांचिदेव महामुनीनां संभवति इति।

उक्तं च—

मणपज्जवं च णाणं, सत्तसु विरदेसु सत्तइड्डीणं।

एगादिजुदेसु हवे, वडुंतविसिदुचरणेसु॥^१

अब मनःपर्ययज्ञान के स्वामी के प्रतिपादन हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं॥१२१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक मुनियों के मनःपर्ययज्ञान होता है। इस सूत्र में पर्याय और पर्यायी में अभेद की अपेक्षा से मनःपर्ययज्ञान का ही मनःपर्ययज्ञानीरूप से कथन कर दिया जाता है।

देशविरत आदि नीचे के गुणस्थानवर्ती जीवों में मनःपर्ययज्ञान नहीं होता है क्योंकि संयमासंयम और असंयम के साथ मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। उनमें भी केवल एक संयम ही मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है, अपितु अन्य भी मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं। वे विशेष द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि कारण हैं अतएव समस्त संयतों के यह चतुर्थज्ञान नहीं होता है बल्कि किन्हीं-किन्हीं महामुनियों के ही यह उत्पन्न होता है ऐसा जानना चाहिए।

कहा भी है—

गाथार्थ — प्रमत्तादि क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान वाले के, उसमें भी सात ऋद्धियों में से कम से कम किसी भी एक ऋद्धि को धारण करने वाले के, ऋद्धिप्राप्त में भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्र को धारण करने वाले के ही मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ — सामान्य की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान एक ही प्रकार का है और विशेष भेदों की अपेक्षा उसके दो भेद हैं— ऋजुमति और विपुलमति।

इनमें से ऋजुमति के भी तीन भेद हैं— १. ऋजुमनोगतार्थ विषयक, २. ऋजुवचनगतार्थ विषयक, ३. ऋजुकायगतार्थ विषयक।

परकीय मनोगत होने पर भी जो सरलतया मन वचन काय के द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थ को विषय

करने वाले ज्ञान को ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान कहते हैं अतएव सरल मन वचन काय के द्वारा किये हुए पदार्थ को विषय करने की अपेक्षा ऋजुमति के उपर्युक्त तीन भेद होते हैं।

इसी प्रकार विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के छह भेद माने हैं — ऋजु मन, वचन, काय के द्वारा किये गये परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद और कुटिल मन, वचन, काय के द्वारा किये हुए परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद ऐसे छह भेद हैं। ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार के होते हैं।

तात्पर्य यह है कि कोई आकर पूछे तो उसके मन की बात एवं तत्संबंधी विषय को मनःपर्ययज्ञानी जान सकता है, कदाचित् कोई न भी पूछे और मौन से स्थित रहे तो भी उसके मन में स्थित विषय को मनःपर्ययज्ञानी महामुनि जान लेते हैं यही इस ज्ञान की महिमा जाननी चाहिए।

इसको ऋजुमति-विपुलमति के माध्यम से इसलिए समझाया गया है कि वर्तमान में जिसका चिन्तवन किया जा रहा है ऐसे त्रिकालविषयक रूपी पदार्थ को ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान जानता है और विपुलमतिज्ञान भूत-भविष्यत् को भी जानता है।

शंका — मनःपर्ययज्ञान भी यदि वर्तमान, भूत, भविष्यत् तीनों कालों के पदार्थों को जानता है तो केवलज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में क्या अंतर रहा ? अर्थात् मनःपर्यय और केवल दोनों एक सदृश ही हो जावेंगे ?

समाधान — ऐसा नहीं है क्योंकि मनःपर्ययज्ञान केवल रूपी पदार्थों को ही विषय करता है और केवलज्ञान रूपी-अरूपी समस्त पदार्थों को एक समय में जान लेता है।

शंका — फिर तो मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान के समान हुआ क्योंकि अवधिज्ञान भी रूपी पदार्थ को विषय करता है ?

समाधान — ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि दोनों ज्ञानों में समानता नहीं पाई जाती है। अवधिज्ञान चारों गतियों में होता है जबकि मनःपर्ययज्ञान मात्र एक मनुष्यगति में ही किन्हीं-किन्हीं महामुनियों के होता है।

रूपी पदार्थों को विषय करने में भले ही दोनों में समानता पाई जाती है तथापि तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार ये दोनों ही सूत्र ध्यान देने योग्य हैं —

“रूपिष्ववधेः” और “तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य”

अर्थात् अवधिज्ञान रूपीपुद्गलद्रव्य की कुछ पर्यायों को ही जानता है और मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान के विषयभूत रूपीद्रव्य के अनंतवें भाग को भी जानने की शक्ति रखता है तथा यह भी ज्ञातव्य है कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी नियम से केवलज्ञान को प्राप्त करता है क्योंकि वह अप्रतिपाती माना गया है।

हाँ, इतना अवश्य है कि अवधि और मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति में समानता है अर्थात् जिस प्रकार अवधिज्ञान समस्त अंग से अथवा शरीर में होने वाले शंखादि शुभ चिन्हों से उत्पन्न होता है उसी तरह मनःपर्ययज्ञान जहाँ पर द्रव्यमन होता है उन्हीं प्रदेशों से उत्पन्न होता है। क्योंकि द्रव्यमन के स्थान पर जो आत्मा के प्रदेश होते हैं उनसे ही मनःपर्ययज्ञान होता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्वांग से होता है एवं गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनःपर्यय के समान शंखादिक चिन्हों के स्थान से ही होता है लेकिन इन चिन्हों का स्थान द्रव्यमन की तरह निश्चित नहीं है। यह उत्पत्तिस्थान की अपेक्षा भी अवधि और मनःपर्ययज्ञान में अंतर पाया जाता है।

इस द्रव्यमन को नोइन्द्रिय संज्ञा भी है क्योंकि दूसरी इंद्रियों की तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्यमन के निमित्त से भावमन तथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

इदानीं केवलज्ञानाधिपतिगुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

केवलणाणी तिसु द्वाणेषु सयोगिकेवली अयोगिकेवली सिद्धा चेदि।।१२२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—केवलज्ञानी त्रिषु स्थानेषु सन्ति सयोगिकेवली अयोगिकेवली सिद्धाश्चेति। प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्, तत एव केवलनि मनसोऽस्तित्वमपि नास्ति।

कथं पुनः सयोगी स केवली भगवान् ?

नैतत्, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पंदस्य सत्त्वापेक्षया तस्य केवलिनः सयोगत्वाविरोधात्।

तत्र भगवति मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वं संभवति ? नैतत्, तस्य वचनस्य ज्ञानकार्यत्वात्।

सयोगकेवलिनो मनोयोगाभावे “सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो.....जाव सजोगिकेवलि त्ति”

इति सूत्रेण सह विरोधः स्यात् ?

उस मनःपर्ययज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण जो नरलोक प्रमाण कहा है सो उससे मनुष्यलोक का विष्कम्भ ग्रहण करना चाहिए न कि वृत्त, क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत के बाहर चारों कोणों में स्थित तिर्यच अथवा देवों के द्वारा चिन्तित पदार्थ को भी विपुलमति जानता है, कारण यह है कि मनःपर्ययज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र ऊँचाई में कम होते हुए भी समचतुरस्र घनप्रतरूप पैतालिस लाख योजन प्रमाण है।

वर्तमान के पंचमकाल में जितने भी दिगम्बर मुनि हैं उनमें किसी के भी अवधि या मनःपर्ययज्ञान नहीं है क्योंकि हीनसंहननधारी इन मुनिराजों के इनका अभाव है अतः हम सब उस मनःपर्ययज्ञान की आराधना आदि करके उसकी प्राप्ति की भावना ही कर सकते हैं प्राप्ति नहीं। हाँ तिलोयपण्णत्ति में (अ. ४ में) पंचमकाल में प्रत्येक कल्की के समय मुनि को अवधिज्ञान माना है।

अब केवलज्ञान के स्वामी के गुणस्थानों को बतलाने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानों में होते हैं।।१२२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव तथा गुणस्थानातीत सिद्ध परमेष्ठियों के केवलज्ञान होता है क्योंकि अर्हन्त भगवान् के समस्त आवरणकर्मों के क्षय होने पर ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम का अभाव रहता है, इसीलिए केवली के मन का अस्तित्व भी नहीं रहता है।

शंका—पुनः वे केवली भगवान् सयोगी कैसे कहे जाते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि प्रथम एवं चतुर्थ वचन अर्थात् सत्य एवं अनुभय वचनयोग के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदन होता है अतः उनके सत्त्व की अपेक्षा उन केवली भगवान् में सयोगीपने को मानने में कोई विरोध नहीं पाया जाता है।

शंका—उन अर्हन्त भगवान् में मन का अभाव मानने पर उसके कार्यरूप वचनों का सत्त्व भी वहाँ संभव नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि वचन ज्ञान के कार्य हैं, मन के नहीं।

शंका—सयोगकेवली के मनोयोग का अभाव मानने पर “सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो..... जाव सजोगिकेवलित्ति” इस पूर्वोक्त सूत्र के साथ विरोध आ जाएगा ?

नैतद्वक्तव्यं, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण मनः सत्त्वोपदेशात्। जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोक्तमनोजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा सयोगिकेवलिनि मनसः सत्त्वान्न विरोधः।

तात्पर्यमेतत् — केवलानां भगवतां नोऽन्द्रियावरणक्षयोपशमजनितमनसः सत्त्वं नास्ति, केवलं द्रव्यमनोऽस्तित्वमेव तत्र वर्तते।

उक्तं च —

हिदि होदि हु दव्वमणं, वियसिय अट्टच्छदारविंदं वा।

अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंददो णियमा॥४४३॥^१

अंगोपांगनामकर्मादयकारणात् मनोवर्गणास्कंधैर्विकसिताष्टच्छदारविंदसदृशं द्रव्यमनो हृदये उत्पद्यते स्फुटम्। एतद्द्रव्यमनः केवलिनामपि विद्यते। तन्निमित्तेनोपचारेण सत्यानुभयमनोयोगौ केवलानां उच्येते इति ज्ञातव्यं।

एवं ज्ञानमार्गणायां सामान्येन त्रिविधमज्ञानं पंचविधज्ञानं निरूप्य अज्ञानेषु गुणस्थाननिरूपणपरत्वेन पंचसूत्राणि गतानि, ततो द्वितीयस्थले ज्ञानेषु गुणस्थानव्यवस्थाव्यवस्थापनमुख्यत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

इति षट्खण्डागमप्रथमखण्डे गणिनीज्ञानमतीकृत-

सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां ज्ञानमार्गणानाम

सप्तमोऽधिकारः समाप्तः।

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि मन के कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषा के सद्भाव की अपेक्षा उपचार से मन का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। अथवा जीवप्रदेशों के परिस्पन्द के कारणभूत मनोवर्गणारूप नोक्तम से उत्पन्न हुई शक्ति के अस्तित्व की अपेक्षा सयोगिकेवली में मन का सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

तात्पर्य यह है कि केवली भगवन्तों के नोऽन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए मन का अस्तित्व नहीं पाया जाता है। वहाँ तो केवल द्रव्यमन का ही अस्तित्व पाया जाता है। कहा भी है —

गाथार्थ — आंगोपांगनामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदयस्थान में नियम से विकसित आठ पंखुड़ी के कमल के आकार में द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

आंगोपांगनामकर्म के उदय के कारण मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा विकसित अष्टदल कमल के सदृश द्रव्यमन हृदय में स्पष्टरूप से उत्पन्न होता है। यह द्रव्यमन केवलियों के भी होता है। उस द्रव्यमन के निमित्त से वहाँ उपचार से सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोग केवलियों के माने जाते हैं ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञानमार्गणा में सामान्य से तीन प्रकार के अज्ञान और पाँच प्रकार के ज्ञानों का निरूपण करके अज्ञानों में गुणस्थान निरूपण की मुख्यता से पाँच सूत्र हुए पुनः द्वितीयस्थल में ज्ञानों में गुणस्थानव्यवस्था का कथन करने वाले तीन सूत्र हुए हैं।

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खंड में गणिनी ज्ञानमतीकृत

“सिद्धान्तचिंतामणि” नामक टीका में ज्ञानमार्गणा नाम का

सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

अथ संयममार्गणाधिकारः

अथ स्थलपंचकेन अष्टसूत्रैः संयममार्गणानामाष्टमोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र प्रथमस्थले सामान्यसंयम-संख्या-द्विविधसंयमिनां प्रतिपादनत्वेन “संजमाणुवादेण” इत्यादिसूत्रत्रयं। तदनु द्वितीयस्थले परिहारशुद्धि-संयमप्रतिपादनपरेण “परिहारसुद्धि-” इत्यादिसूत्रमेकं। तदनंतरं तृतीयस्थले सूक्ष्मसांपरायाणां प्रतिपादनत्वेन “सुहुम-” इत्यादिसूत्रमेकं। ततः परं चतुर्थस्थले यथाख्यातभगवतां प्रतिपादनत्वेन “जहाक्खाद-” इत्यादिसूत्रमेकं। तत्पश्चात् पंचमस्थले संयतासंयतादिकथनत्वेन “संजदासंजदा” इत्यादिसूत्रद्वयं इति पातनिका।

अधुना संयममार्गणाप्ररूपणार्थं सूत्रावतारो भवति—

संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावण-सुद्धिसंजदा परिहारसुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि।।१२३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संयमानुवादेन संयताः — षष्ठगुणस्थानादारभ्य अयोगिगुणस्थानपर्यन्ताः सन्ति। तेषामेव संयतानां संयमापेक्षया नामभेदाः उच्यन्ते — सामायिक-छेदोपस्थापनशुद्धिसंयताः परिहारशुद्धिसंयताः सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयताः यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः संयतासंयताः-देशव्रतिनः असंयताः-प्रथमद्वितीय-तृतीयचतुर्थगुणस्थानवर्तिनः चेति सन्तीति।

अथ संयममार्गणा अधिकार

अब पाँच स्थलों में आठ सूत्रों के द्वारा “संयममार्गणा” नामका आठवाँ अधिकार प्रारंभ होता है। उनमें प्रथम स्थल में सामान्य संयम की संख्या तथा दो प्रकार के संयमियों के कथन की मुख्यता से “संजमाणुवादेण” इत्यादि तीन सूत्र कहेंगे, पुनः द्वितीय स्थल में परिहारविशुद्धि संयम का प्रतिपादन करने वाला “परिहारसुद्धि.....” इत्यादि एक सूत्र है। उसके पश्चात् तृतीय स्थल में सूक्ष्मसांपराय जीवों का कथन करने वाला “सुहुम.....” इत्यादि एक सूत्र है। तत्पश्चात् चतुर्थ स्थल में यथाख्यात चारित्रधारी भगवन्तों के कथन की मुख्यता से “जहाक्खाद....” इत्यादि एक सूत्र है। पुनः पंचम स्थल में संयतासंयत जीवों का कथन करने वाले “संजदासंजदा.....” इत्यादि दो सूत्र हैं। इस प्रकार आठ सूत्रों की समुदायपातनिका हुई।

अब संयममार्गणा का प्ररूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ —

संयम-मार्गणा के अनुवाद से सामान्यसंयत, सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहारशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत ये पाँच प्रकार के संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं।।१२३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संयममार्गणा के कथन से संयतजीव छोटे गुणस्थान से प्रारंभ होकर अयोगकेवले नामक चौदहवें गुणस्थान तक होता है। उन्हीं संयतों के नाम और भेद संयम की अपेक्षा कहते हैं।

सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहारशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत, संयतासंयत अर्थात् देशव्रती और असंयत प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होते हैं।

अत्रापि सूत्रे अभेदापेक्षया पर्यायस्य पर्यायिव्यपदेशः दृश्यते। सम्-सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण यताः-बहिरङ्गान्तरङ्गास्त्रवेभ्यो विरताः संयताः। 'सर्वसावद्ययोगाद्विरतोऽस्मीति' सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिकशुद्धिसंयमो द्रव्यार्थिकत्वात्। स्वान्तर्भाविताशेषसंयमविशेषैक्यमः सामायिकशुद्धिसंयत इति यावत्।

तस्यैकस्य व्रतस्य छेदेन-द्वित्र्यादिभेदेन उपस्थापनं-व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः। सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानात् द्रव्यार्थिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः। तदैवेकं व्रतं पंचधा बहुधा वा विपाट्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः।

निशितबुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयदेशना, मंदधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयदेशना। ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति।

द्वितयदेशनानुगृहीत एक एव संयमः इति चेत् ?

नैष दोषः, इष्टत्वात्। अनेनैवाभिप्रायेण सूत्रे पृथक् न शुद्धिसंयतग्रहणं कृतम्।

परिहारप्रधानः शुद्धिसंयतः परिहारशुद्धिसंयतः। त्रिंशद्वर्षाणि यथेच्छया भोगमनुभूय सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा संयममादाय द्रव्यक्षेत्रकालभावगत-परिमितापरिमितप्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वमहार्णवं

यहाँ भी सूत्र में अभेद की अपेक्षा से पर्याय का पर्यायीरूप से कथन किया है। “सम्” उपसर्ग सम्यक् अर्थ का वाची है इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक “यताः” अर्थात् जो बहिरंग और अंतरंग आस्रवों से विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं।

“मैं सर्व सावद्य — सभी प्रकार के सावद्ययोग से विरत हूँ” इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सकल सावद्ययोग के त्याग को सामायिकशुद्धिसंयम कहते हैं। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जिसने सम्पूर्ण संयम के भेदों को अपने अंतर्गत कर लिया है ऐसे अभेदरूप से एक यम को धारण करने वाला जीव सामायिकशुद्धिसंयत कहलाता है।

उस एक व्रत का छेद अर्थात् दो, तीन आदि के भेद से उपस्थापन करने को अर्थात् व्रतों के आरोपण करने को छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयम कहते हैं। सम्पूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम को ग्रहण करने वाला होने से सामायिक शुद्धिसंयम द्रव्यार्थिकनयरूप है। उसी एक व्रत को पाँच अथवा अनेक प्रकार के भेद करके धारण करने वाला होने से छेदोपस्थापना शुद्धिसंयम पर्यायार्थिकनयरूप है। यहाँ पर तीक्ष्णबुद्धि मनुष्यों के अनुग्रह के लिए द्रव्यार्थिक नय का उपदेश दिया गया है और मंदबुद्धि प्राणियों का अनुग्रह करने के लिए पर्यायार्थिक नय का उपदेश दिया गया है। इसलिए इन दोनों संयमों में अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है।

शंका — तब तो उपदेश की अपेक्षा संयम को भले ही दो प्रकार का कह लिया जावे पर वास्तव में तो वह एक ही है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि यह कथन हमें इष्ट ही है और इसी अभिप्राय से सूत्र में स्वतंत्ररूप से (सामायिक पद के साथ) “शुद्धिसंयत” पद का ग्रहण नहीं किया है।

जिसके हिंसा का परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धिप्राप्त संयतों को परिहारशुद्धिसंयत कहते हैं। तीस वर्ष तक अपनी इच्छानुसार भोगों को भोग कर सामान्यरूप से अर्थात् सामायिक संयम को और विशेषरूप से अर्थात् छेदोपस्थापना संयम को धारण कर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार परिमित या अपरिमित

सम्यग्धिगम्य व्यपगतसकलसंशयः तपोविशेषात्समुत्पन्नपरिहारर्द्धिस्तीर्थकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते।
एवमादाय स्थानगमनचङ्क्रमणाशनपानासनादिषु व्यापारेष्वशेषप्राणिपरिहरणदक्षः परिहारशुद्धिसंयतो नाम।

उक्तं च जीवकाण्डटीकायां—“सन्ध्यात्रयोनसर्वकाले द्विक्रोशप्रमाणविहारी रात्रौ विहाररहितः
प्रावृट्कालनियमरहितः परिहारविशुद्धिसंयतो भवति।”

उक्तं च तत्रैव टीकायां—

परिहारर्द्धिसमेतः, षड्जीवनिकायसंकुले विहरन्।

पयसेव पद्मपत्रं, न लिप्यते पापनिवहेन।।

सांपरायः—कषायः, सूक्ष्मःसांपरायो येषां ते सूक्ष्मसांपरायाः। ते शुद्धसंयताः, सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयताः।
ते एव द्विधोपात्तसंयताः—सामायिकशुद्धिसंयताः छेदोपस्थापनशुद्धिसंयता वा यदा सूक्ष्मीकृतकषाया भवन्ति
तदा ते सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयताः इत्युच्यन्ते इति यावत्।

यथाख्यातो यथाप्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम्। यथाख्यातो विहारो येषां ते यथाख्यात-
विहाराः। यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः।

संयमानुवादेन असंयतानां संयतासंयतानां च ग्रहणं कथं भवेत् ?

नैतत्, आम्रतरुप्रधानवनान्तस्थनिम्बानामपि आम्रवनव्यपदेशदर्शनतोऽनेकान्तात्।

प्रत्याख्यान के प्रतिपादन करने वाले प्रत्याख्यानपूर्वरूपी महासमुद्र में अच्छी तरह प्रवेश करके जिसका
संपूर्ण संशय दूर हो गया है और जिसने तपोविशेष से परिहार ऋद्धि को प्राप्त कर लिया है ऐसा जीव तीर्थकर
के पादमूल में परिहारशुद्धिसंयम को ग्रहण करता है। इस कारण संयम को धारण करके जो खड़े होना, गमन
करना, यहाँ-वहाँ विहार करना, भोजन करना, पान करना और बैठना आदि सम्पूर्ण व्यापारों—क्रियाओं में
प्राणियों की हिंसा के परिहार में दक्ष हो जाता है उसे परिहारशुद्धिसंयत कहते हैं।

जीवकाण्ड ग्रंथ की टीका में भी कहा है—

जो तीनों संध्याकालों को छोड़कर दो कोशप्रमाण विहार करता है, रात्रि में विहार नहीं करता, वर्षाकाल में उसके
विहार न करने का नियम नहीं रहता है वह परिहारविशुद्धिसंयमी होता है। उसी ग्रंथ की टीका में आगे कहते हैं—

श्लोकार्थ—परिहारविशुद्धि ऋद्धि से संयुक्त जीव छहकाय के जीवों से भरे स्थान में विहार करते हुए
भी पापसमूह से वैसे ही लिप्त नहीं होता जैसे कमल का पत्ता पानी में रहते हुए भी पानी से लिप्त नहीं होता।

साम्पराय का अर्थ है कषाय, सूक्ष्म कषाय है जिनके वे सूक्ष्मसाम्पराय कहे जाते हैं। वे शुद्ध संयत
सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत कहलाते हैं। वे ही साधु दोनों प्रकार के संयम को प्राप्त करके अर्थात् सामायिकशुद्धिसंयत
अथवा छेदोपस्थापना शुद्धिसंयत जब अत्यन्त सूक्ष्मकषाय वाले हो जाते हैं तब वे “सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत”
कहे जाते हैं।

परमागम में विहार अर्थात् कषायों के अभावरूप अनुष्ठान का जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुकूल
विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यातविहार कहते हैं। जो यथाख्यातविहार वाले होते हुए शुद्धिप्राप्त
संयत हैं वे यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत कहलाते हैं।

शंका—संयम मार्गणा के कथन से संयतों में संयतासंयत और असंयतों का ग्रहण कैसे हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि जिस वन में आम्र वृक्षों की प्रधानता है उसमें रहने वाले नीम के वृक्षों
की भी “आम्रवन” ऐसी संज्ञा देखने में आती है। अतएव अनेकांत का आश्रय लेने से संयतासंयत तथा
असंयतों का भी संग्रह संयममार्गणा में ग्रहण किया है।

तेषां देशव्रतिनां असंयतानां च लक्षणं कथ्यते—

उक्तं च—

पंच-ति-चउव्विहेहि अणु-गुण-सिक्खा-वएहिं संजुत्ता।
वुच्चंति देसविरया सम्माइट्ठी ज्झरियं^१-कम्मा।
दंसणवयसामाइय-पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरदे दे।।
जीवा चोहसभेया इंदियविसया तहट्ठवीसं तु।
जे तेसु णेव विरदा असंजदा ते मुणेयव्वा।।^२

पंचाणुव्रतत्रिगुणव्रतचतुःशिक्षाव्रतैः संयुक्तसम्यग्दृष्टयः कर्मनिर्जरावन्तः ते देशविरताः इति परमागमे उच्यन्ते। तत्र दार्शनिको, व्रतिकः, सामायिकः, प्रोषधोपवासः, सचित्तविरतः, रात्रिभक्तविरतः, ब्रह्मचारी, आरंभविरतः, परिग्रहविरतः, अनुमतिविरतः, उद्दिष्टविरतश्चेत्येकादशैते विरतभेदाः। तत्रापि—

पंचुंबरसहियाइं सत्तइ वसणाणि जो विवज्जेइं।

सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ।।^३

इत्यादिलक्षणानि श्रावकाचारग्रन्थादवगन्तव्यानि।

चतुर्दशजीवभेदाः तु पुनः इन्द्रियविषयाः अष्टाविंशतिः— पंच रसाः, पंच वर्णाः, द्वौ गंधौ, स्पर्शाः

उन देशव्रतियों का एवं असंयतों का लक्षण कहते हैं—

कहा भी है—

गाथार्थ—जो सम्यग्दृष्टि जीव पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह कुल बारह व्रतों से युक्त हैं उनको देशविरत अथवा संयमासंयमी कहते हैं। इस देशसंयम के द्वारा जीवों के असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

दार्शनिक, व्रती, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये देशविरत (पाँचवें गुणस्थान) के ग्यारह भेद हैं।

चौदह प्रकार के जीवसमास और अट्ठाईस प्रकार के इंद्रियों के विषयों से जो विरक्त नहीं हैं उनको असंयत कहते हैं।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों से संयुक्त सम्यग्दृष्टी जो कर्मों की निर्जरा करते हैं उन्हें परमागम में देशविरत कहते हैं। उनमें ही दार्शनिक, व्रतिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये ग्यारह भेद होते हैं। उनमें भी—

गाथार्थ—पाँच उदुम्बर आदिक के साथ जो सात व्यसनों को भी छोड़ता है उस विशुद्ध सम्यक्त्वधारी को दार्शनिक श्रावक कहते हैं।

इत्यादि इन भेदों के लक्षण श्रावकाचार ग्रंथों से जानना चाहिए।

चौदह प्रकार के जीव और अट्ठाईस इंद्रिय विषय—पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श,

१. झलियकम्मा इति वा पाठः गोम्मटसारजीवकाण्डे। २. षट्खण्डागम (धवला टीका), पुस्तक १, पृ. ३७५।

३. गोम्मटसार जीवकांड, पृ. ६८७।

अष्टौ, स्वराः-षड्ज-ऋषभ-गांधार-मध्यम-पंचम-धैवत-निषादाः सरगमपधनिरूपाः सप्त एते इन्द्रिय-विषयाः सप्तविंशतिः। मनोविषयः एकः एवमष्टाविंशतिर्मन्तव्याः।

ये चतुर्दशजीवभेदेषु अष्टाविंशतिइंद्रियविषयेषु नैव विरताः तेऽसंयताः इति मन्तव्याः।

संप्रति संयतानां गुणस्थानव्यवस्थां व्यवस्थापयता सूत्रावतारः क्रियते आचार्येण—

संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति॥१२४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— संयताः प्रमत्तसंयत-प्रभृति यावत् अयोगिकेवलिनः इति।

कश्चिदाह— बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः, स च केवलिषु न घटते ? नैतद् वक्तव्यं, अघातिचतुष्टयविनाशापेक्षया समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरापेक्षया च सकलपापक्रियानिरोध-लक्षणपारिणामिकगुणाविर्भावापेक्षया च तत्र संयमोपचारात्। अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्यसंयमोऽस्ति।

अधुना उभयनयनिमित्तकसंयमगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

स्वर—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सा रे ग म प ध नि रूप सात स्वर हैं। सब मिलकर ये सत्ताईस इंद्रियविषय हैं और एक मन का विषय है, इस प्रकार अट्ठाईस विषय जानना चाहिए।

जो इन चौदह जीवसमासों में एवं अट्ठाईस इंद्रियविषयों में विरक्त नहीं हैं वे असंयत हैं ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ—पाँच रस (मीठा, खट्टा, कषायला, कडुवा, चरपरा), सफेद, पीला, हरा, लाल, काला ये पाँच वर्ण, सुगंध और दुर्गन्ध ये दो गंध, आठ स्पर्श (हल्का, भारी, कड़ा, नरम, रूखा, चिकना, ठण्डा, गरम), सात स्वर (षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद) और एक मन इस तरह ये इंद्रियों के अट्ठाईस विषय हैं। तथा चौदह जीवसमासों से जो विरक्त नहीं हैं वे असंयत कहलाते हैं तथा इनसे विरक्त जीव क्रमशः संयत की श्रेणी में आते हैं।

अब संयतों के गुणस्थानव्यवस्था का कथन कहते हुए आचार्यदेव सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

संयतजीव प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं॥१२४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक के जीव संयत शब्द से जाने जाते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि बुद्धिपूर्वक सावद्ययोग के त्याग को संयम कहना तो ठीक है किन्तु वह संयम तो केवलियों में घटित नहीं होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि चार अघातिया कर्मों के विनाश करने की अपेक्षा और समय-समय में असंख्यातगुणश्रेणी कर्मनिर्जरा की अपेक्षा सम्पूर्ण पापक्रिया के निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है इसलिए इस अपेक्षा से वहाँ संयम का उपचार किया जाता है अतः वहाँ संयम के मानने में कोई विरोध नहीं है। अथवा प्रवृत्ति के अभाव की अपेक्षा वहाँ पर मुख्य संयम है।

अब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के निमित्त से माने गये संयम के गुणस्थान का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सामायिक-छेदोपस्थापना-शुद्धि-संजदा प्रमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अणियट्टि ति।।१२५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सामायिकछेदोपस्थापनाशुद्धिप्राप्तसंयताः प्रमत्तसंयतनामषष्ठगुणस्थानादारभ्य अनिवृत्तिकरणनामनवमगुणस्थानपर्यन्ताः सन्ति इति। अत्र ग्रन्थे इमौ द्वावपि संयमौ एक एव उच्यते। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयनिबन्धनत्वादिति।

एवं प्रथमस्थले संयम-सामायिकछेदोपस्थापनासंयमप्रतिपादनत्वेन सूत्रत्रयं गतं।

परिहारविशुद्धिनामद्वितीयसंयमप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

परिहारशुद्धिसंजदा दोसु ट्ठाणेसु प्रमत्तसंजद-ट्ठाणे अप्रमत्त- संजदट्ठाणे।।१२६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — परिहारशुद्धिसंयताः द्वयोः गुणस्थानयोः — प्रमत्तसंयतगुणस्थाने अप्रमत्तसंयत-गुणस्थाने इति। किंच, ध्यानामृतसागरान्तर्निमग्नात्मनां वाच्यमानामुपहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां अपूर्वकरणादिगुणस्थानवर्तिमुनीनां परिहारशुद्धिसंयमानुपपत्तेः।

एवं द्वितीयस्थले परिहारशुद्धिसंयतकथनेन एकं सूत्रं गतम्।

अधुना तृतीयसंयमस्वामिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

सूत्रार्थ—

सामायिक और छेदोपस्थापनारूप शुद्धि को प्राप्त संयतजीव प्रमत्तसंयत से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं।।१२५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धि को प्राप्त संयत जीव प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान पर्यन्त होते हैं। इस ग्रंथ में ये दोनों संयम एकरूप ही माने गये हैं। क्योंकि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के निमित्त से यहाँ संयम का कथन किया गया है।

इस प्रकार प्रथमस्थल में सामायिक और छेदोपस्थापना संयम के प्रतिपादन की मुख्यता से तीन सूत्र पूर्ण हुए।

अब आगे परिहारविशुद्धि नामक द्वितीय संयम के प्रतिपादन हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

परिहारशुद्धिसंयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में होते हैं।।१२६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में परिहारशुद्धिसंयम को पालन करने वाले संयत जीव होते हैं क्योंकि जिनकी आत्मा ध्यानरूपी अमृत के सागर में निमग्न है, जो वचन यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने-जाने रूप सम्पूर्ण शरीरसम्बन्धी व्यापार—क्रिया को संकुचित कर लिया है ऐसे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्ती महामुनियों के परिहारशुद्धिसंयम नहीं होता है।

इस प्रकार द्वितीय स्थल में परिहारशुद्धि संयतों का कथन करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब तृतीय संयम के स्वामियों का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सुहुमसांपराइय-सुद्धि-संजदा एक्कम्मि चेव सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजद- ट्टाणे॥१२७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयताः मुनयः एकस्मिन् चैव सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयतनाम-
दशमगुणस्थाने सन्तीति।

एवं तृतीयस्थले सूक्ष्मसांपरायमुनिप्रतिपादनत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

संप्रति चतुर्थसंयमस्वामिनिरूपणार्थं सूत्रमवतरति—

जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु ट्टाणेसु उवसंतकसाय-वीयराय- छदुमत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवली त्ति॥१२८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः चतुर्षु गुणस्थानेषु-उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थाः
क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः सयोगिकेवलिनः अयोगिकेवलिनश्च इति। अत्र चतुर्विध एव संयमः कथितः,
सामायिकछेदोपस्थापनयोरभेदादिति ज्ञातव्यं। भेदापेक्षया पंचविधो वा अन्यत्र ग्रन्थेऽपि प्रतिपादनात्।

चारित्रं सर्वजिनेश्वरितं प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः।

प्रणमामि पंचभेदं, पंचम चारित्रलाभाय॥^१

सूत्रार्थ —

सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत जीव एक सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत गुणस्थान में ही
होते हैं॥१२७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — दशवें गुणस्थान का नाम है — सूक्ष्मसाम्पराय, उसी एक गुणस्थान में
सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयम का पालन करने वाले संयमी जीव रहते हैं।

इस प्रकार तृतीय स्थल में सूक्ष्मसाम्पराय मुनियों का कथन करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब चतुर्थ संयम के स्वामी का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत जीव उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषायवीतराग
छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानों में होते हैं॥१२८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उपर्युक्त चार गुणस्थानों में यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत जीव पाये जाते हैं।
यहाँ चार प्रकार के ही संयम कहे गये हैं क्योंकि सामायिक और छेदोपस्थापना संयम में अभेद है। भेद की
अपेक्षा से अन्यत्र ग्रंथ में पाँच प्रकार का संयम प्रतिपादित किया है। कहा भी है —

श्लोकार्थ — समस्त जिनेश्वर देवों ने चारित्र का पालन किया तथा शिष्यों के लिए उसी चारित्र का
उपदेश दिया है। उस पाँच भेद युक्त चारित्र को मैं पंचम (यथाख्यात) चारित्र की प्राप्ति हेतु नमन करता हूँ।

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने इस गाथा के पद्यानुवाद में बतलाया है —

एवं चतुर्थस्थले यथाख्यातसंयमिनां कथनमुख्यत्वेन एकं सूत्रं गतम्।

देशविरतगुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति—

संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदासंजदट्टाणे।।१२९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संयतासंयता: — देशव्रतिनः प्रथमप्रतिमायाः आरभ्य एकादशप्रतिमाधारिणः

श्रावकाः क्षुल्लकाः ऐलकाश्च इमे एकस्मिन् चैव संयतासंयतनामपंचमगुणस्थाने सन्ति।

एकादशप्रतिमाव्रतेभ्यः उपरिस्थिताः आर्यिकाः उपचारेण महाव्रतिन्योऽपि पंचमगुणस्थाने एव वसन्ति, किंच द्रव्यस्त्रीणां भावपुरुषवेदधारिणीणामपि पंचमगुणस्थानपर्यंतमेव।

अधुना असंयतानां गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनाय सूत्रावतारः क्रियते—

असंजदा एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्टि त्ति।।१३०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — असंयताः — एकेन्द्रियादारभ्य असंयतसम्यग्दृष्टिपर्यताः भवन्ति।

प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थगुणस्थानवर्तिनः जीवाः असंयताः एवेति।

मिथ्यादृष्ट्योऽपि केचित् संयताः दृश्यन्ते इति चेत् ?

न, सम्यक्त्वमन्तरेण संयमानुपपत्तेः।

सभी जिनेश्वर ने भवदुखहर, चारित को पाला रुचि से।

सब शिष्यों को भी उपदेशा, विधिवत् सम्यक् चारित ये।।

पाँच भेदयुत सम्यक्चारित, को प्रणमूँ मैं भक्ती से।

पंचम यथाख्यात चारित की, प्राप्ति हेतु वंदूं मुद से।।

इस प्रकार चतुर्थ स्थल में यथाख्यात संयमी जीवों के कथन की मुख्यता से एक सूत्र पूर्ण हुआ।

अब देशविरत गुणस्थान की व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

संयतासंयत जीव एक संयतासंयत नामक गुणस्थान में ही होते हैं।।१२९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रथम प्रतिमा से लेकर ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक, क्षुल्लक और ऐलक देशव्रती श्रावक कहलाते हैं और ये संयतासंयत नामके पाँचवें गुणस्थान में होते हैं।

ग्यारह प्रतिमा के व्रतों से ऊपर स्थित आर्यिका माताएँ उपचार से महाव्रती होते हुए भी पंचम गुणस्थान में ही रहती हैं क्योंकि द्रव्यस्त्रीवेदी महिलाओं के कदाचित् भाव से पुरुषवेद होने पर भी पंचम गुणस्थान तक ही होते हैं।

अब असंयत जीवों की गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

असंयतजीव एकेन्द्रिय से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं।।१३०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एकेन्द्रिय से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त जीव प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होते हैं।

शंका— कई मिथ्यादृष्टिजीव भी संयत देखे जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेत् ?

नैकोऽपि संयमः, यथाबुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावात् संयतास्ते सिद्धाः, ततः एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात्।^१

इत्थं संयममार्गणामभ्यस्य सकलसंयमो गृहीतव्यः, यावत्सकलसंयमग्रहणशक्तिर्न भवेत्तावद् देशव्रतान्यादाय सामायिकादिसंयमानां भावना भावयितव्या इति।

एवं संयमासंयम-असंयमिनां प्रतिपादनत्वेन सूत्रद्वयम्।

इत्थं संयममार्गणायां संयमसंयमासंयमासंयमधारिणां सामान्यकथनरूपेण एकं सूत्रं प्रतिपादितं, ततः परं गुणस्थानेषु संयतादीनां व्यवस्थाप्रतिपादनपरत्वेन सप्त सूत्राणि गतानि इति अष्टौ सूत्राणि गतानि।

अथ राजस्थानप्रदेशे झालरापाटननामनगरे वीराब्दे द्वाविंशत्युत्तरपंचविंशतिशततमे फाल्गुनशुक्ला-तृतीयायां प्राचीननिषद्यानामलघुपर्वते 'सिद्धाचल' रचनायाः शिलान्यासः कारितः। अत्र स्थाप्यमानजिनचरणानि श्रीपार्श्वनाथजिनप्रतिमाश्च सर्वत्र विपदमपसार्य संपदं संपादयन्तु इति काम्यते मया।^२

इति षट्खण्डागमप्रथमखण्डस्य गणिनीज्ञानमतीकृत-
सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां संयममार्गणानाम्
अष्टमोऽधिकारः समाप्तः।

शंका — सिद्ध जीवों के कौन सा संयम होता है ?

समाधान — सिद्ध जीवों के एक भी संयम नहीं होता है। उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्ति का अभाव होने से जिसलिए वे संयत नहीं हैं इसलिए संयतासंयत नहीं हैं और असंयत भी नहीं हैं क्योंकि उनके संपूर्ण पापरूप क्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं।

इस प्रकार संयम मार्गणा में सकलसंयम को ग्रहण करना चाहिए, जब तक सकलसंयम को ग्रहण करने की शक्ति न होवे तब तक देशव्रतों को ग्रहण करके सामायिक आदि संयमों की भावना भानी चाहिए।

इस प्रकार संयमासंयम एवं असंयमी जीवों के प्रतिपादन की मुख्यता से दो सूत्र पूर्ण हुए।

इस प्रकार संयममार्गणा में संयम, संयमासंयम एवं असंयमधारी जीवों का सामान्य कथन करने वाला एक सूत्र प्रतिपादित किया है, उसके पश्चात् गुणस्थानों में संयत आदिकों की व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले सात सूत्र पूर्ण हुए। इस तरह आठ सूत्र पूर्ण हुए।

राजस्थान प्रदेश के “झालरापाटन” नामके नगर में वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ बाईस (२५२२) की फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन प्राचीन नशिया नाम की एक लघुकाय पहाड़ी पर “सिद्धाचल” नामकी नूतन रचना का मैंने शिलान्यास कराया। यहाँ स्थापित होने वाले जिनचरण एवं भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा सभी जगह की विपत्ति को दूर करके सम्पत्ति का विस्तार करें यही मेरी कामना है।

इस प्रकार षट्खंडागम ग्रंथ के प्रथम खंड में गणिनी ज्ञानमतीकृत
“सिद्धान्तचिंतामणि” नामक टीका में संयममार्गणा नाम का
अष्टम अधिकार समाप्त हुआ।

१. षट्खण्डागम (धवला टीका), पुस्तक १, पृ. ३८०।

२. मांगीतुंगी यात्रा के मध्य दिनांक २१-२-१९९६ को यहाँ शिलान्यास कराया गया।

अथ दर्शनमार्गणाधिकारः

अथ स्थलद्वयेन पंचसूत्रैः दर्शनमार्गणानाम नवमोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र प्रथमस्थले सामान्य-दर्शन-चक्षुरचक्षुर्दर्शनकथनेन “दंसणाणुवादेण” इत्यादिसूत्रत्रयं। ततः परं द्वितीयस्थले अवधि-केवलदर्शननिरूपणत्वेन “ओधिदंसणी” इत्यादिसूत्रद्वयं इति समुदायपातनिका।

सांप्रतं दर्शनगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति—

**दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी
केवलदंसणी चेदि॥१३१॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—दर्शनमार्गणाया अनुवादेन-कथनेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शन-धारिणो जीवाश्च सन्तीति।

चक्षुषा सामान्यस्यार्थस्य ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम्। अस्य दर्शनस्य अन्तरङ्गार्थविषयत्वात्। अन्तरङ्गार्थोऽपि सामान्यविशेषात्मकः इति। अत्र सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात्। चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो हि नाम रूप एव नियमितस्ततो रूपविशिष्टस्यैवार्थग्रहणस्योपलम्भात्। आत्मव्यतिरिक्तक्षयोपशमाभावादात्मापि तद्द्वारेण समानः, तस्य भावः सामान्यम्, तद्दर्शनस्य विषयः इति स्थितम्।

अथ दर्शनमार्गणा अधिकार

अब दो स्थलों में पाँच सूत्रों के द्वारा दर्शनमार्गणा नामका नवमाँ अधिकार प्रारंभ होता है। उसमें प्रथमस्थल में सामान्य दर्शन तथा चक्षु-अचक्षु दर्शन के कथन की मुख्यता से “दंसणाणुवादेण” इत्यादि तीन सूत्र कहेंगे, उसके पश्चात् द्वितीय स्थल में अवधिदर्शन और केवलदर्शन का निरूपण करने वाले “ओधिदंसणी” इत्यादि दो सूत्र हैं। ऐसी यह समुदायपातनिका हुई।

अब दर्शनगुण का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

दर्शनमार्गणा के कथन द्वारा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के धारण करने वाले जीव होते हैं॥१३१॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—दर्शनमार्गणा के कथन द्वारा चारों प्रकार के दर्शनधारी जीवों का प्ररूपण किया जा रहा है।

चक्षु इंद्रिय के द्वारा सामान्य अर्थ—पदार्थ के ग्रहण करने को चक्षुदर्शन कहते हैं। क्योंकि वह दर्शन अंतरंग पदार्थ को विषय करता है और अंतरंग पदार्थ भी सामान्य-विशेषात्मक होता है। यहाँ पर सामान्यविशेषात्मक आत्मा को सामान्यशब्द के वाच्यरूप से ग्रहण किया है।

चक्षु इंद्रियावरण का क्षयोपशम नामरूप में ही नियमित है इसलिए उससे रूपविशिष्ट ही पदार्थ का ग्रहण पाया जाता है। इसलिए आत्मा भी क्षयोपशम की अपेक्षा समान है और उस समान के भाव को सामान्य कहते हैं, वह दर्शन का विषय है।

दर्शनावरणीयकर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेः अन्तरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबंधकं दर्शनावरणीयम्। बहिरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबंधकं ज्ञानावरणम् इति प्रतिपत्तव्यम्। अतो अन्तरङ्गार्थविषयोपयोगः दर्शनमिति ज्ञातव्यम्।

आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषः स्यादिति चेत् ?

नैष दोषः, यद् यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शनव्यपदेशात् न दर्शनस्य चातुर्विध्य-नियमः। यावन्तश्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमजनितज्ञानस्य विषयभावमापन्नाः पदार्थास्तावन्त एव आत्मस्थक्षयोपशमास्तत्तन्नामानः तद्द्वारेणात्मापि तावानेव, तच्छक्तिखचिततात्मपरिच्छित्तिदर्शनम्। न चैतत्काल्पनिकं परमार्थतः एव परोपदेशमन्तरेण शक्त्या सहात्मनः उपलंभात्।

न दर्शनानामक्रमेण प्रवृत्तिर्ज्ञानानामक्रमेणोत्पत्त्यभावस्तदभावात्। एवं शेषदर्शनानामपि वक्तव्यम्। ततो न दर्शनानामेकत्वमिति।

उक्तं च —

चक्षुषूण जं पयासदि दिस्सदि तं चक्षुदंसणं वेत्ति।
सेसिंदिय-प्पयासो णादव्वो सो अचक्षु त्ति॥
परमाणुआदियाइं अंतिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं।
तं ओधिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं॥

दर्शन यदि न हो तो दर्शनावरण कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है अतः अंतरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है और बहिरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है ऐसा जानना चाहिए।

शंका — आत्मा को विषय करने वाले उपयोग को दर्शन स्वीकार कर लेने पर आत्मा में कोई विशेषता नहीं होने से चारों दर्शनों में भी कोई भेद नहीं रह जाएगा ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि जो जिस ज्ञान का उत्पन्न करने वाला स्वरूपसंवेदन है उसको उसी नामका दर्शन कहा जाता है। इसीलिए दर्शन के चार प्रकार के होने का कोई नियम नहीं है। चक्षु इंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए ज्ञान के विषयभाव को प्राप्त जितने पदार्थ हैं उतने ही आत्मा में स्थित क्षयोपशम उन-उन संज्ञाओं को प्राप्त होते हैं और उनके निमित्त से आत्मा भी उतने ही प्रकार का हो जाता है अतः इस प्रकार की शक्तियों से युक्त आत्मा के संवेदन करने को दर्शन कहते हैं। यह सब कथन काल्पनिक भी नहीं हैं क्योंकि परोपदेश के बिना अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा की परमार्थ से उपलब्धि होती है।

सभी दर्शनों की अक्रम से प्रवृत्ति होती हो सो भी बात नहीं है क्योंकि ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती है अतः सम्पूर्ण दर्शनों की भी एक साथ उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार शेष दर्शनों का भी कथन करना चाहिए। इसलिए दर्शनों में एकता अर्थात् अभेद सिद्ध नहीं हो सकता है। कहा भी है —

गाथार्थ — जो चक्षु इंद्रिय के द्वारा प्रकाशित होता है अथवा दिखाई देता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं तथा शेष इंद्रिय और मन से जो प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

परमाणु से आदि लेकर अन्तिम स्कन्धपर्यन्त मूर्त पदार्थों को जो प्रत्यक्ष देखता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

बहुविह बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्हि खेत्तम्हि।
लोगालोग अतिमिरो जो केवलदंसणुज्जोवो।।^१

चक्षुब्रूण — नयनयोः संबंधि यत्सामान्यग्रहणं प्रकाशते पश्यति तद्वा दृश्यते जीवेनानेन कृत्वा तद्वा तद्विषयप्रकाशनमेव तद्वा चक्षुर्दर्शनमिति गणधरदेवादयो ब्रुवन्ति। यश्च शेषेन्द्रियप्रकाशः स अचक्षुर्दर्शनमिति। परमाणोरारभ्य महास्कंधपर्यंतं मूर्तद्रव्याणि पुनः यद्दर्शनं प्रत्यक्षं पश्यति तदवधिदर्शनं भवति। बहुविधाः — तीव्रमंदमध्यमादिभावेन अनेकविधाः बहुप्रकाराश्चोद्योताः चन्द्रसूर्यरत्नादिप्रकाराः लोके परिमितक्षेत्रे एव भवन्ति तैः प्रकाशैरनुपमेयः लोकालोकयोर्विगततिमिरो यः स केवलदर्शनोद्योतो भवति।^२

चक्षुर्दर्शने गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

चक्षुब्रुदंसणी चउरिंदिय-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था
त्ति।।१३२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — चक्षुर्दर्शनिनो जीवाः चतुरिन्द्रियादारभ्य यावत् क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थाः इति। अचक्षुर्दर्शने गुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति —

अचक्षु-दंसणी एइंदिय-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था
त्ति।।१३३।।

अपने-अपने अनेक प्रकार के भेदों से युक्त बहुत प्रकार के प्रकाश इस परिमित क्षेत्र में ही पाये जाते हैं। परन्तु जो केवलदर्शनरूपी उद्योत है वह लोक और अलोक को भी तिमिर रहित कर देता है।

दोनों नेत्रसंबंधी सामान्य ग्रहण को जो देखता है अथवा इस जीव के द्वारा देखा जाता है अथवा सामान्य मात्र का प्रकाशन दर्शन है, यह गणधर देव आदि कहते हैं। शेष इंद्रियों का जो प्रकाश है वह अचक्षुदर्शन है। परमाणु से लेकर महास्कंध पर्यन्त सब मूर्तिक द्रव्यों को जो प्रत्यक्ष देखता है वह अवधिदर्शन है। तीव्र, मंद, मध्यम आदि के भेद से अनेक प्रकार के चंद्र, सूर्य, रत्न आदि संबंधी उद्योत परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करने वाले हैं। उन प्रकाशों की उपमा जिसे नहीं दी जा सकती ऐसा जो लोक-अलोक दोनों को प्रकाशित करने वाला है वह केवलदर्शनरूप उद्योत है।

अब चक्षुदर्शन में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

चक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रिय से लेकर क्षीणकषाय-छद्मस्थवीतराग
गुणस्थान तक होते हैं।।१३२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — चार इंद्रिय से लेकर क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान पर्यन्त सभी जीव चक्षुदर्शन वाले होते हैं।

अचक्षुदर्शन में गुणस्थानव्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

अचक्षुदर्शन उपयोग वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ
गुणस्थान तक होते हैं।।१३३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अचक्षुर्दर्शनिनो जीवाः एकेन्द्रिय-प्रभृति यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः इति। स्वरूपसंवेदनं दर्शनमिति अंगीकर्तव्यं।

ज्ञानमेव द्विस्वभावं मन्तव्यं इति चेत् ?

न, स्वस्माद् भिन्नवस्तुपरिच्छेदकं ज्ञानम्, स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम् ततो नानयोरेकत्वमिति। केवलिभगवतोः ज्ञानदर्शनयोरक्रमेण प्रवृत्तिः भवति, क्षीणावरणे द्वयोरक्रमेण प्रवृत्त्युपलंभात्।

छद्मस्थावस्थायामपि अक्रमेण प्रवृत्तिः किन्न स्यात् ?

आवरणनिरुद्धाक्रमयोरक्रमवृत्तिविरोधात्।

श्रुतदर्शनं किमिति नोच्यते ?

न उच्यते, तस्य मतिपूर्वकस्य दर्शनपूर्वकत्वविरोधात्। यदि बहिरंगार्थसामान्यविषयं दर्शनमभविष्यत् तदा श्रुतदर्शनमपि समभविष्यत्।

एवं प्रथमस्थले सामान्यदर्शन-चक्षुरचक्षुर्निरूपणत्वेन सूत्रत्रयं गतम्।

अवधिदर्शने गुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रावतारो भवति—

ओधिदंसणी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव खीणकसायवीयराय-छदुमत्था त्ति॥१३४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एक इंद्रिय से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक के जीव अचक्षुर्दर्शन वाले होते हैं। यहाँ दर्शन शब्द से स्वरूपसंवेदनरूप दर्शन को ग्रहण करना चाहिए।

शंका — ज्ञान को ही दो स्वभाव वाला मान लेना चाहिए ?

समाधान — नहीं, क्योंकि अपने से भिन्न वस्तु का परिच्छेदक ज्ञान है और अपने से अभिन्न वस्तु का परिच्छेदक दर्शन है, इसलिए दोनों में एकपना नहीं बन सकता है। केवली भगवन्तों के ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति अक्रम से — युगपत् होती है क्योंकि आवरण कर्म से रहित जीवों में दोनों की प्रवृत्ति अक्रम — एकसाथ ही देखी जाती है।

शंका — छद्मस्थ अवस्था में भी अक्रम से प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि आवरणकर्म के उदय से जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करने की शक्ति रुक गई है ऐसे छद्मस्थ जीवों के ज्ञान और दर्शन में युगपत् प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है।

शंका — यहाँ पर श्रुतदर्शन का कथन क्यों नहीं किया है ?

समाधान — नहीं किया है, क्योंकि मतिज्ञानपूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान को दर्शनपूर्वक मानने में विरोध आता है। यदि बहिरंग पदार्थ को सामान्य रूप से विषय करने वाला दर्शन होता तो श्रुतदर्शन भी होता, परन्तु ऐसा नहीं है इसलिए श्रुतज्ञान के पहले दर्शन नहीं होता है।

इस प्रकार प्रथम स्थल में सामान्य दर्शन एवं चक्षु-अचक्षु दर्शन का निरूपण करने वाले तीन सूत्र पूर्ण हुए। अवधिदर्शन में गुणस्थानों का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

अवधिदर्शन वाले जीव असंयत से लेकर क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं॥१३४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — अवधिदर्शनधारिणो जीवाः असंयतगुणस्थानादारभ्य क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ-
नामद्वादशमगुणस्थानपर्यन्ताः भवन्तीति।

विभंगदर्शनं किमिति पृथग्नोपदिष्टं ?

न, तस्यावधिदर्शनेऽन्तर्भावात्।

मनःपर्ययदर्शनं तर्हि वक्तव्यम् ?

न, मतिपूर्वकत्वात्तस्य दर्शनाभावात्।

संप्रति केवलदर्शनस्वामिप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदंताचार्येण —

**केवलदंसणी तिसु टाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा
चेदि।।१३५।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — केवलदर्शनी त्रिषु गुणस्थानेषु सयोगिकेवली अयोगिकेवली सिद्धाश्चेति।
अनन्तत्रिकालगोचरबाह्योऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानं, स्वात्मनि त्रिकालगोचरे प्रवृत्तं केवलदर्शनम्।

पुनः कथमनयोः समानता इति चेत् ?

कथ्यते, ज्ञानप्रमाणमात्मा, ज्ञानं च त्रिकालगोचरानन्तद्रव्यपर्यायपरिमाणं ततो ज्ञानदर्शनयोः
समानत्वमिति।

स्वजीवस्थपर्यायैर्ज्ञानाद् दर्शनमधिकं इति चेत् ?

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — असंयत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ नामके बारहवें
गुणस्थान तक अवधिदर्शन वाले जीव होते हैं।

शंका — विभंगदर्शन का पृथक् रूप से उपदेश क्यों नहीं किया ?

समाधान — नहीं, क्योंकि उसका अवधिदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका — तो मनःपर्ययदर्शन को भिन्नरूप से कहना चाहिए ?

समाधान — नहीं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए मनःपर्ययदर्शन नहीं होता है।

अब केवलदर्शन के स्वामी का प्रतिपादन करने हेतु श्रीमत्पुष्पदंत आचार्य सूत्र का अवतार करते हैं —

सूत्रार्थ —

**केवलदर्शन के धारक जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन
स्थानों में होते हैं।।१३५।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों में तथा गुणस्थानातीत सिद्धों के केवलदर्शन
होता है।

त्रिकालगोचर अनंत बाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति करने वाला केवलज्ञान है और त्रिकालगोचर स्वात्मा में
प्रवृत्ति करने वाला केवलदर्शन है।

शंका — पुनः दोनों में समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान — उसके बारे में कहते हैं, आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकाल के विषयभूत द्रव्यों की
अनंत पर्यायों को जानने वाला होने से तत्परिणाम है इसलिए ज्ञान और दर्शन में समानता है।

शंका — जीव में रहने वाली स्वकीय पर्यायों की अपेक्षा ज्ञान से दर्शन अधिक हैं ?

न, इष्टत्वात् ?

कथं पुनस्तेन तस्य समानत्वं ?

न, अन्योन्यात्मकयोस्तदविरोधात्।

उक्तं च —

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।

णेयं लोआलोअं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।।

एय दवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वावि।

तीदाणागय-भूदा तावदियं तं हवइ दव्वं^१।।

ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वाभावादात्मा ज्ञानप्रमाणो भवति। तथाहि—“समगुणपर्यायं द्रव्यं भवतीति” वचनात् वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायसमानः, तदेव मनुष्यपर्यायप्रदेशवर्तिज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयतः सर्वदेवाव्याबाधाक्षयसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतो योऽसौ केवलज्ञान-गुणस्तत्प्रमाणोऽयमात्मा। बाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं कथितं। ज्ञेयं लोकालोकं भवति। तस्मात् व्यवहारनयेन तु ज्ञानं सर्वगतं भण्यते। ततः स्थितमेतदात्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं सर्वगतमिति।^२

एकस्मिन् द्रव्ये ये अर्थपर्यायाः व्यञ्जनपर्यायाश्च अतीतानागताः ‘अपि’ शब्दात् वर्तमानाश्च सन्ति तावत् तद् द्रव्यं भवति।

समाधान — नहीं, क्योंकि यह बात इष्ट ही है।

शंका — फिर ज्ञान के साथ दर्शन की समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान — समानता नहीं हो सकती यह बात नहीं है, क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा करने वाले उन दोनों में समानता मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। कहा भी है —

गाथार्थ — आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है, इसलिए ज्ञान सर्वगत माना गया है।

एक द्रव्य में अतीत, अनागत और गाथा में आए हुए “अपि” शब्द से वर्तमान पर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है।

ज्ञान के साथ हीनाधिकपने का अभाव होने से आत्मा ज्ञानप्रमाण होता है। उसी को कहते हैं —

“द्रव्य समान गुण और पर्याय वाला होता है” इस वचन से वर्तमान के मनुष्य भव में वर्तमान की मनुष्य पर्याय समानरूप से देखी जा रही है। जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्याय में ज्ञानगुण के बराबर प्रत्यक्ष में दिखाई पड़ता है, वैसे ही निश्चय से सदा अव्याबाध और अविनाशी सुख आदि अनन्तगुणों का आधारभूत जो यह केवलज्ञान गुण है उसी प्रमाण यह आत्मा है।

ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है, जैसे — ईंधन में स्थित अग्नि ईंधन के बराबर है, वैसे ही ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। ज्ञेय लोक और अलोक हैं इसलिए व्यवहारनय से ज्ञान को सर्वगत कहा गया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है।

एक द्रव्य में जो अर्थ पर्याय तथा व्यञ्जन पर्याय हैं एवं उसकी अतीत और अनागत पर्याय हैं एवं “अपि” शब्द से जो वर्तमान पर्यायें हैं उन समस्त पर्यायप्रमाण वह द्रव्य होता है।

तात्पर्यमेतत् — आत्मनः अनन्तगुणेषु ज्ञानगुण एक एव सर्वोत्कृष्टः, एतज्ज्ञात्वा निजज्ञानगुणं पूर्णिकरणाय सर्वशक्त्या पुरुषार्थो विधेयः अस्माभिरिति।

एवं द्वितीयस्थले अवधिकेवलदर्शनकथनत्वेन सूत्रद्वयं गतम्।

इति षट्खण्डागमप्रथमखंडे गणिनीज्ञानमतीकृत-
सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां दर्शनमार्गणानाम-
नवमोऽधिकारः समाप्तः।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के अनंतगुणों में एक ज्ञानगुण ही सर्वोत्कृष्ट गुण है, ऐसा जानकर हम लोगों को अपने ज्ञानगुण की पूर्णता के लिए सर्वशक्तिपूर्वक पुरुषार्थ करना चाहिए।

इस प्रकार द्वितीयस्थल में अवधि और केवलदर्शन का कथन करने वाले दो सूत्र पूर्ण हुए।

इस प्रकार षट्खंडागम ग्रंथ के प्रथम खंड में गणिनी ज्ञानमतीकृत
“सिद्धान्तचिंतामणि” टीका में दर्शनमार्गणा
नाम का नवमाँ अधिकार समाप्त हुआ।



अथ लेश्यामार्गणाधिकारः

अथ स्थलद्वयेन पंचभिःसूत्रैः लेश्यामार्गणानाम दशमोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र प्रथमस्थले सामान्येन लेश्यानां अशुभत्रिकलेश्यानां च कथनत्वेन “लेस्साणुवादेण” इत्यादिसूत्रद्वयं। तदनु द्वितीयस्थले शुभत्रिलेश्याप्रतिपादनत्वेन “तेउलेस्सिया” इत्यादिसूत्रत्रयमिति समुदायपातनिका।

संप्रति लेश्यामार्गणाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि।।१३६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — लेश्यानुवादेन कृष्णलेश्या नीललेश्याः कापोतलेश्याः तेजोलेश्याः पद्मलेश्याः शुक्ललेश्या अलेश्याश्चेति।

कर्मस्कंधैरात्मानं लिम्पतीति लेश्या। कषायानुरञ्जिता एव योगप्रवृत्तिर्लेश्येति नात्र परिगृह्यते, सयोगकेवलिनोऽलेश्यत्वापत्तेः।

अस्तु चेत्-यदि सयोगकेवली अलेश्यो भवेत् का हानिः ?

न, ‘शुक्ललेश्यः सयोगकेवली’ इति वचनव्याघातात्।

षड्विधः कषायोदयः। तद्यथा — तीव्रतमः तीव्रतरः तीव्रः मंदः मंदतरः मन्दतमः इति। एतेभ्यः षड्भ्यः

अथ लेश्यामार्गणा अधिकार

अब दो स्थलों में पाँच सूत्रों के द्वारा लेश्यामार्गणा नाम का दशवाँ अधिकार प्रारंभ होता है। उसके प्रथमस्थल में सामान्य से लेश्या का कथन तथा तीन अशुभ लेश्याओं के कथन की मुख्यता से “लेस्साणुवादेण” इत्यादि दो सूत्र हैं उसके पश्चात् द्वितीयस्थल में तीन शुभ लेश्याओं का कथन करने वाले “तेउलेस्सिया” इत्यादि तीन सूत्र हैं। इस प्रकार अधिकार के प्रारंभ में यह समुदायपातनिका हुई।

अब लेश्यामार्गणा का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

लेश्या मार्गणा के कथन द्वारा कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या और अलेश्या वाले जीव हैं।।१३६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — लेश्या मार्गणा के कथन में छहों लेश्या वाले तथा लेश्या से रहित (सिद्ध) जीवों का वर्णन आता है।

जो कर्मस्कंध से आत्मा को लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं। यहाँ पर कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति रूप लेश्या का ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि इस अर्थ के ग्रहण करने पर सयोगकेवली को लेश्यारहितपने की आपत्ति प्राप्ति होती है।

शंका — यदि सयोगकेवली को लेश्यारहित मान लिया जावे तो क्या हानि है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि सयोगकेवली जीवों के शुक्ललेश्या होती है इस वचन में विरोध आ जाएगा।

कषाय का उदय छह प्रकार का होता है। वह इस प्रकार है — तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर और

कषायोदयेभ्यः परिपाट्या षड् लेश्या भवन्ति। कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति।

उक्तानि च लेश्यानां लक्षणानि—

चंडो ण मुयदि वैरं भंडणसीलो य धम्म-दय-रहियो।
 दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेदं तु किण्हस्स॥१२००॥
 मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसय-लोलो य।
 माणी मायी य तहा आलस्सो चेय भेज्जो य॥१२०१॥
 णिहा-वंचण-बहुलो धण-धण्णे होइ तिव्वसण्णो य।
 लक्खणमेदं भणियं समासदो णीललेस्सस्स॥१२०२॥
 रूसदि णिंददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो।
 असुयदि परभवदि परं पसंसदि य अप्पयं बहुसो॥१२०३॥
 ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पि व परं पि मण्णंतो।
 तूसदि अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिबड्डीओ॥१२०४॥
 मरणं पत्थेइ रणे देदि सुबहुअं हि थुव्वमाणो दु।
 ण गणइ अकज्ज-कज्जं लक्खणमेदं तु काउस्स॥१२०५॥
 जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च सव्व-सम-पासी।
 दय-दाण-रदो य मिदू लक्खणमेदं तु तेउस्स॥१२०६॥

मन्दतम। इन छह प्रकार के कषाय के उदय से उत्पन्न हुई परिपाटी क्रम से लेश्या भी छह हो जाती हैं—
 कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

लेश्याओं का लक्षण कहा भी है—

गाथार्थ—जो तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर को न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, जो धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो और जो किसी के वश को प्राप्त न हो, ये सब कृष्णलेश्या वाले के लक्षण माने गये हैं।

जो मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो अथवा काम करने में मंद हो, वर्तमान कार्य करने में विवेकरहित हो, कला—चातुर्य से रहित हो, पाँच इंद्रियों के स्पर्शादि बाह्य विषयों में लम्पट हो, मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, भीरू—डरपोक होवे, ये सब भी कृष्णलेश्या वाले के लक्षण कहे गये हैं।

जो अतिनिद्रालु हो, दूसरों को ठगने में अतिकुशल हो और धन-धान्य के विषय में जिसकी अतितीव्र लालसा हो, ये सब नीललेश्या वाले के लक्षण संक्षेप में बताए हैं।

जो दूसरों के ऊपर क्रोध करता है, दूसरे की निंदा करता है, अनेक प्रकार से दूसरों को दुःख देता है अथवा दूसरों को दोष लगाता है, अत्यधिक शोक और भय से व्याप्त रहता है, दूसरों को सहन नहीं करता है, दूसरों का पराभव करता है, अपनी नाना प्रकार से प्रशंसा करता है। दूसरे के ऊपर विश्वास नहीं करता है, अपने समान दूसरे को भी मानता है, स्तुति करने वाले के ऊपर संतुष्ट हो जाता है, अपनी और दूसरे की हानि-वृद्धि को नहीं समझता है, युद्ध में मरने की प्रार्थना करता है, स्तुति करने वाले को बहुत धन दे डालता है और कार्य-अकार्य की कुछ भी गणना नहीं करता है ये सब कापोतलेश्या वाले के लक्षण हैं।

चागी भहो चोक्खो उज्जुव-कम्मो य खमइ बहुअं पि।

साहु-गुरु-पूजण-रदो लक्खणमेदं तु पम्मस्स।।२०७।।

ण उ कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु।

णत्थि य राय-होसा णेहो वि य सुक्क लेस्सस्स।।२०८।।^१

चंडो — चंडनस्तीव्रकोपनः वैरं न मुंचति, भंडनशीलश्च युद्धशीलश्च धर्मदयारहितः दुष्टः निर्दयः वशं नैति एतल्लक्षणं तु-पुनः कृष्णलेश्यस्य भवति। मंदः—स्वच्छन्दक्रियासु मंदो वा, बुद्धिविहीनः—वर्तमानकार्यानभिज्ञः, निर्विज्ञानी च—विज्ञानरहितश्च, विषयलोलश्च—मानी, मायावी आलस्यश्च भेद्यश्च—परेणानवबोध्यभिप्रायश्च कृष्णलेश्यस्य लक्षणमेतत्। एवमेव नीलादिलेश्याणां विशेषलक्षणं ज्ञातव्यं। षड्लेश्यातीताः अलेश्याः भवन्तीति।

उक्तं च—

किण्हादि-लेस्स-रहिदा संसार-विणिग्गया अणंतसुहा।

सिद्धिपुरं संपत्ता अलेस्सिया ते मुणोयव्वा।।^२

ये जीवाः कषायोदयस्थानयोगप्रवृत्त्यभावात् कृष्णादिलेश्यारहिताः तत एव पंचविधसंसारवा-

जो कार्य-अकार्य और सेव्य-असेव्य को जानता है, सबके विषय में समदर्शी रहता है, दया और दान में तत्पर रहता है और मन, वचन तथा काय से कोमल परिणामी होता है, ये सब पीत लेश्या वाले के लक्षण हैं।

जो त्यागी है, भद्र परिणामी है, निर्मल है, निरन्तर कार्य करने में उद्यत रहता है, जो अनेक प्रकार के कष्टप्रद और अनिष्ट उपसर्गों को क्षमा कर देता है और साधु तथा गुरुजनों की पूजा में रत रहता है, ये सब पद्मलेश्या वाले के लक्षण हैं।

जो पक्षपात नहीं करता है, निदान नहीं बाँधता है, सबके साथ समान व्यवहार करता है, इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के विषय में राग और द्वेष से रहित है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदि में स्नेह रहित है, ये सब शुक्ल लेश्या वाले के लक्षण हैं।

जो तीव्र क्रोधी हो, वैर न छोड़े, जिसका लड़ाई-झगड़ा करने का स्वभाव हो, जो दया धर्म से रहित हो, दुष्ट और निर्दय हो, किसी के वश में न आता हो, ये सभी लक्षण कृष्ण लेश्या वाले जीव के रहते हैं। स्वच्छन्द अथवा कर्म करने में मंद हो, बुद्धिहीन हो, अज्ञानी हो, स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषय में लम्पट हो, अभिमानी हो, कुटिल वृत्ति वाला मायाचारी हो, कर्तव्य कर्म में आलसी हो, दूसरों के द्वारा जिसका अभिप्राय न जाना जा सके, ये सब भी कृष्ण लेश्या वाले के लक्षण हैं। इसी प्रकार से नील आदि लेश्याओं के विशेष लक्षण जान लेना चाहिए।

उपर्युक्त छह लेश्याओं से रहित जीव अलेश्या कहे जाते हैं।

कहा भी है—

गाथार्थ — जो कृष्णादि लेश्याओं से रहित हैं, पंचपरिवर्तनरूप संसार से पार हो गये हैं, जो अतीन्द्रिय और अनन्त सुख को प्राप्त हैं और जो आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरी को प्राप्त हो गये हैं उन्हें लेश्यारहित जानना चाहिए।

जो जीव कषाय के उदयस्थानरूप योग की प्रवृत्ति के अभाव से कृष्ण आदि लेश्याओं से रहित हो जाते

राशिविनिर्गताः अतीन्द्रियानंतसुखसंतृप्ताः स्वात्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धिपुरं संप्राप्ताः ते अयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च अलेश्या जीवा इति ज्ञातव्याः।

तात्पर्यमेतत्—ये महामुनयः कृष्णादि-अशुभलेश्यारहिताः पीतपद्मलेश्यायाः उपरिष्ठात् शुक्ल-लेश्यापरिणताः सन्तः शुक्लध्यानाग्निना कर्माणि दग्ध्वा केवलज्ञानं प्राप्नुवन्ति त एव भगवन्तोऽर्हन्तः अनंतचतुष्टयं लब्ध्वा लेश्याविरहिताः निष्कलाः सिद्धपरमात्मानो भवन्तीति ज्ञात्वा अशुभलेश्याभ्यः स्वात्मा रक्षणीयोऽस्माभिरिति।

संप्रति अशुभलेश्यासु गुणस्थानव्यवस्थाप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति—

किण्हेल्लेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजद-सम्माइट्ठि ति।।१३७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—कृष्णनीलकापोतलेश्यावन्तो जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य असंयतसम्यग्दृष्टिपर्यन्ताः भवन्तीति। इमास्तिस्त्रोऽपि लेश्याः चतुर्गतिषु भवन्ति।

कथम् ?

त्रिविधतीव्रादिकषायोदयवृत्तेः सत्त्वात्।

एवं प्रथमस्थले लेश्यानाम-त्रिअशुभलेश्याप्रतिपादनत्वेन सूत्रद्वयं गतम्।

अधुना तेजोपद्मलेश्यासहितजीवानां अस्तित्वनिरूपणाय सूत्रावतारो भवति—

हैं वे ही पंचपरिवर्तनशील संसाररूपी समुद्र से निकलकर अतीन्द्रिय और अनन्त सुख से संतृप्त होकर स्वात्मोपलब्धिलक्षण सिद्धिपुर — सिद्धशला को प्राप्त करते हैं, वे अयोगिकेवली और सिद्ध जीव ही अलेश्या वाले कहलाते हैं ऐसा जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जो महामुनि कृष्णादि अशुभ लेश्याओं से रहित होकर पीत, पद्म लेश्या के भावों से ऊपर उठकर शुक्ल लेश्या से परिणत होते हुए शुक्लध्यान की अग्नि के द्वारा कर्मों को जलाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे अर्हन्त भगवान ही अनन्तचतुष्टय को प्राप्त कर लेश्याओं से रहित, शरीर से रहित सिद्ध परमात्मा बनते हैं, ऐसा जानकर हम लोगों को अशुभ लेश्याओं से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

अब अशुभ लेश्याओं में गुणस्थान व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं।।१३७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एकेन्द्रिय से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक के जीवों में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या होती हैं।

कैसे ?

क्योंकि उनके तीनों प्रकार की कषायों का उदय पाया जाता है।

इस प्रकार प्रथम स्थल में लेश्याओं के नाम और तीन अशुभ लेश्याओं का प्रतिपादन करने वाले दो सूत्र पूर्ण हुए।

अब पीत और पद्म लेश्या से सहित जीवों के अस्तित्व का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णामिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति॥१३८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तेजोलेश्यावन्तो पद्मलेश्यावन्तो जीवाः संज्ञिमिथ्यादृष्टेः आरभ्य अप्रमत्तसंयतपर्यन्ता भवन्तीति। इमे द्वे लेश्ये नरकगतिं मुक्त्वा तिसृष्वपि गतिषु भवन्ति।

कथमेताः सप्तगुणस्थानेषु ?

एतेषां उभयशुभलेश्यासहितानां महामुनीनां तीव्रादिकषायोदयाभावात्।

सांप्रतं शुक्ललेश्यास्वामिप्रतिपादनाय सूत्रावतारः क्रियते —

सुक्कलेस्सिया सण्णामिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि त्ति॥१३९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — शुक्ललेश्यावन्तो जीवाः संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्य सयोगिकेवल्लिपर्यन्ताः सन्तीति। इयमपि लेश्या नरकगतिं विहाय तिसृष्वपि गतिषु भवति।

कथं क्षीणोपशान्तकषायाणां शुक्ललेश्येति चेत् ?

न, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्ललेश्यास्तित्वाविरोधात्।

लेश्यातीतजीवप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति —

सूत्रार्थ —

पीतलेश्या और पद्मलेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं॥१३८॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञीमिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीवों के पीत और पद्म लेश्या होती है। ये दोनों लेश्याएँ नरकगति को छोड़कर तीनों गतियों में पाई जाती हैं।

शंका — सप्तम गुणस्थान तक ये दोनों लेश्या कैसे पाई जाती हैं ?

समाधान — क्योंकि इन दोनों शुभ लेश्याओं से सहित महामुनियों के तीव्रतम आदि कषायों का उदय नहीं पाया जाता है।

अब शुक्ल लेश्या के स्वामी का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है —

सूत्रार्थ —

शुक्ल लेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं॥१३९॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक के जीवों के शुक्ल लेश्या होती है। यह लेश्या भी नरकगति को छोड़कर तीनों गतियों में पाई जाती है।

शंका — जिन जीवों की कषायें क्षीण अथवा उपशान्त हो गई हैं उनके शुक्ललेश्या कैसे हो सकती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि उन जीवों में कर्मलेप का कारण योग पाया जाता है, इसलिए इस अपेक्षा से उनके शुक्ललेश्या के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

अब लेश्यारहित जीवों के प्रतिपादन हेतु सूत्र का अवतार होता है —

तेण परमलेस्सिया।।१४०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तेण परं — त्रयोदशमगुणस्थानात् परं चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च अलेश्याः लेश्याविरहिताः सन्ति, बन्धहेतुयोगकषायाभावात्।

एवं द्वितीयस्थले शुभलेश्या कथनत्वेन सूत्रत्रयं गतं।

इत्थं लेश्यामार्गणायां लेश्यानामलक्षणकथनमुख्यत्वेन एकं सूत्रं गतं, ततः परं काः काः लेश्याः क्व क्व पर्यताः इति प्रतिपादनपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि, अनंतरं लेश्यारहितजीवनिरूपणाय एकं सूत्रं इति पंचभिः सूत्रैः लेश्याप्ररूपणा कथिता।

इति षट्खण्डागमप्रथमखण्डे गणिनीज्ञानमतीकृत-
सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां लेश्यामार्गणानाम्
दशमोऽधिकारः समाप्तः।

सूत्रार्थ —

तेरहवें गुणस्थान के आगे सभी जीव लेश्यारहित होते हैं।।१४०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — उससे परे — तेरहवें गुणस्थान से आगे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली और सिद्ध जीव लेश्या रहित होते हैं क्योंकि उनमें कर्मबंध के हेतु योग और कषाय का अभाव पाया जाता है।

इस प्रकार द्वितीयस्थल में शुभ लेश्याओं का कथन करने वाले तीन सूत्र पूर्ण हुए। इस प्रकार लेश्यामार्गणा में लेश्या के नाम एवं उनके लक्षण कथन की मुख्यता से एक सूत्र हुआ, उसके पश्चात् कौन-कौन सी लेश्या किस-किस गुणस्थान तक पाई जाती है इस कथन को करने वाले तीन सूत्र हुए, तदनन्तर लेश्यारहित जीवों का निरूपण करने के लिए एक सूत्र हुआ, इन पाँच सूत्रों के द्वारा लेश्याप्ररूपणा कही गई।

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित सिद्धान्तचिंतामणि टीका में लेश्यामार्गणा नाम का दशवाँ अधिकार समाप्त हुआ।



अथ भव्यमार्गणाधिकारः

अथ स्थलद्वयेन त्रिसूत्रैः भव्यमार्गणानाम एकादशोऽधिकारः कथ्यते। तत्र प्रथमस्थले भव्यानां कथनमुख्यत्वेन “भविया-” इत्यादिसूत्रद्वयं। तदनु द्वितीयस्थले अभव्यजीवप्रतिपादनत्वेन “अभव-” इत्यादिसूत्रमेकं इति समुदायपातनिका।

अधुना भव्यत्वमार्गणानिरूपणाय सूत्रावतारः क्रियते—

भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया।।१४१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— भव्यानुवादेन भवसिद्धयः अभवसिद्धयः जीवाः सन्ति। भव्या भविष्यन्ती सिद्धिर्येषां ते भव्यसिद्धयः सन्ति।

तथा च भव्यसंततिच्छेदः स्यादिति चेत् ?

न, तेषामानन्त्यात्। न हि सान्तस्य आनन्त्यं, विरोधात्।

व्ययसहितस्य आयरहितस्य च राशेः कथमानन्त्यम् ?

नैतत्, अन्यथा एकस्याप्यानन्त्यप्रसंगात्। स्वव्ययस्यापि अनन्तस्य क्षयो नास्तीति एकांतो नास्ति, स्वसंख्येयासंख्येयभागव्ययस्य राशेरनन्तस्यापि क्षयः, द्वित्र्यादिसंख्येयराशिव्ययतो न क्षयोऽस्तीत्यभ्युपगमात्।

अथ भव्यमार्गणा अधिकार

अब दो स्थलों में तीन सूत्रों के द्वारा भव्यमार्गणा नाम का ग्यारहवाँ अधिकार प्रारंभ होता है।

उसमें प्रथम स्थल में भव्य जीवों के कथन की मुख्यता से “भविया” इत्यादि दो सूत्र हैं, पुनः द्वितीयस्थल में अभव्य जीवों का प्रतिपादन करने वाले “अभव” इत्यादि एक सूत्र कहेंगे। अध्याय के प्रारंभ में यह सूत्रों की समुदायपातनिका हुई।

अब भव्यत्वमार्गणा के निरूपण हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

भव्यमार्गणा के कथन से भवसिद्ध और अभवसिद्ध जीव होते हैं।।१४१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— भव्यमार्गणा के अन्दर भवसिद्ध और अभवसिद्ध दोनों प्रकार के जीवों का कथन किया जाता है। जिन्हें आगे सिद्धि प्राप्त होगी, उन्हें भव्यसिद्ध जीव कहते हैं।

शंका— इस प्रकार तो भव्यजीवों की परम्परा का उच्छेद—नाश ही हो जायेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि भव्यजीव अनन्त होते हैं। जो राशि सान्त होती है उसमें अनन्तपना नहीं बन सकता है क्योंकि सान्त को अनन्त मानने में विरोध आता है।

शंका— जिस राशि का व्यय होता है और जो आय रहित होती है उस राशि में अनन्तपना कैसे संभव है ?

समाधान— ऐसा नहीं है क्योंकि यदि व्ययसहित और आयरहित राशि में भी अनन्तपना नहीं माना जाएगा तो एक को भी अनन्त के मानने का प्रसंग आ जायेगा। व्यय होते हुए भी अनन्त का क्षय नहीं होता है यह एकान्त नियम नहीं है, इसलिए जिसके संख्यातवें और असंख्यातवें भाग का व्यय हुआ है ऐसी अनन्त राशि का क्षय भी है किन्तु दो, तीन आदि संख्येय राशि के व्ययमात्र से क्षय नहीं भी है ऐसा स्वीकार किया है।

अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालस्यानन्तस्यापि क्षयदर्शनादनैकान्तिक आनन्त्यहेतुरिति चेत् ?

न, उभयोर्भिन्नकारणतः प्राप्तानन्तयोः साम्याभावतोऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनस्य वास्तवानन्त्याभावात्। तद्यथा — अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालः सक्षयोऽप्यनन्तः, छद्मस्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात्। अथवा केवलज्ञान-मनन्तस्तद्विषयत्वाद्वा। जीवराशिस्तु पुनः संख्येयराशिष्वपि निर्मूलप्रक्षयाभावात् अनन्त इति अथवा छद्मस्थानुपलब्ध्यपेक्षामन्तरेणानन्त्यादिति विशेषणाद्वा नानैकान्तिक इति। किं च सव्ययस्य निरवशेषक्षयेऽभ्युपगम्यमाने कालस्यापि निरवशेषक्षयो जायेत, सव्ययत्वं प्रत्यविशेषात्।

केचिद् जीवाः भव्या अपि मुक्तिं न गच्छन्ति पुनः कथं तेषां भव्यत्वम् ?

नैतद् वक्तव्यं, मुक्तिगमनयोग्यतापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात्। न च योग्याः सर्वेऽपि निष्कलङ्काः भवन्ति सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात्।

उक्तं च —

एयणिगोदसरीरे जीवा दब्ब-प्पमाणदो दिट्ठा।

सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीद-कालेण।।^१

तद्विपरीताः अभव्याः।

शंका — अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल अनन्त होते हुए भी उसका क्षय देखा जाता है इसलिए भव्यराशि के क्षय न होने में जो अनन्तरूप हेतु दिया है वह व्यभिचरित हो जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न कारणों से अनन्तपने को प्राप्त भव्यराशि और अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल इन दोनों राशियों में समानता का अभाव है और इसलिए अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल वास्तव में अनन्तरूप नहीं है।

अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकाल क्षयसहित होते हुए भी अनन्त है क्योंकि छद्मस्थ जीवों के द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है। अथवा केवलज्ञान अनन्त है और उसका विषय होने से वह अनन्त है। जीवराशि तो संख्यातवें भागरूप राशि के क्षय हो जाने पर भी निर्मूल नाश नहीं होने से अनन्त है। अथवा पहले जो भव्यराशि के क्षय नहीं होने में अनन्तरूप हेतु दे आए हैं उसमें छद्मस्थ जीवों के द्वारा अनन्त की उपलब्धि नहीं होती है, इस अपेक्षा के बिना ही यह विशेषण लगा देने से अनैकान्तिक दोष नहीं आता है तथा व्ययसहित अनन्त के सर्वथा क्षय मान लेने पर काल का भी सर्वथा क्षय हो जाएगा क्योंकि व्ययसहित होने के प्रति दोनों समान हैं।

शंका — कुछ जीव भव्य होते हुए भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाते हैं तो उनमें भव्यता कैसे मानी जा सकती है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि मुक्तिगमन की योग्यता की अपेक्षा उनके भव्यसंज्ञा मानी जाती है। किन्तु मोक्षगमन की योग्यता वाले सभी जीव नियम से कर्मकलंक से रहित होते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि सर्वथा ऐसा मान लेने पर स्वर्णपाषाण से व्यभिचार आ जायेगा। कहा भी है —

गाथार्थ — एक निगोदिया जीव के शरीर में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा सिद्धराशि से और सम्पूर्ण अतीतकाल से अनन्तगुणे जीव होते हैं।

भव्यों से विपरीत अर्थात् मोक्षगमन की योग्यता न रखने वाले अभव्य जीव होते हैं। कहा भी है —

उक्तं च—

भविया सिद्धी जेसिं, जीवाणं ते भवंति भवसिद्धा।

तत्त्विवरीदा भव्वा, संसारादो ण सिज्झंति।।^१

भव्या भवितुं योग्या भाविनी वा सिद्धिः अनंतचतुष्टयरूपस्वरूपोपलब्धिर्येषां ते भव्यसिद्धाः। अनेन सिद्धेर्लब्धियोग्यताभ्यां भव्यानां द्वैविध्यमुक्तं। तद्विपरीताः उक्तलक्षणद्वयरहिताः, ते अभव्याः भवन्ति। अतएव ते अभव्या न सिद्ध्यन्ति संसारान्निःसृत्य सिद्धिं न लभन्ते।

भव्यजीवानां गुणस्थानव्यवस्थाकथनार्थं सूत्रमवतरति—

भवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति।।१४२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— भव्यसिद्धाः जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य अयोगिकेवलिनः इति।

एवं भव्यानां कथनमुख्यत्वेन सूत्रद्वयं प्रथमस्थले गतं।

गाथार्थ— जिन जीवों की सिद्धि होने वाली है अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं और इनसे विपरीत अभव्य होते हैं। ये अभव्य जीव कभी संसार से निकलकर सिद्ध नहीं होते हैं।

भव्य अर्थात् होने योग्य अथवा जिनकी सिद्धि—अनन्तचतुष्टयरूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि भाविनी—होने वाली है ये जीव भव्यसिद्ध होते हैं। इससे सिद्धि की प्राप्ति और योग्यता के भेद से भव्यों के दो भेद कहे हैं। उक्त दोनों लक्षणों से रहित जीव अभव्य होते हैं। अतएव वे अभव्य जीव संसार से निकलकर सिद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं।

अब भव्यजीवों की गुणस्थानव्यवस्था कहने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

भव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रिय से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं।।१४२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एकेन्द्रिय से प्रारंभ करके चौदहवें गुणस्थान तक के जीव भव्य सिद्ध होते हैं।

भावार्थ— एकेन्द्रिय जीवों में भी भव्यत्व संभव है। इसी प्रकार दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय आदि सभी जीवों में अपनी-अपनी पारिणामिक शक्ति के अनुसार भव्यत्व गुण रह सकता है। ये भव्यत्व और अभव्यत्व चूँकि पारिणामिक भाव हैं, प्राकृतिक योग्यता के आधार पर जीवों में यह अनादिकाल से पाये जाते हैं, इनकी प्राप्ति में किसी बाह्य पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है।

जैसे नित्यनिगोदिया की एकेन्द्रिय पर्याय से प्रथम बार त्रस पर्याय में मनुष्य भव प्राप्त कर भरतचक्रवर्ती के नौ सो तेईस पुत्र जन्म से गूँगे होकर भी भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में पहुँचते ही बोल पड़े और वहीं दीक्षा लेकर उन सभी ने उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह उनकी भव्यत्व शक्ति ही थी, जो एकेन्द्रियपर्याय में अव्यक्त थी और जीवन में प्रथम बार मनुष्य पर्याय प्राप्त करते ही वह शक्ति जागृत हो गई और मोक्ष प्राप्त कराने में निमित्त बन गई। इसी भव्यत्व परिणाम का कथन इस सूत्र में किया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक भव्यत्व शक्ति सुलभ है।

इस प्रकार भव्यजीवों के कथन की मुख्यता से प्रथमस्थल में दो सूत्र पूर्ण हुए।

अधुना अभव्यानां गुणस्थाननिरूपणाय सूत्रावतारो भवति—

अभवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्टि त्ति॥१४३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—अभव्यसिद्धाः जीवाः एकेन्द्रिय-प्रभृति यावत् संज्ञिमिथ्यादृष्टिपर्यन्ताः इति।

अब अभव्यजीवों में गुणस्थानों का निरूपण करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

अभव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञिमिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक होते हैं॥१४३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एकेन्द्रिय जीवों को आदि में लेकर संज्ञिमिथ्यादृष्टि जीवों में प्रथम गुणस्थान तक अभव्यसिद्धपना पाया जाता है।

विशेषार्थ—द्वितीय आदि गुणस्थानों में अभव्य जीव नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें सभी के एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही पाया जाता है। यहाँ तक कि द्रव्यलिंगी मुनिपदधारी पुरुष भी यदि अभव्य हैं तो बाह्यनिर्दोष चारित्र का पालन करते हुए भी वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। ऐसे अभव्य मुनियों के बारे में ही कवियों ने कहा है कि—

कोटि जन्म तप तपै ज्ञानबिन कर्म झरैं जे।

ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तें सहज टरैं ते॥

अर्थात् वहाँ ज्ञान से सम्यग्ज्ञानरूप वीतरागविज्ञानता की ही अपेक्षा कथन है कि मिथ्यात्व सहित करोड़ों जन्म में किया गया तप भी मोक्षप्राप्तिरूप कर्मनिर्जरा नहीं करवा सकता है और सम्यक्त्वसहित सम्यग्ज्ञानी जीव सुलभता से ही कर्म नष्ट करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि जीव के लिए कोटि जन्मों तक तप करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है, क्योंकि उसके तो अधिक से अधिक सात-आठ भवों की सीमा निर्धारित हो जाती है। जैसा कि गौतम स्वामी के पाक्षिकप्रतिक्रमण सूत्र से भी स्पष्ट है कि—

“उक्कस्सेण दो तिण्णि भवगहणाणि जहण्णेण सत्तट्ठभवगहणाणि तदो सुमणु-सुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था पच्छा णिगंगा होऊण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।”

यहाँ पूर्व से सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावकों के प्रकरण में उपर्युक्त पंक्तियाँ कही गई हैं। इसके हिन्दी पद्यानुवाद में गणिनी ज्ञानमती माताजी ने लिखा है—

उत्कृष्टपने से दो त्रय भव व जघन्य से सात आठ भव लें।

फिर मानव से देवपद ले सुदेवपद से सुमनुजभव लें।।

फिर सदगृहस्थ निर्ग्रन्थ मुनी हो सिद्ध-बुद्ध हो जाते हैं।

मुक्ती पाते कृतकृत्य बने सब दुःखों का क्षय करते हैं।।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि भव्यजीवों की ऐसी प्रवृत्ति हुआ करती है तथा इससे विपरीत अभव्य जीवों को करोड़ों जन्म के तप के बावजूद भी मोक्ष नहीं मिलता है। इसी बात को पण्डित दौलतराम जी ने अन्य प्रकार से भी कहा है—

मुनिव्रतधार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।

पै निज आतमज्ञान बिना सुखलेश न पायो।।

एवं भव्याभव्यलक्षणं ज्ञात्वा 'वयं भव्याः' इति श्रद्धधानाः रत्नत्रयमादाय स्वात्मोपलब्धिः कर्तव्या भवद्भिः इति।

एवं अभव्यजीवनिरूपणत्वेन एकं सूत्र गतम्।

इति षट्खण्डागमप्रथमखण्डे गणिनीज्ञानमतीकृत-
सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां भव्यमार्गणानाम्
एकादशोऽधिकार समाप्तः।

यह कथन भी अभव्यजीवों में ही घटाना चाहिए क्योंकि अभव्य मिथ्यादृष्टि मुनिराज तपस्या करके नवग्रैवेयक तक जन्म धारण करते हैं, उससे आगे न तो वे अनुदिश और अनुत्तरों में जा सकते हैं तथा न मोक्ष ही प्राप्त कर सकते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि अभव्य जीव चाहे एकेन्द्रिय हों या पंचेन्द्रिय, इन सभी के एक मिथ्यादृष्टिगुणस्थान ही होता है।

इस प्रकार भव्य-अभव्य जीवों के लक्षण जानकर "हम लोग भव्य हैं" ऐसी श्रद्धा करते हुए रत्नत्रय को ग्रहण करके आप लोगों को अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति करनी चाहिए।

इस तरह अभव्य जीवों का कथन करने वाला एक सूत्र हुआ।

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित सिद्धान्त चिंतामणि नाम की टीका में भव्यमार्गणा नाम का ग्यारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।



अथ सम्यक्त्वमार्गणाधिकारः

अथ षड्विंशः स्थलैः अष्टाविंशतिसूत्रैः सम्यक्त्वमार्गणानाम् द्वादशोऽधिकारः कथ्यते। तत्र प्रथमस्थले सामान्यसम्यक्त्व-त्रिविधसम्यक्त्वनिरूपणत्वेन “सम्मत्ताणुवादेण” इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। तदनु द्वितीयस्थले सासादनादित्रयाणां कथनमुख्यत्वेन “सासाण” इत्यादिसूत्रत्रयं। ततः परं तृतीयस्थले नरकगतिनारकेषु सम्यक्त्वप्रतिपादनत्वेन “णेरइया” इत्यादिसूत्रपंचकं। तत्पश्चात् चतुर्थस्थले तिर्यक्षु सम्यक्त्वकथनत्वेन “तिरिक्खा” इत्यादिसूत्रषट्कं। तदनंतरं पंचमस्थले मनुष्येषु सम्यग्दर्शननिरूपणत्वेन “मणुस्सा” इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। ततः परं देवेषु सम्यग्दर्शनव्यवस्थामुख्यत्वेन “देवा” इत्यादिसूत्राणि षट्, इति समुदायपातनिका।

अथ सम्यक्त्वमार्गणानिरूपणार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

**सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी
उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि।।१४४।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—सम्यक्त्वानुवादेन सामान्यसम्यग्दृष्टिः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः वेदकसम्यग्दृष्टिः उपशमसम्यग्दृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः मिथ्यादृष्टिश्चेति।

सम्यक्त्वमार्गणायां कथं मिथ्यादृष्टेः ग्रहणम् ?

अथ सम्यक्त्वमार्गणा अधिकार

अब छह स्थलों में अट्ठाईस सूत्रों के द्वारा सम्यक्त्वमार्गणा नामक बारहवाँ अधिकार कहा जाता है। उसमें प्रथमस्थल में सामान्य सम्यक्त्व तथा तीन प्रकार के सम्यग्दर्शनों का निरूपण करने वाले “सम्मत्ताणुवादेण” इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके पश्चात् द्वितीयस्थल में सासादन आदि तीन सम्यक्त्वों के कथन की मुख्यता से “सासाण” इत्यादि तीन सूत्र हैं। उससे आगे तृतीयस्थल में नरकगति के नारकी जीवों में सम्यक्त्व का प्रतिपादन करने वाले “णेरइया” इत्यादि पाँच सूत्र कहेंगे। तत्पश्चात् चतुर्थस्थल में तिर्यच जीवों में सम्यक्त्व का कथन करने वाले “तिरिक्खा” इत्यादि छह सूत्र हैं। तदनन्तर पंचमस्थल में मनुष्यों में सम्यग्दर्शन का निरूपण करने वाले “मणुस्सा” इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके बाद देवों में सम्यग्दर्शन की व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले “देवा” इत्यादि छह सूत्र हैं, यह सम्यक्त्वमार्गणा के प्रारंभ में सूत्रों की समुदायपातनिका हुई।

अब सम्यक्त्वमार्गणा का कथन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

सम्यक्त्वमार्गणा के कथन द्वारा सामान्य सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं।।१४४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—सम्यक्त्वमार्गणा में सभी प्रकार के सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि जीवों का कथन किया जाता है।

शंका—सम्यक्त्वमार्गणा में मिथ्यादृष्टि जीवों का ग्रहण कैसे हो सकता है ?

आम्रवनान्तःस्थनिम्बानां आम्रवनव्यपदेशवत् मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वव्यपदेशो न्याय्यः।

अधुना सम्यग्दर्शनानां लक्षणमुच्यते —

छप्पंच-णव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
 आणाए अहिगमेण व सहहणं होइ सम्मत्तं॥२१२॥
 खीणे दंसण-मोहे जं सहहणं सुणिम्मलं होई।
 तं खाइय-सम्मत्तं णिच्चं कम्म-क्खवण-हेऊ॥२१३॥
 वयणेहि वि हेऊहि वि इंदिय-भय-आणाएहि रूवेहि।
 वीहच्छ-दुगुंछाहि ण सो ते-लोक्केण चालेज्ज॥२१४॥
 दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसहहणं।
 चल-मलिणमगाढं तं वेदग-सम्मत्तमिह मुणसु॥२१५॥
 दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थ-सहहणं।
 उवसंत-सम्मत्तमिणं पसण्ण-मल-पंक तोय-समं॥२१६॥^१

अधुना सामान्यसम्यग्दर्शन-क्षायिकसम्यग्दर्शनस्वरूपगुणस्थाननिरूपणाय सूत्रमवतरति —

सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवल्लि
त्ति॥१४५॥

समाधान — जिस प्रकार आम्रवन के भीतर रहने वाले नीम के वृक्षों को आम्रवन यह संज्ञा प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि को सम्यक्त्व यह संज्ञा देना उचित ही है।

अब सम्यग्दर्शनों के लक्षण का कथन किया जाता है —

गाथार्थ — जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं॥२१२॥

दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है, जो नित्य है और कर्मों के क्षय का कारण है॥२१३॥

श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले आकारों से या वीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थों के देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि से तथा और अधिक क्या कहा जाये तीन लोक से भी वह क्षायिक सम्यग्दर्शन चलायमान नहीं होता है॥२१४॥

सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़रूप श्रद्धान होता है उसको वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा हे शिष्य तू समझ॥२१५॥

दर्शनमोहनीय के उपशम से कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशमसम्यग्दर्शन है॥२१६॥

अब सामान्यसम्यग्दर्शन एवं क्षायिकसम्यग्दर्शन का स्वरूप तथा उनके गुणस्थानों का निरूपण करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

सामान्य से सम्यग्दृष्टि और विशेष की अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं॥१४५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सामान्येन सम्यग्दृष्टयः विशेषापेक्षया क्षायिकसम्यग्दृष्टयश्च जीवाः असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानादारभ्य अयोगिकेवलिपर्यताः भवन्ति।

किं तत्सम्यक्त्वगतसामान्यमिति चेत् ?

त्रिष्वपि सम्यग्दर्शनेषु यः साधारणोऽशः तत्सामान्यम्।

क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु परस्परतो भिन्नेषु किं सादृश्यमिति चेत् ?

न, तत्र त्रिष्वपि यथार्थश्रद्धानं प्रति साम्योपलंभात्।

संप्रति वेदकसम्यग्दर्शनगुणस्थानव्यवस्थानिरूपणार्थं सूत्रमवतरति —

वेदगसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति।।१४६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — वेदकसम्यग्दृष्टयः असंयतसम्यग्दृष्टेरारभ्य अप्रमत्तसंयतपर्यताः इति।

उपरितनगुणस्थानेषु एतत्सम्यग्दर्शनं कथं नास्ति ?

अगाढ-समल-श्रद्धानेन सह क्षपकोपशमश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः नैतत् सम्यक्त्वं सप्तमगुणस्थानादुपरि इति ज्ञातव्यं।

वेदकसम्यक्त्वादौपशमिकसम्यक्त्वस्य कथमाधिक्यं ?

न, दर्शनमोहोदयजनितशैथिल्यादेस्तत्रासत्त्वतस्तदाधिक्योपलंभात्।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान तक सामान्यरूप से सम्यग्दृष्टि जीव तथा विशेष की अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव होते हैं।

शंका — सम्यक्त्व में रहने वाली वह सामान्य नाम की कौन-सी वस्तु है ?

समाधान — तीनों ही सम्यग्दर्शनों में जो साधारण धर्म है वह सामान्य शब्द से यहाँ जाना जाता है।

शंका — क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनों के परस्पर भिन्न-भिन्न होने पर सदृशता क्या वस्तु हो सकती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि उन तीनों सम्यग्दर्शनों में यथार्थ श्रद्धान के प्रति समानता पाई जाती है।

अब वेदकसम्यग्दर्शन में गुणस्थान व्यवस्था का निरूपण करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं।।१४६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त वेदकसम्यग्दृष्टि जीव पाये जाते हैं।

शंका — इससे ऊपर के गुणस्थानों में यह वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है ?

समाधान — क्योंकि अगाढ आदि मलसहित श्रद्धान के साथ क्षपक और उपशम श्रेणी का चढ़ना नहीं बनता है अतः यह वेदकसम्यग्दर्शन सप्तम गुणस्थान से आगे नहीं हो सकता है ऐसा जानना चाहिए।

शंका — वेदकसम्यग्दर्शन से औपशमिक सम्यग्दर्शन की अधिकता अर्थात् विशेषता कैसे संभव है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि दर्शनमोहनीय के उदय से उत्पन्न हुई शिथिलता आदि औपशमिक सम्यग्दर्शन में नहीं पाई जाती है, इसलिए वेदकसम्यग्दर्शन से औपशमिकसम्यग्दर्शन में विशेषता सिद्ध हो जाती है।

क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनस्यैव वेदकनाम। दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनस्य वेदक-सम्यग्दर्शनम् नाम इति।

अधुना औपशमिकसम्यग्दर्शनगुणस्थाननिरूपणाय सूत्रावतारो भवति—

उवसमसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव उवसंतकसायवीयराय-छदुमत्था त्ति।।१४७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— उपशमसम्यग्दृष्टयः असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानादारभ्य एकादशगुणस्थान-नामोपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थाः इति।

एवं प्रथमस्थले सम्यक्त्वभेदनिरूपणत्वेन चत्वारि सूत्राणि गतानि।

सासादनसम्यग्दृष्टिव्यवस्थाप्रतिपादनाय सूत्रावतारः क्रियते—

सासणसम्माइट्टी एक्कम्मि चेय सासणसम्माइट्टि-ट्टाणे।।१४८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— सासादनसम्यग्दृष्टयः एकस्मिन् चैव सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने सन्ति नान्यत्र एवं ज्ञातव्यं। अन्यच्च एतद्गुणस्थानं चतुर्गतिष्वपि संभवति।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिव्यवस्थानिरूपणाय सूत्रमवतरति—

सम्मामिच्छाइट्टी एक्कम्मि चेय सम्मामिच्छाइट्टि-ट्टाणे।।१४९।।

क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन को ही वेदकसम्यग्दर्शन कहा जाता है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय का वेदन करने वाले जीव को वेदक कहते हैं और उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं।

अब औपशमिक सम्यग्दर्शन में गुणस्थानों का निरूपण करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

उपशमसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशान्तकषायवीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं।।१४७।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— चतुर्थगुणस्थान से प्रारंभ करके ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशमसम्यग्दृष्टि जीवों की सत्ता पाई जाती है।

इस प्रकार प्रथम स्थल में सम्यक्त्व के भेदों का निरूपण करने वाले चार सूत्र पूर्ण हुए।

अब सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों की व्यवस्था का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

सासादनसम्यग्दृष्टि जीव एक सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं।।१४८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— एकमात्र द्वितीय गुणस्थान में ही सासादनसम्यग्दृष्टि जीव रहते हैं। अन्य गुणस्थानों में उनका अस्तित्व नहीं पाया जाता है एवं चारों गतियों में भी यह गुणस्थान पाया जाता है।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि की व्यवस्था बताने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं।।१४९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सम्यग्मिथ्यादृष्टयः एकस्मिन् चैव सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने सन्ति। एतद्गुणस्थानं जात्यन्तरप्रकृति-उदयेन मिश्रं वर्तते। एतदपि चतुर्गतिषु भवति।

मिथ्यादृष्टिगुणस्थानव्यवस्थानिरूपणाय सूत्रावतारः क्रियते—

मिच्छाइट्टी एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णिमिच्छाइट्टि ति।।१५०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मिथ्यादृष्टयो जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य संज्ञिमिथ्यादृष्टयः सन्तीति।

एतेषु त्रिष्वपि गुणस्थानानां लक्षणं वक्तव्यं चेत् ? तर्हि उच्यते—

ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो दु परिवदिदो।

सो सासणो ति णेयो सादिय मध पारिणामिओ भावो।।२१७।।

सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु।

विरदाविरदेण समो सम्माम्मिच्छो ति णादव्वो।।२१८।।

णवि जायइ णवि मइ णवि सुद्धो णवि य कम्म-उम्मुक्को।

चउगइमज्झत्थे वुण रागाइ-समण्णियो जीवो।।२१९।।

तिण्णि जणा एक्केक्कं दोहो णेच्छंति ते तिवग्गा य।

एक्को तिण्णि ण इच्छइ सत्त वि पावंति मिच्छत्तं।।२२०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सम्यग्मिथ्यादृष्टि नाम वाला जो तृतीय गुणस्थान है वहीं पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव पाये जाते हैं। क्योंकि इस गुणस्थान में जीवों की जो श्रीखण्ड के समान मिश्रित अवस्था रहती है वह अन्य गुणस्थानवर्ती जीवों के नहीं होती है। जात्यन्तरप्रकृति के उदय से इसका नाम मिश्रगुणस्थान है, यह गुणस्थान भी चारों गतियों में होता है।

अब मिथ्यादृष्टिगुणस्थान की व्यवस्था का निरूपण करने के लिए सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञिमिथ्यादृष्टि तक होते हैं।।१५०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एक इन्द्रिय से लेकर संज्ञिमिथ्यादृष्टि तक सभी जीव मिथ्यादृष्टि संज्ञा से युक्त होते हैं।

इन तीनों गुणस्थानों का लक्षण कहना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ— जो सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को नहीं प्राप्त हुआ है उसे सासादन सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। यह गुणस्थान सादि और पारिणामिक भाव वाला है।।२१७।।

जिस जीव के जीवादिक तत्त्वों में श्रद्धान और अश्रद्धानरूप भाव है उसे विरताविरत के समान सम्यग्मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।।२१८।।

वह न जन्म लेता है, न मरता है, न शुद्ध होता है, और न कर्म से उन्मुक्त होता है किन्तु वह रागादि से युक्त होकर चारों गतियों में पाया जाता है।।२१९।।

ऐसे तीन व्यक्ति जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में से किसी एक-एक को स्वीकार नहीं करते, दूसरे कोई तीन पुरुष इन तीनों में से दो-दो को स्वीकार नहीं करते तथा कोई ऐसा भी जीव हो जो तीनों को मोक्षमार्ग के लिए स्वीकार नहीं करता, ये सातों जीव मिथ्यात्वी हैं।।२२०।।

एवं सासादनादिषु सासादनसम्यक्त्वादिकथनत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि।

अधुना नरकगतौ सम्यक्त्वमार्गणाकथनाय सूत्रमवतरति —

**णेरइया अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजद-
सम्माइट्ठि ति।।१५१।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नारकाः मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टयश्च सन्तीति।

अथ गतिनिरूपणायां अस्यां गतौ इयन्ति गुणस्थानानि इति निरूपितत्वात् अनर्थकमिदं सूत्रम् ?

नैतत्, विस्मृतपूर्वोक्तार्थस्य प्रतिपाद्यस्य शिष्यस्य तमर्थं संस्मार्य तत्र तत्र गतौ सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादन-
प्रवणत्वात्।

सप्तसु पृथिवीषु सम्यग्दर्शनकथनाय सूत्रमवतरति —

एवं जाव सत्तसु पुढवीसु।।१५२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सप्तसु पृथिवीषु इमानि चत्वार्यपि गुणस्थानानि भवन्तीति ज्ञातव्यं।

अधुना नरकेषु सम्यग्दर्शनव्यवस्थां व्यवस्थापयत्सूत्रद्वयमवतरति —

इस प्रकार सासादन आदि गुणस्थानों में सासादनसम्यक्त्व आदि का कथन करने वाले तीन सूत्र पूर्ण हुए।

अब नरकगति में सम्यक्त्वमार्गणा का कथन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

**नारकी जीव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि
होते हैं।।१५१।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक नारकी जीव होते हैं।
अर्थात् पंचम आदि आगे के गुणस्थान उनमें नहीं पाये जाते हैं।

शंका — गतिमार्गणा का निरूपण करते समय “इस गति में इतने गुणस्थान होते हैं” यह कथन तो कर
ही चुके हैं इसलिए यहाँ इस सूत्र का अलग से कथन करना व्यर्थ ही है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि जो शिष्य पूर्वोक्त अर्थ भूल गया है उसके लिए उस अर्थ का पुनः
स्मरण दिलाकर उन-उन गतियों में सम्यग्दर्शन के भेदों का प्रतिपादन करने में यह सूत्र समर्थ है।

अब सातों पृथिवियों में सम्यग्दर्शन का कथन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

इसी प्रकार सातों पृथिवियों में प्रारंभ के चार गुणस्थान होते हैं।।१५२।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — प्रथम नरक से लेकर सातवें नरक तक समस्त नरक पृथिवियों में आदि
के चार गुणस्थान ही हो सकते हैं, अन्य नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि चार में से कोई भी गुणस्थान नारकियों
के हो सकता है, उससे आगे वे नारकी देशसंयम अथवा सकलसंयमरूप परिणाम नहीं प्राप्त कर सकते हैं
इसीलिए उनके पंचम आदि गुणस्थान नहीं माने गये हैं।

अब नरकों में सम्यग्दर्शन की व्यवस्था को बतलाते हुए सूत्र का अवतार होता है —

णेरइया असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि।।१५३।।

एवं पढमाए पुढवीए णेरइया।।१५४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सूत्रयोरर्थः सुगमोऽस्ति। पूर्वोक्त-त्रीण्यपि सम्यग्दर्शनानि प्रथमायां पृथिव्यामेव भवन्तीति।

द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दर्शनप्रतिपादनाय सूत्रावतारो भवति—

विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि।।१५५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — द्वितीयादिपृथिवीभ्यः आरभ्य सप्तमायां पृथिव्यां यावत् नारकाः असंयतसम्यग्दर्शगुणस्थाने क्षायिकसम्यग्दर्शयो न सन्ति अवशेषाः द्विभेदाः सम्यग्दर्शयः सन्ति।

तत्रस्थाः सन्तः नारकाः सप्तप्रकृतीः किमिति न क्षपयन्तीति चेत् ?

न, तत्र जिनानामभावात्। केवलश्रुतकेवलिपादमूलेषु एव सप्तप्रकृतीनां क्षपणं आगमे प्रतिपादितत्वात्।

सूत्रार्थ —

नारकी जीव असंयतसम्यग्दर्शगुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दर्श, वेदकसम्यग्दर्श और उपशमसम्यग्दर्श होते हैं।।१५३।।

इसी प्रकार प्रथम पृथिवी में नारकी जीव होते हैं।।१५४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — इन सूत्रों का अर्थ सुगम है। अर्थात् नरकों में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों ही सम्यग्दर्शन पाये जाते हैं। इनमें से क्षायिक सम्यग्दर्शन तो मनुष्य की पूर्व पर्याय से लेकर आने वाले नारकियों के प्रथम नरक तक ही हो सकता है एवं औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नरक में भी विभिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकता है।

पूर्वोक्त तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन प्रथम पृथिवी में ही हो सकते हैं।

द्वितीयादि पृथिवियों में सम्यग्दर्शन का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ —

दूसरी पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवी तक नारकी जीव असंयतसम्यग्दर्शगुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दर्श नहीं होते हैं, शेष बचे दो सम्यग्दर्शनों से युक्त होते हैं।।१५५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — दूसरी से सातवीं पृथिवी तक समस्त नारकी जीव चतुर्थगुणस्थान में केवल दो सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं क्योंकि उन नरकों में क्षायिकसम्यग्दर्श नहीं होते हैं।

शंका — वहाँ रहने वाले नारकी जीव सात प्रकृतियों का क्षय क्यों नहीं कर पाते हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वहाँ जिनेन्द्रों का अभाव पाया जाता है। उस क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में ही सात प्रकृतियों का क्षपण किया जाता है ऐसा आगम में कथन आया है।

एवं नरकगतौ सम्यक्त्वनिरूपणत्वेन पंच सूत्राणि गतानि।

अधुना तिर्यग्गतौ सम्यक्त्वप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति—

**तिरिक्त्वा अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी असंजद-
सम्माइट्टी संजदासंजदा त्ति॥१५६॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— तिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिपंचगुणस्थानानि सन्ति।

संन्यस्तशरीरत्वात् त्यक्ताहाराणां तिरश्चां किमिति संयमो न भवेदिति चेत् ?

न, अन्तरङ्गायाः सकलनिवृत्तेरभावात्।

किमिति तदभावश्चेत् ?

जातिविशेषात्। यस्यां जातौ ते उत्पन्नास्तत्र संयमो नास्तीति।

तिरश्चामस्तित्वं क्वपर्यंतं ? इति प्रश्ने सति सूत्रमवतरति—

एवं जाव सव्व-दीव-समुद्देसु॥१५७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— एवं प्रकारेण यावत् सर्वद्वीपसमुद्रेषु तिर्यञ्चः सन्ति, तेषां गुणस्थानानि अपि पंच।

इस प्रकार नरकगति में सम्यक्त्व का निरूपण करने वाले पाँच सूत्र पूर्ण हुए।

अब तिर्यचगति में सम्यक्त्व का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

**तिर्यच जीव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि
और संयतासंयत होते हैं॥१५६॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— तिर्यच जीवों में मिथ्यादृष्टि आदि प्रारंभिक पाँच गुणस्थान होते हैं।

शंका— शरीर से संन्यास ग्रहण कर लेने के कारण जिन्होंने आहार का त्याग कर दिया है ऐसे तिर्यचों के संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि तिर्यच जीवों में अन्तरंग की सकल निवृत्ति का अभाव है। अर्थात् उनके सकलसंयम को ग्रहण करने की योग्यता का अभाव है।

शंका— उनके अन्तरंग सकलनिवृत्ति का अभाव क्यों है ?

समाधान— वे जिस जाति में उत्पन्न हुए हैं, उसमें संयम नहीं होता, यह नियम है इसलिए उनके संयम नहीं पाया जाता है।

तिर्यच जीवों का अस्तित्व कहाँ तक है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

इसी प्रकार सम्पूर्ण द्वीप और समुद्रवर्ती तिर्यचों में समझना चाहिए॥१५७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— समस्त द्वीप और समुद्रों में जो तिर्यच होते हैं उन सभी के पाँच गुणस्थान तक पाये जाते हैं।

कश्चिदाह — स्वयंप्रभादारान्मानुषोत्तरात्परतो भोगभूमिसमानत्वान्न तत्र देशव्रतिनः सन्ति, तत एतत्सूत्रं न घटते ?

नेदृशं, वैरसंबंधेन देवैर्दानवैर्वा उत्क्षिप्य क्षिप्तानां देशव्रतीनां सर्वत्र सत्त्वाविरोधात्।

तत्रैव गतौ सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारो भवति—

तिरिक्खा असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्टी वेदगसम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी।।१५८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तिर्यञ्चः चतुर्थगुणस्थाने त्रिविधाः अपि सम्यग्दृष्टयः सन्ति। भोगभूम्यपेक्षया क्षायिकसम्यक्त्वं ज्ञातव्यमिति। कर्मभूमौ केचिन्मनुष्याः बद्धायुष्काः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य भोगभूमावैव जायन्ते न च कर्मभूमौ इति।

तिरश्चां कर्मभूमिषु सम्यक्त्वव्यवस्थां व्यवस्थापयत्सूत्रमवतरति—

तिरिक्खा संजदासंजद-ट्टाणे खइयसम्माइट्टी णत्थि अवसेसा अत्थि।।१५९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — तिर्यञ्चः पंचमगुणस्थाने क्षायिकसम्यग्दृष्टयो न सन्ति, द्विविधाः सन्तीति। कर्मभूमिजत्वात्।

यहाँ कोई शंका करता है कि —

स्वयंभूरमणद्वीपवर्ती स्वयंप्रभ पर्वत के इस ओर (असंख्यात द्वीप समुद्रों में) भोगभूमि के समान रचना होने से वहाँ पर देशव्रती नहीं पाये जाते हैं, इसलिए यह सूत्र नहीं घटित होता है ?

उसका समाधान करते हैं कि —

ऐसा नहीं है क्योंकि बैर के संबंध से देवों अथवा दानवों के द्वारा उठाकर डाले गये देशव्रती तिर्यचों का सब जगह सद्भाव होने में कोई विरोध नहीं आता है, इसलिए वहाँ पर तिर्यचों के पाँचों गुणस्थान बन जाते हैं।

उसी तिर्यचगति में सम्यग्दर्शन का विशेष प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

तिर्यच असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।।१५८।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — चतुर्थ गुणस्थान में तिर्यच तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन से युक्त होते हैं। भोगभूमि की अपेक्षा उनके क्षायिकसम्यक्त्व जानना चाहिए। कर्मभूमि में कुछ बद्धायुष्क मनुष्य क्षायिकसम्यक्त्व को उत्पन्न करके भोगभूमि में ही उत्पन्न होते हैं, कर्मभूमि में नहीं।

अब कर्मभूमि के तिर्यचों में सम्यक्त्व की व्यवस्था को व्यवस्थापित करते हुए सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

तिर्यच संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं, शेष दो सम्यग्दर्शनों से युक्त होते हैं।।१५९।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पंचमगुणस्थान में तिर्यच जीवों के दो सम्यग्दर्शन होते हैं, क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं होता है। क्योंकि वे कर्मभूमि में उत्पन्न हुए हैं।

तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताः किमिति न सन्ति ?

न सन्ति, क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां भोगभूमिमन्तरेणोत्पत्तेरभावात्। न च भोगभूमौ उत्पन्नानां अणुव्रतोपादानं सम्भवति तत्र तद्विरोधात्।

पंचेन्द्रियतिर्यक्षां सम्यक्त्वकथनाय सूत्रावतारः क्रियते—

एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदियतिरिक्ख-पज्जत्ता।।१६०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—अनेन प्रकारेण पंचेन्द्रियतिर्यञ्चः पंचेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्ताः पंचमगुणस्थानपञ्चाः भवन्तीति।

स्त्रीवेदधारकतिरिक्खीषु सम्यक्त्वगुणस्थानव्यवस्थां व्यवस्थापयता आचार्येण सूत्रावतारः क्रियते—

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि।।१६१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिनीषु असंयतसम्यग्दृष्टिनामचतुर्थगुणस्थाने, संयतासंयतनाम-पंचमगुणस्थाने क्षायिकसम्यग्दृष्टयो न सन्ति अवशेषाः द्विविधाः सम्यग्दृष्टयः सन्तीति।

तत्र योनिनीतिरिक्खीषु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां उत्पत्तिर्नास्ति, दर्शनमोहनीयस्य क्षपणं चापि नास्ति इति।

एवं तिर्यग्गतौ सम्यग्दर्शनव्यवस्थाप्रतिपादनत्वेन षट् सूत्राणि गतानि।

शंका—तिर्यचों में क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं होते हैं क्योंकि तिर्यचों में यदि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो वे भोगभूमि में ही उत्पन्न होते हैं, दूसरी जगह नहीं। परन्तु भोगभूमि में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रत की उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि वहाँ पर अणुव्रत के होने में आगम से विरोध आता है।

अब पंचेन्द्रिय तिर्यचों में सम्यक्त्व का कथन करने के लिए सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

इसी प्रकार पंचेन्द्रियतिर्यच और पंचेन्द्रियतिर्यचपर्याप्त होते हैं।।१६०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—इन दोनों प्रकार के पंचेन्द्रिय तिर्यचों में प्रारंभ के पाँच गुणस्थान होते हैं।

अब स्त्रीवेदधारी तिर्यचिनियों में सम्यक्त्व एवं गुणस्थान व्यवस्था को बताते हुए आचार्यश्री के द्वारा सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

पंचेन्द्रिय योनिमती तिर्यचों में असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं, शेष दो सम्यग्दर्शनों से युक्त होते हैं।।१६१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—चतुर्थ एवं पंचम गुणस्थानवर्ती स्त्रीवेदी तिर्यचों में क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं होता है, उनके शेष दो सम्यग्दर्शन होते हैं।

उन योनिमती तिर्यचिनियों में क्षायिकसम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति नहीं होती है, उनके दर्शनमोहनीय का क्षपण भी नहीं होता है।

इस प्रकार तिर्यचगति में सम्यग्दर्शन की व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले छह सूत्र पूर्ण हुए।

संप्रति मनुष्यगतौ सम्यक्त्वव्यवस्थां व्यवस्थापयत्सूत्रमवतरति—

**मणुसा^१ अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजद-
सम्माइट्ठी संजदासंजदा संजदा त्ति।।१६२।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनुष्याः प्रथमगुणस्थानादारभ्य अयोगिकेवल्लिगुणस्थानपर्यन्ताः भवन्ति।

कियत्सु द्वीपसमुद्रेषु ? इति प्रश्ने सूत्रमवतरति—

एवमट्ठाइज्ज-दीव-समुदेसु।।१६३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एवंविधिना सार्धद्वयद्वीपेषु द्वयसमुद्रेषु मनुष्याः चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति।

कश्चिदाह — वैरसंबन्धेन क्षिप्तानां संयतानां संयतासंयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु संभवो भवतु इति चेत् ?

तस्य समाधानं ददाति — नैतादृशं, मानुषोत्तरात्परतो देवप्रयोगतोऽपि मानुषाणां गमनाभावात्।

अस्मिन् सूत्रे अर्धतृतीयशब्देन किमु द्वीपो विशेष्यते उत समुद्र उत द्वावपि इति ?

नान्त्योपान्त्यविकल्पौ मानुषोत्तरात्परतोऽपि मनुष्याणामस्तित्वप्रसंगात्। अत एव द्वीपो विशेष्यते।

सार्धद्वयद्वीपेषु एव मनुष्याणामस्तित्वं नाग्रे। ततः सामर्थ्यात् द्वयोः समुद्रयोः सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते।

अब मनुष्यगति में सम्यक्त्व व्यवस्था को व्यवस्थापित करते हुए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

**मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि
संयतासंयत और संयत होते हैं।।१६२।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — मनुष्य प्रथम गुणस्थान से प्रारंभ करके अयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त होते हैं।

कितने द्वीप समुद्रों में मनुष्य होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

इसी प्रकार ढाई द्वीप और दो समुद्रों में जानना चाहिए।।१६३।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — चौदहों गुणस्थानवर्ती मनुष्य ढाई द्वीप और दो समुद्रों तक रहते हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि—

बैर के संबंध से डाले गये संयत और संयतासंयत आदि मनुष्यों का सम्पूर्ण द्वीप-समुद्रों में सद्भाव बना रहे, ऐसा मान लेने में क्या हानि है ?

उसका समाधान देते हैं कि—

ऐसा नहीं है, क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत के उस तरफ देवों द्वारा ले जाए जाने वाले मनुष्यों के गमन का अभाव है अर्थात् देव भी नहीं ले जा सकते।

शंका— इस सूत्र में प्रयुक्त अर्धतृतीय शब्द के द्वारा केवल द्वीपों का ही ग्रहण किया जाएगा या समुद्र का अथवा द्वीप और समुद्र दोनों का ग्रहण हो जाएगा ?

समाधान— इनमें से अन्त के दो विकल्प तो बराबर नहीं हैं क्योंकि ऐसा मान लेने पर मानुषोत्तरपर्वत के उस तरफ भी मनुष्यों के अस्तित्व का प्रसंग आ जाएगा। अतएव द्वीप का विशेषण इसलिए दिया गया

किंच मानुषोत्तरपर्वतस्यांतः एव समुद्रयोः ग्रहणं न्याय्यं न च तस्मात् परतः इति।

संप्रति मनुष्याणां सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनाय सूत्रावतारो भवति—

मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी॥१६४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—मनुष्याः चतुर्थपंचमषष्ठसप्तमगुणस्थानेषु त्रिविधाः सम्यग्दृष्टयः सन्ति। ततः परं चतुर्थगुणस्थानादारभ्य उपशांतकषायगुणस्थानपर्यंत्येषु द्विविधाः सम्यग्दृष्टयः ततश्च असंयतसम्यग्दृष्टेरारभ्य अयोगिकेवलिपर्यंत्येषु संयतसंज्ञेषु एकं क्षायिकसम्यक्त्वमेवेति।

एतादृशी व्यवस्था अन्यत्र क्व क्व अस्ति ? इति प्रश्ने सूत्रमवतरति—

एवं मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु॥१६५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एवमेव पूर्वोक्तव्यवस्था पर्याप्तमनुष्याणां भाववेदसहितमानुषीणां चास्ति। अत्रापि चतुर्दशगुणस्थानानि त्रिविधानि सम्यक्त्वानि च भवन्तीति।

एवं मनुष्यगतौ सम्यग्दर्शनप्रतिपादनत्वेन चत्वारि सूत्राणि गतानि।

संप्रति देवगतौ सम्यक्त्वव्यवस्थां व्यवस्थापयत्सूत्रमवतरति—

समझना चाहिए कि ढाई द्वीपों में ही मनुष्यों का अस्तित्व रहता है, उससे आगे नहीं। इस सामर्थ्य में दो समुद्रों में मनुष्य पाए जाते हैं, यह बात बिना कहे भी जानी जाती है क्योंकि मानुषोत्तरपर्वत के अंत तक ही दो समुद्रों का ग्रहण करना उचित है, उससे आगे के तृतीय आदि समुद्रों का ग्रहण करना उचित नहीं है।

अब मनुष्यों में सम्यग्दर्शन के भेदों का कथन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

मनुष्य असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं॥१६४॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—चतुर्थ, पंचम, छठे और सप्तम गुणस्थानवर्ती सभी मनुष्यों में तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन पाये जाते हैं। उसके पश्चात् गुणस्थान से प्रारंभ करके उपशांतकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों में दो प्रकार के सम्यग्दृष्टि होते हैं और उसके बाद असंयतसम्यग्दृष्टि से आरंभ करके अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान तक संयत संज्ञा वाले मनुष्यों में एक क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है।

ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कहाँ-कहाँ है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

इसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य और मनुष्यिनियों में भी जानना चाहिए॥१६५॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—पर्याप्त मनुष्य एवं भाववेदसहित मनुष्यिनियों में इसी प्रकार की पूर्वोक्त व्यवस्था होती है। अर्थात् उनमें भी चौदह गुणस्थान एवं तीनों सम्यक्त्व होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार मनुष्यगति में सम्यग्दर्शन की व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाले चार सूत्र पूर्ण हुए।

अब देवगति में सम्यक्त्व की व्यवस्था को व्यवस्थापित करते हुए सूत्र का अवतार होता है—

**देवा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी
त्ति॥१६६॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — देवाः मिथ्यादृष्टि-सासादन-मिश्र-असंयतगुणस्थानवर्तिनो भवन्तीति।
देवाश्चतुर्णिकायाः भवनवासिव्यंतरज्योतिष्कवैमानिकाः। अत्र सर्वेऽपि गृह्यन्ते।

क्वपर्यंत इयं व्यवस्था ? इति प्रश्ने सूत्रमवतरति —

एवं जाव उवरिमगेवेज्ज-विमाणवासिय-देवा त्ति॥१६७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एवं-पूर्वोक्तचतुर्गुणस्थानानि उपरिमग्रैवेयकविमानवासिदेवेषु यावदिति अत्र
ग्रैवेयकेषु द्रव्यलिंगिनो मुनयः भव्या अभव्याश्च गच्छन्ति।

किं किं सम्यक्त्वं तत्र देवेषु ? इति प्रश्ने सूत्रावतारो भवति —

**देवा असंजदसम्माइट्ठी-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी
उवसमसम्माइट्ठी त्ति॥१६८॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — देवाः चतुर्थगुणस्थाने त्रिविधानि अपि सम्यक्त्वानि लभन्ते।

सूत्रार्थ —

**देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि होते
हैं॥१६६॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — देवों में प्रारंभ के चार गुणस्थान होते हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिर्वासी
और विमानवासी इन चारों प्रकार के देवों का यहाँ ग्रहण किया है। अर्थात् चारों निकाय के समस्त देव-देवियों
में उपर्युक्त चारों गुणस्थान ही संभव है।

कहाँ तक यह व्यवस्था रहती है ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

इसी प्रकार उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक तक के देवों में यह व्यवस्था जानना चाहिए॥१६७॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — पूर्वोक्त प्रारंभिक चार गुणस्थान उपरिम ग्रैवेयक तक के विमानवासी
देवों में होते हैं ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् किसी भी देव के पंचम आदि गुणस्थान नहीं पाये जाते हैं। क्योंकि
वहाँ देशसंयम अथवा सकलसंयमजन्य परिणामों का अभाव रहता है। द्रव्यलिंगी मुनि, भव्य तथा अभव्य
जीव इन ग्रैवेयक स्वर्गों में जाते हैं।

उन देवों में कौन-कौन से सम्यक्त्व होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र का अवतार होता है —

सूत्रार्थ —

**देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और
उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं॥१६८॥**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — चतुर्थ गुणस्थान में देवगण तीनों सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं।

क्षाधिकसम्यक्त्वं क्व क्व न भवितुमर्हति इति प्रतिपादनाय सूत्रमवतरति—

**भवणवासिय-वाणवेंतर-जोड़सिय-देवा देवीओ च सोधम्मीसाण-
कप्पवासिय-देवीओ च असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि
अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि।।१६९।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — भवनवासि-वानव्यंतर-ज्योतिष्कदेवाः एषां देव्यश्च सौधर्मैशानकल्पवासिदेव्यश्च असंयतसम्यग्दृष्टिनामचतुर्थगुणस्थाने क्षायिकसम्यग्दर्शनं नास्ति अवशेषे द्विविधे सम्यक्त्वे स्तः, चतुर्णिकायदेवीनां अपि द्वे सम्यक्त्वे स्तः इति।

किमिति क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तत्र न सन्तीति चेत् ?

न, देवेषु दर्शनमोहक्षपणाभावात् क्षपितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिनां भवनवास्यादिषु त्रिकेषु अधमदेवेषु सर्वदेवीषु चोत्पत्तेरभावात्।

शेषसम्यक्त्वद्वयस्य तत्र कथं संभवः इति चेत् ?

न, तत्रोत्पन्नजीवानां पश्चात्तत्पर्यायपरिणतेः सत्त्वात्।

शेषदेवानां कति सम्यक्त्वनि ? इति प्रश्ने सूत्रावतारः क्रियते—

क्षायिकसम्यक्त्व कहाँ-कहाँ नहीं हो सकता है, इसका प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—
सूत्रार्थ—

**भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषीदेव तथा उनकी देवियाँ और सौधर्म तथा
ईशानकल्पवासी देवियाँ असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं हैं। शेष
के दो सम्यग्दर्शनों से युक्त होते हैं और होती हैं।।१६९।।**

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सूत्र में कथित पूर्वोक्त सभी चतुर्थगुणस्थानवर्ती देव-देवियाँ क्षायिक-सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं, उनके शेष दो सम्यक्त्व होते हैं, चारों निकाय वाली देवियों में भी वेदक और उपशम ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

शंका — क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देवों और देवियों में क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि देवों में दर्शनमोह के क्षपण का अभाव देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि जिन जीवों ने पूर्वपर्याय में दर्शनमोहनीय का क्षय कर दिया है उनकी भवनवासी आदि हीन देवों में और सभी देवियों में उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका — तो फिर शेष दो सम्यग्दर्शनों का उनमें सद्भाव कैसे संभव है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि वहाँ पर उत्पन्न हुए जीवों के अनन्तर सम्यग्दर्शनरूप पर्याय हो जाती है, इसलिए शेष के दो सम्यग्दर्शनों का वहाँ सद्भाव पाया जाता है।

भावार्थ — यहाँ अधम शब्द से निंद्यपर्याय का ग्रहण नहीं करना चाहिए प्रत्युत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर इन भवनत्रिकों में जन्म नहीं लेते हैं और वैमानिक देवों से उनका वैभव आदि हीन होता है, मात्र इसी कारण उन्हें अधम संज्ञा प्रदान की गई है।

शेष देवों में कितने सम्यक्त्व होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र का अवतार किया जाता है—

सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्ज-विमाणवासियदेवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसम-सम्माइट्ठी।।१७०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सौधर्मस्वर्गादारभ्य यावत् उपरिमोपरिमग्रैवेयकविमानवासिनो देवाः चतुर्थगुणस्थाने त्रिविधान्यपि सम्यक्त्वानि प्राप्नुवन्ति। त्रिविधेन सम्यक्त्वेन सह तत्रोत्पत्तेर्दर्शनात्। तत्रोत्पद्य द्विविधसम्यग्दर्शनोपादानात्तत्र तेषां सत्त्वं सुघटमिति।

अनुदिशविमानादिदेवेषु सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनाय सूत्रावतारः क्रियते—

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजिद-सव्वट्टसिद्धि-विमाणवासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी।।१७१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नवसु अनुदिशेषु पंचानुत्तरेषु-विजयवैजयंतजयंतावराजितसर्वार्थसिद्धिविमानेषु विमानवासिनो देवाः चतुर्थगुणस्थाने त्रिविधान्यपि सम्यक्त्वानि लभन्ते।

उपशमश्रेणीमारूढा आरूढा अवतीर्णाश्च ये केचित् उपशमसम्यग्दृष्टयः, तेषां तत्रानुदिशानुत्तरेषु उत्पत्तिर्भवति। अत एव उपशमसम्यग्दृष्टीनां तत्र सत्त्वं भवति।

सूत्रार्थ—

सौधर्म और ईशानकल्प से लेकर उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक तक के देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।।१७०।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — सोलहों स्वर्ग एवं ऊपर-ऊपर के ग्रैवेयक विमानों में रहने वाले देव चतुर्थगुणस्थान में तीनों ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। क्योंकि तीनों ही सम्यक्त्व के साथ उन स्वर्गों में जन्म धारण किया जा सकता है किन्तु वहाँ पर उत्पन्न होने के पश्चात् वेदक और उपशम इन दो सम्यग्दर्शनों का ग्रहण होता है, इसलिए उक्त देवों में पूर्वपर्याय से साथ लेकर जाने की अपेक्षा ही तीनों सम्यग्दर्शनों का सद्भाव बन जाता है।

अब अनुदिश आदि विमानों में रहने वाले देवों में सम्यग्दर्शन के भेदों का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

नव अनुदिशों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तरों में रहने वाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।।१७१।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — नव अनुदिश एवं पाँच अनुत्तर विमानों में रहने वाले विमानवासी देवों के चतुर्थगुणस्थानों में तीनों सम्यग्दर्शन पाये जाते हैं।

उपशमश्रेणी पर चढ़ने वाले और चढ़कर उतरने वाले जो भी उपशमसम्यग्दृष्टि मनुष्य हैं वे अनुदिश एवं अनुत्तरों में जन्म धारण करते हैं। इसलिए वहाँ पर उपशमसम्यग्दृष्टि जीवों का सद्भाव पाया जाता है।

उपशमश्रेण्यारूढा उपशमसम्यग्दृष्टयो न म्रियन्ते औपशमिकसम्यग्दर्शनोपलक्षितत्वात् शेषौपशमिक-
सम्यग्दृष्टय इव इति चेत् ?

न, पश्चात्कृतमिथ्यात्वसम्यक्त्वाभ्यां अनुपशमितोपशमितचारित्रमोहाभ्यां च तयोर्वैधर्म्यात्।

तात्पर्यमेतत्—

सम्यक्त्वमार्गणायां वीतरागनामधेयं यत् क्षायिकसम्यक्त्वम्, तत् कथं लभेत इति भावना पुनः पुनः
भावयितव्या। यावदेतत्सम्यग्दर्शनं न प्राप्नुयात्तावद् यत् क्षायोपशमिकं सम्यग्दर्शनं मयि अस्ति तदेव
स्थिरीभूयादिति देवाधिदेवस्य श्रीपादमूले प्रार्थयितव्यमिति।

एवं देवगतौ सम्यक्त्वकथनेन सूत्रषट्कं गतं।

इत्थं सम्यक्त्वमार्गणायां सामान्यसम्यक्त्वसहितादिप्रकारेण सप्तविधप्रतिपादनपरत्वेन एकं सूत्रं गतं।
सम्यग्दृष्ट्यादिजीवाः क्व क्व गुणस्थानेषु इति व्यवस्थाकथनमुख्यत्वेन षट् सूत्राणि गतानि। पुनश्च नरकादिगतिषु
कानि कानि सम्यग्दर्शनानि इति निरूपणपरत्वेन एकविंशतिसूत्राणि गतानि। इत्थं अष्टाविंशतिसूत्रैः
सम्यक्त्वमार्गणा प्ररूपिता भवतीति ज्ञातव्यम्।

इति षट्खण्डागमप्रथमखण्डे गणिनीज्ञानमतीकृत सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां
सम्यक्त्वमार्गणानाम द्वादशोऽधिकारः समाप्तः।

शंका — उपशमश्रेणी पर आरूढ़ हुए उपशमसम्यग्दृष्टि जीव नहीं मरते हैं क्योंकि वे उपशमसम्यग्दर्शन
से युक्त होते हैं जिस प्रकार अन्य औपशमिक सम्यग्दृष्टियों का मरण नहीं होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि पश्चात्कृत्य मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा तथा अनुपशमित और
उपशमित चारित्रमोहनीय की अपेक्षा साधारण उपशमसम्यग्दृष्टियों और उपशमश्रेणी पर चढ़े हुए सम्यग्दृष्टियों
में वैधर्म्य है।

तात्पर्य यह है कि —

सम्यक्त्वमार्गणा में वीतराग नाम वाला जो क्षायिकसम्यक्त्व है “वह मुझे कैसे प्राप्त हो ?” ऐसी भावना
पुनः-पुनः भानी चाहिए। यह क्षायिकसम्यग्दर्शन जब तक प्राप्त नहीं होता है तब तक मुझे जो क्षायोपशमिकसम्यक्त्व
मिला है वही स्थिर बना रहे, देवाधिदेव जिनेन्द्रभगवान के श्रीपादमूल में ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए।

इस प्रकार देवगति में सम्यक्त्व का कथन करने वाले छह सूत्र हुए। इस तरह से सम्यक्त्वमार्गणा में
सामान्यसम्यक्त्व सहित आदि कथन के प्रकार से सात प्रकार के सम्यग्दर्शनों का प्रतिपादन करने की मुख्यता से
एक सूत्र पूर्ण हुआ। सम्यग्दृष्टि आदि जीव किन-किन गुणस्थानों में होते हैं इस व्यवस्था का कथन करने वाले छह
सूत्र हुए, पुनः नरक आदि गतियों में कौन-कौन से सम्यग्दर्शन होते हैं इसका निरूपण करने वाले इक्कीस सूत्र
हुए, इन अट्ठाईस सूत्रों के द्वारा सम्यक्त्वमार्गणा का कथन किया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार से षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
द्वारा रचित सिद्धान्तचिंतामणि नाम की टीका में सम्यक्त्वमार्गणा

नामका बारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।



अथ संज्ञिमार्गणाधिकारः

अथ स्थलद्वयेन सूत्रैः त्रिभिः संज्ञिमार्गणानाम् त्रयोदशाधिकारः कथ्यते। तत्र प्रथमस्थले संज्ञिनां कथनमुख्यत्वेन द्वे सूत्रे स्तः। तदनु द्वितीयस्थले असंज्ञिनां कथनत्वेन एकं सूत्रं इति समुदायपातनिका।

अधुना संज्ञिमार्गणाप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते—

सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी-असण्णी॥१७२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— संज्ञिजीवाः समनस्काः तेषां अनुवादेन संज्ञिनोऽसंज्ञिनो जीवाः सन्ति।
उक्तं च—

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च।

सिक्खदि णामेणेदि य सो समणो असमणो य विवरीदो।^१

यः पूर्वं कार्यमकार्यं च मीमांसति, तत्त्वमितरच्च शिक्षते, नाम्ना आहूय आयाति स जीवः समनाः समनस्को भवति। तद्विपरीतलक्षणः अमनाः अमनस्को भवति।

संप्रति संज्ञिनां गुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रमवतरति—

अथ संज्ञिमार्गणा अधिकार

अब दो स्थलों में तीन सूत्रों के द्वारा संज्ञिमार्गणा नाम का तेरहवाँ अधिकार प्रारंभ होता है। उसमें से प्रथम स्थल में संज्ञी जीवों का कथन करने वाले दो सूत्र हैं। उसके पश्चात् द्वितीय स्थल में असंज्ञी जीवों का वर्णन करने वाला एक सूत्र है। यह संज्ञिमार्गणा के आरंभ में सूत्रों की समुदायपातनिका हुई।

अब संज्ञिमार्गणा का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

संज्ञिमार्गणा के अनुवाद से संज्ञी और असंज्ञी जीव होते हैं॥१७२॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका— मनसहित जीव संज्ञी कहलाते हैं। इन संज्ञी जीवों के वर्णन में संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के जीवों का कथन किया जाता है। कहा भी है—

गाथार्थ— जो जीव कार्य करने से पूर्व कार्य-अकार्य का विचार करता है तथा तत्त्व-अतत्त्व का स्वरूप समझ सके, नाम के द्वारा बुलाने पर आ सके उनको समनस्क या संज्ञी कहते हैं, इससे विपरीत जीवों को असंज्ञी कहते हैं।

जो पूर्व में ही कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार करता है, जो तत्त्व और अतत्त्व की शिक्षा ग्रहण करता है, जो नाम के द्वारा पुकारे जाने पर आता है, वह जीव मन सहित होने से समनस्क कहलाता है। इससे विपरीत लक्षण वाले मन रहित जीव अमनस्क होते हैं।

अब संज्ञी जीवों के गुणस्थानों का कथन करने हेतु सूत्र का अवतार होता है—

सण्णी मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति॥१७३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञिनो जीवाः मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादारभ्य क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थपर्यन्ताः भवन्तीति।

समनस्कत्वात्सयोगिकेवलिनोऽपि संज्ञिनः इति चेत् ?

न, तेषां केवलानां क्षीणज्ञानदर्शनावरणानां मनोऽवलम्बनबलेन बाह्यार्थग्रहणाभावतो न ते संज्ञिन उच्यन्ते।

तर्हि भवन्तु केवलिनोऽसंज्ञिनः इति चेत् ?

न, साक्षात्कृताशेषपदार्थानां सर्वज्ञानां असंज्ञित्वविरोधात्।

ते सर्वज्ञाः विकलेन्द्रियवत् मनोऽनपेक्ष्य बाह्यार्थान् गृह्णन्ति इति चेत् ?

नैतद् वक्तव्यम्, मनसोऽभावेऽसंज्ञिनां बुद्ध्यतिशयाभावोऽपि वर्तते। नैतादृशं केवलानां भगवतां, अतएव ते सर्वज्ञाः आवरणविगमात् पूर्णज्ञानिनः सन्ति।

संप्रति असंज्ञीजीवानां गुणस्थानप्रतिपादनार्थं सूत्रावतारः क्रियते —

सूत्रार्थ —

संज्ञीजीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ-गुणस्थान तक होते हैं॥१७३॥

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — संज्ञी जीव प्रथम गुणस्थान से प्रारंभ करके बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

शंका — सयोगकेवली गुणस्थान वाले केवली भी मनसहित होते हैं अतः उनको भी संज्ञी मानना चाहिए ?

समाधान — नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म से रहित उन केवली भगवन्तों के मन के अवलम्बन से बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता है इसलिए उन्हें संज्ञी नहीं कह सकते हैं।

शंका — तब तो केवलियों को असंज्ञी कहना चाहिए ?

समाधान — नहीं, क्योंकि जिन्होंने समस्त पदार्थों को साक्षात् कर लिया है उनके असंज्ञी होने में विरोध आता है।

शंका — वे सर्वज्ञ भगवान विकलेन्द्रियों के समान मन की अपेक्षा न करके बाह्य पदार्थों को ग्रहण करते हैं तब उन्हें असंज्ञी मानने में क्या बाधा है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर तो केवलियों के विकलेन्द्रियों की भांति मन के अभाव में बुद्धि के अतिशय का अभाव भी मानना पड़ेगा, जबकि केवलियों में ऐसा नहीं है अर्थात् उनमें तो बुद्धि का अतिशय पाया जाता है इसलिए वे सर्वज्ञ भगवान-सम्पूर्ण आवरणकर्मों से रहित होने के कारण पूर्णज्ञानी होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

अब असंज्ञी जीवों के गुणस्थानों का प्रतिपादन करने हेतु सूत्र का अवतार किया जाता है —

असण्णी एइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति।।१७४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — असंज्ञीनो जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्ता सन्तीति।

एवं द्वितीयस्थले असंज्ञिप्रतिपादनत्वेन एकं सूत्रं गतं।

इत्थं त्रिभिः सूत्रैः संज्ञि-असंज्ञिजीवप्रतिपादनपरत्वेन संज्ञिमार्गणा प्ररूपिता जाता।

इति षट्खण्डागमप्रथमखण्डे गणिनीज्ञानमतीकृत-

सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां संज्ञिमार्गणानाम्

त्रयोदशोऽधिकारः समाप्तः।

सूत्रार्थ —

असंज्ञी जीव एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रिय तक होते हैं।।१७४।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका — एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रिय तक सभी जीव असंज्ञी कहे जाते हैं।

इस तरह से द्वितीय स्थल में असंज्ञी जीवों का कथन करने वाला एक सूत्र पूर्ण हुआ। इन उपर्युक्त तीन सूत्रों के द्वारा संज्ञी-असंज्ञी जीवों के प्रतिपादन की मुख्यता से संज्ञिमार्गणा का प्ररूपण हुआ।

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी

द्वारा रचित सिद्धान्तचिंतामणि नामकी टीका में संज्ञिमार्गणा नाम का

तेरहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।



अथ आहारमार्गणाधिकारः

अथ स्थलद्वयेन त्रिसूत्रैः आहारमार्गणानाम् चतुर्दशोऽधिकारः कथ्यते। तत्र प्रथमस्थले आहारकजीव-कथनमुख्यत्वेन सूत्रद्वयं। तदनु द्वितीयस्थले अनाहारककथनत्वेन सूत्रमेकं इति समुदायपातनिका।

अधुना आहारमार्गणाप्रतिपादनाय सूत्रमवतरति—

आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा।।१७५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—आहारकमार्गणानुवादेन आहारकाः अनाहारकाश्च जीवाः सन्ति। सर्वे संसारिण आहारकेषु एव, अनाहारकेषु संसारिणो मुक्ताश्च भवन्ति।

अधुना आहारकजीवानां गुणस्थानव्यवस्थां व्यवस्थापयता श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण सूत्रावतारः क्रियते—

आहारा एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।।१७६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—आहारकाः जीवाः एकेन्द्रियादारभ्य सयोगिकेवलिपर्यन्ताः भवन्तीति। अत्र षड्विधाः आहाराः उच्यन्ते—कवलाहार-लेपाहार-ऊष्माहार-मानसाहार-कर्माहार-नोकर्माहाराश्च। तेषु पंचविधाहारान् परित्यज्य नोकर्माहारोऽत्र ग्राह्यः भवति।

तात्पर्यमेतत्—एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ताः सर्वेऽपि जीवाः संसारिणः आहारका एव। प्रथमगुण-

अथ आहारमार्गणा अधिकार

अब दो स्थलों में तीन सूत्रों के द्वारा आहारमार्गणा नाम का चौदहवाँ अधिकार प्रारंभ होता है। उसमें प्रथम स्थल में आहारक जीवों के कथन की मुख्यता से दो सूत्र हैं। उसके पश्चात् द्वितीय स्थल में अनाहारक जीवों का कथन करने वाला एक सूत्र है। आहारमार्गणा के प्रारंभ में यह सूत्रों की समुदायपातनिका हुई।

अब आहारमार्गणा का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—

आहारमार्गणा के कथन से आहारक और अनाहारक जीव होते हैं।।१७५।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—आहारक और अनाहारक दोनों प्रकार के जीवों का आहारमार्गणा में कथन किया जाता है। सभी संसारी जीव आहारक में आते हैं और अनाहारक में संसारी व मुक्त दोनों प्रकार के होते हैं।

अब आहारक जीवों की गुणस्थानव्यवस्था को व्यवस्थापित करते हुए श्रीमान् पुष्पदन्त आचार्य सूत्र का अवतार करते हैं—

सूत्रार्थ—

आहारक जीव एकेन्द्रिय से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं।।१७६।।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका—एकेन्द्रिय से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के सभी जीव आहारक कहलाते हैं। यहाँ 'आहार' शब्द से छह प्रकार का आहार बतलाते हैं—कवलाहार, लेपाहार, ऊष्माहार, मानसाहार, कर्माहार और नोकर्माहार। इनमें से पाँच प्रकार के आहार को छोड़कर केवल नोकर्माहार को यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त संसारी जीव आहारक ही होते हैं। वे प्रथम

स्थानादारभ्य सयोगिकेवलपर्यन्ताः इति ज्ञातव्यं भवद्भिः।

के चानाहारकाः ? इति प्रश्ने सूत्रावतारः क्रियते श्रीमत्पुष्पदन्तभट्टारकेण—

अणाहारा चदुसु टाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि॥१७७॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका—विग्रहगतिप्राप्ता जीवाः मिथ्यात्व-सासादन-अविरतिसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेषु अनाहारकाः भवन्ति। तथा समुद्धातगतसयोगिकेवलिनश्च अनाहारका भवन्ति। अयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च अनाहारकाः सन्तीति।

इमे जीवाः औदारिकादिशरीरयोग्यान् पुद्गलान् न गृह्णन्ति ततोऽनाहारकाः कथ्यन्ते।

तात्पर्यमेतत्—सिद्धपरमेष्ठिनः नवमार्गणान्यूनः पञ्चमार्गणासहिताश्च भवन्ति।

उक्तं च—

सिद्धाणं सिद्धगई केवलणाणं च दंसणं खयियं।

सम्मत्तमणाहारं उवजोगाणक्कमपउत्ती॥७३१॥

गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा॥

सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति॥७३२॥

गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान को अपनी-अपनी योग्यतानुसार प्राप्त कर सकते हैं ऐसा जानना चाहिए।

कौन से जीव अनाहारक होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर श्रीमान् पुष्पदन्त भट्टारक के द्वारा सूत्र का अवतार किया जाता है—

सूत्रार्थ—

विग्रहगति को प्राप्त जीवों के मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि तथा समुद्धातगत केवलियों के सयोगकेवली इन चार गुणस्थानों में रहने वाले जीव और अयोगकेवली तथा सिद्ध भगवान् अनाहारक होते हैं॥१७७॥

सिद्धान्तचिन्तामणिटीका—विग्रहगति को प्राप्त जीव प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ गुणस्थान में अनाहारक होते हैं तथा समुद्धात करने वाले सयोगकेवली भी अनाहारक होते हैं। इसी प्रकार अयोगकेवली और सिद्ध भगवान् भी अनाहारक कहलाते हैं।

ये सभी जीव औदारिक आदि शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण नहीं करते हैं इसीलिए अनाहारक कहे जाते हैं ऐसा जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सिद्ध परमेष्ठी भगवान् नौ मार्गणाओं से रहित और पाँच मार्गणाओं से सहित होते हैं। जैसा कि कहा भी है—

गाथार्थ—सिद्धजीवों की सिद्धगति होती है, वे केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व से सहित एवं अनाहारक होते हैं तथा उनके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की युगपत् प्रवृत्ति पाई जाती है॥७३१॥

वे सिद्धपरमेष्ठी गुणस्थान और जीवसमास से रहित होते हैं एवं संज्ञा, पर्याप्ति, प्राण से रहित होते हैं। इस प्रकार वे नौ मार्गणाओं से न्यून—रहित सिद्ध भगवान् हमेशा परमशुद्ध अवस्था से युक्त रहते हैं॥७३२॥

सिद्धानां भगवतां सिद्धगतिः केवलज्ञानं केवलदर्शनं क्षायिकसम्यक्त्वं अनाहारश्चेति इमे पंचमार्गणाः सन्ति, शेषनवमार्गणाभ्यो इन्द्रिय-काय-योग-वेद-कषाय-संयम-लेश्या-भव्य-संज्ञिभ्यो हीना भवन्ति। तथा च चतुर्दशगुणस्थान-चतुर्दशजीवसमासरहिताः चतुःसंज्ञा-षट्पर्याप्ति-दशप्राणरहिताः, ज्ञानदर्शनोपयोगयोर-क्रमप्रवृत्तिश्च^१, एषां सिद्धानां विंशतिप्ररूपणासु इति मन्तव्यः।

भव्यजीवराशिः-आसन्नभव्यः दूरभव्यः अभव्यसमभव्यश्चेति त्रेधा^२ भवन्ति। एषां मध्ये 'वयं आसन्नभव्याः' इति मत्वा भेदाभेदरत्नत्रयं संपाल्य सिद्धगत्युपलब्धये पुरुषार्थो विधेयः।

एवं आहारमार्गणा समाप्ता

सिद्ध भगवन्तो की सिद्धगति मानी जाती है। उनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व होता है, वे अनाहारक होते हैं, अतः उनके गति, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और आहारक ये पाँच मार्गणाएँ होती हैं और शेष नौ मार्गणाओं से — इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, लेश्या, भव्य और संज्ञी से वे रहित होते हैं और इसी प्रकार वे सिद्ध भगवान् चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमासों से रहित चार संज्ञा, छह पर्याप्ति, दश प्राणों से रहित हैं एवं ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की अक्रम प्रवृत्ति से सहित हैं, ऐसे सिद्धों का यहाँ बीस प्ररूपणाओं में वर्णन पूर्ण हुआ है।

भव्यजीवराशि के आसन्नभव्य, दूरभव्य और अभव्यसमभव्य ऐसे तीन भेद होते हैं। इनके मध्य में “हम आसन्नभव्य हैं” ऐसा मानकर सभी को भेदाभेद रत्नत्रय का यथाशक्ति पालन करके सिद्धगति को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।

इस प्रकार आहारमार्गणा समाप्त हुई।



हस्तिनागपुरं तीर्थं संस्तुमोऽपीह ये भवाः।

नुमः श्री शांतिनाथादी-नाहारादायकानपि॥१॥^१

तीर्थकरजन्मभूमिहस्तिनापुरतीर्थक्षेत्रे एकविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे (२५२१) वीराब्दे शरदपूर्णिमायां स्वजन्मदिवसे जम्बूद्वीपस्य द्वितीयमहामहोत्सवकाले सुमेरुपर्वतस्थोपरि श्रीशान्तिनाथभगवतां महामस्तकाभिषेकमवलोक्य पुनः रत्नत्रयनिलयवसतिकायां आगत्य षट्खण्डागमग्रन्थेभ्यः प्रथमखण्डस्य संस्कृतटीकां चिकीर्षया “सिद्धान् सिद्ध्यर्थमानम्य” इत्यादिना मंगलाचरणं लिखित्वा “सिद्धान्तचिंतामणि” नामधेया टीका मया प्रारब्धा।

ततो मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्रे महापंचकल्याणकमहोत्सवस्य श्रीमुनिसुव्रतभगवतां महामस्तकाभिषेकस्य च निर्विघ्नतया संपन्नकरणाय द्वाविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे वीराब्दे मार्गशीर्षशुक्लाषष्ठीतिथेः^२ हस्तिनागपुरक्षेत्रात् संघसहिताया मम मंगलविहारः संजातः।

अस्मिन् मार्गेऽपि मम टीकालेखनकार्यं भवदासीत्। मंगलविहारे च मार्गेषु नानाविधधर्मप्रभावनाकार्येण केषुचित् तीर्थेषु केषुचिन्महानगरेषु अपि मत्प्रेरणया कैलाशपर्वत-सम्मेदशिखर-सिद्धाचलादिनूतनरचनानां शिलान्यासा अपि कारिताः श्रद्धालुभव्यजनैः।

श्लोकार्थ — हस्तिनापुर तीर्थ का हम स्तवन करते हैं तथा हस्तिनापुर में जन्म लेने वाले शांति, कुंथु, अरहनाथ भगवान को एवं वहाँ आहार ग्रहण करने वाले महामुनि प्रभु ऋषभदेव और अकम्पनाचार्यादि सात सौ मुनियों की भी हम स्तुति करते हैं।

भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ तीर्थकरों की जन्मभूमि हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र पर वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ इक्कीसवें (२५२१) वर्ष की शरदपूर्णिमा (आश्विन शु. १५) तिथि के दिन अपने जन्मदिवस (६२वें जन्मदिवस) के पवित्र अवसर पर जम्बूद्वीप रचना के द्वितीयमहामहोत्सव के समय जब सुमेरुपर्वत की पांडुकशिला पर श्रीशांतिनाथ भगवान् का महामस्तकाभिषेक चल रहा था, उस अभिषेक को देखकर पुनः “रत्नत्रयनिलय” नामक वसतिका में आकर षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथमखण्ड की संस्कृतटीका का लेखन करने की भावना से “सिद्धान्त सिद्ध्यर्थमानम्य” इत्यादि मंगलाचरण की पंक्तियाँ लिखकर “सिद्धान्तचिंतामणि” नाम वाली टीका को लिखना मैंने प्रारंभ किया था।

उसके पश्चात् महाराष्ट्र प्रान्त में स्थित मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र में अनेक वर्षों से रुके हुए महापंचकल्याणक-महोत्सव एवं श्रीमुनिसुव्रत भगवान् के प्रथम महामस्तकाभिषेक आयोजन को निर्विघ्नरूप से सम्पन्न कराने के लक्ष्य से वीर निर्वाण संवत् २५२२ की मगसिर शुक्ला षष्ठी — २७ नवम्बर १९९५ को हस्तिनापुर से मांगीतुंगी के लिए मेरा संघसहित मंगल विहार हो गया।

तब विहार करते हुए मार्ग में भी मेरा यह टीकालेखन का कार्य बराबर चलता रहा और उस मंगलविहार के मध्य रास्ते-रास्ते में अनेक प्रकार के धर्मप्रभावनात्मक कार्यों के द्वारा कई तीर्थों पर एवं कई महानगरों में भी मेरी प्रेरणा से कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर पर्वत एवं सिद्धाचल आदि नई-नई रचनाओं के शिलान्यास भी श्रद्धालु भव्यजनों के द्वारा किये गये।

१. आहारादायकानपि-आहारग्रहणकर्ता भगवान ऋषभदेवः, अकंपनाचार्यादिमुनिवराश्च तं तानपि च नुमः।

२. ईसवी सन् २७-११-१९९५ को हस्तिनापुर से मांगीतुंगी के लिए संघ का विहार हुआ।

वीराब्दे द्वाविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे फाल्गुनशुक्लासप्तम्यां “ख्रिष्टाब्दे षण्णवत्यधिकैकोनविंशति-
शततमे पंचविंशे दिनाँके द्वितीयमासि (२५-२-१९९६) राजस्थान प्रान्ते “पिडावानामग्रामे” श्रीपार्श्वनाथ-
समवसरणमंदिरशिलान्यासस्य मंगलावसरे एतत्सत्प्ररूपणाग्रन्थस्य “सिद्धान्तचिंतामणि” टीकां पूरयन्त्या
मया महान् हर्षोऽनुभूयते। टीकासहितोऽयं ग्रन्थो मम श्रुतज्ञानस्य पूर्यते भूयात्।

केवलज्ञानबीजं स्यात्, श्रुतज्ञानं जिनोद्गतम्।

तस्मै नमोऽस्तु मे नित्यं, द्रव्यभावश्रुताप्तये॥१॥

इति श्रीमद्भगवत्पुष्पदंतभूतबलिसूरिप्रणीतषट्खण्डागमस्य प्रथमखण्डे श्रीपुष्पदंताचार्य-
कृत-‘सत्प्ररूपणानाम’ ग्रन्थस्य श्रीवीरसेनाचार्यरचितधवलाटीकाप्रमुखनानाग्रन्था-
धारेण विरचिते विंशतिशततमे शताब्दौ प्रथमाचार्यः चारित्रचक्रवर्ती श्रीशांतिसागर-
स्तस्य प्रथमपट्टाधीशः श्रीवीरसागराचार्यस्तस्य शिष्या-जंबूद्वीपरचनाप्रेरिका-
गणिनीज्ञानमतीकृत-सिद्धान्तचिंतामणिटीकायां अयं चतुर्दश-
मार्गणा प्ररूपकः तृतीयो महाधिकारः समाप्तः।

पुनः वीरनिर्वाणसंवत् पच्चीस सौ बाईसवें (२५२२) वर्ष में ही फाल्गुन शुक्ला सप्तमी तिथि को ईसवी
सन् १९९६ के द्वितीय मास की २५ फरवरी तारीख को राजस्थान प्रान्त के पिडावा ग्राम में श्रीपार्श्वनाथ
समवसरण मंदिर के शिलान्यास के मंगल अवसर पर इस सत्प्ररूपणा ग्रंथ की “सिद्धान्तचिंतामणि” नामक
टीका को पूर्ण करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष की अनुभूति हो रही है। टीका से सहित यह सत्प्ररूपणा नामक
षट्खण्डागम ग्रंथ मेरे श्रुतज्ञान की पूर्ति के लिए होवे अर्थात् मुझे श्रुतज्ञान से परिपूर्ण करे, यही जिनेन्द्र
भगवान से मेरी प्रार्थना है।

श्लोकार्थ — जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से प्रगट हुआ श्रुतज्ञान केवलज्ञान का बीज है अर्थात्
केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाला है, इसलिए द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के श्रुत की प्राप्ति के लिए उस
श्रुतज्ञान को मेरा नमस्कार होवे।

इस प्रकार श्रीमान् भगवत्पुष्पदन्त और भूतबली आचार्य द्वारा प्रणीत षट्खण्डागम
नामक महाग्रंथ के प्रथमखण्ड में श्रीपुष्पदन्त आचार्य द्वारा रचित सत्प्ररूपणा
की धवलाटीका को प्रमुख आधार बनाकर तथा अन्य अनेक ग्रंथों के
आधार से इस बीसवीं शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य
चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर महाराज के प्रथम पट्टाधीश
आचार्यश्री वीरसागर महाराज की शिष्या जम्बूद्वीप
रचना की प्रेरिका, गणिनीप्रमुख ज्ञानमती
माताजी द्वारा रचित सिद्धान्तचिंतामणि-
टीका में यह चौदह मार्गणाओं का
प्ररूपण करने वाला तृतीय
महाधिकार समाप्त
हुआ।

ग्रन्थस्योपसंहारः क्रियते-

जीयात् ऋषभदेवस्य, शासनं जिनशासनम्।

अन्तिमवीरनाथस्या-प्यहिंसाशासनं चिरम्॥१॥

एवं 'णमो अरिहंताणं' इति पंचनमस्कारगाथासूत्रमादौ कृत्वा गुणस्थानमार्गणाप्ररूपणसूचनादिप्रकारेण 'पीठिकानाम्नि' प्रथमाधिकारे सप्तसूत्राणि कथितानि आसन्। तदनु द्वितीयमहाधिकारे चतुर्दशगुणस्थानानां नामलक्षणनिरूपणत्वेन 'संतपरूवणदाए' इत्यादिना षोडशसूत्राणि गतानि। पुनः मार्गणाप्ररूपके तृतीये महाधिकारे चतुर्दशमार्गणासु गुणस्थानव्यवस्था-व्यवस्थापनपरत्वेन "आदेसेण गदियाणुवादेण" इत्यादिना चतुःपंचाशदधिक-एकशतसूत्राण्यभवन् अत्र पर्यंतं सप्त-षोडश-चतुःपञ्चाशदधिकशतसूत्राणां मेलने सप्तसप्तत्यधिकशतसूत्रैः त्रिभिर्महाधिकारैरयं सत्प्ररूपणानामग्रन्थः पूर्णतामगात्।

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, सिद्धाः कुर्युश्च मंगलम्।

आचार्याः पाठकाश्चापि, साधवो मम मंगलम्॥१॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

उपसंहार

अब ग्रंथ का उपसंहार किया जाता है —

श्लोकार्थ — भगवान् ऋषभदेव का शासन जो जिनशासन कहलाता है वह जिनशासन पृथ्वी पर जयशील होवे तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी का भी अहिंसामयी शासन चिरकाल तक जयशील होवे॥१॥

इस प्रकार "णमो अरिहंताणं" इत्यादि पंचनमस्कार गाथासूत्र को आदि में करके गुणस्थान, मार्गणाप्ररूपणसूचना आदि प्रकार से "पीठिका" नाम के प्रथम महाधिकार में सात सूत्र कहे गये। उसके पश्चात् चौदह गुणस्थानों के नाम और लक्षण के निरूपण की मुख्यता से "संतपरूवणदाए" इत्यादि सोलह सूत्र द्वितीय महाधिकार में पूर्ण हुए। पुनः चौदह मार्गणाओं में गुणस्थानव्यवस्था के व्यवस्थापन की मुख्यता से "आदेसेण गदियाणुवादेण" इत्यादि के द्वारा मार्गणा का प्ररूपण करने वाले तृतीय महाधिकार में एक सौ चौवन सूत्र हुए। यहाँ तक सात, सोलह और एक सौ चौवन सूत्र हुए।

यहाँ तक सात, सोलह और एक सौ चौवन इन सभी सूत्रों को मिलाकर कुल एक सौ सतत्तर सूत्रों से तीन महाधिकारों के द्वारा यह "सत्प्ररूपणा" नाम का ग्रंथ पूर्ण हुआ।

श्लोकार्थ — अर्हन्त भगवान् मेरा मंगल करें और सिद्धपरमेष्ठी मंगल करें तथा आचार्य, उपाध्याय एवं साधुपरमेष्ठी भी मेरे लिए मंगलकारी होंगे॥१॥

इस प्रकार अन्त्यमंगलसूचक मंगलाचरणपूर्वक ग्रंथ का समापन हुआ।



प्रशस्ति

जंबूद्वीपेऽथ प्राग्द्वीपे, भरतेऽप्यार्यखण्डके।
 यावन्ति जिनबिम्बानि, स्तूयन्ते तानि भक्तितः॥१॥
 पार्श्वनाथं जिनं नत्वा, केवलज्ञानभूषितम्।
 शारदां हृदि संस्थाप्य, वंदे सर्वान् गणीश्वरान्॥२॥
 शासनं वीरनाथस्य, वर्तते भुवि सांप्रतम्।
 गौतमादिमहर्षीणा - मनुवीचिपरंपरा॥३॥
 तस्यां च मूलसंघेऽस्मिन्, कुंदकुंदान्वयो महान्।
 बलात्कारगणः ख्यातः, शारदागच्छ इत्यपि॥४॥
 एतस्यां मणिमालायां, प्रथमाचार्यविश्रुतः।
 श्रीशान्तिसागराख्योऽसौ, चारित्रचक्रभृद् महान्॥५॥
 तस्य पट्टाधिपोऽप्याद्यः, गुरुः श्रीवीरसागरः।
 यस्माज्ज्ञानमती जाता, ह्यल्पज्ञाहं किलार्यिका॥६॥
 श्री देशभूषणः सूरि-र्ममाद्यो विश्रुतो गुरुः।
 यत्प्रसादात् गृहं त्यक्त्वा, लब्धं प्राक् क्षुल्लिकाव्रतम्॥७॥

प्रशस्ति का हिन्दी अनुवाद

श्लोकार्थ — मध्यलोक के प्रथम द्वीप जम्बूद्वीप में जो भरतक्षेत्र है उसके आर्यखण्ड में जितने भी जिनबिम्ब विराजमान हैं, उन सबकी मेरे द्वारा स्तुति की जाती है॥१॥

केवलज्ञान लक्ष्मी से विभूषित श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार करके शारदा — सरस्वती माता को अपने हृदय में स्थापित करके मैं सभी गणधर देवों की वंदना करती हूँ॥२॥

वर्तमान में इस पृथिवीतल पर भगवान महावीर स्वामी का शासन चल रहा है और इन्द्रभूति गौतमगणधरस्वामी आदि महर्षियों की अनुवीचि — अविच्छिन्न क्रम परम्परा भी चल रही है॥३॥

उसी गुरुपरम्परा के मूलसंघ में इस समय आचार्य श्रीकुन्दकुन्द की आम्नाय में महान् बलात्कारगण एवं शारदा गच्छ भी विख्यात है॥४॥

इस परम्परारूपी मणिमाला में इस युग (बीसवीं शताब्दी) के प्रथम आचार्य के रूप में श्रीशान्तिसागर नाम के महान् चारित्रचक्रवर्ती दिगम्बर मुनिराज हुए हैं॥५॥

उनके प्रथम पट्टशिष्य आचार्य श्रीवीरसागर जी गुरुदेव हुए हैं जिनसे मैं अल्पज्ञ आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर “ज्ञानमती” रूप में प्रगट हुई अर्थात् ज्ञानमती नाम प्राप्त किया॥६॥

जिनकी कृपाप्रसाद से सर्वप्रथम गृहत्याग करके क्षुल्लिकादीक्षा धारण की थी, वे श्रीदेशभूषण नाम के आचार्यप्रवर मेरे आद्यगुरु हैं॥७॥

गुरुभक्त्या सरस्वत्याः, प्रसादाच्च मया मनाक्।
 शास्त्रमधीत्य शिष्याणा-मध्यापनरताभवम्॥८॥
 मुनयोऽप्यार्यिकाश्चापि, ह्यनेके ब्रह्मचारिणः।
 विद्यां शिक्षां गृहीत्वा मत्, कुर्वन्तीह प्रभावनाम्॥९॥
 षट्खण्डागमग्रन्थस्य, प्राक्खण्डे सत्प्ररूपणा।^१
 सूरिणा पुष्पदन्तेन, तत्सूत्राणि^२ कृतानि वै॥१०॥
 राजस्थाने पिडावाख्ये, ग्रामे भक्तजनाश्रिते।
 द्विद्विपंचद्विवीराब्दे, सप्तम्यां फाल्गुने सिते॥११॥
 तस्य सदनयोगस्य, सिद्धान्तज्ञानलब्धये।
 टीका चिन्तामणिर्नाम्ना, सिद्धान्तादिरपूर्यत॥१२॥
 तत्रस्थभाक्तिकैर्भक्त्या, श्रीपार्श्वसमवसृतेः।
 अस्मद्मंगलसानिध्ये, शिलान्यासोऽथ कारितः॥१३॥
 यावज्जैनेन्द्रधर्मोऽयं, नद्याच्च भुवि शांतिकृतः।
 तावच्चिन्तामणिर्नाम्ना, जीयाज्ज्ञानमतीकृतिः॥१४॥

गुरुभक्ति एवं सरस्वती माता के प्रसाद से मैंने कुछ शास्त्रों का अध्ययन करके संघस्थ अनेक शिष्यों को उनका अध्यापन भी कराया है॥८॥

अनेक मुनि, आर्यिका एवं ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी मुझसे विद्या और शिक्षा को ग्रहण करके अद्यावधि खूब धर्मप्रभावना कर रहे हैं॥९॥

षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में सत्प्ररूपणा नाम का जो प्रकरण है श्री पुष्पदन्त आचार्य ने उन सूत्रों की रचना की है अर्थात् उसके आगे के सूत्रों की रचना श्री भूतबली आचार्य ने की है॥१०॥

राजस्थान प्रान्त में पिडावा नाम का एक ग्राम है जहाँ भगवान् की भक्ति में अनुरक्त श्रावकगण निवास करते हैं, उस ग्राम में वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ बाईस (२५२२) की फाल्गुन शुक्ला सप्तमी तिथि को (२५ फरवरी १९९६ को) मैं संघ सहित पहुँची॥११॥

उसी दिन पिडावा में इस सत्प्ररूपणा ग्रंथ की “सिद्धान्तचिन्तामणि” नाम की टीका को मैंने लिखकर पूर्ण किया, यह टीका मेरे सैद्धान्तिकज्ञान को पूर्ण करने में निमित्त बने, यही भावना है॥१२॥

उसी फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन पिडावा के श्रद्धालु भक्तों ने मेरे ससंघ मंगल सानिध्य में श्रीपार्श्वनाथ समवसरण रचना का शिलान्यास भी किया था॥१३॥

जब तक इस धरती पर जिनेन्द्र भगवान् का जैनधर्म सभी को शांति को प्रदान करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता रहे तब तक मुझ गणिनी ज्ञानमती द्वारा रचित यह “सिद्धान्तचिन्तामणि” नाम की टीका भी पृथ्वी पर जयशील होती रहे, यही मेरी अभिलाषा है॥१४॥

१. ‘अस्ति’ इति क्रियाध्याहारः कर्तव्यः। २. ततोऽग्रे सर्वाणि सूत्राणि श्रीभूतबलिसूरिविरचितानीत्येवं सूच्यते।

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, पार्श्वनाथश्च मंगलम्।
 चतुर्विंशतितीर्थेशा, नित्यं कुर्वन्तु मंगलम्॥१५॥
 शारदा गुरवश्चापि, कुर्युर्जगति मंगलम्।
 जैनेन्द्रशासनं नित्यं, कुर्यात्सर्वस्य मंगलम्॥१६॥
 ॥इति शं भूयात्॥

अरिहंत परमेष्ठी हम सबके लिए मंगलकारी होवें एवं पार्श्वनाथ तीर्थकर भगवान् सबका मंगल करें तथा चौबीसो तीर्थकर भगवान् नित्य ही मंगलप्रद होवें॥१५॥

सरस्वती माता एवं साधुपरमेष्ठी गुरुजन इस जगत् में मंगल करें तथा जिनेन्द्र भगवान् का जैनशासन नित्य ही सबका मंगल करे, यही मंगलभावना है॥१६॥

भावार्थ — षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथमखण्ड की टीका का समापन करते हुए पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने उपर्युक्त प्रशस्ति में अपनी गुरुपरम्परा का किंचित् परिचय प्रदान किया है तथा ग्रंथ समापन की मंगलबेला में अपनी हार्दिक प्रसन्नता भी व्यक्त की है जो प्रत्येक ग्रंथरचयिता की मनोभावना का परिचायक है।

॥ इति शुभं ॥



हिन्दी टीकाकर्त्री की प्रशस्ति

-शंभु छंद-

अरिहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्वसाधु को नमन करूँ।
गुरु शांति सिंधु अरु वीर सिंधु के पद में भी शत नमन करूँ॥
बीसवीं सदी के प्रथम सूरि श्री शांतिसागराचार्य हुए।
उन प्रथम शिष्य श्री वीरसिंधु जी प्रथम पट्ट आचार्य हुए॥१॥

इन वीर सिंधु गुरु की शिष्या आर्यिका ज्ञानमति माताजी।
ये गणिनीप्रमुख बीसवीं सदी की प्रथम बालसति माताजी॥
इनकी शिष्या आर्यिका चंदनामती मात मैं कहलाई।
गार्हस्थ्य अवस्था की लघु भगिनी बन इनसे शिक्षा पाई॥२॥

गृहकूप से कर अवलम्बन दे मुझको निकाल भवपार किया।
अल्पायु में व्रत ब्रह्मचर्य देकर मेरा उद्धार किया॥
सन् उन्निस सौ नवासी तेरह^१ अगस्त मैंने दीक्षा पाई।
आगम अनुसार बने चर्या यह पहली गुरुशिक्षा पाई॥३॥

श्री गणिनीप्रमुख ज्ञानमति माताजी की छत्रच्छाया में।
रत्नत्रय आराधना के स्वर्णिम क्षणों को मैंने पाया है॥
षट्खण्डागम सूत्रों पर संस्कृत टीका रची मातुश्री ने।
सिद्धान्तसुचिन्तामणि टीका अनमोल निधी इस युग की है॥४॥

उसकी हिन्दी टीका लिखने का मुझको है सौभाग्य मिला।
इस माध्यम से मेरी आत्मा में सम्यग्ज्ञान प्रसून खिला॥
सिद्धान्त ग्रंथ स्वाध्याय से मानो ज्ञानामृत का पान किया।
अपने गुरुवर की ज्ञानगंग में हो प्रसन्न स्नान किया॥५॥

षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड में सत्प्ररूपणा सर्वप्रथम।
उसका हिन्दी अनुवाद पूर्ण कर धन्य हुआ मेरा जीवन॥
पच्चिस सौ चौबिस वीर संवत् फाल्गुन कृष्णा सप्तमि तिथि है।
जिनवर सुपार्श्व के मोक्षकल्याणक से पवित्र यह शुभ तिथि है॥६॥

अट्टारह फरवरि सन् उन्निस सौ अट्टानवे बुधवार दिवस।
श्री जम्बूद्वीप हस्तिनापुरि में सिद्ध मंदिरों के सम्मुख॥
श्री ज्ञानमती माताजी की सन्निधि में लेखन पूर्ण हुआ।
उनके करकमलों में कृति को अर्पण कर मन संतुष्ट हुआ॥७॥

गुरुचरणों में नतमस्तक हो बस यही कामना करती हूँ।
 मिल जावे ज्ञानशक्ति मुझको बस यही प्रार्थना करती हूँ॥
 इन षट्खण्डागम ग्रंथों की आगे भी हिन्दी लिख पाऊँ।
 स्वाध्याय अध्ययन कर अपने सिद्धांतज्ञान को प्रगटाऊँ॥८॥

जयशील रहे सिद्धांतसुचिंतामणि टीका इस धरती पर।
 जब तक सूरज चंदा तारे एवं नदियों का कल-कल स्वर॥
 गणिनी माता श्री ज्ञानमती के ज्ञान का भी सम्मान रहे।
 इन ग्रंथों का स्वाध्याय सतत करने वाले श्रुतज्ञान लहें॥९॥

॥ इति शुभं भूयात् ॥



परिशिष्ट

षट्खंडागम का विषय

-गणिनी ज्ञानमती

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥१॥

षट्खण्डागम की प्रथम पुस्तक सत्प्ररूपणा में सर्वप्रथम 'णमोकार महामंत्र' से मंगलाचरण किया है। इसमें १७७ सूत्र हैं। इस ग्रंथ की रचना श्रीमत्पुष्पदंत आचार्य ने की है। इसके आगे के संपूर्ण सूत्र श्रीमद् भूतबलि आचार्य प्रणीत हैं।

इस मंगलाचरण की धवला टीका में पांचों परमेष्ठी के लक्षण बताये हैं।

यह मंत्र अनादि है या श्री पुष्पदन्ताचार्य द्वारा रचित सादि है ?

मैंने 'सिद्धान्तचिन्तामणि' टीका में इसका स्पष्टीकरण किया है। धवला टीका में इसे 'निबद्धमंगल' कहकर आचार्यदेव रचित 'सादि' स्वीकार किया है। इसी मुद्रित प्रथम पुस्तक के टिप्पण में जो पाठ का अंश उद्धृत है वह धवलाटीका का ही अंश माना गया है। उसके आधार से यह मंगलाचरण 'अनादि' है। आचार्य श्री पुष्पदंत द्वारा रचित नहीं है, ऐसा स्पष्ट होता है। इस प्रकरण को मैंने दिया है। यथा —

अयं महामंत्र सादिरनादिर्वा ?

अथवा षट्खण्डागमस्य मु प्रतौ पाठांतरं। यथा — (मुद्रितमूलग्रन्थस्य प्रथमावृत्तौ)

“जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्धदेवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं”^१।

अस्यायमर्थः-यः सूत्रस्यादौ सूत्रकर्त्रा निबद्धः — संग्रहीतः न च ग्रथितः देवतानमस्कारः स निबद्धः मंगलं। यः सूत्रस्यादौ सूत्रकर्त्रा कृतः-ग्रथितः देवतानमस्कारः स अनिबद्धमंगलं। अनेन एतज्ज्ञायते-अयं महामंत्रः मंगलाचरणरूपेणात्र संग्रहीतोऽपि अनादिनिधनः, न तु केनापि रचितो ग्रथितो वा।

उक्तं च णमोकारमंत्रकल्पे श्रीसकलकीर्तिभट्टारकैः —

महापंच गुरोर्नाम नमस्कारसुसम्भवम्। महामंत्रं जगज्जेष्ठ-मनादिसिद्धमादिदम्॥६३॥

महापंचगुरूणां पंचत्रिंशदक्षरप्रमम्। उच्छ्वासैस्त्रिभिरेकाग्र-चेतसा भवहानये^२॥६८॥

श्रीमदुमास्वामिनापि प्रोक्तम् —

ये केचनापि सुषमाद्यरका अनन्ता, उत्सर्पिणी-प्रभृतयः प्रययुर्विवर्ताः।

तेष्वप्ययं परतरः प्रथितप्रभावो, लब्ध्वामुमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः^३॥३॥

यह महामंत्र सादि है अथवा अनादि ?

अथवा, मुद्रितमूल प्रति में (प्रथम आवृत्ति में) पाठान्तर है। जैसे —

जो सूत्र की आदि में सूत्रकर्त्ता के द्वारा देवता नमस्कार निबद्ध किया जाता है, वह निबद्धमंगल है और जो सूत्र की आदि में सूत्रकर्त्ता के द्वारा देवता नमस्कार किया जाता है-रचा जाता है, वह अनिबद्धमंगल है।

इसका अर्थ यह है—सूत्र ग्रंथ के प्रारंभ में ग्रंथकार जो देवता नमस्काररूप मंगल कहीं से संग्रहीत करते हैं, स्वयं नहीं रचते हैं वह तो निबद्धमंगल है और सूत्र के प्रारंभ में ग्रंथकर्ता के द्वारा जो देवतानमस्कार स्वयं रचा जाता है, वह अनिबद्धमंगल है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह णमोकार महामंत्र मंगलाचरणरूप से यहाँ संग्रहीत होते हुए भी अनादिनिधन है, वह मंत्र किसी के द्वारा रचित या गूँथा हुआ नहीं है। प्राकृतिक रूप से अनादिकाल से चला आ रहा है।

“णमोकार मंत्रकल्प” में श्री सकलकीर्ति भट्टारक ने कहा भी है —

श्लोकार्थ — नमस्कार मंत्र में रहने वाले पाँच महागुरुओं के नाम से निष्पन्न यह महामंत्र जगत में ज्येष्ठ — सबसे बड़ा और महान है, अनादिसिद्ध है और आदि अर्थात् प्रथम है।।६३॥

पाँच महागुरुओं के पैतीस अक्षर प्रमाण मंत्र को तीन श्वासोच्छ्वासों में संसार भ्रमण के नाश हेतु एकाग्रचित होकर सभी भव्यजनों को जपना चाहिए अथवा ध्यान करना चाहिए।।६८॥

श्रीमत् उमास्वामी आचार्य ने भी कहा है —

श्लोकार्थ — उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि के जो सुषमा, दुःषमा आदि अनन्त युग पहले व्यतीत हो चुके हैं उनमें भी यह णमोकार मंत्र सबसे अधिक महत्त्वशाली प्रसिद्ध हुआ है। मैं संसार से बहिर्भूत (बाहर) मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस णमोकार मंत्र को नमस्कार करता हूँ।।३॥

मैंने ‘सिद्धान्तचिन्तामणि टीका’ में सर्वत्र सूत्रों का विभाजन एवं समुदायपातनिका आदि बनाई हैं। यहाँ मैंने ‘समयसार’ ‘प्रवचनसार’ ‘पंचास्तिकाय’ ग्रंथों की ‘तात्पर्यवृत्ति’ टीका का अनुसरण किया है। श्री जयसेनाचार्य की टीका में सर्वत्र गाथासूत्रों की संख्या एवं विषयविभाजन से स्थल-अन्तरस्थल बने हुए हैं। उनकी टीका के अनुसार ही मैंने यहाँ स्थल-अन्तरस्थल विभाजित किये हैं।

सर्वत्र मंगलाचरणरूप में मैंने कहीं पद्य, कहीं गद्य का प्रयोग किया है। तीर्थ और विशेष स्थान की अपेक्षा से प्रायः वहाँ-वहाँ के तीर्थकरों को नमस्कार किया है।

यहाँ पर उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

जिनेन्द्रदेवमुखकमलविनिर्गत-गौतमस्वामिमुखकुण्डावतरित-पुष्पदंताचार्यादिविस्तारितगंगायाः जलसदृशं “नद्या नवघटे भृतं जलमिव” इयं टीका सर्वजनमनांसि संतर्पिष्यत्येवेतिमया विश्वस्यते।

अथाधुना श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्यदेवविनिर्मिते गुणस्थानादिविंशतिप्ररूपणान्तर्गर्भितसत्प्ररूपणा — नाम ग्रंथे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिका व्याख्यानं विधीयते। तत्रादौ ‘णमो अरिहंताणं’ इति पंचनमस्कारगाथामादिं कृत्वा सूत्रपाठक्रमेण गुणस्थानमार्गणा-प्रतिपादनसूचकत्वेन ‘एत्तो इमेसिं’ इत्यादिसूत्रसप्तकं। ततः चतुर्दशगुणस्थाननिरूपणपरत्वेन “संतपरूवणदाए” इत्यादि-षोडशसूत्राणि। ततः परं चतुर्दशमार्गणासु गुणस्थानव्यवस्था-व्यवस्थापन-मुख्यत्वेन “आदेसेण गदियाणुवादेण” इत्यादिना चतुःपञ्चाशदधिक-एकशतसूत्राणि सन्ति। एवं अनेकान्तरस्थलगर्भित-सप्त-सप्तत्यधिकएकशतसूत्रैः एते त्रयो महाधिकारा भवन्तीति सत्प्ररूपणायाः व्याख्याने समुदायपातनिका भवति।

अत्रापि प्रथममहाधिकारे ‘णमो’ इत्यादि मंगलाचरणरूपेण प्रथमस्थले गाथासूत्रमेकं। ततो गुणस्थानमार्गणा-कथनप्रतिज्ञारूपेण द्वितीयस्थले ‘एत्तो’ इत्यादि सूत्रमेकम्। ततश्च चतुर्दशमार्गणानां नामनिरूपणरूपेण तृतीयस्थले सूत्रद्वयं। ततः परं गुणस्थानप्रतिपादनार्थं अष्टानुयोगनामसूचनपरत्वेन चतुर्थस्थले ‘एदेसिं’ इत्यादिसूत्रत्रयं। एवं षट्खण्डागमग्रन्थराजस्य, सत्प्ररूपणायाः पीठिकाधिकारे

चतुर्भिर्न्तरस्थलैः सप्तसूत्रैः समुदायपातनिका सूचितास्ति।

अथ श्रीमद्भगवद्धरसेनगुरुमुखादुपलब्धज्ञानभव्यजनानां वितरणार्थं पंचमकालान्त्य-वीरांगजमुनिपर्यन्तं गमयितुकामेन पूर्वाचार्यव्यवहारपरंपरानुसारेण शिष्टाचारपरिपालनार्थं निर्विघ्नसिद्धान्तशास्त्रपरिसमाप्त्यादिहेतोः श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्येण णमोकारमहामन्त्रमंगलगाथा-सूत्रावतारः क्रियते —

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं॥१॥

जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निकलकर जो गौतमस्वामी के मुखरूपी कुण्ड में अवतरित गिरी है तथा पुष्पदन्त आचार्य आदि के द्वारा विस्तारित गंगाजल के समान “नदी से भरे हुए नये घड़े के जल सदृश” यह टीका सभी प्राणियों के मन को संतृप्त करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

अब यहाँ श्रीमान् पुष्पदन्त आचार्यदेव द्वारा रचित गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओं में अन्तर्गर्भित इस सत्प्ररूपणा नामक ग्रंथ में अधिकारशुद्धिपूर्वक पातनिका का व्याख्यान किया जाता है। उसमें सबसे पहले “णमो अरिहंताणं” इत्यादि इस पञ्चनमस्कार गाथा को आदि में करके सूत्र पाठ के क्रम से गुणस्थान, मार्गणा के प्रतिपादन की सूचना देने वाले “एत्तो इमेसिं” इत्यादि सात सूत्र हैं। उसके बाद चौदह गुणस्थानों के निरूपण की मुख्यता से “ओघेण अत्थि” इत्यादि सोलह सूत्र हैं। पुनः आगे चौदह मार्गणाओं में गुणस्थान व्यवस्था की मुख्यता से “आदेसेण गदियाणुवादेण” इत्यादि एक सौ चौव्वन (१५४) सूत्र हैं। इस प्रकार अनेक अन्तर्स्थलों से गर्भित एक सौ सत्तर (१७७) सूत्रों के द्वारा ये तीन महाधिकार हो गए हैं। सत्प्ररूपणा के व्याख्यान में यह समुदायपातनिका हुई।

यहाँ भी प्रथम महाधिकार में “णमो” इत्यादि मंगलाचरणरूप से प्रथम स्थल में एक गाथा सूत्र है पुनः द्वितीय स्थल में गुणस्थान-मार्गणा के कथन की प्रतिज्ञारूप से “एत्तो” इत्यादि एक सूत्र है और उसके बाद चौदह मार्गणाओं के नाम निरूपण रूप से तृतीय स्थल में दो सूत्र हैं। उसके आगे गुणस्थानों के प्रतिपादन हेतु आठ अनुयोग के नाम सूचना की मुख्यता से चतुर्थ स्थल में ‘एदेसिं’ इत्यादि तीन सूत्र हैं।

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रंथराज की सत्प्ररूपणा के पीठिका अधिकार में चार अन्तरस्थलों के द्वारा सूत्रों में समुदायपातनिका सूचित — प्रदर्शित की गई है।

अब श्रीमत् भगवान् धरसेनाचार्य गुरु के मुख से उपलब्ध ज्ञान को भव्यजनों में वितरित करने के लिए पंचमकाल के अन्त में वीरांगज मुनिपर्यन्त इस ज्ञान को ले जाने की इच्छा से, पूर्वाचार्यों की व्यवहार परम्परा के अनुसार, शिष्टाचार का परिपालन करने के लिए, निर्विघ्न सिद्धान्त शास्त्र की परिसमाप्ति आदि हेतु को लक्ष्य में रखते हुए श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य के द्वारा णमोकार महामन्त्र मंगल गाथा सूत्र का अवतार किया जाता है —

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥१॥

अतिशय क्षेत्र महावीर जी में मैंने ‘तृतीय महाधिकार’ प्रारंभ किया था अतः श्री महावीर स्वामी को नमस्कार किया है। यथा —

महावीरो जगत्स्वामी, सातिशायीति विश्रुतः।

तस्मै नमोऽस्तु मे भक्त्या, पूर्णसंयमलब्धये॥१॥

श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है—

“सुत्तमोदिण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंथदो गणहरदेवादोत्ति”॥

ये सूत्र अर्थप्ररूपणा की अपेक्षा से तीर्थंकर भगवान से अवतीर्ण हुए हैं और ग्रंथ की अपेक्षा श्री गणधर देव से अवतीर्ण हुए हैं।

अथवा ‘जिनपालित’ शिष्य को निमित्त कहा है।

श्री पुष्पदंताचार्य ने अपने भानजे ‘जिनपालित’ को दीक्षा देकर प्रारंभिक १७७ सूत्रों की रचना करके भूतबलि आचार्य के पास भेजा था। ऐसा ‘धवलाटीका’ में एवं श्रुतावतार में वर्णित है।

इस मंगलाचरण को सूत्र १ संज्ञा दी है। आगे द्वितीय सूत्र का अवतार हुआ है—

एत्तो इमेसिं चोहसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्टुदाए तत्थ इमाणि चोहस चेवट्टाणाणि णादव्वाणि भवंति॥२॥

इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप प्रमाण से इन चौदह गुणस्थानों के अन्वेषणरूप प्रयोजन के लिए यहाँ से चौदह ही मार्गणास्थान जानने योग्य हैं।

ऐसा कहकर पहले चौदह मार्गणाओं के नाम बताए हैं। यथा— गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणा हैं।

पुनः पांचवें सूत्र में कहा है—

इन्हीं चौदह गुणस्थानों का निरूपण करने के लिए आगे कहे जाने वाले आठ अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं॥६॥

इन आठों के नाम— १. सत्प्ररूपणा २. द्रव्यप्रमाणानुगम ३. क्षेत्रानुगम ४. स्पर्शनानुगम ५. कालानुगम ६. अन्तरानुगम ७. भावानुगम और ८. अल्पबहुत्वानुगम।

आगे प्रथम ‘सत्प्ररूपणा’ का वर्णन करते हुए ओघ और आदेश की अपेक्षा निरूपण करने को कहा है। इसी में ओघ की अपेक्षा चौदह गुणस्थानों का वर्णन है और आगे चौदह मार्गणाओं का वर्णन करके उनमें गुणस्थानों को भी घटित किया है। मार्गणाओं के नाम ऊपर लिखे गये हैं। गुणस्थानों के नाम—

१. मिथ्यात्व २. सासादन ३. मिश्र ४. असंयतसम्यग्दृष्टि ५. देशसंयत ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्तसंयत ८. अपूर्वकरण ९. अनिवृत्तिकरण १०. सूक्ष्मसांपराय ११. उपशांतकषाय १२. क्षीणकषाय १३. सयोगिकेवली और १४. अयोगिकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं।

इस ग्रंथ में मैंने तीन महाधिकार विभक्त किये हैं। प्रथम महाधिकार में सात सूत्र हैं जो कि ग्रंथ की पीठिका— भूमिकारूप हैं। दूसरे महाधिकार सत्प्ररूपणा के अंतर्गत १६ सूत्रों में चौदह गुणस्थानों का वर्णन है एवं तृतीय महाधिकार में मार्गणाओं में गुणस्थानों की व्यवस्था करते हुए विस्तार से १५४ सूत्र लिए हैं।

इस प्रथम ग्रंथ में प्रारंभ में पंच परमेष्ठियों के वर्णन में एक सुन्दर प्रश्नोत्तर धवला टीका में आया है जिसे मैंने जैसे का तैसा लिया है। यथा—

“संपूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेत् ?

१. षट्खण्डागम (सिद्धान्तचिन्तामणिटीका समन्वित) पु. १, पृ. ४७।

न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः.....। इत्यादि।

शंका — संपूर्णरत्न — पूर्णता को प्राप्त रत्नत्रय ही देव है, रत्नों का एकदेश देव नहीं हो सकता है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि रत्नत्रय के एकदेश में देवपने का अभाव होने पर उसकी संपूर्णता में भी देवपना नहीं बन सकता है।

शंका — आचार्य आदि में स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि उसमें एकदेशपना ही है, पूर्णता नहीं है ?

समाधान — यह कथन समुचित नहीं है, क्योंकि पलालराशि — घास की राशि को जलाने का कार्य अग्नि के एक कण में भी देखा जाता है इसलिए आचार्य, उपाध्याय और साधु भी देव हैं^१।”

यह समाधान श्री वीरसेनाचार्य ने बहुत ही उत्तम बताया है।

प्रथम पुस्तक ‘सत्प्ररूपणाग्रंथ’ की टीका को पूर्ण करते समय मैंने उस स्थान का विवरण दे दिया है। यथा —

“वीराब्दे द्वाविंशत्यधिकपंचविंशतिशततमे फाल्गुनशुक्लासप्तम्यां ख्रिष्टाब्दे षण्णवत्यधि-
कैकोनविंशतिशततमे पंचविंशे दिनांके द्वितीयमासि (२५-२-१९९६) राजस्थान प्रान्ते
‘पिडावानामग्रामे’ श्री पार्श्वनाथसमवसरणमंदिरशिलान्यासस्य मंगलावसरे एतत्सत्प्ररूपणाग्रन्थस्य
‘सिद्धान्तचिन्तामणिटीकां’ पूरयन्त्या मया महान् हर्षोऽनुभूयते। टीकासहितोऽयं ग्रन्थो मम श्रुतज्ञानस्य
पूर्त्यै भूयात्।”

पुनः वीर निर्वाण संवत् पच्चीस सौ बाईसवें वर्ष में ही फाल्गुन शुक्ला सप्तमी तिथि को ईसवी सन् १९९६ के द्वितीय मास की २५ तारीख को राजस्थान प्रान्त के पिडावा ग्राम में श्रीपार्श्वनाथ समवसरण मंदिर के शिलान्यास के मंगल अवसर पर इस ‘सत्प्ररूपणा’ ग्रंथ की ‘सिद्धान्तचिन्तामणिटीका’ को पूर्ण करते हुए मुझे अत्यंत हर्ष की अनुभूति हो रही है। टीका सहित यह सत्प्ररूपणा नामक ‘षट्खण्डागम’ ग्रंथ मेरे श्रुतज्ञान की पूर्ति के लिए होवे, यही मेरी प्रार्थना है।

पुस्तक २ — आलाप अधिकार

यह द्वितीय ग्रंथ सत्प्ररूपणा के ही अंतर्गत है। इसमें सूत्र नहीं हैं।

“संपहि संत-सुतविवरण-समत्ताणंतरं तेसिं परुवणं भणिस्सामो।”

सत्प्ररूपणा के सूत्रों का विवरण समाप्त हो जाने पर अनंतर अब उनकी प्ररूपणा का वर्णन करते हैं —

शंका — प्ररूपणा किसे कहते हैं ?

समाधान — सामान्य और विशेष की अपेक्षा गुणस्थानों में, जीवसमासों में, पर्याप्तियों में, प्राणों में, संज्ञाओं में, गतियों में, इन्द्रियों में, कार्यों में, योगों में, वेदों में, कषायों में, ज्ञानों में, संयमों में, दर्शनों में, लेश्याओं में, भव्यों में, अभव्यों में, संज्ञी-असंज्ञियों में, आहारी-अनाहारियों में और उपयोगों में पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणों से विशेषित करके जो जीवों की परीक्षा की जाती है, उसे प्ररूपणा कहते हैं। कहा भी है —

गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएं और उपयोग, इस प्रकार क्रम से बीस प्ररूपणाएं कही गई हैं।

इनके कोष्ठक गुणस्थानों के एवं मार्गणाओं के बनाये गये हैं।

गुणस्थान १४ हैं, जीवसमास १४ हैं — एकेन्द्रिय के बादर-सूक्ष्म ऐसे २, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ऐसे ३, पंचेन्द्रिय के संज्ञी-असंज्ञी ऐसे २, ये ७, हुए इन्हें पर्याप्त-अपर्याप्त से गुणा करने पर १४ हुए। पर्याप्ति ६ — आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। प्राण १० हैं — पांच इन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। संज्ञा ४ हैं — आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। गति ४ हैं — नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति। इन्द्रियां ५ हैं — एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति। काय ६ हैं — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय। योग १५ हैं — सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कर्मणकाय योग। वेद ३ हैं — स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। कषाय ४ हैं — क्रोध, मान, माया, लोभ। ज्ञान ८ हैं — मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि। संयम ७ हैं — सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, देशसंयम और असंयम। दर्शन ४ हैं — चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। लेश्या ६ हैं — कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। भव्य मार्गणा २ हैं — भव्यत्व और अभव्यत्व। सम्यक्त्व ६ हैं — औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र। संज्ञी मार्गणा के २ भेद हैं — संज्ञी, असंज्ञी। आहार मार्गणा २ हैं — आहार, अनाहार। उपयोग के २ भेद हैं — साकार और अनाकार।

इस ग्रंथ को मैंने दो महाधिकारों में विभक्त किया है। इसमें कुल ५४५ कोष्ठक — चार्ट हैं। उदाहरण के लिए पांचवें गुणस्थान का एक चार्ट दिया जा रहा है —

नं. १३

संयतासंयतों के आलाप

गु.	जी.	प.	प्रा.	सं.	ग.	इं.	का.	यो.	वे.	क.	ज्ञा.	संय.	द.	ले.	भ.	स.	संज्ञि.	आ.	उ.
१	१	६	१०	४	२	१	१	९	३	४	३	१	३	द्र.३	१	३	१	१	२
सं.प.					म. ति.	पंचे.	त्रस.	म.४ व. ४ औ.१			मति. श्रुत. अव.	संय. मि.	के.द. विना.	भा.३ शुभ.	भ.	औ. क्षायो.	सं.	आहार	साकार अनाकार

इनमें से संयतासंयत के कोष्ठक में —

गुणस्थान १ है — पाँचवाँ देशसंयत। जीवसमास १ है — संज्ञीपर्याप्त। पर्याप्तियाँ छहों हैं, अपर्याप्तियाँ नहीं हैं। प्राण १० हैं। संज्ञायें ४ हैं। गति २ हैं — मनुष्य, तिर्यच। इंद्रिय १ है — पंचेन्द्रिय। काय १ है — त्रसकाय। योग ९ हैं — ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, १ औदारिक काययोग। वेद ३ हैं। कषाय ४ हैं। ज्ञान ३ हैं — मति, श्रुत, अवधि। संयम १ है — संयमासंयम। दर्शन ३ हैं — केवलदर्शन के बिना। लेश्या द्रव्य से — वर्ण से छहों हैं, भावलेश्या शुभ ३ हैं। भव्यत्व १ है। सम्यक्त्व ३ हैं — औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। संज्ञीमार्गणा १ है — संज्ञी। आहार मार्गणा १ है — आहारक। उपयोग २ हैं — साकार और अनाकार। यही सब चार्ट में दिखाया गया है।

इस प्रकार यह दूसरी पुस्तक का सार अतिसंक्षेप में बताया गया है।

पुस्तक ३ — द्रव्यप्रमाणानुगम

इस ग्रंथ में श्री भूतबलि आचार्य वर्णित सूत्र हैं अब यहाँ से संपूर्ण 'षट्खण्डागम' सूत्रों की रचना इन्हीं श्रीभूतबलि आचार्य द्वारा लिखित है। कहा भी है —

“संपहि चोदसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव पदिमाणपडिबोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह^१ — ”

जिन्होंने चौदहों गुणस्थानों के अस्तित्व को जान लिया है, ऐसे शिष्यों को अब उन्हीं के चौदहों गुणस्थानों के — चौदहों गुणस्थानवर्ती जीवों के परिमाण — संख्या के ज्ञान को कराने के लिए श्रीभूतबलि आचार्य आगे का सूत्र कहते हैं —

इसमें प्रथम सूत्र —

“द्व्यपमाणाणुगमेण दुविहो णिहेसो ओघेण आदेसेण य।।१।।

द्रव्यप्रमाणानुगम की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार का है, ओघ निर्देश और आदेशनिर्देश। ओघ — गुणस्थान और आदेश — मार्गणा इन दोनों की अपेक्षा से उन-उन में जीवों का वर्णन किया गया है।

इस ग्रंथ में भी मैंने दो अनुयोगद्वार लिये हैं — द्रव्यप्रमाणानुगम और क्षेत्रानुगम। अतः इन दोनों में चार महाधिकार किये हैं। क्षेत्रानुगम में तृतीय महाधिकार में ४ सूत्र एवं चतुर्थ महाधिकार में ८८ सूत्र हैं, ऐसे कुल सूत्र ९२ हैं। दोनों अनुयोगद्वारों में सूत्र १९२+९२=२८४ हैं। द्रव्यप्रमाणानुगम में प्रथम महाधिकार में १४ सूत्र हैं एवं द्वितीय में १७८ हैं, ऐसे कुल सूत्र १९२ हैं।

चौदह गुणस्थानों में जीवों की संख्या बतलाते हैं —

प्रथम गुणस्थान में जीव अनंतानंत हैं। द्वितीय गुणस्थान में ५२ करोड़ हैं। तृतीय गुणस्थान में १०४ करोड़ हैं। चतुर्थ गुणस्थान में सात सौ करोड़ हैं। पाँचवे गुणस्थान में १३ करोड़ हैं।

प्रमत्तसंयत नाम के छठे गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली नाम के चौदहवें गुणस्थान के महामुनि एवं अरहंत भगवान् 'संयत' कहलाते हैं। उन सबकी संख्या मिलाकर 'तीन कम नव करोड़' है। धवला टीका में कहा है —

“एवं परुविदसव्वसंजदरासिमैकट्ठे कदे अट्ठकोडीओ णवणउदिलक्खा णवणउदिसहस्स-णवसद-सत्ताणउदिमेत्तो होदि^२।”

इसी तृतीय पुस्तक में दूसरा एक और मत प्राप्त हुआ है —

“एदे सव्वसंजदे एयट्ठे कदे सत्तरसद-कम्मभूमिगद-सव्वरिसओ भवंति। तेसिं पमाणं छक्कोडीओ णवणउडलक्खा णवणउदिसहस्सा णवसयछण्णउदिमेत्तं हवदि^३।” सर्वसंयतों की संख्या छह करोड़, निन्यानवे लाख, निन्यानवे हजार, नव सौ छयानवे है।

इन दोनों मतों को श्री वीरसेनाचार्य ने उद्धृत किया है।

वर्तमान में प्रसिद्धि में 'तीन कम नव करोड़' संख्या ही है।

इन सर्वमुनियों को नमस्कार करके यहाँ इस ग्रंथ का किंचित् सार दिया है। इसकी सिद्धान्तचिंतामणि टीका में मैंने अधिकांश गणित प्रकरण छोड़ दिया है, जो कि धवलाटीका में द्रष्टव्य है।

श्री वीरसेनाचार्य ने आकाश को क्षेत्र कहा है। आकाश का कोई स्वामी नहीं है, इस क्षेत्र की उत्पत्ति में १. षट्खण्डागम, धवलाटीकासमन्वित, पु. ३, पृ. ९७। २. षट्खण्डागम, धवलाटीकासमन्वित, पु. ३, पृ. ९२।

कोई निमित्त भी नहीं है यह स्वयं में ही आधार-आधेयरूप है। यह क्षेत्र अनादिनिधन है और भेद की अपेक्षा लोकाकाश-अलोकाकाश ऐसे दो भेद हैं। इस प्रकार निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से क्षेत्र का वर्णन किया है।

क्षेत्र में गुणस्थानवर्ती जीवों को घटित करते हुए कहा है —

“ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे॥२॥

मिथ्यादृष्टि जीव कितने क्षेत्र में हैं ? सर्वलोक में हैं॥२॥

सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभाए॥३॥

सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवलीपर्यंत कितने क्षेत्र में हैं ? लोक के असंख्यातवें भाग में हैं॥३॥

इसमें एक प्रश्न हुआ है —

लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है, उसमें अनंतानंत जीव कैसे समायेंगे ?

यद्यपि लोक असंख्यात प्रदेशी है फिर भी उसमें अवगाहनशक्ति विशेष है जिससे उसमें अनंतानंत जीव एवं अनंतानंत पुद्गल समाविष्ट हैं। जैसे मधु से भरे हुए घड़े में उतना ही दूध भर दो, उसी में समा जायेगा^१।

इस अनुयोगद्वारा में स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद ऐसे तीन भेदों द्वारा जीवों के क्षेत्र का वर्णन किया है।

इस ग्रंथ की पूर्ति मैंने मांगीतुंगी तीर्थ पर श्रावण कृ. १० को ईसवी सन् १९९६ में की है।

पुस्तक ४ — स्पर्शन-कालानुगम

इस चतुर्थ ग्रंथ — पुस्तक में स्पर्शनानुगम एवं कालानुगम इन दो अनुयोगद्वारों का वर्णन है।

इन दोनों की सूत्र संख्या १८५+३४२=५२७ है।

स्पर्शनानुगम — इसमें भी मैंने गुणस्थान और मार्गणा की अपेक्षा दो महाधिकार किये हैं। यह स्पर्शन भूतकाल एवं वर्तमानकाल के स्पर्श की अपेक्षा रखता है। पूर्व में जिसका स्पर्श किया था और वर्तमान में जिसका स्पर्श कर रहे हैं, इन दोनों की अपेक्षा से स्पर्शन का कथन किया जाता है।

स्पर्शन में छह प्रकार के निक्षेप घटित किये हैं — नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावस्पर्शन।

‘तत्र स्पर्शनशब्दः’ नाम स्पर्शनं निक्षेपः, अयं द्रव्यार्थिकनयविषयः।

सोऽयं इति बुद्ध्या अन्यद्रव्येण सह अन्यद्रव्यस्य एकत्वकरणं स्थापनास्पर्शनं यथा घटपिठरादिषु अयं ऋषभोऽजितः संभवोऽभिनंदनः इति। एषोऽपि द्रव्यार्थिकनयविषयः^२।”

स्पर्शन शब्द नामस्पर्शन है। यह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। यह वही है, ऐसी बुद्धि से अन्य द्रव्य के साथ अन्यद्रव्य का एकत्व करना स्थापनास्पर्शन निक्षेप है जैसे घट आदि में ये ऋषभदेव हैं, अजितनाथ हैं, संभवनाथ हैं, अभिनंदननाथ हैं इत्यादि। यह भी द्रव्यार्थिक नय का विषय है। इत्यादि निक्षेपों का वर्णन है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से प्ररूपणा करते हुए कहा है —

स्वस्थानस्वस्थान-वेदना-कषाय-मारणांतिक-उपपादगतमिथ्यादृष्टियों ने भूतकाल एवं वर्तमानकाल से सर्वलोक को स्पर्श किया है।

इसी प्रकार गुणस्थान और मार्गणाओं में जीवों के भूतकालीन, वर्तमानकालीन स्पर्शन का वर्णन किया है।

कालानुगम—इसमें भी गुणस्थान और मार्गणा की अपेक्षा दो महाधिकार कहे हैं। काल को नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ऐसे चार भेद रूप से कहा है पुनश्च — ‘नो आगमभावकाल’ से इस ग्रंथ में वर्णन किया है।

यह काल अनादि अनंत है, एक विध है, यह सामान्य कथन है। काल के भूत, वर्तमान और भविष्यत् की अपेक्षा तीन भेद हैं।

एक प्रश्न आया है—

स्वर्गलोक में सूर्य के गति की अपेक्षा नहीं होने से वहां मास, वर्ष आदि का व्यवहार कैसे होगा ?

तब आचार्यदेव ने समाधान दिया है—

यहाँ के व्यवहार की अपेक्षा ही वहाँ पर ‘काल’ का व्यवहार है। जैसे जब यहाँ ‘कार्तिक’ आदि मास में आष्टान्हिक पर्व आते हैं, तब देवगण नंदीश्वर द्वीप आदि में पूजा करने पहुँच जाते हैं इत्यादि।

नाना जीव की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि का सर्वकाल है॥२॥

एकजीव की अपेक्षा किसी का अनादिअनंत है, किसी का अनादिसांत है, किसी का सादिसांत है। इनमें से जो सादि और सांत काल है, उसका निर्देश इस प्रकार है। एक जीव की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव का सादिसांत काल जघन्य से अंतर्मुहूर्त है*॥३॥

वह इस प्रकार है—

कोई सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा संयतासंयत, अथवा प्रमत्तसंयतजीव, परिणामों के निमित्त से मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। सर्वजघन्य अंतर्मुहूर्त काल रह करके, फिर भी सम्यक्त्वमिथ्यात्व को अथवा असंयम के साथ सम्यक्त्व को, अथवा संयमासंयम को, अथवा अप्रमत्तभाव के साथ संयम को प्राप्त हुआ। इस प्रकार से प्राप्त होने वाले जीव के मिथ्यात्व का सर्वजघन्य काल होता है*।

इस प्रकार यह कालानुगम का संक्षिप्त सार दिखाया है।

इस ग्रंथ की टीका मैंने मांगीतुंगी क्षेत्र पर भाद्रपद शु. ३, वी.सं. २५२२, दिनाँक १५-९-१९९६ को लिखकर पूर्ण की है।

पुस्तक ५ — अन्तर-भाव-अल्पबहुत्वानुगम

इस ग्रंथ में अन्तरानुगम में ३९७ सूत्र हैं, भावानुगम में ९३ सूत्र हैं एवं अल्पबहुत्वानुगम में ३८२ सूत्र हैं। इस प्रकार ३९७+९३+३८२=८७२ सूत्र हैं।

अन्तरानुगम—इस ग्रंथ की सिद्धान्तचिन्तामणि टीका में मैंने दो महाधिकार विभक्त किये हैं। प्रथम महाधिकार में गुणस्थानों में अंतर का निरूपण है। द्वितीय महाधिकार में मार्गणाओं में अंतर दिखाया गया है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छहविध निक्षेप हैं। अंतर, उच्छेद, विरह, परिणामान्तरगमन, नास्तित्वगमन और अन्यभावव्यवधान, ये सब एकार्थवाची हैं। इस प्रकार के अन्तर के अनुगम को अन्तरानुगम कहते हैं।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर काल अंतर्मुहूर्त है॥३॥

जैसे एक मिथ्यादृष्टि जीव, सम्यग्मिथ्यात्व, अविरतसम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम में बहुत बार परिवर्तित होता हुआ परिणामों के निमित्त से सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और वहाँ पर सर्वलघु अंतर्मुहूर्त काल

तक सम्यक्त्व के साथ रहकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार सर्वजघन्य अंतर्मुहूर्त प्रमाण मिथ्यात्वगुणस्थान का अंतर प्राप्त हो गया।

मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अंतर कुछ कम दो छयासठ सागरोपम काल है॥४॥

इन ग्रंथों के स्वाध्याय में जो आल्हाद उत्पन्न होता है, वह असंख्यात गुणश्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा का कारण है। यहाँ तो मात्र नमूना प्रस्तुत किया जा रहा है।

भावानुगम — इसमें भी महाधिकार दो हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इनकी अपेक्षा यह भाव चार प्रकार का है। इसमें भी भावनिक्षेप के आगमभाव एवं नोआगमभाव ऐसे दो भेद हैं। नोआगमभाव नामक भावनिक्षेप के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पाँच भेद हैं।

असंयतसम्यग्दृष्टि में कौन सा भाव है ?

औपशमिकभाव भी है, क्षायिकभाव भी है और क्षायोपशमिक भाव भी है॥५॥

यहाँ सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से ये भाव कहे हैं। यद्यपि यहाँ औदयिक भावों में से गति, कषाय आदि भी हैं किन्तु उनसे सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता इसलिए उनकी यहाँ विवक्षा नहीं है।

अल्पबहुत्वानुगम — इस अनुयोगद्वार के प्रारंभ में मैंने गद्यरूप में श्री महावीर स्वामी को नमस्कार किया है। इसमें भी दो महाधिकार विभक्त किये हैं।

इस अल्पबहुत्व में गुणस्थान और मार्गणाओं में सबसे अल्प कौन हैं ? और अधिक कौन हैं ? यही दिखाया गया है। यथा —

सामान्यतया — गुणस्थान की अपेक्षा से अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों में उपशामक जीव प्रवेश की अपेक्षा परस्पर तुल्य हैं तथा अन्य सब गुणस्थानों के प्रमाण से अल्प हैं^१॥२॥

और 'मिथ्यादृष्टि सबसे अधिक अनंतगुणे है'^२॥४॥

इस ग्रंथ में भी बहुत से महत्वपूर्ण विषय ज्ञातव्य हैं। जैसे कि—“दर्शन मोहनीय का क्षपण करने वाले — क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट करने वाले जीव नियम से मनुष्यगति में होते हैं।”

जिन्होंने पहले तिर्यचायु का बंध कर लिया है ऐसे जो भी मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व के साथ तिर्यचों में उत्पन्न होते हैं उनके संयमासंयम नहीं होता है, क्योंकि भोगभूमि को छोड़कर उनकी अन्यत्र उत्पत्ति असंभव है^३।”

यह सभी साररूप अंश मैंने यहाँ दिये हैं। अपने ज्ञान के क्षयोपशम के अनुसार इन-इन ग्रंथों का स्वाध्याय श्रुतज्ञान की वृद्धि एवं आत्मा में आनंद की अनुभूति के लिए करना चाहिए।

इस ग्रंथ की टीका की पूर्ति मैंने अंकलेश्वर-गुजरात में मगसिर कृ. ७, वीर नि. सं. २५२३, दिनांक २-१२-१९९६ को की है।

पुस्तक ६ — जीवस्थान चूलिका

इस ग्रंथ में चूलिका के नौ भेद हैं — १. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २. स्थान समुत्कीर्तन ३. प्रथम महादण्डक ४. द्वितीय महादण्डक ५. तृतीय महादण्डक ६. उत्कृष्टस्थिति ७. जघन्यस्थिति ८. सम्यक्त्वोत्पत्ति एवं ९. गत्यागती चूलिका।

१-२. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ५, पृ. २४३-२५२।

३. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ५, पृ. २५६।

इसमें क्रमशः सूत्रों की संख्या — ४६+११७+२+२+४४+४३+१६+२४३=५१५ है।

चूलिका — पूर्वोक्त आठों अनुयोगद्वारों के विषय — स्थलों के विवरण के लिए यह चूलिका नामक अधिकार आया है।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन — इस चूलिका में ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकृतियों का वर्णन करके उनके १४८ भेदों का भी निरूपण किया है।

२. स्थानसमुत्कीर्तन — स्थान, स्थिति और अवस्थान ये तीनों एकार्थक हैं। समुत्कीर्तन, वर्णन और प्ररूपण इनका भी अर्थ एक ही है। स्थान की समुत्कीर्तना — स्थान समुत्कीर्तन है।

पहले प्रकृति समुत्कीर्तन में जिन प्रकृतियों का निरूपण कर आये हैं, उन प्रकृतियों का क्या एक साथ बंध होता है ? अथवा क्रम से होता है ? ऐसा पूछने पर इस प्रकार होता है। यह बात बतलाने के लिए यह स्थान समुत्कीर्तन है।

वह प्रकृतिस्थान मिथ्यादृष्टि के अथवा सासादन के, सम्यग्मिथ्यादृष्टि के, असंयतसम्यग्दृष्टि के, संयतासंयत के और संयत के होता है। ऐसे यहाँ छह स्थान ही विवक्षित हैं। क्योंकि 'संयत' पद से छठे, सातवें, आठवें, नवमें, दशवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती संयतों को लिया है। अयोगकेवली गुणस्थान में बंध का ही अभाव है अतः उन्हें नहीं लिया है।

जैसे ज्ञानावरण की पाँचों प्रकृतियों का बंध छहों स्थानों में अर्थात् दशवें गुणस्थान तक संयतों में बंध होता है इत्यादि।

३. प्रथम महादण्डक — प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के लिए अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीवों के द्वारा बंधने वाली प्रकृतियों का ज्ञान कराने के लिए यहाँ तीन महादण्डकों की प्ररूपणा आई है।

इसमें प्रथम महादण्डक का कथन सम्यक्त्व के अभिमुख जीवों के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों की समुत्कीर्तना करने के लिए हुआ है। विशेषता यह है कि —

“एदस्सवगमेण महापावक्खयस्सुवलंभादो”।”

क्योंकि इसके ज्ञान से महापाप का क्षय पाया जाता है।

४. द्वितीय महादण्डक — प्रकृतियों के भेद से और स्वामित्व के भेद से इन दोनों दण्डकों में भेद कहा गया है।

५. तृतीय महादण्डक — प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख ऐसा नीचे सातवीं पृथ्वी का नारकी मिथ्यादृष्टि जीव, पाँचों ज्ञानावरण, नवों दर्शनावरण, साता वेदनीय, मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी आदि १६ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन प्रकृतियों को बांधता है इत्यादि।

६. उत्कृष्ट कर्मस्थिति — कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधने वाला जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण किया जा रहा है।

७. जघन्यस्थिति — उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा जो स्थिति बंधती है, वह जघन्य होती है। इत्यादि का विस्तार से कथन है।

८. सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका — जिन प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों को बाँधता हुआ, जिन प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के द्वारा सत्त्वस्वरूप होते हुए और उदीरणा को प्राप्त होते हुए यह जीव

सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उनकी प्ररूपणा की गई है।

“प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्त और सर्वविशुद्ध होता है^१॥४॥”

आगे — “दर्शनमोहनीय कर्म का क्षण करने के लिए आरंभ करता हुआ यह जीव कहाँ पर आरंभ करता है ? अढ़ाई द्वीप समुद्रों में स्थित पंद्रह कर्मभूमियों में जहाँ जिस काल में जिनकेवली और तीर्थकर होते हैं, वहाँ उस काल में आरंभ करता है^२॥११॥”

ऐसे दो नमूने प्रस्तुत किये हैं।

९. गत्यागती चूलिका — इसमें सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाह्य कारणों को विशेषरूप से वर्णित किया है —

प्रश्न हुआ—“तिर्यच मिथ्यादृष्टि कितने कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं ?॥२१॥

तीन कारणों से — कोई जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, कितने ही जिनबिंबों के दर्शन से॥२२॥

पुनः प्रश्न होता है — जिनबिंब दर्शन प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति में कारण कैसे है ? उत्तर देते हैं —

“जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। तथा चोक्तं —

दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्। शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा^३॥१॥”

जिनप्रतिमाओं के दर्शन से निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिंब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण देखा जाता है। कहा भी है — जिनेन्द्रदेवों के दर्शन से पापसंघातरूपी कुंजरपर्वत के सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार वज्र के गिरने से पर्वत के सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं।

२१६ सूत्र की टीका में अन्य ग्रंथों के उद्धरण भी दिये गये हैं। नमूने के लिए प्रस्तुत हैं —

आत्मज्ञातृतया ज्ञानं, सम्यक्त्वं चरितं हि सः। स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः^४॥

इस प्रथमखण्ड ‘जीवस्थान’ की छठी पुस्तक की टीका मैंने अपनी दीक्षाभूमि “माधोराजपुरा” राजस्थान में पूर्ण की है। उसमें मैंने संक्षेप में तीन श्लोक दिये हैं —

देवशास्त्रगुरुन् नत्वा, नित्य भक्त्या त्रिशुद्धितः। षट्खण्डागमग्रंथोऽयं, वन्द्यते ज्ञानवृद्धये॥१॥

द्वित्रिपंचद्विवीराब्दे, फाल्गुनेऽसितपक्षाके। माधोराजपुराग्रामे, त्रयोदश्यां जिनालये॥२॥

नमः श्रीशांतिनाथाय, सर्वसिद्धिप्रदायिने। यस्य पादप्रसादेन, टीकेयं पर्यपूर्णतः॥३॥

मैंने शरदपूर्णिमा को वी.सं.२५२१ में हस्तिनापुर में यह टीका लिखना प्रारंभ किया था। मुझे प्रसन्नता है कि फाल्गुन कृष्णा १३, वी. नि. सं. २५२३, दि. ७-३-१९९७ को माधोराजपुरा में मैंने यह प्रथम खंड की टीका पूर्ण की है। यह टीका मांगीतुंगी यात्रा विहार के मध्य आते-जाते लगभग ३६ सौ किमी. के मध्य में मार्ग में अधिकरूप में लिखी गई है।

मैंने इसे सरस्वती देवी की अनुकंपा एवं माहात्म्य ही माना है। इसमें स्वयं में मुझे ‘आश्चर्य’ हुआ है। जैसा कि मैंने लिखा है —

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ६, पृ. २०६। २. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ६, पृ. २४२।

३. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ६, पृ. ४२८। ४. तत्त्वार्थसार का उद्धरण।

“पुनश्च हस्तिनापुरतीर्थक्षेत्रे विनिर्मितकृत्रिमजंबूद्वीपस्य सुदर्शनमेवादिपर्वतामुपरि विराजमान-सर्वजिनबिंबानि मुहुर्मुहुः प्रणम्य यत् सिद्धान्तचिन्तामणिटीकालेखनकार्यं एकविंशत्युत्तरपंचविंशतिशततमे मया प्रारब्धं, तदधुना मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्रस्य यात्रायाः मंगलविहारकाले त्रयोविंशत्युत्तरपंचविंशतिशततमे वीराब्दे मार्गे एव निर्विघ्नतया जिनदेवकृपाप्रसादेन महद्दुर्घोल्लासेन समाप्यते। एतत् सरस्वत्या देव्यः अनुकंपामाहात्म्यमेव विज्ञायते, मयैव महदाश्चर्यं प्रतीयते।”

इस खंड में कुल सूत्र संख्या १७७+१२८४+५२७+८७२+५१५=२३७५ है।

मेरे द्वारा लिखित पेजों की संख्या १६१+८८+१३०+१८९+१९३+१८७=९४८ है।

इस प्रकार ‘जीवस्थान’ नामक प्रथम खण्ड (अंतर्गत छह पुस्तकों) का यह संक्षिप्त सार मैंने लिखा है।

द्वितीय खण्ड — क्षुद्रकबंध

इसे प्राकृत भाषा में ‘खुद्दाबंध’ कहते हैं एवं संस्कृत भाषा में ‘क्षुद्रकबंध’ नाम है।

इसे क्षुद्रक बंध कहने का अभिप्राय यह है कि —

आगे स्वयं भूतबलि आचार्य ने ‘तीस हजार’ सूत्रों में ‘महाबंध’ नाम से छठा खण्ड स्वतंत्र बनाया है। इसीलिए १५८९ सूत्रों में रचित यह ग्रंथ ‘क्षुद्रकबंध’ नाम से सार्थक है।

इस ग्रंथ की टीका को मैंने ‘पद्मपुरा’ तीर्थ पर प्रारंभ किया था अतः मंगलाचरण में श्रीपद्मप्रभ भगवान को नमस्कार किया है। यथा —

श्रीपद्मप्रभदेवस्य, विश्वातिशयकारिणे।

नमोऽभीप्सितसिद्ध्यर्थं, ते च दिव्यध्वनिं नुमः॥१॥

इस खण्ड में जीवों की प्ररूपणा स्वामित्वादि ग्यारह अनुयोगों द्वारा गुणस्थान विशेषण को छोड़कर मार्गणा स्थानों में की गई है। इन ग्यारह अनुयोगद्वारों के नाम — १. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व २. एक जीव की अपेक्षा काल ३. एक जीव की अपेक्षा अन्तर ४. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय ५. द्रव्यप्रमाणानुगम ६. क्षेत्रानुगम ७. स्पर्शनानुगम ८. नाना जीवों की अपेक्षा काल ९. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर १०. भागाभागानुगम और ११. अल्पबहुत्वानुगम। अंत में ग्यारहों अनुयोगद्वारों की चूलिका रूप से ‘महादण्डक’ दिया गया है। यद्यपि इसमें अनुयोगद्वारों की अपेक्षा ११ अधिकार ही हैं फिर भी प्रारंभ में प्रस्तावनारूप में ‘बंधक सत्त्वप्ररूपणा’ और अंत में चूलिकारूप में महादण्डक ऐसे १३ अधिकार भी कहे जा सकते हैं।

बंधक सत्त्वप्ररूपणा — इसमें ४३ सूत्र हैं। जिनमें चौदह मार्गणाओं के भीतर कौन जीव कर्मबंध करते हैं और कौन नहीं करते, यह बतलाया गया है।

१. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व — इस अधिकार में मार्गणाओंसंबंधी गुण व पर्याय कौन से भावों से प्रगट होते हैं, इत्यादि विवेचन है।

२. एक जीव की अपेक्षा काल — इस अनुयोगद्वार में प्रत्येकगति आदि मार्गणा में जीव की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति का निरूपण किया गया है।

३. एक जीव की अपेक्षा अंतर — एक जीव का गति आदि मार्गणाओं के प्रत्येक अवान्तर भेद से जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल — विरहकाल कितने समय का होता है ?

४. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय — भंग-प्रभेद, विचय-विचारणा, इस अधिकार में भिन्न-भिन्न मार्गणाओं में जीव नियम से रहते हैं या कभी रहते हैं या कभी नहीं भी रहते हैं, इत्यादि विवेचना है।

५. द्रव्यप्रमाणानुगम — भिन्न-भिन्न मार्गणाओं में जीवों का संख्यात, असंख्यात और अनंतरूप से अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी आदि काल प्रमाणों की अपेक्षा वर्णन है।

६. क्षेत्रानुगम — सामान्यलोक, अधोलोक, ऊर्ध्वलोक, तिर्यक्लोक और मनुष्यलोक, इन पाँचों लोकों के आश्रय से स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, सात समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा वर्तमान क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है।

७. स्पर्शनानुगम — चौदह मार्गणाओं में सामान्य आदि पाँचों लोकों की अपेक्षा वर्तमान और अतीतकाल के निवास को दिखाया है।

८. नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम — नाना जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत, अनादिसांत, सादि अनंत और सादि सान्त काल भेदों को लक्ष्य करके जीवों की काल प्ररूपणा की गई है।

९. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम — मार्गणाओं में नाना जीवों की अपेक्षा बंधकों के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल का निरूपण किया गया है।

१०. भागाभागानुगम — इसमें मार्गणाओं के अनुसार सर्वजीवों की अपेक्षा बंधकों के भागाभाग का वर्णन है।

११. अल्पबहुत्वानुगम — चौदह मार्गणाओं के आश्रय से जीवसमासों का तुलनात्मक प्रमाण प्ररूपित किया है।

अनन्तर चूलिकारूप 'महादण्डक' अधिकार में गर्भोपक्रांतिक मनुष्य पर्याप्त से लेकर निगोद जीवों तक के जीवसमासों का 'अल्पबहुत्व' निरूपित है।

इस प्रकार क्रमशः इस द्वितीय खण्ड में सूत्रों की संख्या —

४३+९१+२१६+१५१+२३+१७१+१२४+२७४+५५+६८+८८+२०५+७९=१५९४ है।

मेरे द्वारा सिद्धांतचिंतामणि टीका में पृष्ठ संख्या — २८१ है।

महत्वपूर्ण विषय — इस ग्रंथ में एक महत्वपूर्ण विषय आया है, जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है —

“बादरणिगोदपदिद्विदपदिद्विदाणमेत्थ सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण णिहिट्ठा ?

गोदमो एत्थ पुच्छेयत्त्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगोदपदिद्विदाणं वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अहिप्पाओ कहिओ^१।”

शंका — वनस्पति नामकर्म के उदय से संयुक्त जीवों के वनस्पति संज्ञा देखी जाती है। बादरनिगोद प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित जीवों को यहाँ सूत्र में 'वनस्पतिसंज्ञा' क्यों नहीं निर्दिष्ट की ?

समाधान — 'गौतम गणधर से पूछना चाहिए।' गौतम गणधरदेव बादर निगोद प्रतिष्ठित जीवों की वनस्पति संज्ञा नहीं मानते। हमने यहाँ उनका अभिप्राय व्यक्त किया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ सूत्रों में जैन ग्रंथों में दो मत आये हैं, वहाँ टीकाकारों ने अपना अभिमत न देकर दोनों ही रख दिये हैं।

इस ग्रंथ की टीका का समापन मैंने हस्तिनापुर में 'रत्नत्रयनिलयवसतिका' में मगसिर शुक्ला त्रयोदशी,

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ७, पृ. ५४१।

वीर नि. संवत् २५२४, दिनांक-१२-१२-१९९७ को पूर्ण की है।

उसकी संक्षिप्त प्रशस्ति इस प्रकार है —

वीराब्दे दिग्द्विखट्वयंके, शांतिनाथस्य सन्मुखे। रत्नत्रयनिलयेऽस्मिन्, हस्तिनागपुराभिधे ॥१॥

षट्खण्डागमग्रंथेऽस्मिन्, खण्डद्वितीयकस्य हि। क्षुद्रकबंधनाम्नोऽस्य, टीकेयं पर्यपूर्यत ॥२॥

गणिन्या ज्ञानमत्येयं, टीकाग्रन्थश्च भूतले। जीयात् ज्ञानर्द्धये भूयात् भव्यानां मे च संततम् ॥३॥

तृतीय खण्ड — बंधस्वामित्वविचय

पुस्तक ८ —

इस तृतीय खण्ड में नाम के अनुसार ही बंध के स्वामी के बारे में विचार किया गया है। यथा —

“जीवकम्माणं मिच्छत्तासंजमकसायजोगेहि एयत्तपरिणामो बंधो^१।”

जीव और कर्मों का मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगों से जो एकत्व परिणाम होता है, वह बंध है और बंध के वियोग को मोक्ष कहते हैं।

बंध के स्वामित्व के विचय — विचारणा, मीमांसा और परीक्षा ये एकार्थक शब्द हैं।

वर्तमान में जो साधु या विद्वान् मिथ्यात्व को बंध में ‘अकिंचित्कर’ कहते हैं उन्हें इन षट्खण्डागम की पंक्तियों पर ध्यान देना चाहिए। अनेक स्थलों पर आचार्यों ने कहा है — “मिच्छत्तासंजमकसायजोगभेदेण चत्तारि मूलपच्चया^२।” मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चार बंध के मूलप्रत्यय — मूलकारण हैं।

यहाँ भी गुणस्थानों में बंध के स्वामी का विचार करके मार्गणाओं में वर्णन किया गया है।

सूत्रों में बंध-अबंध का प्रश्न करके उत्तर दिया है। यथा—“पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अंतराय इनका कौन बंधक है और कौन अबंधक है^३ ॥५॥

सूत्र में ही उत्तर दिया है —

“मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसांपरायिक शुद्धसंयत उपशमक व क्षपक तक पूर्वोक्त ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के बंधक हैं। सूक्ष्मसांपरायिक काल के अंतिम समय में जाकर इन प्रकृतियों का बंध व्युच्छिन्न होता है। ये बंधक हैं, शेष अबंधक हैं^४ ॥६॥

यहाँ पाँचवें प्रश्नवाचक सूत्र में टीकाकार ने इस सूत्र को देशामर्शक मानकर तेईस पृच्छायें की हैं —

१. यहाँ क्या बंध की पूर्व में व्युच्छिति होती है ? २. क्या उदय की पूर्व में व्युच्छिति होती है ? ३. या क्या दोनों की साथ में व्युच्छिति होती है ? ४. क्या अपने उदय के साथ इनका बंध होता है ? ५. क्या पर प्रकृतियों के उदय के साथ इनका बंध होता है ? ६. क्या अपने और पर दोनों के उदय के साथ इनका बंध होता है ? ७. क्या सांतर बंध होता है ? ८. क्या निरंतर बंध होता है ? ९. या क्या सांतर-निरंतर बंध होता है ? १०. क्या सनिमित्तक बंध होता है ? ११. या क्या अनिमित्तक बंध होता है ? १२. क्या गति संयुक्तबंध होती है ? १३. या क्या गति संयोग से रहित बंध होता है ? १४. कितनी गति वाले जीव स्वामी हैं ? १५. और कितनी गति वाले स्वामी नहीं हैं ? १६. बंधाध्वान कितना है — बंध की सीमा किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक है ? १७. क्या अंतिम समय में बंध की व्युच्छिति होती है ? १८. क्या प्रथम समय में बंध की

१-२. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ८, पृ. २-१६१।

३-४. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ८, पृ. ७-१३।

व्युच्छित्ति होती है ? १९. या अप्रथम अचरिम समय में बंध की व्युच्छित्ति होती है ? २०. क्या बंध सादि है ? २१. या क्या अनादि है ? २२. क्या बंध ध्रुव ही होता है ? २३. या क्या अध्रुव होता है ?

इस प्रकार ये २३ पृच्छायें पूछी गई इस पृच्छा में अंतर्भूत हैं, ऐसा जानना चाहिए।

पुनः इनका उत्तर दिया गया है।

इस प्रकार इस ग्रंथ में कुल ३२४ सूत्र हैं।

इस ग्रंथ की संस्कृत टीका मैंने मार्गशीर्ष कृ. १३ को (दिनांक १२-१२-९७) हस्तिनापुर में प्रारंभ की थी। उस समय 'श्री ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार' की योजना बनाई थी। भगवान् ऋषभदेव का धातु का एक सुंदर ८'x८' फुट का समवसरण बनवाया गया था। इसके उद्घाटन की तैयारियाँ चल रही थीं। इसी संदर्भ में मैंने मंगलाचरण में तीन श्लोक लिखे थे। यथा—

सिद्धान् नष्टाष्टकर्मांस्ते, नत्वा स्वकर्महानये। बंधस्वामित्वविचयो, ग्रंथः संकीर्त्यते मया॥१॥

श्रीमत्-ऋषभदेवस्य, श्रीविहारोऽस्ति सौख्यकृत्। जगत्यां सर्वजीवाना-मतो देव! जयत्विह॥२॥

यास्त्यनन्तार्थगर्भस्था, द्रव्यभावश्रुतान्विता। सापि सूत्रार्थयुङ्मान्ये! श्रुतदेवि! प्रसीद नः॥३॥

पुनः दिल्ली में मैंने द्वि. ज्येष्ठ शु. ५ श्रुतपंचमी वीर नि.सं. २५२५ को (दि. १८-६-१९९९ को) डेढ़ वर्ष में प्रीतविहार में श्रीऋषभदेव कमलमंदिर में पूर्ण किया है।

इस ग्रंथ के अंत में मैंने ध्यान करने के लिए १४८ कर्मप्रकृतियों से विरहित १४८ सूत्र बनाये हैं। यथा—

“मतिज्ञानावरणीयकर्मरहितोऽहं शुद्धचिन्मयचिन्तामणिस्वरूपोऽहम् ॥१॥

पूर्णता का अंतिम श्लोक—

ग्रन्थोऽयं बंधस्वामित्व-विचयो मंगलं क्रियात्।

श्री शांतिनाथतीर्थेशः, कुर्यात् सर्वत्र मंगलम् ॥८॥

इस प्रकार संक्षेप में इस तृतीय खण्ड का सार दिया है।

चतुर्थ—वेदना खण्ड

पुस्तक ९—

इस चतुर्थ और पंचम खण्ड में जो विषय विभाजित हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

अग्रायणीय पूर्व के अर्थाधिकार चौदह हैं—१. पूर्वात २. अपरान्त ३. ध्रुव ४. अध्रुव ५. चयनलब्धि ६. अध्रुवसंप्रणिधान ७. कल्प ८. अर्थ ९. भौमावयाद्य, १०. कल्पनिर्याण ११. अतीतकाल १२. अनागतकाल १३. सिद्ध और १४. बुद्ध^१।

यहाँ 'चयनलब्धि' नाम के पाँचवें अधिकार में 'महाकर्म प्रकृतिप्राभृत' संगृहीत है। उसमें ये चौबीस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं। १. कृति २. वेदना ३. स्पर्श ४. कर्म ५. प्रकृति ६. बंधन ७. निबंधन ८. प्रक्रम ९. उपक्रम १०. उदय ११. मोक्ष १२. संक्रम १३. लेश्या १४. लेश्याकर्म १५. लेश्या परिणाम १६. सातासात १७. दीर्घ-ह्रस्व १८. भवधारणीय १९. पुद्गलात् २०. निधत्तानिधत्त २१. निकाचितानिकाचित २२. कर्मस्थिति २३. पश्चिमस्कंध और २४. अल्पबहुत्व^२।

इन चौबीस अनुयोगद्वारों को षट्खण्डागम की मुद्रित नवमी पुस्तक से लेकर सोलहवीं तक में 'वेदना'

१. षट्खण्डागम (ध्वलाटीकासम्बन्धित) पु. ९, पृ. २२६। २. षट्खण्डागम (ध्वलाटीकासम्बन्धित) पु. ९, सूत्र ४५, पृ. १३४।

और 'वर्गणा' नाम के दो खंडों में विभक्त किया है। वेदना खण्ड में ९, १०, ११ और १२ ऐसे चार ग्रंथ हैं।

इस नवमी पुस्तक में मात्र प्रथम 'कृति' अनुयोग द्वार ही वर्णित है। छ्यालिसवें सूत्र में कृति के सात भेद किये हैं —

१. नामकृति २. स्थापनाकृति ३. द्रव्यकृति ४. गणनकृति ५. ग्रन्थकृति ६. करणकृति और ७. भावकृति।

इन कृतियों का विस्तार से वर्णन करके अंत में कहा है कि — यहाँ 'गणनकृति' से प्रयोजन है।

इस ग्रंथ में श्रीभूतबलि आचार्य ने 'णमो जिणाणं' आदि गणधरवलय मंत्र लिए हैं जो कि श्री गौतमस्वामी द्वारा रचित हैं। यहाँ "णमो जिणाणं" से लेकर "णमो वड्डमाणबुद्धरिसिस्स।" चवालीस मंत्र लिए हैं। अन्यत्र 'पाक्षिक प्रतिक्रमण' एवं 'प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी' टीकाग्रंथ तथा भक्तामर स्तोत्र ऋद्धिमंत्र आदि में अड़तालीस मंत्र लिये गये हैं।

इन ४८ मंत्रों को 'श्रीगौतमस्वामी' द्वारा रचित कृतियों में इसी ग्रंथ में दिया गया है।

इस नवमी पुस्तक में टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने बहुत ही विस्तार से इन मंत्रों का अर्थ स्पष्ट किया है। अनंतर 'सिद्धान्त ग्रंथों' के स्वाध्याय के लिए द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि का विवेचन विस्तार से किया है।

इस ग्रंथ की 'सिद्धान्तचिन्तामणि' टीका मैंने शरदपूर्णिमा वी.नि.सं. २५२५ को (२४-१०-९९ को) दिल्ली में राजाबाजार के दिगम्बर जैन मंदिर में प्रारंभ की थी।

श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से विनिर्गत गणधरवलय मंत्रों की टीका लिखने समय मुझे एक अपूर्व ही आल्हाद प्राप्त हुआ है। इसकी पूर्णता मैंने आश्विन शु. १५—शरदपूर्णिमा वीर.नि.सं. २५२६ को (१३-१०-२००० को) दिल्ली में ही प्रीतविहार-श्रीऋषभदेव कमलमंदिर में की है। जिसका अंतिम श्लोक मिमलिखित है—

अहिंसा परमो धर्मो, यावद् जगति वत्स्यते।

यावन्मेरुश्च टीकेयं, तावन्नद्याच्च नः श्रियै॥९॥

इस प्रकार नवमी पुस्तक का किंचित् सार लिखा गया है।

पुस्तक १०—

इस ग्रंथ में 'वेदना' नाम का द्वितीय अनुयोगद्वार है। इस वेदानुयोग द्वार के १६ भेद हैं—

१. वेदनानिक्षेप २. वेदनानयविभाषणता ३. वेदनानामविधान ४. वेदनाद्रव्यविधान ५. वेदनाक्षेत्रविधान ६. वेदनाकालविधान ७. वेदनाभावविधान ८. वेदनाप्रत्ययविधान ९. वेदनास्वामित्वविधान १०. वेदनावेदनाविधान ११. वेदनागतिविधान १२. वेदनाअनंतरविधान १३. वेदनासन्निकर्षविधान १४. वेदनापरिमाणविधान १५. वेदनाभागाभागविधान और १६. वेदनाअल्पबहुत्वविधान^१।

इस दशवीं पुस्तक में प्रारंभ के ५ अनुयोगद्वारों का वर्णन है। सूत्र संख्या ३२३ है। आगे ११वीं और १२वीं पुस्तक में सभी वेदनाओं का वर्णन होने से इस तृतीय खण्ड को वेदनाखण्ड कहा है।

यहाँ प्रथम 'वेदना निक्षेप' के भी नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना ऐसे निक्षेप की अपेक्षा चार भेद हैं।

दूसरे 'वेदनानयविभाषणा' में नयों की अपेक्षा वेदना को घटित किया है। तीसरे 'वेदनानामविधान' के

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ९, पृ. ४५२। २. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १०, सूत्र १।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की अपेक्षा आठ भेद कर दिये हैं^१।

वेदना द्रव्यविधान के तीन अधिकार किये हैं — पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। इस ग्रंथ में इनका विस्तार से वर्णन है।

इस ग्रंथ में वेदनाक्षेत्रविधान के भी पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व ऐसे तीन भेद किये हैं।

आश्विन शु. १५ — शरदपूर्णिमा (१३-१०-२०००) को दिल्ली में मैंने टीका लिखना प्रारंभ किया था पुनः

इस ग्रंथ की टीका का समापन शौरीपुर भगवान नेमिनाथ की जन्मभूमि में वैशाख कृ. ७, वी.सं. २५२८, दिनांक ३-५-२००२ को किया है। मेरे द्वारा लिखित पृ. संख्या ११८ हैं।

इस प्रकार संक्षिप्त सार दिया गया है।

पुस्तक नं. ११ —

इस ११वें ग्रंथ में वेदनाकाल विधान और वेदनाभाव विधान का वर्णन है। सूत्र इसमें ५९३ हैं और पृ. संख्या २०० है। इसके पूर्वाद्ध की पूर्णता “तीर्थकर ऋषभदेव तपस्थली प्रयाग” श्री ऋषभदेव दीक्षा तीर्थ पर की है एवं उद्धरार्थ को अर्थात् पूरे ग्रंथ का समापन पावापुरी-भगवान महावीर की निर्वाणभूमि पर श्रावण शु. ७, वी.सं. २५२९, दिनांक ४-८-२००३ को किया है।

पुस्तक १२ —

इस ग्रंथ में वेदनाअनुयोगद्वार के १६ भेदों में से ८वें से लेकर १६वें तक भेद वर्णित हैं — ८. वेदनाप्रत्ययविधान ९. वेदनास्वामित्वविधान १०. वेदनावेदनाविधान ११. वेदनागतिविधान १२. वेदनाअनंतरविधान १३. वेदनासन्निकर्षविधान १४. वेदनापरिमाणविधान १५. वेदनाभागाभागविधान और १६. वेदनाअल्पबहुत्वविधान।

इन नव वेदना अनुयोगद्वारों का इस ग्रंथ में विस्तार से वर्णन है। इसमें सूत्र संख्या ५३३ है।

‘वेदनाप्रत्ययविधान’ में जीवहिंसा, असत्य आदि प्रत्यय — निमित्त से ज्ञानावरण आदि कर्मों की वेदना होती है। जैसे कि —

मुसावादपच्चए।।३।।

.....मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद से उत्पन्न वचनसमूह असत् वचन है इत्यादि।

ऐसे संपूर्ण वेदनाओं का वर्णन किया गया है।

इसमें सूत्र ५३३ हैं, पृ. १७५ हैं।

इस ग्रंथ की टीका मैंने कुण्डलपुर तीर्थ पर पौष कृ. ११ वी.नि.सं. २५३० के दिन पूर्ण की है। इसी संदर्भ में मैंने लिखा है —

अस्यां पौषकृष्णैकादश्यां तिथौ काशीदेशे वाराणस्यां नगर्यां महानृपतेः अश्वसेनस्य महाराज्यः वामादेव्यो गर्भात् भगवान् पार्श्वनाथो जज्ञे। उग्रवंशशिरोमणिः मरकतमणिसन्निभः त्रयस्त्रिंशत्-मस्तीर्थकरोऽयं अस्मात् वीरनिर्वाणसंवत्सरात् द्विसहस्र-अष्टशताशीतिवर्षपूर्वं अवततार।

उक्तं च तिलोयपण्णत्तिग्रंथे —

अट्टत्तरिअधियाए वेसदपरिमाणवासअदिरित्ते।

पासजिणुप्पत्तीदो उप्पत्तीवड्डमाणस्स ।।५७७।।

भगवान पार्श्वनाथ की उत्पत्ति के २७८ वर्ष बाद वर्धमान भगवान की उत्पत्ति हुई है तथा भगवान महावीर को जन्म लिये २६०२ वर्ष हुए अतः २७८ में वह संख्या जोड़ देने से २७८+२६०२=२८८० वर्ष हो गये अतः मैंने यह घोषणा की थी कि आगे आने वाले पौष कृ. ११ (६-१-२००५) को भगवान पार्श्वनाथ का 'तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव' प्रारंभ करें पुनः एक वर्ष तक सारे भारत में भगवान पार्श्वनाथ का गुणगान करें।

इस प्रकार इस बारहवीं पुस्तक का विषय संक्षेप में लिखा है।

पंचम खण्ड — वर्गणाखण्ड

पुस्तक १३ —

नवमीं पुस्तक में चयनलब्धि के 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के 'कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति आदि चौबीस अनुयोगद्वार कहे गये हैं। वेदना खण्ड में मात्र 'कृति और वेदना' ये दो अनुयोगद्वार आये हैं। शेष २२ अनुयोगद्वार इस 'वर्गणाखण्ड' नाम के पांचवें खण्ड में वर्णित हैं। इस खण्ड में भी १३वीं, १४वीं, १५वीं एवं १६वीं ऐसी चार पुस्तकें हैं। इस खण्ड में 'बंधनीय' का आलंबन लेकर वर्गणाओं का सविस्तार वर्णन किया गया है अतः इसे 'वर्गणाखण्ड' नाम दिया है।

इस तेरहवीं पुस्तक में 'स्पर्श, कर्म और प्रकृति' इन तीन अनुयोगद्वारों का वर्णन है।

इसमें 'स्पर्श अनुयोगद्वार' के सोलह अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान, स्पर्शक्षेत्रविधान, स्पर्शकालविधान, स्पर्शभावविधान, स्पर्शप्रत्ययविधान, स्पर्शस्वामित्वविधान, स्पर्शस्पर्शविधान, स्पर्शगतिविधान, स्पर्शअनंतरविधान, स्पर्शसन्निकर्षविधान, स्पर्शपरिमाणविधान, स्पर्शभागाभागविधान और स्पर्शअल्पबहुत्व।^१

पुनश्च प्रथम भेद 'स्पर्शनिक्षेप' के १३ भेद किये हैं — नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनंतरक्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्वस्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बंधस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श।^२

इस तेरहवें ग्रंथ में सूत्र की टीका के अनंतर मैंने प्रायः 'तात्पर्यार्थ' दिया है। जैसे कि — स्पर्श अनुयोगद्वार में सूत्र २६ में टीका के अनंतर लिखा है।

“अत्र तात्पर्यमेतत्-अष्टसु कर्मसु मोहनीयकर्म एव संसारस्य मूलकारणमस्ति। दर्शनमोहनीय-निमित्तेन जीवा मिथ्यात्वस्य वंशगताः सन्तः अनादिसंसारे परिभ्रमन्ति। चारित्रमोहनीयबलेन तु असंयताः सन्तः कर्माणि बध्नन्ति।

उक्तं च श्री पूज्यपादस्वामिना —

बध्यते मुच्यते जीवः सममः निर्ममः क्रमात् ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥

एतज्ज्ञात्वा कर्मस्पर्शकारणभूतमोहरागद्वेषादिविभावभावान् व्यक्त्वा स्वस्मिन् स्वभावे स्थिरीभूय स्वस्थो भवन् स्वात्मोत्थपरमानंदामृतं सुखमनुभवनीयमिति।”

कर्म अनुयोगद्वार में भी प्रथम ही १६ अनुयोगद्वाररूप भेद कहे हैं — कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता, कर्मनाम विधान आदि। पुनश्च कर्मनिक्षेप के दश भेद किये हैं—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अव्यःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म।

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १२, पृ. २७९। २. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, सूत्र २।

३. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, सूत्र ४।

इसमें 'तपःकर्म' के बारह भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी प्रकार 'क्रियाकर्म' में —
 “तमादाहीणं पदाहीणं तिव्रखुत्तं तियोणदं, चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम^१।।२८।।”

यह क्रियाकर्म विधिवत् सामायिक — देववंदना में घटित होता है। इसी सूत्र को उद्धृत करके अनगारधर्माभूत, चारित्रसार आदि ग्रंथों में साधुओं की सामायिक को 'देववंदना' रूप में सिद्ध किया है। इसका स्पष्टीकरण मूलाचार, आचारसार आदि ग्रंथों में भी है। 'क्रियाकलाप' जिसका संपादन पं. पन्नालाल सोनी ब्यावर वालों ने किया था उसमें तथा मेरे द्वारा संकलित (लिखित) 'मुनिचर्या' में भी यह विधि सविस्तार वर्णित है। इन प्रकरणों को लिखते हुए, पढ़ते हुए मुझे एक अद्भुत ही आनंद का अनुभव हुआ है।

तृतीय 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में भी सोलह अधिकार कहे हैं — प्रकृतिनिक्षेप, प्रकृतिनयविभाषणता, प्रकृतिनामविधान, प्रकृतिद्रव्यविधान आदि।

इसमें प्रथम प्रकृतिनिक्षेप के चार भेद किये हैं — नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति। इसमें द्रव्यप्रकृति के दो भेद हैं — आगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमद्रव्यप्रकृति। नोआगमद्रव्यप्रकृति के भी दो भेद हैं — कर्मप्रकृति और नोकर्म प्रकृति।

कर्मप्रकृति के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय कर्म प्रकृति।

इस तेरहवीं पुस्तक में प्रकृति अनुयोगद्वार में व्यंजनावग्रहावरणीय के ४ भेद किये हैं। धवला टीका में श्री वीरसेनस्वामी ने श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्दों के अनेक भेद करके कहा है —

“सहपोग्गला सगुप्पत्तिपदेसादो उच्छलिय दसदिसासु गच्छमाणा उक्कस्सेण जाव लोगंतं ताव गच्छंति।

कुदो एदं णव्वदे ?

सुत्ताविरुद्धाइरियवयणादो। ते किं सव्वे सहपोग्गला लोगंतं गच्छंति आहो ण सव्वे इति पुच्छिदे सव्वे ण गच्छंति, थोवा चेव गच्छंति।.....

जहण्णेण अंतोमुहुत्तकालेण लोगंतपत्ती होदि त्ति उवदेसादो^२।”

शब्द पुद्गल अपने उत्पत्ति प्रदेश से उछलकर दशों दिशाओं में जाते हुए उत्कृष्टरूप से लोक के अंतभाग तक जाते हैं।

यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

यह सूत्र के अविरुद्ध व्याख्यान करने वाले आचार्यों के वचन से जाना जाता है।

क्या वे सब शब्दपुद्गल लोक के अंत तक जाते हैं या सब नहीं जाते ?

सब नहीं जाते हैं, थोड़े ही जाते हैं। यथा — शब्द पर्याय से परिणत हुए प्रदेश में अनंत पुद्गल अवस्थित रहते हैं। दूसरे आकाश प्रदेश में उनसे अनंतगुणे हीन पुद्गल अवस्थित रहते हैं।

इस तरह वे अनंतरोपनिधा की अपेक्षा वातवल्यपर्यंत सब दिशाओं में उत्तरोत्तर एक-एक प्रदेश के प्रति अनंतगुणे हीन होते हुए जाते हैं।

आगे क्यों नहीं जाते ?

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, सूत्र २८, पृ. ८८ ।

२. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, पृ. २२२।

धर्मास्तिकाय का अभाव होने से वे वातवलय के आगे नहीं जाते हैं। ये सब शब्द पुद्गल एक समय में ही लोक के अंत तक जाते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु ऐसा उपदेश है कि कितने ही शब्द पुद्गल कम से कम दो समय से लेकर अंतर्मुहूर्त काल के द्वारा लोक के अंत को प्राप्त होते हैं।

अष्टसहस्री ग्रंथ में भी शब्द पुद्गलों का आना, पकड़ना, टकराना आदि सिद्ध किया है क्योंकि ये पौद्गलिक हैं — पुद्गल की पर्याय हैं।

इन सभी प्रकरणों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि —

आज जो शब्द टेलीविजन — दूरदर्शन, रेडियो — आकाशवाणी, टेलीफोन — दूरभाष आदि के द्वारा हजारों किमी. दूर से सुने जाते हैं। टेलीफोन से कई हजार किमी. दूर से वार्तालाप किया जाता है। टेपरेकार्ड, वी.डी.ओ. आदि में भरे जाते हैं, महीनों, वर्षों तक ज्यों की त्यों सुने जाते हैं। यह सब पौद्गलिक चमत्कार है।

वास्तव में ये शब्द मुख से निकलने के बाद लोक के अंत तक फैल जाते हैं। इसीलिए इनका पकड़ना, दूर तक पहुँचाना, भेजना, यंत्रों में भर लेना आदि संभव है।

इन्हीं भावनाओं के अनुसार मैंने ३० वर्ष पूर्व भगवान 'शांतिनाथ स्तुति' में यह उद्गार लिखे थे। यथा —

सुभक्तिवरयंत्रतः स्फुटरवा ध्वनिक्षेपकात्। सुदूरजिनपार्श्वगा भगवतःस्पृशन्ति क्षणात्।

पुनः पतनशीलतोऽवपतिता नु ते स्पर्शनात्। भवन्त्यभिमतार्थदाः स्तुतिफलं ततश्चाप्यते^१॥२०॥

हे भगवन्! आपकी श्रेष्ठ भक्ति वो ही हुआ ध्वनिविक्षेपण यंत्र, (रेडियो आदि) उससे स्फुट — प्रगट हुई शब्द वर्गणाएं बहुत ही दूर सिद्धालय में — लोक के अग्रभाग में विराजमान आपके पास जाती हैं और वहाँ आपका स्पर्श करती हैं। पुनः पुद्गलमयी शब्दवर्गणायें पतनशील होने से यहाँ आकर — भक्त के पास आकर आपसे स्पर्शित होने से ही भव्यजीवों के मनोरथ को सफल कर देती हैं, यही कारण है कि इस लोक में स्तुति का फल पाया जाता है अन्यथा नहीं पाया जा सकता था।

इसमें ज्ञानावरण के अंतर्गत श्रुतज्ञानावरण के विषय में कहते हुए 'श्रुतज्ञान' के विषय में बहुत ही विस्तृत वर्णन किया है।

प्रश्न हुआ है — “श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर दिया है — श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की संख्यात प्रकृतियाँ हैं।

जितने अक्षर हैं और जितने अक्षर संयोग हैं उतनी प्रकृतियाँ हैं।^२”

पुनश्च — श्रुतज्ञानावरणीयकर्म के बीस भेद किये हैं — पर्यायावरणीय, पर्यायसमासावरणीय, अक्षरावरणीय, अक्षरसमासावरणीय, पदावरणीय, पदसमासावरणीय, आदि से पूर्वसमासावरणीय पर्यंत ये बीस भेद हैं।^३ इनसे पहले श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं, जिनके ये आवरण हैं।

उन श्रुतज्ञान के नाम — पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास, ये श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं।

१. जिनस्तोत्रसंग्रह (वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से प्रकाशित) पृ. १५१। २. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, सूत्र ४३-४४-४५, पृ. २४५ से। ३. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, सूत्र ४८, पृ. २६१।

इस ग्रंथ की टीका के लेखन में मैंने जो परम आल्हाद प्राप्त किया है, वह मेरे जीवन में अचिन्त्य ही रहा है। एक तो षट्खण्डागमरूपी परम ग्रंथराज, दूसरे श्रीभूतबलि महान आचार्य के सूत्र, तीसरे श्रीवीरसेनाचार्य की धवला टीका और चौथा भगवान महावीर तीर्थ त्रिवेणी का संगम। यही कारण है कि यह ग्रंथ मेरा यहाँ 'तीर्थ त्रिवेणी संगम' में अतिशीघ्र मात्र नव माह में पूर्ण हुआ है।

इस ग्रंथ में श्री वीरसेनाचार्य ने अगणित रत्न भर दिये हैं। यथा — 'श्रुतज्ञानमन्तरेण चारित्रानुत्पत्तेः।'

“द्वादशांगस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राविनाभाविनो मोक्षमार्गत्वेनाभ्युपगमात्।

श्रुतज्ञान के बिना चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिए चारित्र की अपेक्षा श्रुत की प्रधानता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अविनाभावी द्वादशांग को मोक्षमार्गरूप से स्वीकार किया गया है।

यहाँ पर ५०वें सूत्र में श्रुतज्ञान के इकतालीस (४१) पर्याय शब्द बताये हैं। जैसे — प्रावचन, प्रवचनीय आदि।

इस ग्रंथ में श्रुतज्ञान के पर्याय, पर्यायसमास आदि बीस भेद किये हैं और उन्हीं का विस्तार किया है।

तब प्रश्न यह हुआ है कि — उन्नीसवां 'पूर्व' और बीसवां 'पूर्वसमास' भेद तो इन बीस भेदों में आ गया है पुनः —

अंगबाह्य चौदह प्रकीर्णकाध्याय, आचारांग आदि ग्यारह अंग, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग और चूलिका, इनका किस श्रुतज्ञान में अन्तर्भाव होगा ?

तब श्रीवीरसेनस्वामी ने समाधान दिया है कि —

इनका अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमास में अंतर्भाव होता है अथवा प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान में इनका अंतर्भाव कहना चाहिए परंतु पश्चादानुपूर्वी की विवक्षा करने पर इनका 'पूर्वसमास' श्रुतज्ञान में अंतर्भाव होता है, ऐसा कहना चाहिए।

इस प्रकार इस ग्रंथ में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान का बहुत ही सुन्दर विवेचन है।

अन्तर सर्व कर्मों का वर्णन करके अंत में कहा है कि यहाँ 'कर्म प्रकृति' से ही प्रयोजन है।

यहाँ तक इन १३ ग्रंथों में ५६३० सूत्रों की मेरे द्वारा लिखित संस्कृत टीका के पृष्ठों की संख्या—
 $२८१+१९१+१४०+८३+१२४+२८७+२५७=१३५६+९४८=२३०४$ है।

इस प्रकार संक्षेप में इस ग्रंथ का सार दिया है।

पुस्तक १४ —

इस ग्रंथ में 'कृति, वेदना' आदि २४ अनुयोगद्वारों में से छठे बंधन अनुयोगद्वार का निरूपण है। सूत्र संख्या ७९७ है। इसमें बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान ये भेद किये हैं। पुनश्च बंध के नामबंध, स्थापनाबंध, द्रव्यबंध और भावबंध ये चार भेद कहे हैं।

भावबंध के आगमभावबंध और नोआगमभावबंध दो भेद हैं।

आगम भावबंध के स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रंथसम, नामसम और घोषसम ये नव भेद हैं। इनके विषय में वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा तथा इनसे लेकर जो अन्य उपयोग हैं उनमें भावरूप से जितने उपयुक्त भाव हैं, वे सब आगमभावबंध हैं।^१

नोआगमभावबंध के भी दो भेद हैं — जीव भावबंध और अजीव भावबंध।

इनमें से जीवभावबंध के ३ भेद हैं — विपाकप्रत्ययिक जीवभावबंध, अविपाकप्रत्ययिकजीवभावबंध और तदुभयप्रत्ययिकजीवभावबंध।

इनमें देवभाव, मनुष्यभाव आदि विपाकप्रत्ययिक जीव भावबंध हैं।

अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबंध के औपशमिक अविपाकप्रत्ययिकजीवभावबंध और क्षायिकअविपाक-प्रत्ययिकजीवभावबंध, ऐसे दो भेद हैं।

औपशमिक के उपशांत क्रोध, उपशांत मान आदि भेद हैं।

क्षायिक के क्षीणक्रोध, क्षीणमान आदि भेद हैं।

तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबंध के क्षायोपशमिक एकेन्द्रियलब्धि, क्षायोपशमिक द्वीन्द्रियलब्धि आदि बहुत भेद हैं।

इस प्रकार सूत्र १३ से १९ तक इन सबका विस्तार है।

ऐसे ही अजीव भावबंध के भी तीन भेद हैं — विपाकप्रत्ययिक, अविपाकप्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक अजीवभावबंध। विपाकप्रत्ययिक अजीव भावबंध के प्रयोगपरिणतवर्ण, प्रयोगपरिणतशब्द आदि भेद हैं।

अविपाकप्रत्ययिक अजीव भावबंध के विस्त्रसापरिणतवर्ण आदि भेद हैं।

तथा तदुभयप्रत्ययिक अजीव भावबंध के प्रयोग परिणत वर्ण और विस्त्रसापरिणतवर्ण आदि भेद हैं।

इसके अनंतर द्रव्यबंध के आगम, नोआगम आदि भेद-प्रभेद किये हैं।

इस प्रकार 'बंध' भेद का प्ररूपण किया गया है।

अनंतर 'बंधक' अधिकार में मार्गणाओं में बंधक-अबंधक को विचार करने का कथन है।

अनंतर —

बंधनीय के प्रकरण में — वेदनस्वरूप पुद्गल है, पुद्गल स्कंधस्वरूप हैं और स्कंध वर्गणास्वरूप हैं^९, ऐसा कहा है।

वर्गणाओं का अनुगमन करते हुए आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं —

वर्गणा, वर्गणाद्रव्य समुदाहार, अनंतरोपनिधा, परंपरोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व।

वर्गणा के प्रकरण होने से यहां वर्गणा के १६ अनुयोगद्वार बताये हैं— १. वर्गणा निक्षेप २. वर्गणानयविभाषणता ३. वर्गणाप्ररूपणा ४. वर्गणानिरूपणा ५. वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम ६. वर्गणासांतरनिरंतरानुगम ७. वर्गणाओजयुग्मानुगम ८. वर्गणाक्षेत्रानुगम ९. वर्गणास्पर्शानुगम १०. वर्गणाकालानुगम ११. वर्गणाअनंतरानुगम १२. वर्गणाभावानुगम १३. वर्गणाउपनयनानुगम १४. वर्गणापरिमाणानुगम १५. वर्गणाभागाभागानुगम और १६. वर्गणा अल्पबहुत्वानुगम।

आगे इस ग्रंथ में 'बंधनअनुयोगद्वार' की चूलिका है जिसमें ५८१ से ७९७ तक सूत्र हैं जो कि २१७ हैं। कुल सूत्र ७९७ हैं।

बंधन अनुयोगद्वार की चूलिका के अंत में ७९७वें सूत्र में 'बंध विधान' के चार भेद किये हैं — प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध॥७९७॥

इस सूत्र की टीका में श्री वीरसेनाचार्य ने कह दिया है कि — 'श्री भूतबलिभट्टारक' ने 'महाबंध' खण्ड में इन चारों भेदों को विस्तार से लिखा है अतः मैंने यहाँ नहीं लिखा है। यथा —

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) सूत्र ७०, पृ. ५१।

यहाँ 'भट्टारक' पद से महान पूज्य अर्थ विवक्षित है। ये भूतबलि आचार्य महान दिगम्बर आचार्य थे, ऐसा समझना।

“एदेसिं चदुण्णं बंधाणं विहाणं भूदबलिभट्टारण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं त्ति अम्मेहिं एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदिं।”

पुस्तक १५ —

इस ग्रंथ में चौबीस अनुयोगद्वारों में से ७वाँ निबंधन, ८वाँ प्रक्रम, ९वाँ उपक्रम, १०वाँ उदय और १२वाँ मोक्ष इन ५ अनुयोगद्वारों का कथन है। सूत्र संख्या 'निबंधन' अनुयोगद्वार तक है। कुल सूत्र २० हैं।

आगे प्रक्रम, उपक्रम, उदय और मोक्ष अनुयोगद्वारों में सूत्रसंख्या नहीं है।

इसमें मंगलाचरण में श्रीवीरसेनाचार्य ने प्रथम निबंधन अनुयोगद्वार में 'श्री अरिष्टनेमि' भगवान को नमस्कार किया है।

द्वितीय 'प्रक्रम' अनुयोगद्वार में श्री शांतिनाथ भगवान को, तृतीय 'उपक्रम' अनुयोगद्वार में श्री अभिनंदन भगवान को एवं चौथे 'उदय' अनुयोगद्वार में पुनरपि श्रीशांतिनाथ भगवान को नमस्कार किया है।

निबंधन — 'निबध्यते तदस्मिन्निति निबंधनम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो द्रव्य जिसमें संबद्ध है, उसे 'निबंधन' कहा जाता है। उसके नाम निबंधन, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनिबंधन ऐसे छह भेद हैं।

इनमें से नाम, स्थापना को छोड़कर शेष सब निबंधन प्रकृत हैं। यह निबंधन अनुयोगद्वार यद्यपि छहों द्रव्यों के निबंधन की प्ररूपणा करता है तो भी यहाँ उसे छोड़कर कर्मनिबंधन को ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यहाँ अध्यात्म विद्या का अधिकार^१ है।

प्रश्न — निबंधनानुयोगद्वार किसलिए आया है ?

उत्तर — द्रव्य, क्षेत्र, काल और योगरूप प्रत्ययों की भी प्ररूपणा की जा चुकी है, उनके मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप प्रत्ययों की भी प्ररूपणा की जा चुकी है तथा उन कर्मों के योग्य पुद्गलों की भी प्ररूपणा की जा चुकी है। आत्मलाभ को प्राप्त हुए उन कर्मों के व्यापार का कथन करने के लिए निबंधनानुयोग द्वार आया है^३।

उनमें मूलकर्म आठ हैं, उनके निबंधन का उदाहरण देखिये — “उनमें ज्ञानावरण कर्म सब द्रव्यों में निबद्ध है और नो कर्म सर्वपर्यायों में अर्थात् असर्वपर्यायों में — कुछ पर्यायों में वह निबद्ध है^४॥१॥”

यहाँ 'सब द्रव्यों में निबद्ध है' यह केवल ज्ञानावरण का आश्रय करके कहा गया है क्योंकि वह तीनों कालों को विषय करने वाली अनंत पर्यायों से परिपूर्ण ऐसे छह द्रव्यों को विषय करने वाले केवलज्ञान का विरोध करने वाली प्रकृति है। 'असर्व — कुछ पर्यायों में निबद्ध है' यह कथन शेष चार ज्ञानावरणीय प्रकृतियों की अपेक्षा कहा गया है।

इत्यादि विषयों का इस अनुयोग में विस्तार है।

२. प्रक्रम अनुयोगद्वार के भी नाम, स्थापना आदि की अपेक्षा छह भेद हैं। द्रव्य प्रक्रम के प्रभेदों में कर्म-प्रक्रम आठ प्रकार का है। नोकर्म प्रक्रम सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है।

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १४, सूत्र ७९७ पृ. ५६४। २. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १५, पृ. ३। ३. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १५, पृ. ३। ४. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १, पृ. ४।

क्षेत्रप्रक्रम ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोकप्रक्रम के भेद से तीन प्रकार का है। इत्यादि विस्तार को धवला टीका से समझना चाहिए।

३. उपक्रम अनुयोगद्वार में भी पहले नाम, स्थापना आदि से छह भेद किये हैं पुनः द्रव्य उपक्रम के भेद में कर्मोपक्रम के आठ भेद, नो कर्मोपक्रम के सचित्त, अचित्त और मिश्र की अपेक्षा तीन भेद हैं पुनः क्षेत्रोपक्रम — जैसे ऊर्ध्वलोक उपक्रांत हुआ, ग्राम उपक्रांत हुआ व नगर उपक्रांत हुआ आदि।

काल उपक्रम में — बसंत उपक्रांत हुआ, हेमंत उपक्रांत हुआ आदि। यहाँ ग्रंथ में कर्मोपक्रम प्रकृत होने से उसके चार भेद हैं — बंधन उपक्रम, उदीरणा उपक्रम, उपशामना उपक्रम और विपरिणाम उपक्रम।

इसी प्रकार इन सबका इस अनुयोगद्वार में विस्तार है।

४. उदय अनुयोगद्वार में नामादि छह निक्षेप घटित करके 'नोआगमकर्मद्रव्य उदय' प्रकृत है, ऐसा समझना चाहिए।

वह कर्मद्रव्य उदय चार प्रकार का है — प्रकृति उदय, स्थितिउदय, अनुभाग उदय और प्रदेश उदय।

इन सभी में स्वामित्व की प्ररूपणा करते हुए कहते हैं। जैसे —

प्रश्न — पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अंतराय इनके वेदक कौन हैं ?

उत्तर — इनके वेदक सभी छद्मस्थ जीव होते हैं,^१ इत्यादि। इस प्रकार से यहाँ संक्षेप में इन अनुयोगद्वारों के नमूने प्रस्तुत किये हैं।

५. मोक्ष — इसमें श्री मल्लिनाथ भगवान को नमस्कार करके टीकाकार ने मोक्ष के चार निक्षेप कहकर नोआगम द्रव्यमोक्ष के तीन भेद किये हैं — मोक्ष, मोक्षकारण और मुक्त।

जीव और कर्मों का पृथक् होना मोक्ष है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ये मोक्ष के कारण हैं। समस्त कर्मों से रहित अनंत दर्शन, ज्ञान आदि गुणों से परिपूर्ण, कृतकृत्य जीव को मुक्त कहा गया है।^२

इस १५वें ग्रंथ की टीका को मैंने आश्विन शु. १५, वी.सं. २५३२, हस्तिनापुर में पूर्ण किया है।

पुस्तक १६ —

'कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय और मोक्ष ये ग्यारह अनुयोगद्वार नवमी पुस्तक से पंद्रहवीं पुस्तक तक आ चुके हैं। अब आगे के १२. संक्रम, १३. लेश्या, १४. लेश्या कर्म १५. लेश्या परिणाम १६. सातासात १७. दीर्घ-ह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९. पुद्गलात्त २०. निधत्तानिधत्त २१. निकाचितानिकाचित २२. कर्मस्थिति २३. पश्चिमस्कंध और २४. अल्पबहुत्व ये १३ अनुयोगद्वार शेष हैं। इस सोलहवीं पुस्तक में इन सबका वर्णन है।

इस ग्रंथ में सूत्र नहीं हैं, मात्र धवला टीका में ही इन अनुयोगद्वारों का विस्तार है।

१. संक्रम — अनुयोग द्वार के भी छह भेद करके पुनः कर्मसंक्रम के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश संक्रम भेद किये हैं।

विस्तृत वर्णन करते हुए कहा है कि — चार आयु कर्मों का संक्रम नहीं होता है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है, आदि।

२. लेश्या — इसके भी नामलेश्या, स्थापनालेश्या, द्रव्यलेश्या और भावलेश्या भेद किये हैं।

कर्म पुद्गलों के ग्रहण में कारणभूत जो मिथ्यात्व, असंयम और कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति होती है उसे नो आगमभाव लेश्या कहते हैं।^१

भावलेश्या के कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये छह भेद हैं।

३. **लेश्याकर्म** — इसमें छहों लेश्याओं के लक्षण — ‘चंडो ण मुवइ वेरं’ इत्यादि बताये गये हैं।

४. **लेश्यापरिणाम** — कौन लेश्याएं किस स्वरूप से और किस वृद्धि अथवा हानि के द्वारा परिणमन करती हैं, इस बात के ज्ञापनार्थ ‘लेश्या परिणाम’ अनुयोगद्वारा प्राप्त हुआ है।

इसमें ‘षट्स्थान पतित’ का स्वरूप कहा गया है।

५. **सातासात अनुयोगद्वार** — इसके समुत्कीर्तना, अर्थपद, परमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व, ऐसे पांच अवान्तर अनुयोगद्वार हैं। समुत्कीर्तना में—एकांत सात, अनेकांत सात, एकांत असात और अनेकांत असात।

अर्थ पद में — सातास्वरूप से बांधा गया जो कर्म संक्षेप व प्रतिक्षेप से रहित होकर सातास्वरूप से वेदा जाता है वह एकांतसात है। इससे विपरीत अनेकांत सात है^२ इत्यादि।

६. **दीर्घ-ह्रस्व** — इन अनुयोगद्वार के भी चार भेद हैं — प्रकृतिदीर्घ, स्थितिदीर्घ, अनुभागदीर्घ और प्रदेशदीर्घ।

आठ प्रकृतियों का बंध होने पर प्रकृति दीर्घ और उनसे कम का बंध होने पर नो प्रकृतिदीर्घ होता है^३।

ऐसे ही ह्रस्व में प्रकृति ह्रस्व, स्थिति ह्रस्व आदि चार भेद हैं।

एक-एक प्रकृति को बांधने वाले के प्रकृति ह्रस्व है इत्यादि।

७. **भवधारणीय** — इस अनुयोगद्वार में भव के तीन भेद हैं — ओघभव, आदेशभव और भवग्रहण भव। आठ कर्मजनित जीव के परिणाम का नाम ओघभव है। चारगति नामकर्मों का या उनसे उत्पन्न जीव परिणामों को आदेश भव कहते हैं।

भुज्यमान आयु को निर्जीण करके जिससे अपूर्व आयु कर्म उदय को प्राप्त हुआ है, उसके प्रथम समय में उत्पन्न ‘व्यंजन’ संज्ञा वाले जीव परिणाम को अथवा पूर्व शरीर के परित्यागपूर्वक उत्तरशरीर के ग्रहण करने को ‘भवग्रहणभव’ कहा जाता है। उनमें यहाँ भवग्रहण भव प्रकरण प्राप्त है।^४

८. **पुद्गलात्त** — इस अनुयोगद्वार में नामपुद्गल, स्थापनापुद्गल, द्रव्यपुद्गल और भावपुद्गल ऐसे चार भेद हैं।

यहाँ आत्त-शब्द का अर्थ गृहीत है अतः यहाँ ‘पुद्गलात्त’ पद से आत्मसात् किये गये पुद्गलों का ग्रहण है। वे पुद्गल छह प्रकार से ग्रहण किये जाते हैं — ग्रहण से, परिणाम से, उपभोग से, आहार से, ममत्व से और परिग्रह से। इत्यादि।

९. **निधत्तानिधत्त** — इस अनुयोगद्वार में भी प्रकृतिनिधत्त, स्थितिनिधत्त, अनुभागनिधत्त और प्रदेशनिधत्त ऐसे चार भेद हैं।

जो प्रदेशाग्र निधत्तीकृत हैं — अर्थात् उदय में देने के लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृति में संक्रमण करने के लिए शक्य नहीं है, किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण करने के लिए शक्य हैं ऐसे प्रदेशाग्र की निधत्त संज्ञा है।

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १६, पृ. ४८५। २. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १६, पृ. ४९८।

३. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १६, पृ. ५०७। ४. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १६, पृ. ५१२।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रविष्ट मुनि के सब कर्म अनिधत्त हैं, इत्यादि।

१०. निकाचितानिकाचित—इस अनुयोगद्वार में प्रकृति निकाचित आदि चार भेद हैं। जो प्रदेशाग्र, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण और उदय में देने के लिए भी शक्य नहीं हैं, वे निकाचित हैं। अनिवृत्तिकरणवर्ती मुनि के सर्वकर्म अनिकाचित हैं, इत्यादि।

११. कर्मस्थिति—इस अनुयोग में जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों के प्रमाण की प्ररूपणा कर्मस्थिति 'प्ररूपणा है, ऐसा श्री 'नागहस्तीश्रमण' कहते हैं किन्तु आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण का कहना है कि — 'कर्मस्थिति संचित सत्कर्म की प्ररूपणा का नाम 'कर्मस्थिति' प्ररूपणा है। यहाँ दोनों उपदेशों के द्वारा प्ररूपणा करना चाहिए, ऐसा श्री वीरसेनस्वामी ने कहा^१ है।

१२. पश्चिमस्कंध—इस अनुयोगद्वार में ओघभव, आदेशभव और भवग्रहणभव ऐसे तीन भेद करके यहाँ भवग्रहण भव प्रकरण प्राप्त है। जो अंतिम भव है उसमें उस जीव के सब कर्मों की बंधमार्गणा, उदयमार्गणा, उदीरणामार्गणा, संक्रममार्गणा और सत्कर्ममार्गणा ये पाँच मार्गणाएं पश्चिम स्कंध अनुयोगद्वार में की जाती हैं।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशाग्र का आश्रय करके इन पाँच मार्गणाओं की प्ररूपणा कर चुकने पर तत्पश्चात् पश्चिम भव ग्रहण में सिद्धि को प्राप्त होने वाले जीव की यह अन्य प्ररूपणा करना चाहिए^२ इत्यादि।

१३. अल्पबहुत्व—इस अनुयोगद्वार में 'नागहस्तिमहामुनि' सत्कर्म की मार्गणा करते हैं और यह उपदेश प्रवाहस्वरूप से आया हुआ परंपरागत है। सत्कर्म चार प्रकार का है—प्रकृतिसत्कर्म, स्थिति सत्कर्म, अनुभाग सत्कर्म और प्रदेश सत्कर्म। इनमें से प्रकृति सत्कर्म के मूल और उत्तर की अपेक्षा दो भेद करके मूल प्रकृतियों के स्वामी को लेकर कहते हैं—“पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पाँच अंतराय प्रकृतियों के सत्कर्म का स्वामी कौन है? इनके सत्कर्म के स्वामी सब छद्मस्थ जीव हैं। इत्यादि रूप से अल्पबहुत्व का विस्तार से कथन किया गया है।^३

इस प्रकार यहाँ सोलहवें ग्रंथ में इन उपर्युक्त कथित शेष १३ अनुयोगद्वारों को पूर्ण किया है।

उपसंहार यह है कि—कृति, वेदना, स्पर्श आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में से 'कृति और वेदना' नाम के मात्र दो अनुयोगद्वारों में 'वेदनाखण्ड' नाम से चौथा खण्ड विभक्त है। पुनश्च 'स्पर्श' आदि से लेकर अल्पबहुत्व तक २२ अनुयोगद्वारों में 'वर्गणाखण्ड' नाम से पाँचवां खण्ड लिया गया है। यहाँ तक पाँच खंडों को सोलह पुस्तकों में विभक्त किया है। छठे महाबंध खण्ड में सात पुस्तकें विभक्त हैं जो कि हिन्दी अनुवाद होकर छप चुकी हैं।

भगवान महावीर की वाणी से संबंध—इन 'षट्खण्डागम' सूत्र ग्रंथराज का भगवान महावीर की वाणी से सीधा संबंध स्वीकार किया गया है। जैसा कि श्री वीरसेनाचार्य ने नवमी पुस्तक में लिखा है—

“लोहाड़िए सग्लोगं गदे*.....।

इस प्रकरण को मैंने प्रारंभ में ही उद्धृत किया है।

जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो। बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स।।

श्रीधरसेनाचार्य महामुनीन्द्र जयवंत होवें कि जिन्होंने 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' नाम के शैल—पर्वत को

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १६, पृ. ५१८। २. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १६, पृ. ५१९।

३. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १६, पृ. ५२२। ४. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. ९, पृ. १३३।

बुद्धिरूपी मस्तक से उद्धृत करके — उठा करके श्रीपुष्पदंत एवं श्री भूतबलि ऐसे दो महामुनियों को समर्पित किया है। अनंतर —

जो टीकाएं उपलब्ध नहीं हैं उनके रचयिता सभी टीकाकारों को मेरा कोटि-कोटि नमन है कि जिनके प्रसाद से श्रीवीरसेनस्वामी ने ज्ञान प्राप्त किया होगा। पुनश्च —

श्री वीरसेनस्वामी के हम सभी पर आज अनंत उपकार हैं कि जिनकी इस धवल-शुभ्र-उज्ज्वल-धवलाटीका के किंचित् मात्र अंश को मैंने समझा है।

इसमें पूर्वजन्म के संस्कार, वर्तमान में सरस्वती की महती कृपा, प्रथम क्षुल्लिका दीक्षागुरु श्री आचार्य देशभूषण जी एवं आर्यिका दीक्षा के गुरु के गुरु इस बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागराचार्य एवं उनके प्रथम शिष्य पट्टाचार्य श्री वीरसागर जी महाराज (आर्यिका दीक्षा के गुरु) का मंगल आशीर्वाद ही मेरे इस श्रुतज्ञान में निमित्त है, ऐसा मैं मानती हूँ।

इस ग्रंथ की टीका-सिद्धान्तचिंतामणि को मैंने वैशाख कृ. २, वी.नि.सं. २५३३, दिनांक ४-४-२००७ को पूर्ण की है। इस षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड में २३७५, द्वितीय खण्ड में १५९४, तृतीय खण्ड में ३२४, चतुर्थ खण्ड में १५२५ और पाँचवें खण्ड में १०२३ ऐसे १६ ग्रंथों में कुल ६८४१ सूत्र हैं और मेरे द्वारा लिखित सिद्धान्तचिंतामणि टीका के ३१०७ पृष्ठ हैं। आज मैंने अपनी आर्यिका दीक्षा के ५१ वर्ष पूर्ण कर इस चिंतामणि टीका को पूर्ण करके अपने आध्यात्मिक जीवन पर कलशारोहण किया है। भगवान् शांतिनाथ की कृपा प्रसाद से साढ़े ग्यारह वर्ष में इस टीका को पूर्णकर आनंद का अनुभव करते हुए भावश्रुत की प्राप्ति के लिए 'महाग्रंथराज षट्खण्डागम' को अनंत-अनंत बार नमस्कार करती हूँ।

अष्टादशमहाभाषा, लघुसप्तशतान्विता।

द्वादशांगमयी देवी, सा चित्ताब्जेऽवतार्यते^१।।



संत-परूवणा-सुत्ताणि

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
१.	णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं। णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं।।	१२
२.	एत्तो इमेसिं चोदसण्हं जीव-समासाणं मग्गणट्टदाए तत्थ इमाणि चोदस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति।	१००
३.	तं जहा।	११७
४.	गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि।	११८
५.	एदेसिं चेव चोदसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्टदाए तत्थ इमाणि अट्ट अणियोगद्वाराणि णायव्वाणि भवंति।	१३१
६.	तं जहा।	१३१
७.	संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि।	१३२
८.	संतपरूवणदाए दुविहो णिद्वेसो, ओघेण आदेसेण य।	१३४
९.	ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी।	१३६
१०.	सासणसम्माइट्ठी।	१३८
११.	सम्मामिच्छाइट्ठी।	१४०
१२.	असंजदसम्माइट्ठी।	१४१
१३.	संजदासंजदा।	१४७
१४.	पमत्तसंजदा।	१५५
१५.	अप्पमत्तसंजदा।	१६१
१६.	अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा।	१६३
१७.	अणियट्ठि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा।	१६७
१८.	सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा।	१६९
१९.	उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था।	१७३
२०.	खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था।	१७५
२१.	सजोगकेवली।	१७६
२२.	अजोगकेवली।	१७८
२३.	सिद्धा चेदि।	१८०
२४.	आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धिगदी चेदि।	१८६

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
२५.	णेरइया चदुसु ट्वाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठि सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति।	१९०
२६.	तिरिक्खा पंचसु ट्वाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति।	१९१
२७.	मणुस्सा चोदससु ट्वाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासणसम्माइट्ठी, सम्मामिच्छाइट्ठी, असंजदसम्माइट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियट्ठि-बादर-सांपरायपविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहुमसंपराय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली, अजोगिकेवली त्ति।	१९३
२८.	देवा चदुसु ट्वाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि।	२०१
२९.	तिरिक्खा सुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति।	२०३
३०.	तिरिक्खा मिस्सा सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति।	२०३
३१.	मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति।	२०४
३२.	तेण परं सुद्धा मणुस्सा।	२०४
३३.	इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि।	२०६
३४.	एइंदिया दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता।	२१५
३५.	बीइंदिया दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। तीइंदिया दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। चउरिंदिया दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। पंचिंदिया दुविहा — सण्णी असण्णी। सण्णी दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। असण्णी दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि।	२१८
३६.	एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चव मिच्छाइट्ठिट्वाणे।	२२०
३७.	पंचिंदिया असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवल त्ति।	२२२
३८.	तेण परमणिंदिया इदि।	२२३
३९.	कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि।	२२५
४०.	पुढविकाइया दुविहा — बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। आउकाइया दुविहा — बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। तेउकाइया दुविहा — बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। वाउकाइया दुविहा — बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि।	२२७

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
४१.	वणप्फइदिकाइया दुविहा — पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तेयसरीरा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा — बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि।	२३१
४२.	तसकाइया दुविहा — पज्जत्ता अपज्जत्ता।	२४१
४३.	पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया एक्कम्मि चय मिच्छाइट्टिट्ठाणे।	२४३
४४.	तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।	२४५
४५.	बादरकाइया बादरेइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।	२४५
४६.	तेण परमकाइया चेदि।	२४६
४७.	जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि।	२४८
४८.	अजोगी चेदि।	२५०
४९.	मणजोगो चउव्विहो — सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो असच्चमो-समणजोगो।	२५१
५०.	मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	२५२
५१.	मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय — छदुमत्था त्ति।	२५४
५२.	वचिजोगो चउव्विहो — सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि।	२५४
५३.	वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदिय — प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	२५६
५४.	सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	२५६
५५.	मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्टि — प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय — छदुमत्था त्ति।	२५७
५६.	कायजोगो सत्तविहो — ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो वेगुव्वियकायजोगो वेगुव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो त्ति।	२५८
५७.	ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्खमणुस्साणं।	२६२
५८.	वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेइयाणं।	२६३
५९.	आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजदाणमिड्डिपत्ताणं।	२६३
६०.	कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं।	२६४
६१.	कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	२६८
६२.	वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्टि त्ति।	२६९

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
६३.	आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कम्हि चेव पमत्तसंजदट्टाणे।	२६९
६४.	कम्मइयकायजोगो एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	२७०
६५.	मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	२७१
६६.	वचिजोगो कायजोगो बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिदिया त्ति।	२७१
६७.	कायजोगो एइंदियाणं।	२७२
६८.	मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि।	२७२
६९.	कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि।	२७२
७०.	छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ।	२७३
७१.	सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति।	२७३
७२.	पंच पज्जत्तीओ पंच अपज्जत्तीओ।	२७३
७३.	बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिदिया त्ति।	२७४
७४.	चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ।	२७४
७५.	एइंदियाणं।	२७५
७६.	ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।	२७५
७७.	वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।	२७६
७८.	आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।	२७६
७९.	णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	२७७
८०.	सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता।	२७७
८१.	एवं पढमाए पुढवीए णेरइया।	२७८
८२.	विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	२७८
८३.	सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि णियमा पज्जत्ता।	२७९
८४.	तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	२८०
८५.	सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता।	२८१
८६.	एवं पंचिंदियतिरिक्खा पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्ता।	२८२
८७.	पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्टाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।	२८३
८८.	सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्टाणे णियमा पज्जत्तियाओ।	२८३
८९.	मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	२८४
९०.	सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्टाणे णियमा पज्जत्ता।	२८४
९१.	एवं मणुस्स-पज्जत्ता।	२८६

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
९२.	मणुसिणीसु मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।	२८६
९३.	सम्मामिच्छाइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-संजदासंजद-संजद-ट्टाणे णियमा पज्जत्तियाओ।	२८७
९४.	देवा मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	२९०
९५.	सम्मामिच्छाइट्टि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता।	२९१
९६.	भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ सोधम्मीसाण-कप्पवासिय देवीओ च मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।	२९१
९७.	सम्मामिच्छाइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ।	२९२
९८.	सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवेज्जं ति विमाणवासिय-देवेसु मिच्छाइट्टि-सासण-सम्माइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	२९३
९९.	सम्मामिच्छाइट्टि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता।	२९५
१००.	अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजित-सव्वट्टिसिद्धि-विमाणवासियदेवा असंजदसम्माइट्टिट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।	२९५
१०१.	वेदानुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि।	२९८
१०२.	इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव अणियट्टि ति।	३०२
१०३.	णवुंसयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि ति।	३०२
१०४.	तेण परमवगदवेदा चेदि।	३०३
१०५.	णेइया चदुस ट्टाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा।	३०४
१०६.	तिरिक्खा सुद्धा णवुंसयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया ति।	३०४
१०७.	तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा ति।	३०५
१०८.	मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव अणियट्टि ति।	३०५
१०९.	तेण परमवगदवेदा चेदि।	३०६
११०.	देवा चदुस ट्टाणेसु दुवेदा — इत्थिवेदा पुरिसवेदा।	३०६
१११.	कषायानुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायाकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि।	३०८
११२.	कोधकसाई माणकसाई मायाकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि ति।	३१५
११३.	लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा ति।	३१५
११४.	अकसाई चदुस ट्टाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयरयछदुमत्था खीणकसाय-वीयरय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवली ति।	३१६
११५.	णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग-णाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि।	३१७
११६.	मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदिय-प्पहुडि जाव सासणसम्माइट्टि ति।	३२८
११७.	विभंगणाणं सण्णि-मिच्छाइट्टीणं वा सासणसम्माइट्टीणं।	३२९

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
११८.	पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि।	३२९
११९.	सम्मामिच्छाइट्टि-ट्ठाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि। आभिणि-बोहियणाणं मदि-अण्णाणेण मिस्सयं सुदणाणं सुद-अण्णाणेण मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं। तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि।	३३०
१२०.	आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था ति।	३३१
१२१.	मणपज्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था ति।	३३२
१२२.	केवलणाणी तिसु ट्ठाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि।	३३४
१२३.	संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावण-सुद्धिसंजदा परिहारसुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि।	३३६
१२४.	संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति।	३४०
१२५.	सामाइय-छेदोवट्ठावण-सुद्धि-संजदा-पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अणियट्टि ति।	३४१
१२६.	परिहारसुद्धिसंजदा दोसु ट्ठाणेषु पमत्तसंजद-ट्ठाणे अपमत्तसंजदट्ठाणे।	३४१
१२७.	सुहुमसांपराइय-सुद्धि-संजदा एक्कम्मि चेव सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदट्ठाणे।	३४२
१२८.	जहाक्खाद-विहार-शुद्धि-संजदा चदुसु ट्ठाणेषु उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगि-केवली ति।	३४२
१२९.	संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदासंजदट्ठाणे।	३४३
१३०.	असंजदा एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्टि ति।	३४३
१३१.	दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि।	३४५
१३२.	चक्खुदंसणी चउरिंदिय-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था ति।	३४७
१३३.	अचक्खु-दंसणी एइंदिय-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था ति।	३४७
१३४.	ओधिदंसणी असंजद-प्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था ति।	३४८
१३५.	केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि।	३४९
१३६.	लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि।	३५२
१३७.	किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजद-सम्माइट्टि ति।	३५५
१३८.	तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा ति।	३५६
१३९.	सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति।	३५६
१४०.	तेण परमलेस्सिया।	३५७
१४१.	भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया।	३५८
१४२.	भवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति।	३६०

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
१४३.	अभवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्टि ति।	३६१
१४४.	सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्टी खइयसम्माइट्टी वेदगसम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी मिच्छाइट्टी चेदि।	३६३
१४५.	सम्माइट्टी खइयसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति।	३६४
१४६.	वेदगसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा ति।	३६५
१४७.	उवसमसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था ति।	३६६
१४८.	सासणसम्माइट्टी एक्कम्मि चेय सासणसम्माइट्टि-ट्टाणे।	३६६
१४९.	सम्मामिच्छाइट्टी एक्कम्मि चेय सम्मामिच्छाइट्टि-ट्टाणे।	३६६
१५०.	मिच्छाइट्टी एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णिमिच्छाइट्टि ति।	३६७
१५१.	णेइया अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी असंजदसम्माइट्टि ति।	३६८
१५२.	एवं जाव सत्तसु पुढवीसु।	३६८
१५३.	णेइया असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्टी वेदगसम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी चेदि।	३६९
१५४.	एवं पढमाए पुढवीए णेइया।	३६९
१५५.	विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेइया असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे खइयसम्माइट्टी णत्थि, अवसेसा अत्थि।	३६९
१५६.	तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी असंजदसम्माइट्टी संजदासंजदा ति।	३७०
१५७.	एवं जाव सव्वदीव-समुद्देसु।	३७०
१५८.	तिरिक्खा असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्टी वेदगसम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी।	३७१
१५९.	तिरिक्खा संजदासंजद-ट्टाणे खइयसम्माइट्टी णत्थि अवसेसा अत्थि।	३७१
१६०.	एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदियतिरिक्ख-पज्जत्ता।	३७२
१६१.	पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइट्टि-संजदासंजद-ट्टाणे खइयसम्माइट्टी णत्थि, अवसेसा अत्थि।	३७२
१६२.	मणुसा अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी असंजदसम्माइट्टी संजदासंजदा संजदा ति।	३७३
१६३.	एवमङ्गाइज्ज-दीव-समुद्देसु।	३७३
१६४.	मणुसा असंजदसम्माइट्टि-संजदासंजद-संजद-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्टी वेदयसम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी।	३७४
१६५.	एवं मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु।	३७४
१६६.	देवा अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी असंजदसम्माइट्टि ति।	३७५
१६७.	एवं जाव उवरिमगेवेज्ज-विमाणवासिय-देवा ति।	३७५

सूत्र सं.	सूत्र	पृष्ठ सं.
१६८.	देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठि वेदयसम्माइट्ठि उवसमसम्माइट्ठि त्ति।	३७५
१६९.	भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ च सोधम्मीसाणकप्पवासिय-देवीओ च असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे खइयसम्माइट्ठि णत्थि अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि।	३७६
१७०.	सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवेज्ज-विमाणवासियदेवा असंजद-सम्माइट्ठि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठि वेदगसम्माइट्ठि उवसमसम्माइट्ठि।	३७७
१७१.	अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजिद-सव्वट्टुसिद्धिविमाणवासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठि वेदगसम्माइट्ठि उवसमसम्माइट्ठि।	३७७
१७२.	सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी।	३७९
१७३.	सण्णी मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति।	३८०
१७४.	असण्णी एइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति।	३८१
१७५.	आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा।	३८२
१७६.	आहारा एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।	३८२
१७७.	अणाहारा चदुसु ट्टाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि।	३८३

